महाकविराजशेखरविरचितं

बालरामायणम्

डॉ॰ गङ्गासागर राय

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

सम्मतयः

महाकविराजशेखरविरचितं बालरामायणं सहिन्द्यनुवादं सम्पादितवता विदुषा श्रीगङ्गासागररायशर्मणाऽतिवेलमुपकृता हिन्दीविदः संस्कृतदृश्यश्रव्यकाव्यरसिका इत्यत्र नास्ति संशीतिलेशोऽपि। विपश्चिदपश्चिमानामाचार्यश्रीबलदेवोपाध्यायचरणानामाशीराशयः पुनन्तितमां ग्रन्थमिमं प्रत्यक्षीकुर्वन्तीव चास्योपयोगिताम्।

डाक्टर श्रीगङ्गासागररायकृतिरियं मनोज्ञसरणिः सरलसरलसुबोधभाष्यं विजयतेतमाम्।

डा० रामकरणशर्मा
कुलपतिः
श्रीसम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य

☐

बालरामायणं महाकवेः राजशेखरस्य महनीया कृतिः। अस्मिन् भगवतो रामचन्द्रस्य सपरिकरस्य कीर्तिगाथा मनोरमैः गद्यपद्यैरुपवर्णिता। भरतनाटयशास्त्रे निरूपितैः नाटचस्य निखिलैर्विशेषैरुपबृंहितं ग्रन्थरत्नमिदं भाषाभावयोः शैल्या च दृशा विदुषां मनोमोहकं पूर्णरूपेणाभिनयार्हं च। अनेन ग्रन्थेन अधीतेन अभिनीतेन च लोकस्य न केवलं मनोरञ्जनमेव साध्यते अपितु अध्येतॄणां जीवनं परिष्क्रियते परिशोध्यते च। ईदृशो ग्रन्थो यथा बहुजनानामवबोधाय हिताय च प्रभवेत् तथैतस्य व्याख्या आवश्यकी आसीत्। डॉ० गङ्गासागररायमहोदयेन आवश्यकतामिमां सम्यग्विभाव्य अस्य सरलया सुबोधया प्राञ्जलया प्रावाहिक्या च हिन्दीभाषया व्याख्यात्मकोऽनुवादो नैपुणतया व्यधायि। अस्य ग्रन्थस्य सम्प्रति परिचयः सामग्र्येण संस्कृतावबोधविधुराणामपि सौलभ्यमासादयत्। आशासे नूतनयाऽनया व्याख्ययोपेतः ग्रन्थोऽयं प्रचुरं प्रसारं प्राप्य रामचरित्रावबोधे बद्धादराणां मानसमानन्दतुन्दिलं मनीषिजनानां च मनस्तोषं नूनं सम्पादयेदित्येवं व्याख्याकर्त्तारं साशीर्वादमभिनन्दयति।

—बदरीनाथशुक्लः

॥ श्रीः ॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला

६६

राजशेखरविरचितं

बालरामायणम्

(हिन्द्यनुवादसहितम्)

सम्पादक एवं व्याख्याकार—

डॉ० गङ्गासागर राय

एम० ए०, पी-एच्० डी०

सर्वभारतीय काशिराज न्यास

दुर्ग रामनगर, वाराणसी

पुरोवाक्

आचार्य बलदेव उपाध्याय

'पद्मभूषण'

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

वाराणसी

प्रकाशक—

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पोस्ट बाक्स नं० ११२९

वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ५५३५७

प्रथम संस्करण १९८४

मूल्य १००-००

चौखम्बा विद्याभवन

(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)

चौक (बनारस स्टेट बैंक भवन के पीछे),

पो० बा० नं० १०६९,

वाराणसी २२१००१

दूरभाष : ६३०७६

मुद्रक—

श्रीजी मुद्रणालय

वाराणसी

THE

CHAUKHAMBA SURBHARATI GRANTHAMALA

69

BĀLARĀMĀYAṆA

OF

RĀJAŚEKHARA

Edited with

Hindi Translation

By

Dr. Ganga Sagar Rai

M. A., Ph. D.

All India Kashiraj Trust

Fort Ramnagar, Varanasi

Foreword by

Prof. Baladeva Upadhyaya

'Padmabhushan'

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

VARANASI

स्वर्गीय माता-पिता

श्रीमती मुनरी देवी

तथा

पं० श्री रामबरन राय

की

पावन स्मृति में

सादर सर्मपित।

जनम हेतु सब कँह पितु-माता।
करम सुभासुभ देइ विधाता॥

—मानस, अयोध्या २५३।५४

पुरोवाक्

ब्रह्मावर्त के इतिहास में मध्ययुग अपनी प्रशासनीय गरिमा एवं साहित्यिक महिमा के कारण नितान्त प्रसिद्ध है। उस समय कान्यकुब्ज में शासन करने वाले रघुवंशियों में महेन्द्रपाल अपनी शरणागतवत्सलता, विद्वत्प्रियता एवं प्रशासन-कुशलता के लिए विशेषरूपेण विश्रुत थे। उन्हीं के उपाध्याय एवं गुरु महाकवि राजशेखर अपनी प्रौढ प्रतिभा एवं अलोकसामान्य रचनाचातुरी के लिए तत्कालीन कविजनों के शिरोमणि माने जाते थे। परन्तु उस समय भी ऐसे ईर्ष्यालु विद्वानों की कमी नहीं थी जो इनकी लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न करने वाली कविता तथा राजदरबार को सुरक्षित करने वाली यशोराशि से क्षुब्ध होकर इनकी कटु आलोचना किया करते थे। इनको लक्ष्य कर राजशेखर ने बालरामायण की प्रस्तावना में अपनी काव्यकला के परम्परागत नैसर्गिक रूप को अभिव्यक्त करने के निमित्त अपनी ही लेखनी से जो लिखा है, वह सर्वथा स्वाभाविक है, ध्यान देने योग्य है। इस दृष्टि से राजशेखर ने अपने आपको भवभूति का जो अवतार माना है, वह आलोचकों के मनन का विषय बना हुआ है। तत्कालीन कटु आलोचना से क्षुब्ध होकर महाकवि भवभूति ने काल को निरवधि एवं पृथ्वी को विपुला बतला कर अपने आलोचकों को जिस प्रकार चुनौती दी थी, महाकवि राजशेखर ने भी उसी प्रकार दोषदर्शन करने वाले विद्वानों को अपनी रचना में 'भणितिगुण' को खोज निकालने का आग्रह किया है—'प्रष्टव्योऽसौ पटीयान् इह भणितिगुणो विद्यते वा न वेति। यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठनरुचिः···' इससे स्पष्ट है कि राजशेखर अपनी रचना में 'भणिति' (सूक्ति) के सौन्दर्य तथा लालित्य के स्वयं प्रशंसक थे। उस सभा के ही शङ्करवर्मा ने राजशेखर की सुधावर्षिणी सूक्तियों का जनक तथा उद्भावक माना है।

तथ्य यह है कि राजशेखर 'शब्दकवि' हैं। इनके पदों की रमणीय शय्या रसिकजनों का मन अपनी कोमलता एवं स्निग्धता के कारण बरबस आकृष्ट कर लेती है। वेद के ज्ञाता के लिए 'श्रुत्यर्थवीथीगुरुः' शब्द का प्रयोग बड़ा ही शोभन तथा श्रवण-सुखद है। प्रातःकालीन सूर्य की कोमल किरणों की प्रशंसा में कवि कह रहा है कि उनके पड़ने से वृक्ष के नवीन पल्लव मूँगे के समान खिल उठते हैं, त्रिलोकीरूपी राजमहल के प्राङ्गण की वे हस्तदीपिकायें हैं तथा दिवसरूपी गजराज के कानों के लिए लालवर्ण के चामर के सदृश वे प्रतीत हो रहे हैं। यह प्राभातिक किरणों की श्लाघा शब्दसौष्ठव से तथा भावगाम्भीर्य से नितान्त स्निग्ध है—

उषःप्रवालद्रुमबालपल्लवास्त्रिलोकहर्म्याङ्गणहस्तदीपिकाः ।
विनद्धिपेन्द्रारुणकर्णचाकरा मरीचयोऽर्कस्य लुठन्ति कोमलाः ॥

महल की ऊँची अटारी पर खड़ी होने वाली किसी चन्द्रवदनी के मुख-मण्डल को देखकर कवि के मुख से हठात् यह सूक्ति निकल पड़ती है—

उपप्राकाराग्रे प्रहिणु नयने तर्कय मनाक्
अनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः ॥

महल के ऊपर अपनी दृष्टि डालकर देखो तो सही। विचार तो करो। बिना आकाश के ही निष्कलंक चन्द्रमा कहाँ से निकल आया है। चन्द्रमा तो है, परन्तु उसमें हरिण का कलंक नहीं है।

ऐसी सुन्दर कल्पनाओं के विन्यास में राजशेखर की चातुरी सद्यः प्रस्फुटित होती है।

'बालरामायण' संस्कृत-साहित्य में अपना प्रतिस्पर्धी नहीं रखता। इसके अध्ययन से राजशेखर को वेद तथा पुराण दोनों के विषय में अद्भुत परिचय प्राप्त होता है। यह परिमाण में ही महान् नाटक नहीं है, प्रत्युत गुणों की दृष्टि में भी यह नितान्त महनीय रचना है। कवि के काव्यरचनापाटव का दर्शन प्रत्येक पद्य में दृष्टिगोचर होता है। इस नाटक का विशाल रूप आलोचकों की कटु आलोचना का विषय बना हुआ है। यह नाटक इतना विशाल है कि इसके एक-एक अंक में समग्र नाटिका का समावेश हो सकता है। राजशेखर की प्रतिभा वर्णनपरक महाकाव्य के प्रणयन में नितान्त समर्थ है। फलतः अंग्रेजी शब्द में उन्हें 'एपिक जीनियस' कह सकते हैं।

यह तथ्य है कि 'अभिनेयता' का गुण किसी नाटक के लिए आवश्यक वैशिष्ट्य नहीं है। सहृदय पाठक अनभिनीत नाटक से भी उतना ही आनन्द उठा सकता है—उसके पठन मात्र से। साधारण दर्शक के ही हृदय में रसोद्बोध के निमित्त प्रयोग की आवश्यकता बनी रहती है। इसीलिए भारतीय आलोचकों तथा कवियों ने नाटक में प्रयोगधर्मिता—अभिनेयता—को कभी महत्त्व नहीं दिया है। यदि दर्शक में रागात्मिका वासना विद्यमान है, तो वह अभिनय देखने की किसी प्रकार अपेक्षा नहीं रखता। नाटक की महनीयता कवि की प्रतिभा का विलास है, नट के अभिनय-कौशल का चमत्कार-प्रदर्शन नहीं है। साधारण नाटक ही रस की अभिव्यक्ति के लिए अभिनय की सहायता चाहता है; महान् नाटक न नट की अपेक्षा रखता है, न अभिनय की। वह स्वतः महान् एवं महनीय होता है। उसके चमत्कार को हृदयंगम करने के लिए रंगमञ्च पर अभिनय की तनिक भी अपेक्षा नहीं रखती। उसका आनन्द तो घर के किसी कोने में बैठ

कर पढ़ने से ही उठाया जा सकता है। अभिनय तो अन्धे की लकड़ी के समान है जो सामान्य लोक के ही रसास्वाद के निमित्त जागरूक रहता है।

भारतीय आलोचकों की मत-मीमांसा पश्चिमी आलोचकों को भी मान्य है। पश्चिमी आलोचना रूपक के लिए अभिनय की एकान्त आवश्यकता मानती है—यह कथन प्रायोवाद है। अरस्तू का[1] कहना है कि महाकाव्य के समान त्रासदी अभिनय के बिना भी अपना सच्चा प्रभाव उत्पन्न करती है; केवल पठनमात्र से भी वह अपने प्रभाव का उन्मीलन करती है। अंग्रेजी आलोचक लेम्ब[2] का भी यही मत है कि नाटक की मूर्धन्य एवं श्रेष्ठ रचना जितनी सुन्दरता से लिखी जाती है, क्वचित् ही उतनी सुन्दरता से अभिनीत की जा सकती है। साधारण नाटक ही नटों के हाथ में पड़कर विशेष चमत्कार उत्पन्न करते हैं। अंग्रेजी के नाटककार टामस हार्डी की भी यही मान्यता है—यही सच्ची अनुभूति है। अपने विपुलकाय नाटक 'डाईनास्ट' की भूमिका में वे स्वीकार करते हैं कि नाटक कमरे में बैठ कर शान्त मन से पढ़ने की कमनीय वस्तु है। रंगमंच के ऊपर अभिनीत होना नाटक के लिए आवश्यक गुण नहीं होता। अभिनेय रूपकों का प्रभाव क्षणिक तथा अस्थायी होता है, परन्तु पठनीय नाटकों का प्रभाव स्थायी तथा चिरकालीन होता है—इन नाटकों के लिए "एपिक ड्रामा" की संज्ञा देना उचित है। इन दृष्टियों को ध्यान में रखकर 'बालरामायण' की विपुलकायता किसी प्रकार का दूषण नहीं है, भूषण ही है।

'बालरामायण' व्याख्या के बिना लोकप्रियता से वंचित ही रहा है। हर्ष का विषय है कि इसका सुन्दर तथा प्रामाणिक अनुवाद हमारे शिष्य डा० गंगासागर राय ने प्रस्तुत कर बड़ा ही उपादेय तथा श्लाघनीय कार्य किया है। अनुवाद बड़े ही परिश्रम तथा सहृदयता से प्रस्तुत किया है। इसके लिए ये संस्कृत-संसार के धन्यवाद के पात्र हैं। तथास्तु।

वाराणसी
चैत्रशुक्ल पञ्चमी
५।४।८४ } बलदेव उपाध्याय

---

1. Tragedy like Epic poetry produces its true effect even without action, it reveals its power by mere reading.

—Poetics.

2. A masterpiece is rarely as well represented as it is written; mediocrity always fares better with the actors.

—Charles Lamb.

वक्तव्य

महाकवि राजशेखर-कृत बालरामाणय के इस संस्करण को विद्वानों के सामने उपन्यस्त करते हुये हमें अपार हर्ष हो रहा है। राजशेखर की कीर्ति–कौमुदी विगत एक सहस्र वर्षों से अप्रतिहत भाव से विद्वानों को आप्यायित और चमत्कृत करती आ रही है। कवि, नाटककार और आचार्य त्रिविध रूपों से उनकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रही है और परवर्ती आचार्यों ने उनके मत का सादर समुल्लेख किया है। अपने आदर्श या पूर्वावतार वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ और भवभूति के सदृश अप्रतिम ज्ञान, तथा विशाल शास्त्र एवं लोकानुभव से युक्त उन्होंने अपनी ज्ञानाञ्जनशलाका से विविध विषयों में अज्ञानचक्षुओं को ज्ञान दान दिया। उनके ग्रन्थ समग्र भारतीय वाङ्मय के विशाल ज्ञान के संचय हैं। यह अत्यन्त खेदजनक बात थी कि विगत एक शताब्दी से बालरामायण का कोई संस्करण नहीं निकला। बालरामायण के तीन संस्करण इस शताब्दी से पूर्व प्रकाशित हुये : (१) पं० गोविन्ददेव शास्त्री का संस्करण जो १८६९ ई० में पण्डित ओल्ड सीरिज ३ में प्रकाशित हुआ; (२) श्रीजीवानन्द का संस्करण जो कलकत्ता से १८८४ ई० में संस्कृत टीका के साथ प्रकाशित हुआ तथा (३) श्रीलक्ष्मण सूरि का संस्करण (?) जो कलकत्ता से ही प्रकाशित हुआ। ये तीनों संस्करण अब अप्राप्य हैं और कहीं यदि पुस्तकालय में उपलब्ध भी होंगे तो नितरां जीर्णावस्था में, जो हाथ लगते ही टूट जायँ।

इस वर्तमान संस्करण का आधार पण्डित गोविन्ददेव शास्त्री का १८६९ ई० का संस्करण है। इस प्रति को श्रद्धेय आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय ने सन् १९६२ ई० में मुझे दी थी और तभी मैंने इसे रुचिकर पाकर इसका हिन्दी भाषा में यथामति अनुवाद कर दिया था। राजशेखर सर्वशास्त्र और सर्वभाषा-निष्णात कविराज हैं और उन्होंने स्वयं बालरामायण में 'भणितिगुण' का उल्लेख किया है अत एव ऐसे आचार्य के पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ का अनुवाद मेरे लिये सरल नहीं था और विशेषतः उस अवस्था में जब कोई आधार उपलब्ध नहीं था। अतः अनुवाद में स्खलन स्वाभाविक है। यह अनुवाद भी दो दशकों से प्रकाशकाधीन था और आज 'कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी' के अनुसार 'समानधर्मा' सज्जनों के पास पहुँच रहा है। आशा है 'समावधति सज्जनाः' के अनुसार उनकी अनुकूल प्रतिक्रिया होगी।

बालरामायण के पाठ के विषय में भी मैं विचार नहीं कर पाया हूँ। मेरे सामने केवल एक ही संस्करण पण्डित गोविन्ददेव शास्त्री का था वह भी अत्यन्त जीर्ण और कहीं-कहीं अपठ्य स्थिति में। ऐसी स्थिति में उसके बारे में असहाय था। यदि तीनों प्राचीन मुद्रित संस्करण ही एकत्र उपलब्ध हों तो उनके आधार पर एक प्रामाणिक संस्करण बन सकता है। आधार पुस्तक की जीर्णता और मुद्रणजन्य त्रुटियों के कारण इसमें भी पर्याप्त अशुद्धियाँ रह गयी हैं। यदि दूसरे संस्करण का अवसर आया और परिस्थितियाँ अनुकूल रहीं तो कुछ अधिक परिष्कार की आशा में इसे छोड़ रहा हूँ। पण्डित गोविन्ददेव शास्त्री अपने समय के मूर्धन्य विद्वान् तथा काशी के साहित्यिक जीवन के गौरवमय रत्न रहे हैं। सन् १८८४ ई० में उन्होंने गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज के तत्कालीन प्रिन्सिपल गफ के साथ वेदान्तसार का अंग्रेजी में अनुवाद किया था।

ग्रन्थ के प्रकाशन में श्रद्धेय आचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय का आशीर्वाद मूल कारण रहा है। कर्मण्यता और विद्याभ्यास के वे सदैव प्रेरक और आदर्श रहे हैं। उन्होंने ही पण्डित गोविन्ददेव शास्त्री का संस्करण दिया और इसको अनुवाद कर प्रकाशित कराने का आदेश दिया। उनके जैसा निर्मल-निश्छल सरल मन, भागवत आचरण, और उदात्त चरित्र विधाता की मनोरम सृष्टि है—'संसारसारनिचयेन विधाय वेधा'। भगवान् जानकी-जीवन से 'अमृतत्वमाचार्याय' की कामना है।

इस सन्दर्भ के मान्य मित्र प्रो० देवेन्द्रकुमार राय के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना भी कर्त्तव्य है। विगत दो दशकों से उनका दैनन्दिन सहयोग और साहचर्य उपलब्ध रहा है। उनकी प्रकृष्ट प्रतिभा, निरुपम कर्मण्यता, कठोर संयमित जीवन और सहज रामभक्ति प्राक्तन पुण्य-परिपाक है। उनका सहज स्नेह और सद्भाव नैराश्य में संबल रहा है। मेरे विद्यार्थी जीवन से ही मेरे मित्र श्रीपारसनाथ राय, एडवोकेट सदैव एक भाव से स्नेह और विश्वास देते रहे हैं। उनके प्रति स्नेहपूर्ण विनम्रता आवश्यक है।

अपने उन समस्त गुरुजनों, मान्य मित्रों, अभिभावकों और हितैषियों के प्रति भी मैं समवेत रूप से विनम्रता और कृतज्ञता प्रकट करता हूँ, जिनसे सदैव अहैतुकी कृपा और स्नेह प्राप्त होता रहा है। कीर्तिशेष साहित्याचार्य श्री रामायण प्रसाद द्विवेदी से अनुवाद में कुछ स्थलों पर परामर्श किया था, एतदर्थ उनका पुण्य-स्मरण करता हूँ। प्रूफ देखने में हमारे सहकर्मी पुराणाचार्य श्री कृपासिन्धु शर्मा ने अपेक्षित सहायता की है, एतदर्थ मैं उनका आभारी हूँ।

ग्रन्थ के प्रकाशक विश्वविश्रुत चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन के गुप्त-बन्धुओं को साधुवाद देना आवश्यक है। संस्कृत-विद्या के प्रचार-प्रसार में इनके परिवार

ने निःस्पृह सेवा की है और उसी सेवा-भावना का प्रतिफल बालरामायण का प्रकाशन है। भगवान् उन्हें इस ईश्वरीय कार्य के प्रचार-प्रसार का माध्यम बनाये रखें—'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति'।

अन्त में प्रार्थना है कि वाल्मीकि रामायण में निर्दिष्ट ब्रह्मा के वचनानुसार भगवान् श्रीराम का यह चरित्र सभी के अभीष्ट फल-प्राप्ति का साधन बने—

अमोघं बलवीर्यं ते अमोघस्ते पराक्रमः।
अमोघं दर्शनं राम न मोघः स्तवस्तव।
अमोघास्ते भविष्यन्ति भक्तिमन्तो नरा भुवि॥ युद्ध० १२०।३०॥

राजशेखर ने भी इसे कामधेनु कहा है—

धीरोदात्तं जयति चरितं रामनाम्नश्च विष्णोः
काव्यव्याजात् तदियमपरा काप्यहो कामधेनुः॥

बालरामायण १।६

तथास्तु।

काशी
'ईश्वर' संवत्सर
श्रीरामनवमी, २०४१ विक्रमी
८।४।८४

गंगासागर राय

राजशेखर की प्रशस्तियाँ

१ यायावरः प्राज्ञवरो गुणज्ञैराशंसितः सूरिसमाजवर्यैः ।
नृत्यत्युदारं भणिते रसस्था नटीव यस्योढरसा पदश्रीः ॥

—सोड्ढल

२ बभूव वल्मीकभवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः ॥

—राजशेखर, बालरामायण १।१६

३ पातुं कर्णरसायनं रचयितुं वाचं सतां सम्मताम्
व्युत्पत्तिं परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रसस्रोतसः ।
भोक्तुं स्वादुफलं च जीविततरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं
तद् भ्रातः श्रृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः ॥

—शङ्करवर्मा (बालरामायण) १।१७

४ कर्णाटीदशनाङ्कितः शितमहाराष्ट्रीकटाक्षाहतः
प्रौढान्ध्रीस्तनपीडितः प्रणयिनीभ्रूभङ्गवित्रासितः ।
लाटीबाहुविवेष्टितश्च मलयस्त्रीतर्जनीतर्जितः
सोयं सम्प्रति राजशेखरकविः वाराणसीं वाञ्छति ॥

—क्षेमेन्द्र, औचित्यविचार-चर्चा

५ समाधिगुणशालिन्यः प्रसन्नपरिपक्त्रिमाः ।
यायावरकवेर्वाचो मुनीनामिव वृत्तयः ॥

धनपाल, तिलकमञ्जरी ३३

६ सौजन्याङ्कुरकन्द सुन्दरकथासर्वस्व सीमन्तिनी-
चित्ताकर्षणमन्त्र मन्मथसरित्कल्लोल वाग्वल्लभ ।
सौभाग्यैकनिवेश पेशलगिरामाधार धैर्याम्बुधे
धर्मादिद्रुम राजशेखर सखे ! दृष्टोऽसि यामो वयम् ॥

अभिनन्द, सुभाषितावलि

७ बालकई कइराओ णिब्भअराअस्स तह उवज्झाओ ।
इअ जस्स पएहिं परं पराई माहप्प मारूढं ॥
[बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः ।
इत्येतस्य परम्परया आत्मा माहात्म्यमारूढः ॥]

अपराजित (कर्पूरमञ्जरी १।९ में उद्धृत)

८ सद् विज्ञानं कुलतिलकतां याति दारैरुदारैः
फुल्ला कीर्तिर्भ्रमति सुकवेर्दिक्षु यायावरस्य ।
धीरोदात्तं जयति चरितं रामनाम्नश्च विष्णोः
काव्यव्याजात् तदियमपरा काप्यहो कामधेनुः ॥
राजशेखर, बालरामायण १।६

९ सर्वभाषाविचक्षणश्च स एवमाह—
गिरः श्रव्या दिव्या प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसवचनं भूतवचनम् ।
विभिन्नाः पन्थानः किमपि कमनीयाश्च त इमे
निबद्धा यस्त्वेषां स खलु निखिलेऽस्मिन् कविवृषा ॥
एतत्प्रबन्धमहत्त्वं प्रति तेनेदमुक्तम्—
ब्रूते यः कोऽपि दोषं महदिति सुमतिर्बालरामायणेऽस्मिन्
प्रष्टव्योऽसौ पटीयानिह भणितिगुणो विद्यते वा न वेति ।
यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भवपठनरुचिर्विद्धि न षट् प्रबन्धान्
नैवं चेद्दीर्घमास्तां नटवटुवदने जर्जरा काव्यकन्था ॥
राजशेखर, बालरामायणे १।१०-११

१० सखे सोमदत्त ! किमात्थ ? तदकालजलदस्य प्रणप्तुस्तस्य गुणगणः किमिति न वर्ण्यते । तत्रैव शृणु—
किमपरमपरैः परोपकारव्यसननिधेर्गणितैर्गुणैरमुष्य ।
रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकलानिलयः स यस्य शिष्यः ॥
—राजशेखर, विद्धशालभञ्जिका

पात्र-सूची

सूत्रधार
पारिपार्श्विक
शुनःशेप—ऋषि, विश्वामित्र-शिष्य
राक्षस—रावण-चर
रावण—राक्षस; प्रतिनायक
प्रहस्त—राक्षस; रावण-सेनापति
जनक—मिथिलानरेश
शतानन्द—ऋषि; जनक-पुरोहित
सीता—नायिका, राम-पत्नी
सखी (एक, दो)—स्त्री
भृङ्गिरिटि—शिव-गण
नारद—देवर्षि
प्रतीहारी
मायामय—राक्षस
माठर—जामदग्न्य-शिष्य
जामदग्न्य (राम)—ऋषि परशुराम
पुष्पक—विमान
ऋचीक—ऋषि, जामदग्न्य-पितामह
पुलस्त्य—ऋषि, रावण-पितामह
शिष्य—ऋचीक वा पुलस्त्य के शिष्य
सुवेगा—पक्षी; चित्रशिखण्ड की पत्नी
चित्रशिखण्ड—गृध्र
कोहल—नाट्याचार्य
विश्वामित्र—ऋषि; राम के गुरु
राम—नायक; विष्णु के अवतार
लक्ष्मण—राम के अनुज
प्रतीहारी—जनक का
हेमप्रभा—सीता की सखी
वैतालिक—जनक का
भवभूति—बटु
उपाध्याय
मातलि—इन्द्र-सारथि
दशरथ—राम के पिता; अयोध्या-नरेश
सौदामिनी—इन्द्ररथ में चामरधारिणी स्त्री
प्रतीहार—जनक का
माल्यवान्—राक्षस; रावण का मन्त्री
सिन्दूरिका—यन्त्रजानकी की सखी
धात्रेयी—यन्त्रजानकी की
प्रतीहारी—रावण का
प्रभञ्जनिका—रावण की अनुचरी
शूर्पणखा—रावण की बहन
कैकेयी—दशरथ-पत्नी; भरत की माता
वामदेव—ऋषि
कौशल्या—राम की माता, दशरथ की पत्नी
सुमित्रा—लक्ष्मण की माता
सुमन्त्र—दशरथ के मंत्री, सूत
रत्नशिखण्ड
कर्पूरचण्ड
बन्दी
विभीषण—राक्षस; रावण का अनुज
सुग्रीव—वानरराज; राम के सहायक
हनुमान्—राम के सहायक
गंगा—नदी (देवता)
यमुना—नदी (देवता)
समुद्र
कपित्थ
दधित्थ

सिंहनाद—राक्षस; रावण का पुत्र
दुर्मुख—राक्षस
सुमुख—राक्षस
त्रिजटा—राक्षसी
करङ्क—राक्षस
कङ्कालक—राक्षस
यमपुरुष—यम का दूत
पुरुहूत (इन्द्र)—देवराज
चित्रगुप्त—देव
चारणमिथुन
लङ्का—नगरी (अधिदेवता)
अलका—नगरी (अधिदेवता)
रत्नशेखर (विद्याधर)
अगस्त्य—ऋषि
लोपामुद्रा—अगस्त्य-पत्नी
वसिष्ठ—ऋषि
शत्रुघ्न—राम के अनुज
भरत—राम के अनुज; कैकेयी के पुत्र

भूमिका

संस्कृत-साहित्य के इतिहास में यायावरवंशीय महाकवि राजशेखर ऐसे प्रभाभास्वर प्रोज्ज्वल नक्षत्र हैं जिनकी यशोविभूति साहित्य के विविध क्षेत्रों को आलोकित करती है। वे साहित्यशास्त्र के महनीय प्रणेता, नाटचविद्या के परमाचार्य, काव्य-छन्द, ज्योतिष, भूगोल इत्यादि विविध विषयों के पारदृश्वा विद्वान् और समग्र भारतीय वाङ्मय के हस्तामलकवत् द्रष्टा हैं। उनकी प्रतिभा से न केवल साहित्य क्षेत्र ही आलोकित हुआ अपितु उनकी राजनीतिक और प्रशासनिक क्षमता से भारत में एक विशाल भूखण्ड का साम्राज्य भी मार्गनिर्देश प्राप्त कर सुख-समृद्धि के विस्तार का प्रतीक बना। राजशेखर की यह सर्वतोमुखी प्रतिभा उन्हें उनके प्रतिभाशाली पूर्वजों के रिक्थ के रूप में प्राप्त हुई थी और निःसन्देह अपने गुणों के कारण वे पूर्वजों से बढ़कर निकले। वे न केवल संस्कृत-साहित्य के ही चूडान्त विद्वान् थे अपितु प्राकृत भाषाओं के विविध रूपों का भी उन्हें पूर्णतः ज्ञान था और इस पाण्डित्य के आधार पर उनके समकालिक शङ्करवर्मा ने उन्हें वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ और भवभूति का अवतार कहा था जिसे स्वयं राजशेखर ने स्वीकृत करते हुए उद्धृत किया है :

बभूव वल्मीकभवः पुरा कवि-
स्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्तते संप्रति राजशेखरः॥ —बालरामायण १।१६

राजशेखर की वंशपरम्परा—राजशेखर ने अपने पूर्वजों का निर्देश अपनी कृतियों में किया है और वे अपने पूर्वजों का तथा अपना उल्लेख आत्मश्लाघा-पूर्वक करते हैं। वे अपने कुल का नाम यायावर बताते हैं :

यायावरीयः संक्षिप्य मुनीनां मतविस्तरः। —का० मी०

तथा

फुल्ला कीर्तिर्भ्रमति सुकवेर्दिक्षु यायावरस्य।—बा० रा० १।६ इत्यादि

परवर्ती कवियों ने भी राजशेखर को यायावर बताया है :

यायावरकवेर्वाचः मुनीनामिव वृत्तयः॥ धनपाल—तिलकमञ्जरी

राजशेखर के प्रपितामह का नाम अकालजलद था जिनका उल्लेख बालरामायण १।२३ में उन्होंने इस प्रकार किया है :

स मूर्तो यत्रासी गुणगण इवाकालजलदः
सुरानन्दः सोऽपि श्रवणपुटपेयेन वचसा ।
न चान्ये गण्यन्ते तरलकविराजप्रभृतयो
महाभागस्तस्मिन्नयमजनि यायावरकुले ॥

तदामुष्यायणस्य महाराष्ट्रचूडामणेरकालजलदस्य चतुर्थो दौर्दुकिः शीलवतीसूनुरुपाध्यायश्रीराजशेखर इत्यपर्याप्तं बहुमानेन ।

सूक्तिमुक्तावली में उल्लिखित दो पद्यों में बताया गया है कि अकालजलद की कविता को अनेकों कवियों ने अङ्गीकृत किया और कादम्बरीराम नामक कवि तो उनके अनुकरण पर ही महान् नाटककार हो गये हैं। इन दोनों पद्यों के रचयिता राजशेखर ही बताये गये हैं। वे पद्य इस प्रकार हैं :

अकालजलदेन्दोः सा हृद्या वचनचन्द्रिका ।
नित्यं कविचकोरैर्या पीयते न च हीयते ॥
अकालजलदश्लोकैश्चित्रमात्मकृतैरिव ।
जातः कादम्बरीरामो नाटके प्रवरः कविः ॥

शार्ङ्गधर पद्धति में अकालजलदकृत एक श्लोक उद्धृत है जिसके अनुसार अकालजलद (असमय के मेघ) ने घोर अवर्षण में वृष्टिकर सरोवर को जल से पूर्ण किया था ।

भेकैः कोटरशायिभिर्मृतमिव क्ष्मान्तर्गतं कच्छपैः
पाठीनैः पृथुपङ्ककूटलुठितैर्यस्मिन् मुहुर्मूर्च्छितम् ।
तस्मिन् शुष्कसरस्यकालजलदेनागत्य तच्चेष्टितं
येनाकण्ठनिमग्नवन्यकरिणां यूथैः पयः पीयते ॥

विद्धशालभञ्जिका की एक टीका के अनुसार अकालजलद एक महान् तान्त्रिक थे तथा अपने तन्त्रबल से नदी की धारा लाने में और वृष्टि कराने में समर्थ थे :

अकालजलदस्य प्रणप्तुः प्रपौत्रस्य । फणत इति महाराष्ट्राः । मान्त्रिकैर्मन्त्रसामर्थ्येन अकाले नद्यस्तावदानीयन्ते वृष्टयश्च निपात्यन्त इति लोके तत्रानुभवसिद्धम् ।

—विद्धशालभञ्जिका की सुन्दरी तथा कमला कृत टीका पृ० १६

अकालजलद के अनन्तर राजशेखर ने सुरानन्द का उल्लेख किया है और 'श्रवणपुटपेयेन वचसा' कहकर उनकी काव्यमाधुरी का निर्देश किया है ।

आप्टे ने इन्हें राजशेखर का पितामह माना है जो प्रसंगतः उचित लगता है।[1] सूक्तिमुक्तावली में निर्दिष्ट एक पद्य के अनुसार ये चेदि-देश के मण्डन थे।

नदीनां मेकलसुता नृपाणां रणविग्रहः।
कवीनां च सुरानन्दश्चेदिमण्डलमण्डनम्॥

इससे स्पष्ट है कि कवि ने नर्मदा से सुरानन्द की तुलना कर उनके महत्त्व का दिग्दर्शन कराया है।

ऊपर के पद्य में उल्लिखित 'रणविग्रह' को स्टेन कोनो ने चेदिनरेश शंकरगण का विरुद या उपाधि माना है।[2] इनका समय दसवीं सदी का मध्य है। महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी के अनुसार यह विरुद शंकरगण द्वितीय का है। ये शंकरगण द्वितीय राष्ट्रकूटवंशीय कृष्ण द्वितीय जिनका समय ८७५-९१५ ई० है के संवन्धी थे।[3] अतः लगभग यही समय सुरानन्द का भी ठहरता है। अपनी काव्यप्रतिभा से सुरानन्द ने चेदि नरेश के यहाँ विपुल प्रतिष्ठा अर्जित की थी और कदाचित् इस पूर्व प्रतिष्ठा के कारण बाद में राजशेखर भी चेदि देश में गये हों। ये सुरानन्द काव्यशास्त्र के भी आचार्य प्रतीत होते हैं क्योंकि राजशेखर ने काव्यमीमांसा में उल्लेखवान् (प्रतिभा से उद्भावित) मार्ग के निर्देश में सुरानन्द का उल्लेख किया है:

'सोऽयमुल्लेखवाननुग्राह्यो मार्गः' इति सुरानन्दः।

तदाह—

सरस्वती सा जयति प्रकामं देवी श्रुतिः स्वस्त्ययनं कवीनाम्।
अनर्घतामानयति स्वभङ्ग्या योल्लिख्य यत्किञ्चिदिहार्थरत्नम्॥

सुरानन्द के अतिरिक्त राजशेखर ने दो और पूर्वजों का उल्लेख किया है—तरल और कविराज। सूक्तिमुक्तावली तथा हरिहारावली में उद्धृत पद्य जिसे राजशेखरकृत बताया गया है में तरल के काव्य की प्रशंसा की गई है:

यायावरकुलश्रेणेर्हारयष्टेश्च मण्डनम्।
सुवर्णबन्धरुचिरस्तरलस्तरलो यथा।

कविराज के विषय में यह सन्देह होता है कि यह किसी व्यक्ति विशेष का अभिधान है अथवा विशेषणमात्र। राजशेखर के उल्लेख—"न चान्ये गण्यन्ते तरलकविराजप्रभृतयः" से तथा इस निर्देश के प्रकरण से यह नाम ही प्रतीत

---

1. Apte—Rājaśekhara, his life and writings, p. 16
2. Karpūramañjarī. Edited by Stein Konow p, 182
3. Mirashi, Epigraphica Indica, Vol. 27 p, 169

होता है। वामन ने अपने काव्यालंकार सूत्र (४।१।१०) में पादानुप्रास अलंकार के प्रकरण में कविराज का उल्लेख किया है :[1]

ये पादयमकस्य भेदास्ते पादानुप्रासस्येत्यर्थः ।

कविराजमविज्ञाय कुतः काव्यक्रियादरः ।
कविराजं च विज्ञाय कुतः काव्यक्रियादरः ।।

यदि वालरामायण के रचयिता राजशेखर और वामन द्वारा निर्दिष्ट कविराज एक ही हैं तो इनका समय वामन (८०० ई०) के समय या इससे पूर्व होना चाहिये । इस स्थिति में वे राजशेखर से डेढ दो सौ वर्ष पहले होंगे ।

विद्धशालभञ्जिका में राजशेखर अपने को दौहुकि तथा वालरामायण में में दौर्दुकि बताते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि राजशेखर के पिता दुहुक या दुर्दुक नामधारी रहे। वालभारत तथा वालरामायण दोनों ग्रन्थों में वे अपने को महामन्त्री का पुत्र कहते हैं।[2] महेन्द्रपाल के समय के ऊना के शिलालेख में धीइक का नामोल्लेख है जो महेन्द्रपाल के तन्त्रपाल थे। ऊना शिलालेख में चालुक्यवंशीय अवन्तिवर्मा प्रथम के पुत्र महासामन्त वालवर्मा के तरुणादित्य नामक सूर्यमन्दिर के लिए दान का उल्लेख है जिस पर वालवर्मा तथा धीइक के हस्ताक्षर हैं। ये वालवर्मा भोज प्रथम के सामन्त थे और संभवतः महेन्द्रपाल के भी सामन्त रहे। चालुक्य गुर्जर-प्रतिहारों के अधीनस्थ थे और उनका संबन्ध सदैव अच्छा रहा। अतः संभव है धीइक गुर्जर-प्रतिहारों के वहाँ प्रतिनिधि रहे हों। धीइक और दुहिक की नामसाम्यता इस बात की ओर संकेत करती है कि धीइक दुहिक का ही विगड़ा रूप हो या गलत लिख दिया गया हो। राजशेखर विदर्भ और पाञ्चाल के साथ लाटदेश के प्रति भी आत्मीयता प्रदर्शित करते हैं और इन देशों के विवरण में उनका मन रमता है।[3] कर्पूरमञ्जरी की नायिका और विद्धशालभञ्जिका की नायिका भी लाट देश की ही राजकुमारियाँ थीं। इन वातों को दृष्टिगत करने पर धीइक और दर्दुक की नाम-सम्यता आभासित होती है। राजशेखर ने अपनी माता का नाम शीलवती बताया है (वालरामायण)।

राजशेखर यायावरवंशीय ब्राह्मण—राजशेखर यायावर कुल में उत्पन्न हुये थे और अपने को यायावरीय कहते हैं :

---

१. Suru, Introduction to Karpūramañjarī, p. 68,

२. उक्तं हि तेनैव महासुमन्त्रिपुत्रेण, वालभारत I. 9 तथा
सूक्तमिदं तेनैव महामन्त्रिपुत्रेण, वालरामायाण I,8

३. अयमसौ विश्वम्भराशिरःशेखर इव लाटदेशः । वालरामायण 10. 88

१. **यायावरीयः** संक्षिप्य मुनीनां मतविस्तरम्।
व्याकरोत् काव्यमीमांसां कविभ्यो राजशेखरः ।। —काव्यमी० अ० १

२. पञ्चमी साहित्यविद्येति **यायावरीयः** । तत्रैव

३. महाभागस्तस्मिन्नयमजनि **यायावरकुले** । बालरा० १।१३

४. फुल्ला कीर्तिर्भ्रमति सुकवेर्दिक्षु **यायावरस्य** । तत्रैव १।६

५. अहो मसृणोद्धता सरस्वती **यायावरस्य** । बालभारत १।५

परवर्ती कवियों ने भी राजशेखर को यायावर-कुलोत्पन्न बताया है। धनपाल ने तिलकमञ्जरी में राजशेखर की प्रशंसा में निम्नलिखित श्लोक का गान किया है :

समाधिगुणशालिन्यः प्रसन्नपरिपक्त्रिमाः ।
यायावरकवेर्वाचो मुनीनामिव वृत्तयः ।।

उदयसुन्दरी में पठित यह श्लोक भी उसी का परिचायक है :

यायावरः प्राज्ञवरो गुणज्ञैराशंसितः सूरिसमाजवर्यैः ।
नृत्यत्युदारं भणिते रसस्था नटीव यस्योढरसा पदश्रीः ।।

सूक्तिमुक्तावली में राजशेखरकृत अधोनिर्दिष्ट श्लोक जो राजशेखर के पूर्वज तरल की प्रशंसा में है, इसी यायावरवंश को उद्दिष्ट कर रहा है :

यायावरकुलश्रेणेर्हारयष्टेश्च मण्डनम् ।
सुवर्णबन्धरुचिरस्तरलस्तरलो यथा ।।

कान्यकुब्ज नरेशों के राजशेखर उपाध्याय या आचार्य थे, अत एव उनका ब्राह्मण होना असंदिग्ध है। बौधायन धर्मसूत्र में गृहस्थ ब्राह्मणों के दो भेद बताये गये हैं—१. यायावर तथा २. शालीन।—"यथाह देवलः। द्विविधो गृहस्थो यायावरः शालीनश्च। तयोर्यायावरः प्रवरो याजनाध्यापनप्रतिग्रह-रिक्थसंचयवर्जनात्।" चण्डेश्वर के गृहस्थरत्नाकर में उद्धृत हारीत के अनुसार शालीन तथा यायावर का निर्वचन इस प्रकार दिया गया है :

सर्वास्ववस्थासु बह्व्योऽस्य शाला इति शालीनः शालावानिति वा शालीनः शालायामात्मवृत्तिभिर्वा लीनः शालीनः शालीनादात्मवृत्तियापनाद् वर इति यायावरः। अथास्याष्टौ वृत्तयो भवन्ति उञ्छशिलायाचितोपपन्नसंदर्शनः वभ्रुस्कन्धकुद्दालकपोती पृ० ४१५ तथा ४१९। बौधायनधर्मसूत्र (४।१।१) में यायावर की निष्पत्ति इस प्रकार है—वृत्त्या वरया यातीति यायावरत्वम्।

राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी—राजशेखर की पत्नी परम विदुषी अवन्तिसुन्दरी थी जो चाहमान वंश की रत्न थी। कर्पूरमञ्जरी में राजशेखर

ने स्वयं लिखा है कि राजशेखरकृत कर्पूरमञ्जरी सट्टक का अभिनय अवन्ति-सुन्दरी के आदेश पर हुआ था :

चाहमान-कुलमौलिमालिका राजशेखरकवीन्द्रगेहिनी ।
भर्तुः कृतिमवन्तिसुन्दरी सा प्रयोजयितुमेतदिच्छति ॥ १।११

लोगों का अनुमान है कि चाहमान कुल क्षत्रिय था जैसा कि आज भी चाहमान या चौहान हैं और राजशेखर नरेश महेन्द्रपाल के आचार्य यायावर-वंशीय ब्राह्मण थे अतः दोनों के विवाह में कठिनाई भी पड़ी होगी और राज-शेखर ने अपनी राजसत्ता के बल पर इस कठिनाई पर विजय प्राप्त की होगी। कर्पूरमञ्जरी का प्रणयन भी राजशेखर के जीवन की स्वानुभूत घटना से प्रेरित रही होगी।[1] दशकुमारचरित के इतिवृत्त से भी इस सट्टक के कथानक को प्रभावित माना गया है।[2] राजशेखर ने प्रशस्त नारियों से कुल की कमनीयता मानी है :

सद्विज्ञानं कुलतिलकतां याति दारैरुदारैः ।
फुल्ला कीर्तिर्भ्रमति सुकवेर्दिक्षु यायावरस्य ॥ —बालरा० १।६

और वस्तुतः राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी ऐसी ही उदार विदुषी नारी थी। काव्यशास्त्र में अवन्तिसुन्दरी के आचार्यत्व का निर्देश स्वयं राज-शेखर ने काव्यमीमांसा में तीन बार किया है।

१. 'इयमशक्तिः पुनः पाकः' इत्यवन्तिसुन्दरी । काव्यमी० ५

२. विदग्धभणितिभङ्गिनिवेद्यं वस्तुनो रूपं न नियतस्वभावम् । इत्यवन्ति-सुन्दरी । काव्यमी० ९

३. इत्यादिभिः कारणैः शब्दहरणेऽर्थहरणे वाभिरमेत । इत्यवन्तिसुन्दरी । काव्यमी० ११

काव्यशास्त्र के अतिरिक्त प्राकृतभाषा का भी अवन्तिसुन्दरी के पर्याप्त ज्ञान था और उस विषय में उसने आचार्यत्व प्राप्त किया था। हेमचन्द्र ने देशी नाममाला में अवन्तिसुन्दरी के मत का उल्लेख किया है।[3]

---

१. द्र० Suru, Karpūramañjarī, Intro—p. 71.

२. द्र० तत्रैव

३. (i) इंदमहो कौमारः । कुमार्यां भव इति व्युत्पत्तेः । इंदमहं कौमारं, इत्यवन्तिसुन्दरी (५।८१)

(ii) ओहुडं विफलम् । ओहुरं खिन्नम् । ओहुरं अवनतं स्रस्तं चेत्य-वन्तिसुन्दरी (५।१५७)

राजशेखर महाराष्ट्र ब्राह्मण—राजशेखर ने अपनी कृतियों में विदर्भ, कुन्तल और वत्सगुल्म के प्रति विशेष आकर्षण प्रदर्शित किया है। उनके पूर्ववर्ती कवि भवभूति जिनका राजशेखर अपने को अवतार कहते हैं विदर्भ के ही थे। अतः यह स्वाभाविक लगता है कि राजशेखर की भी जन्मभूमि का गौरव विदर्भ या महाराष्ट्र को हो। यद्यपि स्वयं राजशेखर ने ऐसा कोई निर्देश नहीं किया है। यायावर ब्राह्मण भी महाराष्ट्र के ही हैं। यह भूमि उत्तर में नर्मदा से लेकर दक्षिण में कृष्णा नदी तक है। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में विदर्भदेश में वत्सगुल्म स्थान को ऐसा बताया है जहाँ काव्य पुरुष को साहित्य विद्यावधू ने सर्वथा आकृष्ट किया था और वहीं दोनों का परिणय हुआ था :

तत्रास्ति मनोजन्मनो देवस्य क्रीडावासो विदर्भेषु वत्सगुल्मं नाम नगरम्। तत्र सारस्वतेयस्तामौमेयीं गन्धर्ववत् परिणिनाय। काव्यमी० अ० ३

डा० वासुदेव विष्णु मिराशी ने वत्सगुल्म को आधुनिक वशिम माना है जो अकोला जनपद में है। चतुर्थ-पञ्चम शती में वाकाटकों की राजधानी के रूप में यह नगर अत्यन्त उन्नत था।

बालरामायण (१०।७५-७६) में भी राजशेखर ने बड़ी ही तन्मयता से महाराष्ट्र देश और विदर्भ का वर्णन किया है :

यत्क्षेमं त्रिदिवाय वर्त्म निगमस्याङ्गं च यत् सप्तमं,
स्वादिष्टं च यदैक्षवादपि रसाच्चक्षुश्च यद् वाङ्मयम्।
तद्यस्मिन् मधुरं प्रसादि रसवत् कान्तं च काव्यामृतं,
सोऽयं सुभ्रु पुरो विदर्भविषयः सारस्वतीजन्मभूः ॥

किं च—रतविद्याविदग्धानां विभ्रमोल्लेखलम्पटः।
नित्यं कुन्तलकान्तानां किंकरो मकरध्वजः ॥

किन्तु इस सन्दर्भ में यह बात ध्यातव्य है कि राजशेखर का शास्त्रीय पाण्डित्य और लोक-विद्या-नैपुण्य दोनों परा कोटि का था और अन्य स्थानों के वर्णन में भी उन्होंने अत्यन्त सूक्ष्मेक्षिका का परिचय दिया है तथा उन्होंने भुवनकोश नामक एक स्वतंत्र ग्रन्थ भी निर्मित किया था। अतः स्थान-वर्णन मात्र से ही उनकी जन्मभूमि की निश्चिति नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त उनके जीवन का अत्यन्त समृद्ध अंश कान्यकुब्ज में व्यतीत हुआ था जिसको उन्होंने 'सर्वमहापवित्र' की संज्ञा से अभिहित किया था :

इदं द्वयं सर्वमहापवित्रं परस्परालंकरणैकहेतुः।
पुरं च हे जानकि कान्यकुब्जं सरिच्च गौरीपतिमौलिमाला ॥

बालरा० १०।८९

इसके अतिरिक्त यदि क्षेमेन्द्र के साक्ष्य को माना जाय तो उन्होंने देश का कोई कोना नहीं छोड़ा था :

> कर्णाटीदशनाङ्कितः शितमहाराष्ट्रीकटाक्षाहतः
> प्रौढान्ध्रीस्तनपीडितः प्रणयिनीभ्रूभङ्गवित्रासितः ।
> लाटीबाहुविवेष्टितश्च मलयस्त्रीतर्जनीतर्जितः
> सोऽयं सम्प्रति राजशेखरकविः वाराणसीं वाञ्छति ॥
>
> —औचित्यविचारचर्चा, ६७

इस पद्य से यह भाव तो स्वाभाविक है कि वे सभी देशों की भाषाओं और रीति-रिवाजों से सुपरिचित थे ।

राजशेखर का वैदुष्य—राजशेखर के ग्रन्थों के सामान्य अवलोकन से ही यह प्रतीत हो जाता है कि राजशेखर का ज्ञान अत्यन्त उच्च कोटि का था । राजशेखर की काव्यमीमांसा न केवल उनके काव्यशास्त्रीय ज्ञान की परिचायिका है अपितु उनके अशेषशास्त्र-निष्णातत्व का भी द्योतक ग्रन्थ है । वैसे भी यदि मोटे रूप में आकलन किया जाय तो उनका बालरामायण और बालभारत उनके इतिहास-पुराण के ज्ञान का निदर्शक, कर्पूरमञ्जरी तथा विद्धशालभञ्जिका उनके विविध भाषा ज्ञान का परिचायक और काव्यमीमांसा उनके काव्यशास्त्रीय पाण्डित्य का निदर्शक है । किन्तु उनके ग्रन्थों को यदि सूक्ष्मता से देखें तो यह स्पष्ट लक्षित हो जायेगा कि राजशेखर विविध विषयों के चूडान्त विद्वान् थे । केवल बालरामायण में ही इतने पौराणिक आख्यानों का उल्लेख है कि उनका आकर ढूंढना और पल्लवन करना सामान्य बात नहीं है । काव्यमीमांसा उनके काव्यशास्त्रीय ज्ञान का ही परिचायक नहीं है अपितु उनके अशेषशास्त्र-वैदग्ध्य का उद्घोषक ग्रन्थ है । उन्होंने काव्यमीमांसा के चतुर्थ अध्याय में कविराज का लक्षण बताते हुए कहा है—

उत्कर्षः श्रेयान् इति यायावरीयः । स च अनेकगुणसन्निपाते भवति ॥ किं च—

> काव्यकाव्याङ्गविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमतः ।
> मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता ॥

शास्त्र और काव्य में उन्होंने उपकार्य-उपकारक-भाव माना है—"उपकार्योपकारकभावं तु मिथः शास्त्रकाव्यकव्योरनुमन्यामहे ।" (पञ्चम अध्याय) । उन्होंने सम्यक् अध्ययन के बाद ही काव्यकर्म में प्रवृत्त होने का निर्देश किया है—"गृहीतविद्योपविद्यः काव्यक्रियायै प्रयतेत (अध्याय १०) । इनसे स्पष्ट है

कि राजशेखर का शास्त्र-ज्ञान और लोकज्ञान के प्रति अत्यधिक आग्रह था और उन्होंने अशेषशास्त्रों में वैदग्ध्य अर्जित कर कविराज प्रद प्राप्त किया थ।।

राजशेखर का देशज्ञान—राजशेखर के ग्रन्थों के अवलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजशेखर का विविध देशों, उनके व्यक्तियों, उनके आचरणों और विशेषताओं का ज्ञान केवल शास्त्रीय ज्ञान पर ही आश्रित न होकर, उनके व्यापक भ्रमण का भी परिचायक है। राम की लंका से अयोध्या की यात्रा उनके ज्ञान का उद्घोषक है। विभिन्न-विभिन्न देशों की नारियों की नाभि, जघन और केश इत्यादि की विशेषताओं का जो सूक्ष्म वर्णन राजशेखर ने किया है वह नितरां उनके द्वारा अनुभव किया-सा लगता है। उनके भुवनकोष नामक अप्राप्य ग्रन्थ तथा काव्यमीमांसा के देशकालविभाग प्रकरण से भी उनके विविध देशों का ज्ञान स्पष्ट होता है। क्षेमेन्द्र का 'कर्णाटी-दशनाङ्कितः' इत्यादि पूर्वोद्धृत पद्य भी उनके विविध देशों के भ्रमण को सूचित करता है।

राजशेखर के उपास्य देव—राजशेखर एक आस्तिक व्यक्ति थे और प्राचीन शास्त्र और विद्याओं में उनकी पूर्ण आस्था थी। ग्रन्थों के मङ्गलाचरण में उन्होंने शिव के प्रति विशेष आस्था प्रकट की है। बालभारत में दो पद्यों में उन्होंने शिव की स्तुति की है :

नमः शिवाय संसारसरोजस्य रजस्विनः।
विकासाश्चर्यसूर्याय संकोचसकलेन्दवे ॥
ये सीमन्तितगात्रभस्मरजसो ये कुम्भकद्वेषिणो
ये लीढाश्रवणाश्रयेण फणिना ये चन्द्रशैत्यद्रुहः।
ये कुप्यद्गिरिजाविभक्तवपुषश्चित्तव्यथासाक्षिणः
शम्भोर्दक्षिणनासिकापुटभवः श्वासानिलाः पान्तु वः ॥

(बालभारत १।१-२)

विद्धशालभञ्जिका में भी शिव की स्तुति वर्तमान है—

गोनासाविनियोजितायतजरत्सर्पाय बद्धौषधिः
कण्ठस्थाय विषाय वीर्यमहते पाणौ मणीन् बिभ्रती।
भर्तुर्भूतगणाय गोत्रजरती निर्दिष्टमन्त्राक्षरा
रक्षत्वद्रिसुता विवाहसमये ह्रीता च भीता च वः ॥ विद्धशाल० १।३

कर्पूरमञ्जरी में भी शिव की स्तुति वर्तमान है (१।३-४)। बालरामायण में 'वाणीगुम्फ' की प्रशंसा की है। इसके अतिरिक्त कर्पूरमञ्जरी में भैरवानन्द के मुख से काली की भी स्तुति है। बालरामायण में 'धीरोदात्तं जयति चरितं

रामनाम्नश्च विष्णोः' (१।६) कहा है। इन सब पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि राजशेखर शिवोपासक के साथ ही साथ विष्णु और शक्ति के भी उपासक थे। राजशेखर भारतीय दर्शनो और शास्त्रों के निष्णात पण्डित थे और शिव-शक्ति के उपासक होते हुए भी उनकी चित्तवृत्ति राम-चरित में रमी थी। उन्होंने अपने को भवभूति का अवतार कहा है—

बभूव वल्मीकभुवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥
(बालरामायण १।१६)

राजशेखर के पूर्ववर्ती या पूर्वावतार ये सभी कवि रामचरित के गायक थे। भवभूति ने तो बड़ी ही स्पष्टोक्ति की है—

प्राचेतसो मुनिवृषा प्रथमः कवीनां यत्पावनं रघुपतेः प्रणिनाय वृत्तम्।
भक्तस्य तत्र समरंसत मेऽपि वाचस्तत्सुप्रसन्नमनसः कृतिनो भजन्ताम्॥

अतः यही उचित प्रतीत होता है राजशेखर भी रामोपासक रहे हों। जन्मान्तर में उन्होंने अपने उपास्य को बदल दिया हो यह उचित नहीं लगता।

राजशेखर के ग्रन्थ

राजशेखर द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या इस समय पाँच है—कर्पूरमञ्जरी, विद्धशालभञ्जिका, बालरामायण, बालभारत तथा काव्यमीमांसा। इनमें कर्पूरमञ्जरी तथा विद्धशालभञ्जिका क्रमशः रूपक के भेद सट्टक तथा नाटिका हैं और बालभारत तथा बालरामायण नाटक हैं। काव्यमीमांसा काव्यशास्त्र का आकर ग्रन्थ है।

इन प्राप्त ग्रन्थों के अतिरिक्त राजशेखर-प्रणीत अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इन ग्रन्थों में राजशेखर ने 'षट् प्रबन्धान्' का उल्लेख किया है।

ब्रूते यः कोऽपि दोषं महदिति सुमतिर्बालरामायणेऽस्मिन्।
प्रष्टव्योऽसौ पटीयानिह भणितिगुणो विद्यते वा न वेति॥
यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठनरुचिर्विद्धि नः षट् प्रबन्धान्।
नैवं चेद्दीर्घमास्तां नटवटुवदने जर्जरा काव्यकन्था॥
(बालरामायण १।१२)

इन छः प्रबन्धों में उन्होंने छः भाषाओं का प्रयोग किया है—दैवी वाणी (संस्कृत), तीनों प्राकृत (महाराष्ट्री, सौरसेनी, मागधी), अपभ्रंश और और पैशाची—

गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतमधुराः प्राकृतधुरः
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसरचनं भूतवचनम् ।
विभिन्नाः पन्थानः किमपि कमनीयाश्च त इमे
निवद्धा यस्त्वेषां स खलु निखिलेऽस्मिन् कविकृषा ।। (तत्रैव १।११)

यह संभव है कि ये छः प्रवन्ध बालरामायण से पूर्व लिखे छः ग्रन्थ हों और इनकी संख्या बालरामायण को छोड़कर छः हो। हरविलास और भुवनकोश को वर्तमान ग्रन्थों में जोड़ देने पर यह संख्या छः हो जाती है। पर, ऐसी स्थिति में बालरामायण को अन्तिम ग्रन्थ मानना पड़ेगा। किन्तु बालरामायण को अन्तिम रचना लोग नहीं मानते हैं।

हरविलास—जैन कवि हेमचन्द्र (११ वीं सदी) ने हरविलास के दो पद्यों को उद्धृत किया है।

आशीर्यथा हरविलासे—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म श्रुतीनां मुखमक्षरम् ।
प्रसीदतु सतां स्वान्तेष्वेकं त्रिपुरुषीमयम् ।।

सुजनदुर्जन-चरितं यथा हरविलासे—

इतस्ततो भषन् भूरि न पतेत् पिशुनः शुनः ।
अवदाततया किं च न भेदो हंसतः सतः ।।

इनके अतिरिक्त उणादिसूत्रों के व्याख्याकार उज्ज्वलदत्त ने (१३ वीं सदी) हरविलास का उद्धरण दिया है।

दशाननक्षिप्तखुरप्रखण्डितः क्वचिद् गतार्थो हरदीधितिर्यथा ।
इति हरविलासे (२।२८)

भुवनकोश—राजशेखर की काव्यमीमांसा के १७ वें अध्याय में देश-विभाग और १८ वें अध्याय में काल-विभाग वर्णित हैं। सत्रहवें अध्याय के अन्त में उन्होंने लिखा है कि यह देश-विभाग निर्देशमात्र है जिसे अधिक जानने की अपेक्षा हो वह मेरे भुवनकोश का अवलोकन करे।

इत्थं देशविभागो मुद्रामात्रेण सूचितः सुधियाम् ।
यस्तु जिगीषत्यधिकं पश्यतु मद्भुवनकोशमसौ ।।

इससे सुस्पष्ट है कि उन्होंने काव्यमीमांसा से पूर्व ही भुवनकोश नामक एक पृथक् ग्रन्थ की रचना की थी जो अद्यावधि उपलब्ध नहीं है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त **रत्नमञ्जरी** नाटिका तथा **अष्टपत्रदलकमल** नामक दो अन्य ग्रन्थों का उल्लेख भी आन्ध्रपत्रिका वार्षिक अंक (१९३०) में किया है जिसके आधार पर एम० कृष्णमाचार्य ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ

क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर' पृ० ६३० पर इनका उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त सुभाषितावलि, शार्ङ्गधरपद्धति, सदुक्तिकर्णामृत, कवीन्द्रवचन-समुच्चय तथा सुभाषितरत्नकोश में बहुत से ऐसे पद्य राजशेखर के नाम से मिलते हैं जो संप्रति उनके प्राप्त ग्रन्थों में नहीं हैं।

राजशेखर के ग्रन्थों का रचना-क्रम—राजशेखर के ग्रन्थों का रचनाक्रम क्या है इस विषय में कई प्रकार के मत विद्वानों में प्रचलित हैं। सर्वप्रथम प्रिन्सिपल वी० एस० आप्टे ने अपने ग्रन्थ 'राजशेखर हिज लाइफ एण्ड राइ-टिंग्स' (१८८६) में राजशेखर के ग्रन्थों का रचना-क्रम इस प्रकार निर्धारित किया—कर्पूरमञ्जरी, विद्धशालभञ्जिका, बालरामायण और बालभारत। इसके बाद स्टेन कोनो ने अपने कर्पूरमञ्जरी सट्टक के संस्करण (१९०१) में यह क्रम बताया—कर्पूरमञ्जरी, विद्धशालभञ्जिका, बाल-रामायण और बालभारत। ये दोनों विद्वान् एक ही क्रम मानते हैं। बालभारत की अपूर्णता संभवतः उनकी अन्तिम कृति होने का कारण है।

सी० डी० दलाल ने यह क्रम स्वीकार किया है—बालरामायण, बालभारत, विद्धशालभञ्जिका और कर्पूरमञ्जरी।

प्रो० रेनो—कर्पूरमञ्जरी, विद्धशालभञ्जिका, बालरामायण, काव्यमीमांसा और बालभारत।

डा० वी० वी० मिराशी ने यह रचना-क्रम इस प्रकार निर्धारित किया है:—बालरामायण, बालभारत, कर्पूरमञ्जरी, विद्धशालभञ्जिका और काव्य-मीमांसा। अनुपलब्ध षट् प्रबन्ध, हरविलास और भुवनकोश की रचना का विचार नहीं किया गया है।[1] क्योंकि भुवनकोश का निर्देशन उन्होंने काव्य-मीमांसा में किया है अतः उसका रचना काल काव्यमीमांसा से पूर्व था और षट् प्रबन्ध का निर्देश बालरामायण में दिया है अतः उसका रचना काल बालरामायण से पूर्व ठहरता है।

राजशेखर के ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय

कर्पूरमञ्जरी—यह सट्टक चार जवनिकाओं या जवनिकान्तरों में विभक्त है। प्रथम जवनिकान्तर में बसन्त ऋतु के प्रादुर्भाव का समय है। राजा चन्द्रपाल, उनकी रानी विभ्रमलेखा, विदूषक कपिञ्जल, चेटी विचक्षणा तथा अन्य सेवक दिखाई पड़ते हैं। चेटी विचक्षणा तथा विदूषक में काव्यशक्ति और वसन्त वर्णन के विषय में शास्त्रार्थ होता है जिसमें

---

१. राजशेखर के ग्रन्थों के रचना-क्रम के विस्तृत विवेचन के लिये द्रष्टव्य—मिराशी, स्टडीज इन इण्डोलाजी, भाग १ पृ० ५४-६।

विदूषक पराजित होकर चला जाता है और पुनः योगी भैरवानन्द के साथ उपस्थित होता है। राजा योगी भैरवानन्द से योग-चमत्कार दिखाने को कहता है और भैरवानन्द विदर्भ नरेश वल्लभराज की पुत्री कर्पूरमञ्जरी को स्नानावस्था में वहाँ उपस्थित कर देता है। कर्पूरमञ्जरी के सौन्दर्य से राजा और राजा से कर्पूरमञ्जरी प्रभावित होते हैं। कर्पूरमञ्जरी को रानी के संरक्षण में भैरवानन्द छोड़ देता है। द्वितीय जवनिका में राजा कर्पूरमञ्जरी के दर्शन से कामबाणों से पीड़ित हो गये हैं और कर्पूरमञ्जरी भी उसी तरह राजा में कामासक्त है। राजा और कर्पूरमञ्जरी को मिलाने का कार्य विदूषक तथा रानी की चेटी विचक्षणा करते हैं। विचक्षणा कर्पूरमञ्जरी का प्रेमपत्र प्रदान करती है। हिन्दोलन चतुर्थी के दिन राजा झूले पर झूलती कर्पूरमञ्जरी को देखता है। यह कार्य छिपकर होता है। तृतीय जवनिकान्तर में राजा और कर्पूरमञ्जरी का मिलन होता है और सुरङ्ग के मार्ग से प्रमदोद्यान में जाते हैं। राजा और कर्पूरमञ्जरी के मिलने का समाचार रानी को भी मिल जाता है और उसके वहाँ पहुँचते ही कर्पूरमञ्जरी वहाँ से हट जाती है। चतुर्थ जवनिकान्तर में राजा और कर्पूर-मञ्जरी का विवाह होता है। यह विवाह योगी भैरवानन्द कराता है। रानी भैरवानन्द से दीक्षा लेती है और चण्डी की प्रतिमा स्थापित करती है। भैरवा-नन्द दक्षिणा में माँगता है कि लाटदेश की राजकुमारी घनसारमञ्जरी से राजा का विवाह करा दो क्योंकि दैवज्ञों ने वताया है कि घनसारमञ्जरी चक्रवर्ती राजा की पत्नी होगी। रानी मान जाती है। यह घनसारमञ्जरी वस्तुतः कर्पूरमञ्जरी है। इस प्रकार यह सट्टक समाप्त होता है।

विद्धशालभञ्जिका—कर्पूरमञ्जरी की ही भाँति यह नाटिका भी चार अङ्कों में विभक्त है। इसका भी कथानक प्रणय और परिणय पर आधृत है। सम्राट् विद्याधर मल्ल की शादी मृगाङ्कावली और कुवलयमाला नामक दो राजकुमारियों से सम्पन्न होती है। इस विवाह में भी प्रथमतः रानी का विरोध और अंततः सहमति दर्शायी गयी है।

बालभारत—सम्प्रति इस नाटक के दो ही अङ्क उपलब्ध हैं। यह नाटक महाभारतीय कथा पर आश्रित है। प्रथम अङ्क में द्रौपदी का स्वयंवर वर्णित है जहाँ देश-देश के राजाओं के बीच अर्जुन लक्ष्यवेध कर द्रौपदी का वरण कर उसे ले जाते हैं। अङ्क का नाम राधावेध है। द्वितीय अङ्क में धृतराष्ट्र की द्यूतसभा का वर्णन है जहाँ युधिष्ठिर के राजसूय में उपहास को प्राप्त तथा युधिष्ठिर की समृद्धि से ईर्ष्यालु दुर्योधन द्यूत खेलने के लिये युधिष्ठिर को को आहूत करता है और न चाहते हुए भी युधिष्ठिर आ जाते हैं। युधिष्ठिर

द्यूत में सर्वस्व हारकर द्रौपदी एवं अपने सहित पाँचों भाइयों को हार जाते हैं। द्रौपदी को विवस्त्र करने का असफल प्रयास होता है। विकर्ण कौरवपक्ष की निन्दा करता है इस प्रकार उपलब्ध अंश समाप्त हो जाता है। प्रतीत यह होता है कि यह नाटक भी युधिष्ठिर की विजय और राज्यारोहण तक बाल-रामायण की ही भाँति रहा होगा।

काव्यमीमांसा—यह अट्ठारह अध्यायों में विभक्त है। राजशेखर ने निर्देश किया है कि उन्होंने १८ अधिकरणों में काव्यमीमांसा का निर्माण किया था जिसका वर्तमान काव्यमीमांसा 'कविरहस्य' नामक अधिकरण है—"इतीयं प्रयोजकाङ्गवती संक्षिप्य सर्वमर्थमल्पग्रन्थेन अष्टादशाधिकरणी प्रणीता।" कविरहस्य नामक वर्तमान प्रथम अधिकरण में १८ अध्याय हैं जो काव्यशास्त्र से संबद्ध सभी विषयों को समाहित किये हैं। राजशेखर ने यहाँ अपने से पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के मतों संकलन और आलोचन कर सार रूप में इस ग्रन्थ को उपनिवद्ध किया है। यह ग्रन्थ सिद्धान्त की प्रामाणिकता के साथ ही साथ लोकप्रियता को भी समाहित लिये हुये है।

राजशेखर का समय

राजशेखर के काल के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। ईसा की सातवीं शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक विभिन्न लोगों ने इसे दर्शाया है तथा परस्पर एक दूसरे के मत का खण्डन-मण्डन किया है। परन्तु अब अधिकांश विद्वान् इन्हें नवीं सदी के उत्तरार्ध और दसवीं सदी के मध्यभाग तक मानते हैं। इस विषय में स्वयं राजशेखर अपने को महेन्द्रपाल का गुरु मानते हैं।

देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः।

—बालरामायण १।१८

तथा—रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकलानिलयः स यस्य शिष्यः॥

—विद्धशाल० १।६

तथा—बालकविः कविराजो निर्भयराजस्य तथोपाध्यायः।

—कर्पूरमञ्जरी

इन महेन्द्रपाल नृप की राजधानी कान्यकुब्ज में थी जिसे राजशेखर ने 'सर्वमहापवित्र' कहा है। ये महेन्द्रपाल गुर्जर-प्रतिहार वंश के प्रतापी सम्राट् थे। इस वंश के प्रतिहार होने का मूल कारण इसके लक्ष्मण का वंशज होने से दिया जाता है। क्योंकि लक्ष्मण राम के प्रतीहार (द्वारपाल) थे अतः लक्ष्मण के वंशज अपने को प्रतीहार कहते थे। भोजदेव इस वंश के प्रतापी शासक थे

और इन्होंने वहुत से विरुदों को धारण किया था। भोजदेव की मृत्यु संभवत: ८९० ई० में हुई और उसके वाद उनके पुत्र महेन्द्रपाल शासक हुए। महेन्द्रपाल की माता का नाम चन्द्रभट्टारिका देवी था। महेन्द्रपाल के शिलालेख बंगाल से काठियावाड़ तथा झांसी से करनाल तक फैले हैं। शिलालेखों में इनके नाम महेन्द्रायुध तथा महेन्द्रपालदेव मिलते हैं। राजशेखर ने वालरामायण तथा कर्पूरमञ्जरी में निर्भय (या निर्भर) राज लिखा है जिसका ऐक्य विद्वानों ने महेन्द्रपाल से किया है। इन शिलालेखों का समय विक्रमसंवत् ९६० से १०२५ तक है। सियोदनी (झांसी) के शिलालेखों में महेन्द्रपाल के दो शिलालेख हैं जिनका समय संवत् ९६० तथा ९६४ है। इनके आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि महेन्द्रपाल नवीं सदी के अन्त तथा दसवीं के प्रारम्भ में वर्तमान थे। डॉ० वी० एन० पुरी ने महेन्द्रपाल की मृत्यु ९१० ई० में मानी है।[1] महेन्द्रपाल के वाद महीपाल या क्षितिपाल शासक हुये जिनका उल्लेख राजशेखर ने वालभारत में इस प्रकार किया है :

नमितमुरलमौलि: पाकलो मेकलानां
रणकलितकलिङ्ग: केलि तट् केरलेन्दो: ।
अजनि जितकुलूत: कुन्तलानां कुठार:
हठहृतमरठश्री: श्रीमहीपालदेव: ।।

तेन च रघुवंशमुक्तामणिना आर्यावर्तमहाराजाधिराजेन श्रीनिर्भयनरेन्द्र-नन्दनेनाधिकृता: सभासदा: । वालभारत १।७ ।

इन महीपाल या क्षितिपाल के बाद उनके वैमात्र भाई विनायकपाल शासनारूढ हुए। इनका राज्यारोहण काल ९३१ ई० माना जाता है। राजशेखर के उपरि उल्लिखित उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि उनके ग्रन्थ महेन्द्रपाल और महीपाल के समय में निर्मित हुए। महेन्द्रपाल के वे गुरु थे अत: संभवत: अवस्था में भी उनसे बड़े रहे हों। महेन्द्रपाल का शासनारोहण ८९० ई० है अत: राजशेखर का जन्म ८५० या ८६० ई० के आस पास माना जा सकता है। महीपाल का मृत्युकाल ९३१ ई० है अत: वे ८५० ई० से ९३१ ई० या उसके कुछ पूर्व या वाद में रहे होंगे। इन दोनों सम्राटों के वे गुरु, मंत्री तथा उपदेष्टा थे। अपने पाण्डित्य, कृतित्व तथा शास्त्रवैभव से परम सन्तुष्ट राज शेखर ने जीवन यापन किया था और संभवत: गुर्जरप्रतिहारों के राजनीतिक संकट के समय उन्हें कान्यकुब्ज का त्याग भी करना पड़ा हो, जिसके आधार पर क्षेमेन्द्र ने उन्हें जीवन के अंतिम समय में वाराणसी में वर्णित किया है।

---

१. डॉ० वी० एन० पुरी, हिस्ट्री ऑफ गुर्जरप्रतिहार, पृ० ७७

बाह्य साक्ष्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि धनञ्जय; अभिनव गुप्त, क्षेमेन्द्र, कुन्तक आदि ने राजशेखर का उल्लेख किया। इनमें सबसे प्राचीन धनञ्जय हैं (९७४ ई०–९९४ ई०) जिन्होंने दशरूपक (३।१५ तथा ४।५४-५५) में राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी तथा विद्धशालभञ्जिका का उल्लेख किया है अतः राजशेखर ९७४ ई० में वर्तमान थे या उससे पहले थे। इसी प्रकार सोमदेव ने अपने यशस्तिलकचम्पू (रचनाकाल ९५९ ई०) में (चतुर्थ उच्छ्वास २।११३) राजशेखर का उल्लेख किया है अतः राजशेखर का ९५९ ई० से भी पूर्ववर्ती होना सिद्ध होता है।

अन्तःसाक्ष्यों में राजशेखर ने स्वयं वाल्मीकि से लेकर रत्नाकर तक का उल्लेख किया है। रत्नाकर आनन्दवर्धन के समकालीन तथा काश्मीरनरेश अवन्तिवर्मा के सभापण्डित थे जिनका समय ८५५ ई० से ८८३ ई० है। अतः राजशेखर ८८३ ई० के समय या उसके बाद हुए। इस प्रकार हम राजशेखर का समय ९ वीं सदी के उत्तरार्ध या अन्तिम अंश से दशवीं के मध्य या पूर्वार्ध में मान सकते हैं।

राजशेखर के अन्तिम समय में कान्यकुब्जनरेश पर विपत्ति के बादल मड़राये थे। क्षितिपाल के शासन के समय भोज द्वितीय ने कान्यकुब्ज पर आक्रमण किया और इस युद्ध में क्षितिपाल या महीपाल की पराजय हुई और उन्हें कान्यकुब्ज छोड़ना पड़ा था। पर यह पराजय अल्पकालीन थी और महीपाल ने चन्देल राजा हर्षदेव की सहायता से पुनः कान्यकुब्ज पर अधिकार पा लिया।

बालरामायण का कथानक

प्रथम अंक में शुनःशेप के द्वारा यह ज्ञात होता है कि विश्वामित्र राक्षसों से रक्षा के निमित्त रामचन्द्र को लाने के लिये अयोध्या गये हैं और शुनः-शेप को अपना प्रतिनिधि बनाकर जनक के यज्ञ में भेजा है। रावण के चर राक्षस के आगमन से वहीं विदित होता है कि सीता-स्वयंवर में धनुष के आरोपण से सीता को प्राप्त करने के लिये रावण भी आने वाला है और उसने मायामय नामक राक्षस को परशुराम के पास उनका परशु माँगने के लिए भेजा है। शुनःशेप और राक्षस में संवाद होता है तथा उनके संवाद में विश्वामित्र और अगस्त्य के विषय में उनके प्राचीन चरित्र का भी उल्लेख होता है। तदनन्तर पुष्पक विमान से रावण एवं प्रहस्त मिथिला में पहुँचते हैं। प्रहस्त रावण के आगमन की सूचना जनक और शतानन्द को देता है। वे उसका स्वागत करते हैं किन्तु सीता निमित्त उसके आने की बात से

व्यथित होते हैं। रावण के लिये धनुष मँगाया जाता है और सीता भी उपस्थित होती हैं। सीता और सखियाँ भी रावण को देखकर दुःखित होती हैं। रावण प्रथमतः तो क्रोधपूर्वक धनुष को उठाता है पर उसे यह विचार कर कि साधारण मनुष्य की भाँति वह भी धनुरारोपण के पण से विवाह नहीं करेगा धनुष फेंक देता है। इसे जनक शिव-धनुष का अपमान मानकर क्रुद्ध हो उठते हैं और रावण को प्रथमतः तो शस्त्र और पुनः शाप से दण्डित करना चाहते हैं। शतानन्द उन्हें शान्त करते हैं। रावण उनके इस क्रोध का उपहास करता है रावण वहाँ प्रतिज्ञा करता है कि सीता का जो वरण करेगा उसके कण्ठ को काटकर उसके रक्त का आस्वाद मेरी चन्द्रहास असि करेगी। इसी समय रावण की सेना के आने की सूचना मिलती है माध्यन्दिन सन्ध्या का समय जानकर रावण मिथिलापुरी के समीपवर्ती स्थान में दो-तीन दिन रहने के लिये चला जाता है। नाटक की कथा का बीज पौलस्त्य रावण की प्रतिज्ञा का उल्लेख होने के कारण इस अङ्क का नाम **प्रतिज्ञापौलस्त्य** रखा गया है।

द्वितीय अङ्क में परशुराम और रावण के वाग्विवाद का वर्णन है। अङ्क के प्रारम्भ में नारद तथा शिव के गण भृङ्गिरिटि के वार्तालाप से ज्ञात होता है कि परशु माँगने से कुपित परशुराम रावण से युद्ध करने के लिये आ रहे हैं। रावण सीता का स्मरण कर रहा है कि इसी समय मायामय नामक राक्षस आकर सूचना देता है कि परशुराम ने परशु नहीं दिया। तत्काल ही परशुराम भी अपने शिष्य माठर के साथ उपस्थित हो जाते हैं। दोनों का वार्तालाप विवाद में परिवर्तित हो जाता है। दोनों आत्म-प्रशंसा तथा दूसरे पर आक्षेप करते हैं। दोनों युद्ध के लिये उद्यत होते हैं पर शिवादेश से भृङ्गिरिटि दोनों को रोकते हैं। (जामदग्न्य) राम तथा रावण के वाक्कलह के कारण इसका नाम **रामरावणीय** रखा गया है।

तृतीय अङ्क विलक्षलङ्केश्वर नामक है। इसमें गृध्रमिथुन के कथनोपकथन द्वारा सूचना मिलती है कि यज्ञ-रक्षार्थ राम ने ताटका आदि का वध कर दिया है तथा रावण के विनोदार्थ सीतास्वयंवर नामक नाटक का अभिनय होने जा रहा है। रावण के सम्मुख दिव्य पात्र 'सीतास्वयंवर' का अभिनय करते हैं। जिसमें विश्वामित्र के साथ राम लक्ष्मण सम्मिलित होते हैं। सीता-स्वयंवर में नाना देशों के नरपति सम्मिलित हैं। धात्री घोषणा करती हैं हैं कि शिव-धनुष को भङ्ग करने वाला ही सीता का वरण करेगा। नाना देशों के राजाओं का बड़ा ही सूक्ष्म और रोचक वर्णन है। जब राजा शिव धनुष तोड़ने में असफल होते हैं तो रावण उनका उपहास करता है। सभी

राजाओं के असमर्थ होने पर राम धनुर्भङ्ग करते हैं और सीता का पाणि-ग्रहण करते हैं। यह देखकर रावण उत्तेजित हो उठता है और प्रतीहारी उससे समझाती है कि यह वास्तविक दृश्य नहीं अपितु नाटक है। रावण शान्त होता है। वैतालिक सन्ध्या की सूचना देता है। रावण अपने प्रासाद में लौटता है। रावण के वैलक्ष्य को लक्ष्य कर इस अङ्क का नाम **विलक्ष-लङ्केश्वर** रखा गया है।

चतुर्थ अङ्क में उपाध्याय और बटु के संवाद से सूचना मिलती है कि धनुर्भङ्ग का वृत्तान्त सुनकर क्रुद्ध परशुराम राम से युद्ध करने के लिये मिथिला आ रहे हैं। दशरथ के मिथिला पहुँचने पर दौवारिक सूचित करता है कि विवाह-कर्म संपन्न हो चुका है और राम अयोध्या को प्रस्थान करने वाले हैं। गुरुजन सीता को स्त्रियों के धर्म का उपदेश करते हैं। इसी समय जामदग्न्य राम उपस्थित होते हैं। परशुराम राम पर अत्यन्त क्रुद्ध हो आक्षेप करते हैं। राम अत्यन्त विनम्रता और शिष्टता से उनका सत्कार करते हैं। विश्वामित्र भी समझाने का प्रयास करते हैं पर परशुराम शान्त नहीं होते अपितु धमकी देते हैं। वैष्णव धनुष को वे आरोपण के लिये देते हैं जिसे लक्ष्मण आरोपित करते हैं। तदनन्तर वे मिथिला की समीपवर्ती भूमि में युद्ध के लिये चले जाते हैं। **भार्गवभङ्ग** इस अङ्क की संज्ञा है क्योंकि इसमें परशुराम की पराजय होती है जिसकी सूचना अगले अङ्क में दी गई है।

पञ्चम अङ्क में मायामय और माल्यवान् के वार्तालाप से विदित होता है कि परशुराम और राम के विवाद में राम विजयी हुये। यह भी पता चलता है कि रावण सीता में आसक्त है और हरण करना चाहता है। रावण के संतोष के लिये यन्त्र-जानकी का निर्माण किया गया है। यन्त्र-जानकी और उसकी सखी सिन्दूरिका रावण के सामने उपस्थित की जाती हैं। विरह-दग्ध रावण प्रणयालाप करता है और आलिङ्गन के उद्योग में यन्त्र-जानकी का उसे ज्ञान होता है जिसके कण्ठ में सारिका बैठी है। रावण प्रमोद वन में जाता है जहाँ उसकी कामशान्ति के लिये षड्ऋतु की अवतारणा होती है। उसकी काम-शान्ति के लिये नदियाँ, अप्सराएँ, गिरिकन्यका, वारुणी, लक्ष्मी, सरस्वती सादर उसका उपचार करती हैं पर उसे शान्ति नहीं मिलती। सूर्पणखा नाक कटाकर लौटती है। रावण क्रोध से प्रज्वलित हो उठता है। इस अङ्क में कामवेदना से रावण की उन्मत्तावस्था का द्योतन होने से इसका नाम **उन्मत्त दशानन** है।

षष्ठ अङ्क में सूर्पणखा के अपमान से क्रुद्ध रावण प्रतिशोध लेना चाहता है पर उसे इस मिथ्या आश्वासन से आश्वस्त किया जाता है कि सीता ने कहा

है कि प्रेम-परीक्षा के लिये उसी ने यन्त्र-जानकी को भेजा था और कुछ ही दिनों में रावण के पास आ जायेगी। इसी बीच सूर्पणखा और मायामय आकर सूचना देते हैं कि माल्यवान् के आदेशानुसार वे कैकेयी और दशरथ का वेश बनाकर उस समय अयोध्या गये जब दशरथ और कैकेयी देवलोक में इन्द्र के यहाँ गये थे और वहाँ छद्म कैकेयी ने छद्म दशरथ से राम वनवास की याचना की। राम लोगों द्वारा रोके जाने पर और यह कहने पर भी कि वे दोनों छद्म वेश-धारी कोई थे जो यह कह-सुनकर कहीं चले गये राम उस आज्ञा को शिरोधार्य कर वन को प्रस्थान करते हैं। जब दशरथ-कैकेयी लौटते हैं तो अवाक् रह जाते हैं। वामदेव बताते हैं कि राम ने यह कहा कि चाहे यक्ष, राक्षस या कोई भी छद्म वेश में रहा हो जब पिता की आज्ञा के रूप में मैंने उसे शिरोधार्य कर लिया तो वन जाऊँगा। सुमन्त्र आकर नर्मदा तक राम को पहुँचाने की सूचना देते हैं। तदनन्तर जटायु का दूत चित्रशिखण्ड आकर रावण के द्वारा सीता-हरण की सूचना देता है और जटायु के मारे जाने की खबर बताता है। यह सूचना जटायु ने कण्ठगत प्राण होने पर प्रेषित की थी और कहा था कि आपकी मैत्री का ध्यान करते हुये मुझ पक्षी से जो संभव था वह मैंने किया। यह वृत्तान्त सुनकर दुःखी दशरथ गङ्गा-यमुना के संगम प्रयाग में प्राण-त्याग कर स्वर्ग गमन की कामना करता है। नाटककार ने इस अङ्क में दशरथ को निर्दोष दिखाया है और बताया है कि कैकेयी तथा दशरथ की अनुपस्थिति में सूर्पणखा तथा मायामय ने माल्यवान् की योजनानुसार उनका वेश बनाकर राम के वन-गमन को कराया था और दशरथ को इसका ज्ञान मात्र तक नहीं था। एतदर्थ इस अंक का नाम **निर्दोष दशरथ** है।

सप्तम अंक में वैतालिकों द्वारा राम का यशोगान होता है और पता चलता है कि दशरथ की मृत्यु का समाचार सुनकर राम ने अपनी विरुदावली तब तक न गाने का निर्देश दिया है जब तक रावण का वध नहीं कर लेते। सागर तट पर सागर से मार्ग की याचना, सागर की प्रथमतः उपेक्षा और पुनः अग्नि-बाण से दग्ध होने पर प्रकट होना और सेतु-निर्माण की विधि बताना और सेतु-निर्माण इस अंक में निर्दिष्ट हैं। सेतु-निर्माण का काव्यात्मक ढंग से वर्णन है। इस अंक में सेतु-बन्धन-कार्य में बाधा डालने के लिये राक्षस-सेना आती है तथा भयंकर युद्ध के बाद परास्त होती है। रावण सीता का शिर काटकर फेंकता है जिससे देखकर राम शोक-संतप्त हो जाते हैं पर वह यन्त्र-जानकी का शिर रहता है जिसके कण्ठ में बैठी सारिका राम को बताती है कि यह वास्तविक जानकी का शिर नहीं है। तदनन्तर मन्दोदरी-पुत्र सिंहनाद जिसका शरीर अत्यन्त विशाल तथा भयंकर है, युद्ध के लिये आता है। बाद-

विवाद के बाद राम कहते हैं कि नगर-सीमा से दूर हटकर युद्ध किया जाय। इस अङ्क में राम का अप्रतिद्वन्द्व (बेजोड़) पराक्रम वर्णित है, अतः इसका नाम **असम पराक्रम** है।

अष्टम अङ्क में दुर्मुख और सुमुख नामक राक्षसों के संवाद से विदित होता है कि युद्ध में रावण-पुत्र सिंहनाद मारा गया। तदनन्तर ज्ञात होता है कि रावण ने तुला-द्यूत का प्रस्ताव शुक और सारण के द्वारा राम के पास भेजा है। इस युद्ध में राम का एक प्रतिनिधि रावण के एक प्रतिनिधि से युद्ध करेगा। राम स्वीकार कर लेते हैं। राम के प्रतिनिधि रूप में अङ्गद तथा रावण के प्रतिनिधि रूप में नरान्तक युद्ध करते हैं। घोर युद्ध में नरान्तक मारा जाता है और इस प्रकार तुला-द्यूत में राम विजयी होते हैं। तुला-द्यूत का पण (शर्त) रावण ने रखा था कि जिसका प्रतिनिधि पराजित होगा वह सीता और लंका हार जायेगा किन्तु पराजय के बाद भी रावण शर्त को स्वीकार नहीं करता और घोर युद्ध ठान देता है। त्रिजटा सीता को युद्ध का सभी वृत्तान्त यथावत् निवेदन करती है। इस अंक में मेघनाद और कुम्भकर्ण का वध होता है। युद्ध का साङ्गोपाङ्ग विवरण रावण को दूत वर्णित कर सुनाते और दिखाते हैं। इस अंक में वीरों के चरित्र का वर्णन है और उसका सम्यक् विकास हुआ है, अतः इस अंक का नाम **वीरविलास** है।

नवम अङ्क में रावण-वध होता है, इससे इस अंक का नाम **रावण-वध** है। नाटककार ने राम और रावण का अप्रतिम बल-पराक्रम और कौशल इस अङ्क में प्रदर्शित किया है जिसमें अन्ततः रावण का वध कर राम विजय प्राप्त करते हैं। अङ्क के आरम्भ में ही यम का पुरुष दिखाई पड़ता है। उसके कथन से पता चलता है कि यमराज ने लंका का लेख-पट्ट माँगा है। वे जानना चाहते हैं कि किस लंकानिवासी का किसके द्वारा कब वध होगा तथा राम-रावण का किस प्रकार युद्ध होगा, क्योंकि दशरथ के साथ इन्द्र युद्ध देखने के लिये उतरे हैं और उन्हें ही यह लंका का लेख-पट्ट सुनाना है। यम-पुरुष (यम-दूत) एतदर्थ चित्रगुप्त के पास पहुँचता है। चित्रगुप्त भी दिन-रात रामानुचरों द्वारा लंका-निवासियों का निधन-प्रपञ्च लिखते-लिखते थक गये हैं। यमपुरुष उनसे यमराज का संदेश कहता है और वे लंका का लेखपट्ट देते हैं, जिसमें लिखा है कि सत्ययुग बीतने पर त्रेता के प्रथम वर्ष में कार्तिक कृष्णपक्ष के प्रथम दिन प्रातः समुद्र के अलंकारभूत लंका को रामानुवर्ती सुग्रीव के वानर बलात् घेर लिया। धूम्राक्ष और अकम्पन को हनूमान् ने मारा। प्रहस्त को नील ने मारा तथा दूसरे दिन राम ने कुम्भकर्ण का वध किया। अङ्गद ने नरान्तक को मारा तथा हनूमान् ने देवान्तक और त्रिशिरा

को मारा। महापार्श्व को ऋषभ ने मारा तथा तीसरे दिन लक्ष्मण ने अतिकाय को मारा। कुम्भकर्ण के दोनों पुत्रों, कुम्भ और निकुम्भ को सुग्रीव और हनूमान् ने मारा। खर-पुत्र मकराक्ष को राम ने मारा। मेघनाद को लक्ष्मण ने मारा तथा चौथे दिन सुग्रीव ने महोदर और विरूपाक्ष को मारा तथा पाँचवें दिन बड़े प्रयास से राम द्वारा रावण मारा जायेगा। यह वृतान्त देकर दूत चला जाता है, तदनन्तर इन्द्र के साथ दशरथ दृष्टिगत होते हैं। दो चारण भी उन्हें वृत्तान्त बताने के लिये दिखाई पड़ते हैं। राम-रावण का द्वैरथ युद्ध होता है। राम युद्धारम्भ में ही रावण से कहते हैं कि जानकी को लौटा दो अन्यथा खर-दूषण आदि की भाँति मारे जाओगे। रावण ने कटु उत्तर दिया। फलतः युद्ध होता है। दिव्यास्त्रों का प्रयोग होता है। घोर युद्ध में राम द्वारा रावण के मस्तक काटे जाते हैं पर वे पुनः उत्पन्न हो जाते हैं। अन्ततः राम मायाहर अस्त्र का प्रयोग करते हैं जिसे उन्होंने विश्वामित्र से प्राप्त किया था और ब्रह्मास्त्र से रावण का शिरःछेद करते हैं। देवताओं द्वारा पुष्प-वृष्टि की जाती है। रावण-वध का विवरण होने से इस अङ्क का नाम **रावण-वध** है।

अन्तिम **दशम अङ्क** का नाम **राघवानन्द** है। इस अंक में राम पुष्पक-विमान द्वारा लंका से चलकर अयोध्या आते हैं और वहाँ उनका राज्याभिषेक होता है। घोरयुद्ध के बाद राम-विजय के अनन्तर राज्याभिषेक के आमोदमय प्रसंग के कारण इसका नाम राघवानन्द है। पुष्पक-विमान से आते समय युद्ध-भूमि के अवलोकन के बाद विमान ऊपर उड़ जाता है। हिमालय, कैलास, मन्दर, मेरु आदि दिव्यलोकों और स्थानों का वर्णन तथा चन्द्रलोक तक पहुँचकर विमान पुनः भूमण्डल पर आ जाता है और मलय, रोहण आदि के वर्णन के बाद विमान अगस्त्याश्रम में उतरता है। अगस्त्य और लोपामुद्रा के दर्शन और आशीर्वाद के बाद विमान पुनः चलता है और द्रविड, अन्ध्र, कावेरी, महाराष्ट्र, नर्मदा, लाट, मालवा, उज्जयिनी, पांचाल, कान्यकुब्ज, प्रयाग, वाराणसी, मिथिला का अवलोकन करते हुये विमान अयोध्या में उतरता है। भरत-शत्रुघ्न-वसिष्ठादि से मिलने के बाद राज्याभिषेक होता है। कुबेर राम से पुष्पक-याचना करते हैं और राम देते हैं। भरत-वाक्य के साथ नाटक समाप्त होता है।

कथानक की समीक्षा—राजशेखर के बालरामायण में निर्दिष्ट कथा का स्रोत वाल्मीकीय-रामायण है और वाल्मीकि का स्मरण नाटककार ने प्रारम्भ में ही किया है। तथापि, नाटककार ने कुछ नवीन उद्भावनाओं की भी सृष्टि की है जिससे वाल्मीकि-रामायण से कथा भाग में अन्तर पड़ जाता है। इनमें थोड़ा-बहुत अंतर तो जानकी-स्वयंवर, वहाँ रावण की उपस्थिति और धनुष का अपमान, रावण-परशुराम का परशु को लेकर विवाद, रावण की,

सीता को वरण करने वाले को मारने की प्रतिज्ञा, दशरथ और कैकेयी की अनुपस्थिति में मायामय और सूर्पणखा द्वारा दशरथ कैकेयी का वेष बनाकर राम को चौदह वर्ष के लिये निर्वासित कराना तथा राम का यह जानकर भी कि ये वास्तविक दशरथ-कैकेयी नहीं हैं वन जाना, भरत का उस समय मातुल-कुल में न होकर अयोध्या में होना, राम के वन जाने के बाद दशरथ-कैकेयी का आगमन, सुमन्त्र का राम को नर्मदा तक पहुँचाना, जटायु के दूत चित्र-शिखण्ड द्वारा सीता-हरण तथा जटायु-युद्ध की सूचना देना, सूर्पणखा का अयोध्या में नासा-छेदन, सेतुबन्ध में रावण की बाधा, यन्त्र-जानकी की उद्-भावना, रावण की सीता के प्रति वियोग-व्यथा, यमपुरुष द्वारा पाँच दिन में युद्ध को पूर्ण बताना, तुलाद्यूत का प्रकरण, सिंहनाद का विवाद और युद्ध, रावण-युद्ध एवं राम के वापिस आते समय विभिन्न स्थानों के वर्णन इत्यादि के प्रसङ्गों में वर्तमान है, पर कवि की मुख्य उद्भावना रावण की स्वयंवर में उपस्थिति तथा तभी से सीता के प्रति अनुराग और हरण की योजना तथा दशरथ-कैकेयी को दोष से मुक्त करना प्रतीत होता है। कवि का इन दोनों घटनाओं को रखने का उद्देश्य कथा को अधिक मानवीय और तर्कसंगत धरातल पर रखना प्रतीत होता है। सीता-हरण को कवि केवल सूर्पणखा के नासा-छेदन से संबद्ध नहीं करता, अपितु रावण की यह स्वयंवर के समय से ही अभिलाषा बताता है। संपूर्ण लंका के युद्ध को पाँच दिन में ही समाप्त करा देना कवि की मौलिक उद्भावना है, क्योंकि वाल्मीकिरामायण में अकेले इन्द्रजित् को लक्ष्मण ने किसी प्रकार तीन दिन-रात सतत प्रयास के बाद मारा था—

> अहोरात्रैस्त्रिभिर्वीरः कथञ्चिद् विनिपातितः।
> निरमित्रः कृतोऽस्म्यद्य निर्यास्यति हि रावणः॥ —युद्ध० ९२।१६

इस युद्ध का त्रेता के आद्य वर्ष में कार्तिक कृष्णपक्ष के प्रारम्भ के पांच दिनों में संपन्न होना भी प्रमाण-सापेक्ष है। इतने परिवर्तनों के लिये प्रमाण का अन्वेषण कठिन है और इसे नाटककार की मौलिक उद्भावना को ही श्रेय दिया जा सकता है। वैसे, यह प्रश्न सुतरां विचारणीय है कि नाटककार ने ये परिवर्तन कर किस लक्ष्य को प्राप्त किया है। यदि इतने परिवर्तन न कर कथा को मूल रूप में भी रहने दिया जाता तो नाटक के महत्त्व में संभवतः अंतर नहीं आता।

राजशेखर के बालरामायण में पूर्ववर्ती कवियों, विशेषतः कालिदास एवं भवभूति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। श्लोकों में भावसाम्य के पर्याप्त उदाहरण भवभूति के महावीरचरित तथा उत्तररामचरित एवं राजशेखर

के बालरामायण में ढूँढे जा सकते हैं[1]। किन्तु इन भावसाम्यों के होने पर भी राजशेखर की मौलिकता में संदेह नहीं।

चरित्र-चित्रण

बालरामायण में राजशेखर ने पात्रों का आधिक्य कर दिया है। मनुष्यों, राक्षसों, वानरों, पशु-पक्षियों, देवताओं एवं ऋषियों से समन्वित इस विपुलकाय नाटक में ६७ पात्र हैं। नाटक के प्रधान पात्रों का चरित्र इस रूप में प्रस्तुत हुआ है।

राम—इस नाटक के नायक राम में सभी संभावित आदर्श गुणों का संचय है। वे अत्यन्त विनम्र, क्षमाशील, परदुःखकातर, दुष्ट-दमनकर्ता तथा सच्चारित्र्य के पालक और रक्षक हैं। राम विष्णु के अवतार या विष्णु हैं और उनका चरित्र धीरोदात्त है, जिसकी स्पष्टोक्ति नाटककार ने पहले ही कर दी है :

धीरोदात्तं जयति चरितं रामनाम्नश्च विष्णोः। १।६

शुनःशेप के कथन से यह प्रथम अंक में ही स्पष्ट हो जाता है कि राम राक्षसों से रक्षा की औषध हैं—'राक्षसरक्षौषधं रामभद्रमानेतुं' (१।२२-२३)। परशुराम के अत्यन्त क्रुद्ध होने पर भी राम में विनम्रता उच्चकोटि की प्रस्फुटित होती है। वे अपना शिर परशुराम के सामने कर देते हैं :

स्वायत्तेन कुठारेण स्वाधीने राममूर्धनि।
यथेष्टं चेष्टतामार्यस्त्वदाज्ञां को निषेधति॥ ४।६२

किन्तु विनम्रता के साथ ही साथ उनमें दृढता भी उसी कोटि की है। जब परशुराम युद्ध का हठ करते हैं तो वे उसके लिये भी प्रस्तुत हो जाते हैं। राम की यही विनम्रता समुद्र के प्रति भी दिखाई पड़ती है। जब समुद्र राम के अनुनय पर ध्यान नहीं देता तो राम पौरुष का आश्रय लेकर समुद्र को अग्नि-बाणों द्वारा दग्ध करने पर उद्यत होते हैं। पर जब समुद्र गङ्गा-यमुना के साथ राम के पास विनीत भाव से उपस्थित होते हैं, उस समय श्रीराम उन्हें प्रणाम कर विनम्रता से आदेश देने को कहते हैं—'भगवन् रत्नाकर नमस्ते। नन्वहं प्रशास्यो भगवतः। ७।३६-३७।

यही विनम्रता और नीति उन्होंने अपने शत्रु रावण के प्रति भी अपनायी। राम-रावण के द्वैरथ-युद्ध आरम्भ होने से पूर्व भी उन्होंने रावण से एक बार सीता को लौटाने के लिये कहा—

---

१. ऐसे भावसाम्य के उदाहरण के लिये द्रष्टव्य डा० श्यामावर्मा कृत राजशेखर, पृ० ५७-६२

भो लङ्केश्वर दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते
कोऽयं ते मतिविभ्रमः स्मर नयं नाद्यापि किञ्चिद् गतम् ॥ ९।१९

किंतु राम में विनम्रता के साथ ही साथ पराक्रम भी चरम कोटि का है। चाहे विपक्षी कितना भी प्रबल और यशस्वी हो, राम पर युद्ध थोपता है तो राम उसका दमन करते हैं। उनकी नम्रता उनके शौर्य का आभूषण है। उनका शौर्य शिव के शौर्य के तुल्य है, अप्रतिम है। इन्द्र कहते हैं— अमुना रामशरविद्यावैशारद्येन देवं त्रिपुरान्तकरं शङ्करमनुस्मारितोऽस्मि ९।२४-२५।

संक्षेप में राम के चरित्र में सभी आदर्श गुणों की एकत्र अवस्थिति है। वे विनम्र, धीर, कष्टसहिष्णु, परदुःखकातर और आदर्शों के रक्षक हैं।

सीता—नाटक की नायिका सीता आदर्श पतिपरायणा स्त्री हैं। पति के साथ वे समस्त संभावित कष्टों को भी सुख मानती हैं और पति के अभाव में सभी सुख उनके लिये दुःख है। सीता लोकोत्तर सुन्दरी हैं और नाटककार ने उन्हें संसार के सारभूत पदार्थों से निर्मित बताया है—संसारसारनिचयेन विधाय वेधाः। १।४३

उनके अनुपम सौन्दर्य के कारण ही रावण ने अनार्य कर्म कर मृत्यु का वरण किया है। इस अनुपम सौन्दर्य को विद्याधर देखते हैं :

वन्धे वारिनिधेः कृतेऽपि गिरिभिः सोढः शिरोमण्डल—
च्छेदो राक्षसपुङ्गवेन समरे यस्याः किमन्यत्कृते।
कीदृक् सा जनकात्मजेति रभसाद् विद्याधरैर्द्वन्द्वशः
पाणिच्छन्ननिवारितार्ककिरणैस्त्वं कौतुकाद् दृश्यसे ॥ १०।२३

सीता का चरित्र आदर्श साध्वी का है। उनके अग्नि-प्रवेश पर सभी दुःखी होते हैं और नाटककार अलकानगरी के मुख से कहलाता है कि अन्धकार से आवृत होने पर भी जिस प्रकार चन्द्रकला काली नहीं होती, उसी प्रकार सीता का राक्षस-गृह में वास कालुष्य का हेतु नहीं :

कालुष्यहेतुर्वैदेह्या न राक्षसगृहस्थितिः।
ध्वान्तवन्दीकृतापीन्दोर्न कला जातु नीलति ॥ १०।३

सीता के अग्नि-प्रवेश करते समय अरुन्धती प्रभृति पतिव्रताएँ घोषणा करती हैं कि हे अग्नि ! सीता के तुम में प्रवेश करने पर जलतुल्य शीतल हो जाओ। अन्यथा यदि इसके कोमल अङ्ग तुम में जल जायेंगे तो तुम अपनी शुद्धि के लिये कहाँ जाओगे :

यत् पौलस्त्यगृहोषिता प्रविशति त्वां देव शुद्ध्यर्थिनी
सीतेयं प्रथमा सतीषु कुरु तज्ज्योतिर्जलार्द्राजडम् ।
घर्मग्लानमृणालकाण्डमृदुलान्यङ्गानि दग्धानि चे-
देतस्याः क्व नु शोधकोऽपि भगवन् संशुद्धये यास्यसि ।। १०।८

संक्षेप में सीता लोकोत्तर सुन्दरी और साध्वी में रूप के चित्रित की गई हैं।

रावण—राम का प्रतिपक्षी रावण अत्यन्त पराक्रमी, दर्पयुक्त तथा देव-दानवों का अवमन्ता है। परोत्कर्ष की उसमें लेश-मात्र भी सहिष्णुता नहीं है। वह कहीं भी विनम्रता प्रदर्शित नहीं कर सकता। यहाँ तक कि शिव-भक्त होने पर भी वह भवानी को मात्र इसीलिए प्रणाम नहीं करता क्योंकि वे स्त्री हैं। चाहे राम हों या परशुराम किसी के प्रति वह शालीनता का व्यवहार नहीं करता। व्यंग्य, कूटोक्ति और दर्पोक्ति उसका वैशिष्ट्य है। असत्य आचरण और असत्य वचन उसमें कूट-कूट कर भरा है। उसने तुलाद्यूत का आयोजन किया और शर्त रखी कि जिसका प्रतिनिधि हार जायेगा उसकी हार हो जायेगी पर हारने पर भी उसने हार नहीं मानी और लंका का विनाश कराया। माया सीता का वध भी उसके असत्याचरण का द्योतक है। क्रूरता उसकी प्रकृति है। नाटककार ने यहाँ रावण को सीता में अनुरक्त बताया है और उसका अनुराग सीता-स्वयंवर के समय से ही है और सीता हरणादि उसके परवर्ती कर्म उसी अनुराग पर आधारित हैं। नाटककार ने उसके सीता संबन्धी प्रणय को परवर्ती घटना का मूल माना है और प्रणय-जन्य नाना विरह-संतापों का सजीव चित्रण किया है। यह नाटककार की अपनी कल्पना है। इस दृष्टि से नाटककार ने उसके लोक-कुत्सित रूप का भरपूर चित्रण नहीं किया है। केवल उसका कुछ रूप परशुराम के संवाद में ही झलका है।

जामदग्न्य राम—अपूर्व पराक्रमी, वेद-विद्या और शस्त्रविद्या के पारंगत विद्वान्, क्षत्रिय क्षयकर्ता जामदग्न्य राम का चरित्र असहिष्णु और उद्धत रूप में चित्रित किया है। किन्तु नाटककार ने इतिहास-पुराण में निबद्ध उनके उत्कर्षों का यहाँ संक्षिप्त रूप से दिग्दर्शन करा दिया है। ब्रह्मा से सप्तम पुरुष, पृथ्वी को त्रिसप्त बार निःक्षत्रिय कर दान कर देने वाले, शिव-शिष्य परशुराम अत्यन्त क्रोधी हैं। वे अपमान की संभावना मात्र से प्रकुपित हो जाने वाले हैं। अपने यशोवर्णन में वे जरा भी नहीं सकुचाते, अपनी कीर्तिराशि का स्वयं उद्घाटन करते हैं। उनके जीवन की मुख्य घटनायें—शिव का शिष्यत्व शिवगणों सहित कार्तिकेय को पराङ्मुख करना, इक्कीस बार क्षत्रियध्वंश

करना, महर्षि होकर भी समरमहाग्रहग्रहीत होना, कार्तवीर्य के नाशक होना, मातृवध के कर्ता, आजन्म तपस्वी होना इत्यादि समग्र चरित्रों का यहाँ संकेत है। उनका चरित्र यहाँ दो बार वर्णित है—एक बार रावण के साथ उनके संवाद में दूसरी बार राम के साथ उनके विवाद में, दोनों स्थानों पर वे उग्र तथा असहिष्णु हैं।

दशरथ—अयोध्याधिपति महाराज दशरथ के चरित्र को नाटककार ने अत्यन्त परिष्कृत और परिमार्जित रूप में प्रस्तुत किया है। युग-युग से राम-वनवास के उन पर लगे लाञ्छन को नाटककार ने हटा दिया है। वे जब कैकेयी के साथ त्रिविष्टप में पुरन्दर-सभा में गये थे, राक्षसों ने दशरथ और कैकेयी का छद्म रूप धारण कर राम के वनवास की याचना की और राम उस आज्ञा को शिरोधार्य कर लक्ष्मण और जानकी के साथ वन चले गये। दशरथ और कैकेयी के लौटने पर उनको यह वृत्तान्त ज्ञात हुआ। सीता-हरण के वृत्तान्त को सुनकर दशरथ ने शरीर त्याग किया, ऐसा नाटककार ने दर्शाया है। दशरथ स्वर्ग में जाने पर राम-रावण के युद्ध को इन्द्र के साथ देखते हैं और वहाँ भी राम पर जब संकट पड़ता है तो युद्ध करने के लिये उद्यत हो जाते हैं और इस प्रकार मर्त्य-भावना को नहीं छोड़े हैं।

माल्यवान्—राक्षस पात्रों में माल्यवान् का चरित्र प्रबुद्ध राजनीतिज्ञ के रूप में नाटककार ने दिखाया है जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों काल की घटनाओं पर कड़ी दृष्टि रखे है। छल द्वारा राम का वन में निर्वासन, यन्त्र-जानकी आदि का निर्माण उसकी राजनीतिक सूक्ष्मदर्शिता के उदाहरण हैं। रावण की दुर्नीति से जो विपत्ति आने को होती है उसका प्रतिकार वह पहले से करता है। रावण के उपाय और अपाय (विपत्ति) में उनकी तीक्ष्ण दृष्टि लगी रहती है :

नैर्ऋताधिपकार्याणामुपायोपायकर्मणि ।
आर्यो यन्माल्यवानास्तेऽव्यस्तलक्षेण चक्षुषा ॥ ६।२

अन्य पात्रों में **जनक** शान्त-दान्त ब्रह्मज्ञानी हैं। रावण और परशुराम पर वे कुपित भी हो जाते हैं। **विश्वामित्र** राक्षसों के विनाशक और अशेष विद्याओं के ज्ञाता हैं। **अगस्त्य** महाज्ञानी समुद्र के पानकर्ता तथा राक्षसों के विध्वंसक हैं। उनका पुराण-प्रतिपादित चरित्र राक्षस के मुख से नाटक के प्रारम्भ में ही कहला दिया गया है। **वसिष्ठ** और **वामदेव** दशरथ के पुरोहित ऋषि हैं। **लक्ष्मण** वीरव्रतचर्या में निष्णात हैं। **कुम्भकर्ण, मेघनाद** और **सिंहनाद** वीर राक्षस हैं। **सिंहनाद** की अवतारणा नाटककार की स्वयं की उपज है। अन्य पात्रों का

चरित्र रामायणोक्त चरित्र से कोई विशेष वैभिन्य नहीं रखता। नारद के चरित्र में और गुणों को तिरोहित कर केवल उनके कलह-प्रिय रूप को ही नाटककार ने प्रस्फुटित किया है जो मात्र नाटक में प्ररोचना-वृद्धि के निमित्त ही प्रतीत होता है। वस्तुतः बालरामायण में पात्रों का जंगल ही खड़ा कर दिया गया है और सामान्य पाठक के लिये उनका नाम स्मरण करना भी कठिन है। छोटे-मोटे सभी पात्रों को मिलाकर इसमें ६७ पात्र हैं, जो देवता, मनुष्य, राक्षस, पक्षी, ऋषि सभी वर्गों के हैं। इन पात्रों की अवस्थिति से कथाभाग में तो कुछ विशेष ह्रास-वृद्धि नहीं होती, हाँ नाटक की नाटकीयता और नाटककार के कविकर्म के लिये अवकाश मिल जाता है।

समीक्षा

राजशेखर का बालरामायण अत्यन्त प्रसिद्ध और लोकप्रिय ग्रन्थ रहा है। परवर्ती साहित्याचार्यों ने इससे विपुल उद्धरण देकर इसकी लोकप्रियता और प्रामाणिकता की पुष्टि की है। राजशेखर ने इस नाटक में विश्वामित्र प्रसङ्ग से राम के राज्याभिषेक तक की समग्र राम-कथा को नाटकीय रूप देने का प्रयास किया है। विभिन्न पात्रों के माध्यम से विभिन्न घटना-क्रमों के वर्णन में कवि का चित्त इतना रमता है कि नाटक की गतिशीलता बाधित हो जाती है और दर्शक श्रोता बन जाता है। संभवतः राजशेखर को भी अपनी इस त्रुटि का ध्यान था और उन्होंने बालरामायण के प्रारम्भ में ही कह दिया था कि यहाँ 'भणिति (कथन) गुण' है :

> ब्रूते यः कोऽपि दोषं महदिति सुमतिर्बालरामायणेऽस्मिन्
> प्रष्टव्योऽसौ पटीयानिह भणितिगुणो विद्यते वा न वेति।
> यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठनरुचिर्विद्धि नः षट् प्रबन्धान्
> नैवं चेद् दीर्घमास्तां नटवटुवदने जर्जरा काव्यकन्था॥ —१।१२

यह वर्णन-कौशल राजशेखर की महती विशेषता है। राम की वन-यात्रा. सीता-स्वयंवर में विविध राजाओं और उनके देशों का वर्णन, लंका से लौटते समय विविध देशों, पर्वतों, नदियों, समुद्र, दिव्यलोकों तथा तत्तद् स्थानों की विशेषताओं के वर्णन में राजशेखर ने जो सूक्ष्मेक्षिका का परिचय दिया है वह उनके विविध देशों के सूक्ष्म ज्ञान और वर्णन-वैदग्ध्य का बोधक है। वस्तुतः राजशेखर भुवनकोशविद्या के आचार्य हैं।

राजशेखर कथोपकथन और वाग्वैदग्ध्य में विशेष प्रवीण हैं। संवादों में रोचकता और कूटोक्ति में राजशेखर अपना सानी नहीं रखते। प्रारम्भ में ही राक्षस और शुनःशेप-संवाद में विश्वामित्र और अगस्त्य का जो परिचय प्राप्त

होता है, वह कथोपकथन की विदग्धता का परिचायक है। रावण-परशुराम-संवाद तथा राम-परशुराम-संवाद इसके चूडान्त निदर्शक हैं। कथनोपकथन के माध्यम से न केवल दो पात्रों के वाक्कौशल का ही उन्होंने परिचय दिया है, अपितु संपूर्ण पौराणिक इतिवृत्त को उपस्थित कर दिया है।

राजशेखर ने नाटक में पात्रों के बाहुल्य के साथ ही साथ छन्दों का भी बाहुल्य खड़ा कर दिया है। नाटक में पद्यों की अधिकता के साथ ही साथ छन्दों की भी अधिकता है। बालरामायण में कवि ने कुल २२ छन्दों का प्रयोग किया है जिसमें केवल शार्दूलविक्रीडित २०८, वसन्ततिलका १६३, अनुष्टुप् १२८, स्रग्धरा ९४, मन्दाक्रान्ता ६९, मालिनी ३८, आर्या १६, पृथ्वी ७, वंशस्थ १३ तथा इन्द्रवज्रा ९ हैं। अन्य छन्दों की संख्या इससे कम है। वस्तुतः राजशेखर का अपना विशिष्ट छन्द शार्दूलविक्रीडित है। इसीलिये उनके लिये प्रसिद्ध भी है :

शार्दूलक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः।
शिखरीव परं वक्रैः सोल्लेखैरुच्चशेखरः॥

राजशेखर शब्दविद्या के निष्णात आचार्य हैं। वर्णानुकूल पदों की शैय्या में राजशेखर अद्वितीय हैं।

किसी भी दृश्य का वर्णन के माध्यम से साङ्गोपाङ्ग रूप उपस्थित कर देने में राजशेखर सिद्धहस्त हैं। रावण के लिये परशुराम की यह उक्ति देखिये :

परशुमिममदेयं याचते युद्धहेतो-
र्गिरिशधनुरधिज्यं कर्तुमुत्कण्ठते च।
तदिदमभिदधीथास्तं प्रवाचं पिशाचं
तव भुजतरुखण्डं मत्कुठारो न सोढा॥ —२।२२

भगवान् शंकर के रूप को कवि ने शब्द के माध्यम से कितना सुन्दर खड़ा कर दिया है :

दिगम्बरो वहति भुजङ्गभूषणं
कपालवान् वहति दामकौणपम्।
वृषप्रियो रचयति भस्मगुण्ठना-
मुमापतेश्चरितमचिन्त्यकारणम्॥ —२।३

दृश्यों और व्यक्तियों तथा उनके स्वभाव-वर्णन में राजशेखर की सिद्ध-हस्तता है। उनका विविध विषयों का विपुल ज्ञान-भण्डार और उनकी भाषा-गत विदग्धता इस नाटक में सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं। नाटककार ने इस नाटक में कार्यान्विति प्रदर्शित करने में विशेष दक्षता प्रदर्शित की है। प्रतिनायक

रावण सीता-स्वयंवर के समय से ही सीता पर आकृष्ट है और संपूर्ण नाटक का कथानक उसी पर निर्भर हो जाता है।

दृश्यों के वर्णन में राजशेखर को अपूर्व सिद्धि प्राप्त है। प्रातःकालीन सूर्योदय का वर्णन है। प्रथम अङ्क में शुनःशेप कहते हैं; इस समय भी मृदु लाल रङ्ग का सूर्य कैसा सुन्दर है। प्रातःकाल सूर्य की कोमल किरणें बिखर रही हैं। उनसे वृक्षों के पल्लव विद्रुम के रङ्ग के हो जाते हैं। ये किरणें त्रैलोक्य रूपी राजमहल की कर दीपिका तथा दिवसरूपी गजराज की कर्ण चामर है।

कथमद्याप्यपहिष्ठमाञ्जिष्ठं च मञ्जु मार्तण्डीयं तेजः। तथा हि—

उषःप्रवालद्रुमबालपल्लवा-
स्त्रिलोकहर्म्याङ्गण-हस्तदीपिकाः।
दिनद्विपेन्द्रारुणकर्णचामरा
मरीचयोऽर्कस्य लुठन्ति कोमलाः ॥ .१।२

ताटका राक्षसी के बीभत्स रूप का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है कि रक्त से व्याप्त मुख वाली, मृग का भारी ग्रास लेने से व्यग्र तालु, वाली; फुल्ल गले भारी फेत्कारों से जगत् को कम्पित करती हुई, हाथ में लिये दो शवों को परस्पर पीटती हुई तथा दातों के शब्दों से भयंकर यह ताटका आ रही है :

रक्ताभ्यक्तोरुसृक्का गुरुकवलवलज्जाङ्गलव्यग्रतालुः·
फेत्कारैः फुल्लगल्लव्यतिकरगुरुभिः कम्पयन्ती जगन्ति।
अन्योन्येनाग्रपाणिप्रणयिशवयुगं ताटका ताडयन्ती
सेयं द्रागदृष्टदंष्ट्राङ्कुरकषणरणत्कारभीमाऽभ्युपैति ॥ ३।३

यहा कवि ने शब्दों के द्वारा ताटका का बीभत्सतया भयंकर रूप खड़ा कर दिया है।

राय के वनगमन का बड़ा कमनीय वर्णन है। सिरीष पुष्प के समान कोमल अङ्गों वाली सीता तेजी से दो-तीन पग ही आगे जाकर राम से बार-बार पूछने लगी कि कितनी दूर जाना है। यह सुनकर राम की आँखों में आँसू आ गये :

सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी
गत्वा जवात् त्रिचतुराणि पदानि सीता।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद् ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥ ६।३४

गोस्वामी तुलसीदासजी ने इसी पद्य का कवितावली में इस प्रकार निगुम्फन किया है :

पुरते निकसी रघुवीरवधू धरि धीर दये मग में डग द्वै।
झलकी भरि भाल कनी जल की पुट सूखि गये अधराधर द्वै॥
फिर बूझति हैं चलनो कितनो अरु पूर्णकुटी करिहौ कित ह्वै।
तिय की लखि आतुरता पियकी अखियाँ अति चारु चली जल च्वै॥

राम, लक्ष्मण और सीता के वनवास-जीवन का वर्णन करते हुए कवि कह रहा है कि पेड़ों की छालें वस्त्र हैं, मृगचर्म शय्या थी, सघन पत्रों वाली गुहा ही ग्रह थे तथा मूल, दल, फूल और फल ही खाद्य थे :

त्वक्तारवी निवसनं मृगचर्म शय्या
गेहं गुहा विपुलपत्रपुटा घनाश्च।
मूलं दलं च कुसुमं च फलं च भोज्यं
पुत्रस्य जातमटवीगृहमेधिनस्ते॥ ६।४०

युद्ध भूमि में तामिस्रास्त्र के उद्भव में कवि ने प्रकृति का पूर्ण रूप उपस्थित कर दिया है :

चक्रद्वन्द्वैर्विरहकलनाकातरैर्दीनदृष्टो
दत्तौत्सुक्यः कुवलयदृशां साभिसारव्रतानाम्।
दृग्दौर्बल्यं विदधदधिकं हस्तहार्योन्धकारो
राजावर्तद्रुतिविरचितां क्ष्मां च खं चातनोति॥ ८।५८

राजशेखर कवि, नाटककार, साहित्यशास्त्र के आचार्य के रूप में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। बड़े-बड़े छन्दों के निर्माण में उनकी सिद्धहस्तता प्रसिद्ध ही है। उनके शार्दूलविक्रीडित की प्रशंसा क्षेमेन्द्र ने की है—शार्दूलक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः। स्टेन कोनो ने बालरामायण में २०८, बालभारत में ४१, विद्धशालभञ्जिका में ३६ और कर्पूरमञ्जरी में २४ शार्दूलविक्रीडित छन्द बताये हैं। दूसरा स्थान वसन्ततिलका का है जो बालरामायण में १५९, बालभारत में २५, विद्धशालभञ्जिका में ११ तथा कर्पूरमञ्जरी में २३ हैं। तीसरा स्थान श्लोक या अनुष्टुप् का है। इसके अतिरिक्त आर्या, उपगीति, गीति, त्रिष्टुप्, द्रुतविलम्बित, पुष्पिताग्रा, पृथ्वी, प्रहर्षिणी, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, रथोद्धता, रुचिरा, वंशस्थ, वसन्तमालिका, शालिनी, शिखरिणी, स्वागता, हरिणी का भी प्रयोग राजशेखर ने किया है। कर्पूरमञ्जरी में छन्दों की संख्या इस प्रकार है : आर्या ३२, शार्दूलविक्रीडित २४, वसन्ततिलका २३, त्रिष्टुप् (इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति) १२, स्रग्धरा

११, रथोद्धता ९, पृथ्वी ७, मालिनी ७, मन्दाक्रान्ता ५, स्वागता ४, गीति २, पुष्पिताग्रा २, उपगीति १, वंशस्थ १, शालिनी १, शिखरिणी १ । इसके अतिरिक्त दो छन्द (अंक ३, २९ तथा ३०) किसी नियमित छन्द की कोटि में नहीं आते । इस प्रकार कर्पूरमञ्जरी में कुल पद्यों की संख्या १४४ है ।

प्राकृत में पद्यों की संगीतात्मकता या लय का भी विशेष महत्त्व है । यह महत्त्व संस्कृत में उतना नहीं है । राजशेखर ने पद्यों की संगीतात्मकता का भी यत्र-तत्र परिचय दिया है । कर्पूरमञ्जरी ३।२९, ३०, ३१ गीति के सुन्दर उदाहरण हैं ।

राजशेखर ने सूक्तियों या लोकाभाणकों का प्रयोग भी यथोचित स्थानों पर किया है । कर्पूरमञ्जरी १।१८ के आगे के गद्य में, २।१ के आगे के गद्य में तथा ३।६ में मिलता है । अन्य ग्रन्थों में भी इस प्रकार के उदाहरणों की कमी नहीं है । राजशेखर के एक ग्रंथ के श्लोक या भाव उनके दूसरे ग्रन्थों में भी प्रचुरता से उपलब्ध होते हैं । ऐसे उद्धरणों का संकलन डॉ० कोनो ने कर्पूर-मञ्जरी के अपने संस्करण के पृष्ठ २०६ में दिये हैं ।

राजशेखर की प्राकृत—कर्पूरमञ्जरी सट्टक है और सट्टक की भाषा प्राकृत होती है : सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं स्याद् प्रवेशकम् (साहित्यदर्पण ६।२७६) । स्वयं राजशेखर ने प्राकृतप्रयोग की आवश्यकता दर्शाते हुये कर्पूरमञ्जरी में कहा है :

परुसा सक्किअबंधा पाउदबंधो वि होई सुउमारो । १।८

प्राकृतभाषा के भेदों में महाराष्ट्री, शौरसेनी, गौडी और लाटी का उल्लेख दण्डी ने काव्यादर्श (१।३४-३५) में किया है और इन भेदों में महाराष्ट्री को सर्वोत्तम घोषित किया है :

महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः ।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम् ।।
शौरसेनी च गौडी च लाटी चान्या च तादृशी ।
याति प्राकृतमित्येवं व्यवहारेषु सन्निधिम् ।।

राजशेखर ने न तो कहीं यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि प्राकृत का कौन-सा भेद वे प्रयोग कर रहे हैं और न तो इस प्रकार का स्पष्ट कोई भेद उन्होंने प्रयोग ही किया है । वस्तुतः वे गौण भेदोपभेदों के रहते हुये भी प्राकृत को एक ही मानते प्रतीत होते हैं । राजशेखर की भाषाविषयक प्रौढ़ि का परिज्ञान उनके **'सर्वभाषाविचक्षण'** (बालरामायण १।१०) तथा **'सब्बभासाचदुर'**

(कर्पूरमञ्जरी १।७) से स्पटरूपेण हो जाता है। प्राकृत के दण्डीप्रोक्त चार भेदों में भी शौरसेनी और महाराष्ट्री ये दो भेद ही प्रचलित हैं। इनमें महाराष्ट्री का प्रयोग तो पद्य में होता है और शौरसेनी का प्रयोग गद्य और वार्तालाप में। राजशेखर ने इन दोनों का प्रयोग किया है। स्टेन कोनो के कर्पूरमञ्जरी संस्करण के सम्पादक डॉ० लैमन ने इनके भेदों का संक्षिप्त प्रामाणिक विवरण दिया है (पृ० २००-२०१)। स्टेन कोनो ने यह भी दर्शाया है कि राजशेखर ने इन दोनों भेदों की ओर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया है और इनको मिश्रित कर दिया है।

श्रीः

राजशेखरविरचितं

बालरामायणम्

प्रथमोऽङ्कः

प्रसत्तेर्यः पात्रं तिलकयति यं सूक्तिरचना,
य आद्यः स्वादूनां श्रुतिचुलुकलेह्योन मधुना।
यदात्मानो विद्याः परिणमति यश्चार्थवपुषा,
स गुम्फो वाणीनां कविवृषनिषेव्यो विजयते॥ १॥

(नान्द्यन्ते सूत्रधारः)

(ससंरम्भं परिक्रम्य पुरोऽवलोक्य सप्रश्रयमञ्जलिं बद्ध्वा) भो भो भुजस्तम्भालानितलक्ष्मीकरेणुना रघुकुलैकतिलकेन महेन्द्रपालदेवेनाधिकृताः सभासदः सर्वानेष वो गुणनिधिर्विज्ञापयति। विदितमेवैतद्भवतां यत्तु नाट्याचार्येण घूर्तिलेन प्रतिज्ञातम्।

वीराद्भुतप्रायरसे प्रबन्धे लोकोत्तरं कौशलमस्ति यस्य।
नाट्ये च नृत्ये च परं प्रवीणामसौ सुतां मे परिणेष्यतीति॥ २॥

श्रेष्ठ कवियों द्वारा सेव्य वाणी का वह गुम्फन सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त हो जो प्रसाद गुण का आधार है, जिसे सूक्तियां अलंकृत करती हैं, कर्णरूपी चुल्लू से पीये जाने वाले मधुररस से जो समस्त सुस्वादु वस्तुओं में आद्य है, विद्यायें जिसकी आत्मा है तथा जो अर्थरूपी शरीर से परिणाम को प्राप्त होता है (अर्थात् प्रसाद गुणपूर्ण, सूक्ति-अलंकृत, कर्ण-मधुर, तत्त्वज्ञान-पूर्ण तथा अर्थवान् काव्य शोभित हो)॥ १॥

(नान्दी के अन्त में)

सूत्रधार—(संभ्रम सहित घूमकर तथा विनयपूर्वक हाथ जोड़कर) बाहुरूपी खम्भे में लक्ष्मी रूपी हाथी को बांधने वाले रघुकुल के एकमात्र तिलक देव महेन्द्रपाल से अधिकृत सभासदो! आप सभी से यह गुणनिधि निवेदन करता है कि नाट्याचार्य घूर्तिल की इस प्रतिज्ञा को तो आप लोग जानते ही हैं कि—

वीर तथा अद्भुत रस-बहुल प्रबन्ध में जिसकी लोकश्रेष्ठ कुशलता है वही मेरी नाट्य तथा नृत्य में परम प्रवीण कन्या का विवाह करेगा॥ २॥

तत्र दक्षिणापथादागतो रङ्गविद्याधरनामा भरतपुत्रो भवद्भिः परीक्षितो न च निर्व्यूढस्तन्मामपि परीक्षध्वम्। (कर्णं दत्त्वाऽऽकाशे). किं ब्रूथ। विलक्षेण सता कर्णाटनटेन तेन निर्मर्यादमिदमुदितं यदुताखण्डितप्रसरा हि पुरुषकाराः कर्णाटानां तथा हि—

अहमेष हरिष्यामि परिणेतुः पुरोऽपि ताम्।
नारीपरिभवं सोढुं दाक्षिणात्या न शिक्षिताः ॥ ३ ॥

(अञ्जलिं बद्ध्वा) तदिदं मयाऽपि निवेद्यते यदि हि परिणयामि

अपि द्वीपान्तरादेष हृतां प्रत्याहरामि ताम्।
कलत्रहरणे पुंसां कियदर्णवलङ्घनम् ॥ ४ ॥ इति।

(विचिन्त्य) किं पुनस्तत्।

(प्रविश्य) पारिपार्श्विकः—एदं तम् [एतत् तत्।]

सूत्रधारः—मारिष किमिदम् ?

पारिपार्श्विकः—देवादेसपत्तं तं णिरुवेदु भाओ। [देवादेशपत्रं तत् निरूपयतु भावः।]

सूत्रधारः—(सखेदम्) कथमन्यदुपक्रान्तमन्यदापतितं सोयमातपार्थिनः पयोदाभ्युदयः। (विचिन्त्य) सविघ्नविप्रुषा एव काम्यक्रियारम्भाः। (विभाव्य)

इस विषय में दक्षिणापथ से आये रङ्गविद्याधर नामक नट की आपलोगों ने परीक्षा की है किन्तु वह सफल नहीं हुआ अतः मेरी भी परीक्षा करें (ध्यान देकर आकाश की ओर) क्या कहते हैं ? कि उस लज्जित हुए कर्णाट देशीय नट ने अशिष्टता से यह कहा कि कर्णाट देशीय लोगों का पुरुषत्व सर्वत्र व्याप्त है। क्योंकि—

मैं उसे परिणेता के सामने ही से हर लूँगा। दाक्षिणात्य लोग नारी से पराभव सहने की शिक्षा नहीं पाये हैं ॥ ३ ॥

(अञ्जलि बाँधकर) अतः मैं भी यह निवेदन कर रहा हूँ कि विवाह करूँगा।

द्वीपान्तर में भी हरण कर ले गयी उसे लौटा लाऊँगा। स्त्री को हरण करने में पुरुषों को समुद्र लाँघना क्या है ? ॥ ४ ॥

(सोचकर) तो फिर वह क्या है !

(प्रवेश कर)

पारिपार्श्विक—वह यह है।

सूत्रधार—मारिष ! यह क्या है ?

पारिपार्श्विक—स्वामी का आदेशपत्र है। इसे आप देखें।

सूत्रधार—(खेदपूर्वक) कैसा दूसरा प्रारम्भ होकर यह दूसरा आ गया जैसे धूप चाहने वाले को मेघों का अभ्युदय हो। (सोचकर) काम्य क्रियाओं के आरम्भ विघ्न

आम् अनिर्वेदः सिद्धेर्मूलम् । (निश्चित्य) भवत्वेव तावत् । (प्रकाशम्) मारिष ! रसान्तरेण नावह्लितं मे चेतः । तद्भवानेव वाचयतु ।

पारिपार्श्विकः—(गृहीत्वा वाचयति ।)

कमवड्ढन्तविलासं रसाअले कं करेइ कन्दप्पो ।

[क्रमवर्धमानविलासं रसातले कं करोति कन्दर्पः ।]

सूत्रधारः—अये प्रश्नोत्तरम् । सेयमस्मत्प्रीतिरिति देवादेशः । तत्स्वयमेव वाचयामि । (गृहीत्वा वाचयति)

निर्भयगुरुर्व्यधत्त च वाल्मीकिकथां किमनुसृत्य ।। ५ ।।

कथं भाषाचित्रकमेकालापकं चैतत् (स्वगतं) सूचनाक्रमोऽपि (विचिन्त्य) बालरामाअणम् [बालरामायणम् ।] (विमृश्य) नाटयितव्यमित्यर्थतोऽभिहितं भवति ।

पारिपार्श्विकः—अहो अच्चरिअमच्चरिअम् । अण्णं लिहिदं अण्णं पढीअदि । [अहो ! आश्चर्यमाश्चर्यम् । अन्यत् लिखितमन्यत् पठ्यते ।]

सूत्रधारः—(सहर्षम्) अनुकूलं हि दैवं सर्वस्मै स्वस्ति करोति यत्प्रस्तुत-संवादो देवादेशः ।

युक्त ही होते हैं । (विचार कर) अनिर्वेद सिद्धि का मूल है । (निश्चित कर) तो ऐसा ही हो । (प्रकाश में) मारिष ! रसान्तर के कारण मेरा मन स्थिर नहीं है । अतः आप ही पढ़ें ।

पारिपार्श्विक—(लेकर पढ़ता है)

पृथ्वीपर कामदेव किसे क्रमशः बढ़ते हुए विलासों वाला बनाता है !

सूत्रधार—अरे प्रश्नोत्तर ! तो स्वामी का आदेश मेरी प्रसन्नता का है । तो स्वयं वाचूं । (लेकर पढ़ता है)

निर्भय राज का गुरु (राजशेखर) वाल्मीकि की कथा को क्या अनुसरण कर बनाया ।। ५ ।।

कैसे भाषाचित्रक यह एकालापक है । (स्वगत) सूचना-क्रम भी । (सोचकर) बालरामायण (विचारकर) अभिनीत करना है यह तो अर्थतः कह दिया गया है ।

पारिपार्श्विक—अहा ! आश्चर्य है; आश्चर्य है । लिखा दूसरा है, पढ़ा दूसरा जा रहा है ।

सूत्रधार—(सहर्ष) अनुकूल भाग्य सभी का कल्याण करता है क्योंकि जो प्रारम्भ किया गया उसके अनुकूल ही स्वामी का आदेश है ।

पारिपार्श्वकः—दिठ्ठिआ कालिंदीमन्दाइणीसलिलं विअ पढमं दुधा पवाहिअ पच्चा तं कज्जं एकीभूदम्। [दिष्टया कालिन्दीमन्दाकिनीसलिलमिव प्रथमं द्विधा प्रवाह्य पश्चात् तत् कार्यमेकीभूतम्।]

सूत्रधारः—(सहर्षम्) संप्रति हि।

सद्विज्ञानं कुलतिलकता याति दारैरुदारैः
फुल्ला कीर्त्तिर्भ्रमति सुकवेर्दिक्षु यायावरस्य।
धीरोदात्तं जयति चरितं रामनाम्नश्च विष्णोः
काव्यव्याजात् तदियमपरा काप्यहो कामधेनुः ॥ ६ ॥

पारिपार्श्वकः—वम्मीइणा मुणिवरिठ्ठेण दिठ्ठणिबन्धणस्स रामचन्दचरिदस्स को उण सो विसेसो जं एस कई दंसइस्सदि। [वाल्मीकिना मुनिवरिष्ठेन दृष्ट-निबन्धनस्य रामचन्द्रचरितस्य कः पुनः स विशेषो यमेष कविर्दर्शयिष्यति।]

सूत्रधारः—मारिष! क्वचित्कश्चित्प्रगल्भते नहि सर्वः सर्वं जानाति।

पारिपार्श्विकः—भाव णं भणामि पच्चक्खीकिदसअलसग्गसद्दत्थादो तत्थभवदो महेषिणो अदिक्कमिअ किं एस चम्मचक्खू पेक्खिस्सदि। [भाव ननु भणामि प्रत्यक्षीकृतसकलसर्गशब्दार्थात् तत्रभवतो महर्षेरतिक्रम्य किमेष चर्मचक्षुः प्रेक्षिष्यते।]

सूत्रधारः—मारिष! मा मैवम्।

वदनेन्दुषु वामदृशामिन्दीवरं पत्रसंघटितम्।
रसनासु च सुकवीनां निवसति सारस्वतं चक्षुः ॥ ७ ॥

प्राज्ञश्चायम्। वस्त्वन्तरमतिशयानो हि प्रज्ञाप्रकर्षः। सूक्तमिदं तेनैव महामन्त्रिपुत्रेण।

पारिपार्श्वक—भाग्य से यमुना-गंगा के जल की भाँति पहले दो धाराओं में प्रवाहित बाद में वह कार्य एकीभूत हो गया।

सूत्रधार—(सहर्ष) अब तो—भली स्त्रियों से सद्विज्ञान कुल का तिलक हो जाता है। यायावर की प्रसन्न कीर्ति दिशाओं में फैल रही है रामनाम धारी विष्णु के धीरोदात्त चरित की जय हो। काव्य के बहाने यह कोई दूसरी ही कामधेनु है ॥ ६ ॥

पारिपार्श्वक—मुनिश्रेष्ठ वाल्मीकि द्वारा देखकर निबद्ध रामचरित की किस विशेष बात को यह कवि दिखायेगा ?

सूत्रधार—मारिष! कहीं कोई बढ़ जाता है, सब लोग सभी विषयों को नहीं जानते।

पारिपार्श्वक—महाशय! समस्त सृष्टि के पदार्थों को प्रत्यक्ष करने वाले उन महर्षि वाल्मीकि से अधिक यह चर्म-चक्षु क्या देखेगा ?

सूत्रधार—श्रीमन्! ऐसी बात नहीं।

रमणियों के मुखचन्द्रों में नीलकमल की पंखुड़ियों से निर्मित तथा सुकवियों की रसना पर सारस्वत नेत्र रहता है ॥ ७ ॥

उदन्वच्छन्ना भूः स च निधिरपां योजनशतं
सदा पान्थः पूषा गगनपरिमाणं गणयति ।
इति प्रायो भावाः स्फुरदवधिमुद्रामुकुलिताः
सतां प्रज्ञोन्मेषः पुनरयमसीमा विजयते ॥ ८ ॥

पारिपार्श्विकः—ता णमक्कारो करीअदु । [तन्नमस्कारः क्रियताम् ।]

सूत्रधारः—ननु नमस्कृतं तेनैव ।

योगीन्द्रश्छन्दसां स्त्रष्टा रामायणमहाकविः ।
वल्मीकजन्मा जयति प्राच्यः प्राचेतसो मुनिः ॥ ९ ॥

प्रबन्धोपक्रमे च स किल कविरेवमुक्तवान्—

ब्रह्मभ्यः शिवमस्तु वस्तु विततं किंचिद्वयं ब्रूमहे
हे सन्तः ! श्रृणुतावधत्त विधृतो युष्मासु सेवाञ्जलिः ।
यद्वा किं विनयोक्तिभिर्मम गिरां यद्यस्ति सूक्तामृतं
माद्यन्ति स्वयमेव तत्सुमनसो याञ्चा परं दैन्यभूः ॥ १० ॥

सर्वभाषाविचक्षणश्च स एवमाह—

गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुराः
सुभव्योऽपभ्रंशः सरसरचनं भूतवचनम् ।

पुनश्च यह विद्वान् है ! प्रज्ञा का वैशिष्ट्य वस्त्वन्तर को पार कर जाता है । इसी महामन्त्रिपुत्र ने कहा है--

पृथ्वी समुद्र से घिरी है, वह समुद्र भी सैकड़ों योजन विस्तृत है, सूर्य निरन्तर पथिक बनकर आकाश के परिमाण को गिनता रहता है । इस प्रकार पदार्थ सीमा की मुद्रा से वेष्टित है । परन्तु सज्जनों का प्रज्ञोन्मेष असीम होता है ॥ ८ ॥

पारिपार्श्विक—तो नमस्कार करिये !

सूत्रधार—स्वयं उन्होंने ही (राजशेखर ने) नमस्कार किया है ।

छन्दों के स्रष्टा रामायण के रचयिता, योगीन्द्र, वल्मीक से उत्पन्न प्राचीन प्राचेतस की जय हो ॥ ९ ॥

प्रबन्ध के उपक्रम में उन्ही कवि ने कहा है—ब्राह्मणों का कल्याण हो, किसी विस्तृत बात को हम कह रहे हैं । हे सज्जनों ! आप लोग सुनें और ध्यान दें । आप लोगों को सेवाञ्जलि अर्पित है अथवा विनयोक्तियों से क्या ? यदि मेरी वाणी में सूक्तामृत है तो उससे सज्जन स्वयं ही तृप्त हो जायेंगे । याचना तो केवल दीनता ही है ॥ १० ॥

सभी भाषाओं में विचक्षण उस (महाकवि) ने कहा है—श्रवण करने योग्य देव वाणी, स्वभावतः मधुर प्राकृत वाणी, सुन्दर अपभ्रंश, सरस रचना वाली पैशाची (भूत-

विभिन्नाः पन्थानः किमपि कमनीयाश्च त इमे
निबद्धा यस्त्वेषां स खलु निखिलेऽस्मिन् कविवृषा ।। ११ ।।

एतत्प्रबन्धमहत्त्वं प्रति तेनेदमुक्तम् ।

ब्रूते यः कोऽपि दोषं महदिति सुमतिर्बालरामायणेऽस्मिन्
प्रष्टव्योऽसौ पटीयानिह भणितिगुणो विद्यते वा न वेति ।
यद्यस्ति स्वस्ति तुभ्यं भव पठनरुचिर्विद्धि नः षट् प्रबन्धा-
नेवं चेद्दीर्घमास्तां नटबटुवदने जर्जरा काव्यकन्था ।। १२ ।।

पारिपार्श्विकः—(विमृश्य) भाव अलङ्किदकदमगोत्तो पवित्तीकिदकदमणा-महेओ एस कई जस्सि णाम भावस्स देवस्स अ एव्वं पक्खवादो । [भाव ! अलंकृतकतमगोत्रः पवित्रीकृतकतमनामधेय एष कविर्यस्मिन् नाम भावस्य देवस्य चैवं पक्षपातः ।]

सूत्रधारः—अय्यनभिज्ञ ! गगनार्णवमाणिक्यं पूषणमपि तर्हि पृच्छ—

स मूर्तो यत्रासीद् गुणगण इवाकालजलदः
सुरानन्दः सोऽपि श्रवणपुटपेयेन वचसा ।
न चान्ये गण्यन्ते तरलकविराजप्रभृतयो
महाभागस्तस्मिन्नयमजनि यायावरकुले ।। १३ ।।

तदामुष्यायणस्य महाराष्ट्रचूडामणेरकालजलदस्य चतुर्थो दौर्दुकिः शीलवती-सूनुरुपाध्यायश्रीराजशेखर इत्यपर्याप्तं बहुमानेन । (स्मृतिं नाटयित्वा) अहो किमपि कमनीया कवेरात्मन्याशीः ।

वचन) ये विभिन्न मार्ग हैं और परम कमनीय हैं । जो इनका निर्माता है वह इसमें श्रेष्ठ कवि है ।। ११ ।।

इस प्रबन्ध के महत्त्व के विषय में स्वयं उन्होंने कहा है—

यदि कोई बुद्धिमान् कहता है कि इस बालरामायण में महान् दोष है तो उस चतुर से यह पूछना चाहिए कि इसमें भणिति (उक्ति) का गुण है या नहीं । यदि है तो आप का कल्याण हो, इसे पढ़िये और मेरे छः प्रबन्धों को जानिये । यदि ऐसी बात नही तो नवीन (या नट) ब्राह्मण (मेरे) के मुख में काव्य कन्था जर्जर होकर चिरकाल तक निवास करे ।। १२ ।।

पारिपार्श्विक—श्रीमन् ! इस महाकवि ने किस गोत्र को अलङ्कृत किया, किस नाम को पवित्र किया जिसके प्रति आप का तथा महाराज का ऐसा पक्षपात है ।

सूत्रधार—अरे मूर्ख ! तो गगनरूपी सागर के मणि सूर्य को भी पूछ ।

यह महाभाग उस (प्रथित) मायावर कुल में उत्पन्न हुए जिसमें अकालजलद नामक व्यक्ति गुण समूहों के साक्षात् मूर्ति थे, जिसमें सुरानन्द नाम के व्यक्ति हुए जिनकी वाणी

आद्यः कन्दो वेदविद्यालतानां जैह्वं चक्षुर्निर्निमेषं कवीनाम् ।
यो येनार्थी तस्य तत् प्रक्षरन्ती वाङ्मूर्तिर्मे देवता सन्निधत्ताम् ।। १४ ।।

इदं च सूक्तमुक्तवान् ।

जिह्वे देवि सरस्वतीं भगवतीमग्रे समग्रां कुरु
त्वां बद्धाञ्जलिराजशेखरकविः सोऽयं स्वयं याचते ।
स्तुत्येऽस्मिन्निजवंशमौक्तिकमणौ रामे विरामे द्विषां
कुण्ठा मे प्रतिभैव दैवतवशाद्वाचां प्रवृत्तिर्यदि ।। १५ ।।

पारिपार्श्विकः—ता किं ण्ण वण्णीअदि । [तत् किं न वर्ण्यते ।]

सूत्रधारः—ननु वर्णितमेव दैवज्ञेन ।

बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम् ।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्त्तते संप्रति राजशेखरः ।। १६ ।।

अपि च । किं न श्रुतं सभ्यस्य शङ्करवर्मणो वर्णनम् ।

श्रवण पुटों द्वारा पी जाती है तथा जिस वंश में तरल, कविराज आदि अनेक प्रसिद्ध कवि हो चुके हैं जिनकी गणना नहीं हो सकती ।। १३ ।।

तो इस वंश के महाराष्ट्र चूड़ामणि अकालजलद के वंश में चौथे एवं दुर्दुक तथा शीलवती के पुत्र उपाध्याय श्रीराजशेखर यह सम्मान अपर्याप्त है । (स्मरण करने का अभिनय कर) अहा ! कवि की अपने ही लिए कितनी विचित्र कल्याणोक्ति है ।

वेदविद्या रूपी लता का प्रथम मूल, कवियों का निमेषरहित वाङ्मय नेत्र तथा जो जिसका अर्थी हो उसे वह प्रदान करती हुई सरस्वती मेरे यहाँ निवास करें ।। १४ ।।

यह सूक्ति भी कहा है—

हे देवि रसने ! तुम अपने अग्र भाग पर सम्पूर्ण सरस्वती भगवती को धारण करो । यह (प्रसिद्ध) राजशेखर कवि हाथ जोड़कर स्वयं तुमसे याचना कर रहा है । स्तुत्य अपने वंश के मुक्तामणि, शत्रुओं के विध्वंसक राम के विषय में मेरी प्रतिभा ही कुण्ठित हो गयी है । यदि भाग्यवश वाणी का स्फुरण हो (तो रामचरित के वर्णन में समर्थ हो जाऊँगा) ।। १५ ।।

पारिपार्श्विक—तो वर्णन क्यों नहीं करते ।

सूत्रधार—दैवज्ञ ने वर्णन तो किया ही ।

पूर्वकाल में वाल्मीकि नामक कवि हुए पुनः पृथिवी में भर्तृमेण्ठ नाम से प्रकट हुए, वही पुनः भवभूति नाम से विख्यात हुए वही (महाकवि) इस समय राजशेखर है ।। १६ ।।

पातुं श्रोत्ररसायनं रचयितुं वाचः सतां संमता
व्युत्पत्तिं परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रसस्रोतसः ।
भोक्तुं स्वादु फलं च जीविततरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं
तद् भ्रातः श्रृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः ।। १७ ।।

अपि च—

आपन्नार्त्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारांनिधि-
स्त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत्कान्तः कवीनां गुरुः ।
वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरेः किं तस्य साक्षादसौ
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः ।। १८ ।।

(नेपथ्ये गीयते ।)

मुक्कहरिणाङ्कमण्डलपासप्पसरो बुधो विवुहवग्गो ।
ओत्थरिअ राहुविहुरं णलिणीणाहं समुल्लिहइ ।। १९ ।।

[मुक्तहरिणाङ्कमण्डलपार्श्वप्रसरो बुधो विबुधवर्गः ।
अवतीर्य राहुविधुरं नलिनीनाथं समुल्लिखति ।।]

सूत्रधारः—(आकर्ण्य) कथमुपश्रुतदेवादेशैः कुशीलवैरुपक्रान्तमेव यदियं शुनःशेपस्य प्रवेशिकी ध्रुवा । (विमृश्य) ध्रुवा हि नाम नाट्यस्य प्रथमे प्राणाः । तथा हि—

तथा—क्या सभ्य शङ्कर वर्मा का वर्णन भली-भाँति नहीं सुना है ?

हे भाई ! कानों से यदि रसायन पान करने की, साधु सम्मत वाणी के गुम्फन की, उत्कृष्ट व्युत्पत्ति को प्राप्त करने की, रस-प्रवाह की चरम सीमा पाने की तथा जीवन रूपी वृक्ष के मधुर फल के उपभोग की इच्छा हो तो राजशेखर कवि की अमृतवर्षिणी सूक्तियों का श्रवण करो ।। १७ ।।

और—

यह कवियों में श्रेष्ठ (राजशेखर) दुःखियों की पीडा को दूर करने वाला, शूर, अत्यन्त सज्जन, त्यागी, सत्य रूपी अमृत का प्रवाह करने वाला चन्द्रमा, लोगों का प्रिय, कवियों का गुरु, गुणरूपी रत्नों के लिए रोहण पर्वत स्वरूप इस (कवि) का क्या वर्णन करना है जिसके ये महाराज रघुकुल श्रेष्ठ नृपति महेन्द्रपाल शिष्य हैं ।। १८ ।।

(नेपथ्य में गाया जाता है)

शशाङ्कमण्डल का परित्याग करने वाले विज्ञ देवगण राहु से व्याकुल चन्द्रमा का उल्लेख कर रहे हैं ।। १९ ।।

प्रथयति पात्रविशेषान् सामाजिकमनांसि रञ्जयति ।
अनुसंदधाति च रसान नाट्यविधाने ध्रुवा गीतिः ॥ २० ॥

तदेह्यावामप्यनन्तरकरणीयाय सज्जीभवावः ।

(इति निष्क्रान्तौ)

(आमुखम्)

(ततः प्रविशति शुनःशेपः)

शुनःशेपः—प्रातःसवन एव यजमानं द्रष्टुमिच्छामि । तत्र कश्चित्सन्ध्यां चन्दमानस्य मे कालातिपातः संवृत्तः । (ऊर्ध्वमवलोक्य) कथमद्याप्यपटिष्ठमाञ्जिष्ठं च मञ्जु मार्त्तण्डीयं तेजः । तथा हि—

उषःप्रवालद्रुमबालपल्लवास्त्रिलोकहर्म्याङ्गणहस्तदीपिकाः ।
दिनद्विपेन्द्रारुणकर्णचामरा मरीचयोऽर्कस्य लुठन्ति कोमलाः ॥ २१ ॥

(स्मृत्वा ।)

यदेतदग्रेसरमम्बरस्थं ज्योतिः स पूषा पुरुषः पुराणः ।
अथास्य शिष्यः किल याज्ञवल्क्यस्तस्यापि राजा जनकः स योगी ॥ २२ ॥

सूत्रधार—(सुनकर) क्या महाराज के आदेश को सुनकर प्रारम्भ ही कर दिया कि यह शुनःशेप की प्रवेश सूचक ध्रुवा (गीति) है । (विचार कर) ध्रुवा गीति नाटक का प्राथमिक प्राण है । जैसा कि—

ध्रुवा गीति नाट्य विधान में पात्रों को प्रवृत्त करती है, सामाजिकों के मन को आनन्दित करती है और रस का उपस्थापन करती है ॥ २० ॥

अतः आओ, हम दोनों भी अग्रिम कार्य के लिए तैयार हो जांय ।

(दोनों निकल जाते हैं)

(प्रस्तावना समाप्त)

(इसके अनन्तर शुनःशेप प्रवेश करता है)

शुनःशेप—प्रातः काल के स्नान के समय ही यजमान को देखना चाहता हूँ । तो सन्ध्योपासन करते समय ही कुछ अधिक समय हो गया । (ऊपर देखकर) इस समय भी मृदु लाल रंग का सूर्यतेज कैसा सुन्दर है ।

प्रातः काल जिनसे वृक्षों के नवीन पल्लव विद्रुम के समान हो जाते हैं, त्रिलोकी रूपी राजमहल के प्राङ्गण की करदीपिका, दिवस रूपी गजराज की रक्त कर्णचामर कोमल सूर्य की किरणे बिखर रही है ॥ २१ ॥

(स्मरण कर)

जो यह आकाश में आगे ज्योति चल रही है वह पुराण पुरुष पूषा हैं । इनके शिष्य याज्ञवल्क्य हैं और उन (याज्ञवल्क्य) के भी वे योगी राजा जनक शिष्य हैं ॥ २२ ॥

राक्षसरक्षौषधं रामभद्रमानेतुं सिद्धाश्रमादयोध्यां गच्छता तातविश्वामित्रेण यज्ञोपनिमन्त्रकस्य परमसुहृदः श्रोत्रियक्षत्रियस्य महाराजसीरध्वजस्य स्वप्रतिनिधिः प्रेषितोऽस्मि। आसन्नसत्रसमयस्य चागच्छतोऽध्वरविधिरवभृथावशेषो वर्तत इति मे तर्कः। तदेष राजर्षेः सौस्नातिकोऽपि भवन् न गुरोरपराधभूमिः स्याम् (इति परिक्रामति।)

(प्रविश्य तापसच्छद्मना) राक्षसः–(स्वगतम्।)

संप्रेषितो माल्यवताऽहमद्य ज्ञातुं प्रवृत्तिं कुशिकात्मजस्य।
पुरं निमीनां मिथिलां च गन्तुं तां चाप्ययोध्यां रघुराजधानीम्॥ २३॥

कुलपुत्रक इति सप्रसादमादिष्टश्चास्मि। यथा सीतानाम्नीमयोनिजां जनककन्यां धूर्जटिधनुरारोपणपणपरिणेयां देवो दशाननः श्रुतवान्। तस्य मर्त्यमण्डलचाराधिकारनियुक्ता सहोदरी शूर्पणखा नित्यमेवंविधानां राजकार्याणां संपादयित्री उचितविधायिनी च मे वत्सा। प्रभुचित्तानुवर्त्तनं हि सेवकजनसिद्धविद्या। सीतार्थी च मिथिलां प्रस्थातुकामो महाराजरावणः। किं बहुनाऽयमपरो गण्डस्योपरि पिण्डिकोद्भेदो यत्किल प्रस्थास्यमानेन निशाचरचक्रवर्तिना तत्र-

---

राक्षसों से रक्षा के लिए औषधस्वरूप रामचन्द्र को लाने के लिए सिद्धाश्रम से अयोध्या जाते हुए महर्षि विश्वामित्र ने मुझे यज्ञ-निमन्त्रण देने वाले परममित्र श्रोत्रिय क्षत्रिय महाराज सीरध्वज के पास अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा है। यज्ञ का समय समीप होने से मेरे आते हुए यज्ञ का अवभृथ हो रहा है ऐसा मेरा तर्क है। तो अब राजा के यज्ञ की समाप्ति का कुशल पूछने वाला (सौस्नातिक) होकर भी गुरु जी का अपराधी नहीं होऊँगा।

(तापस के कपट वेश में प्रवेश कर)

राक्षस—(मन में) आज विश्वामित्र का वृत्तान्त जानने के लिए तथा निमिवंशीय राजाओं की नगरी मिथिला तथा रघुवंशियों की राजधानी उस अयोध्या में जाने के लिए मुझे माल्यवान् ने भेजा है॥ २३॥

और 'कुलपुत्रक' ऐसा कहकर प्रसन्नतापूर्वक यह आदेश मिला है कि सीता नाम की जनक की अयोनिजा कन्या शिव के धनुष के आरोपण पर विवाहित होगी ऐसा महाराज रावण ने सुना है। मर्त्य-मण्डल में गुप्तचर के अधिकार में नियुक्त उनकी सहोदरा बहन शूर्पणखा नित्य ही ऐसे कार्यों को सम्पन्न करती हैं तथा वह मेरी पुत्री उचित कार्य करती है। स्वामी की इच्छा का अनुसरण ही सेवक की सिद्ध विद्या है। महाराज रावण सीता के लिए मिथिला को जाने वाले हैं। बहुत क्या कहें, यह दूसरी ही फोड़े के ऊपर

भवतो नीललोहितान्तेवासिनः पार्वतीधर्मपुत्रकस्य जामदग्न्यस्य सकाशं परशुमार्गणाय मायामयः प्रहितः। तदिदमसमञ्जसमिव पश्यामि। यतः—

शमव्यायामाभ्यां प्रतिविहिततन्त्रस्य नृपतेः
परं प्रत्यावापः फलति कृतसेकस्तरुरिव।
बहुव्याजं राज्यं न सुकरमराज्यप्रणिधिभि-
र्दुराराधा लक्ष्मीरनवहितचित्तं चलयति॥ २४॥

(विमृश्य) अहह। अनमात्यायतसिद्धेर्धिङ्मन्त्रित्वम्। कुतः।

स्वेच्छया कुरुते स्वामी यत्किंचन यतस्ततः।
तत्तत् प्रतिचिकीर्षन्तो दुःखं जीवन्ति मन्त्रिणः॥ २५॥

(वचिन्त्य।) तद्भूवद्भविष्यदनर्थयोर्भवदनर्थं प्रथमं प्रतिकुर्वीतेति नीतिविदः। तदेष सीतावृत्तान्त एव प्रथमं प्रतिविधातव्यः। भद्रमुख! तत्त्वया मेनकाकामुकस्य त्रिशङ्कुयाजिनः क्षत्रियब्राह्मणस्य तस्य प्रवृत्तिरस्मासु निवेदनीया। स

फुंसी हो गयी कि चलने की इच्छा वाले दशानन ने शिव के शिष्य तथा पार्वती के धर्मपुत्र परशुराम के पास परशु माँगने के लिए 'मायामय' (राक्षस) को भेजा है। तो यह असमंजस सा देख रहा हूँ। क्योंकि—

मृदुता और पुरुषार्थ से राज्य का शासन करने वाले राजा का परराष्ट्र विषयक कर्म सींचे गये वृक्ष की भाँति फल देता है। अत्यन्त छलपूर्ण राज्य (का प्रशासन) राजकीय गुप्तचरों से हीन राजाओं द्वारा सुकर नहीं है, और दुराराध्य लक्ष्मी असावधान चित्त वाले को विचलित कर देती है॥ २४॥

(विचार कर) अहह! जिसके कार्यों की सिद्धि अमात्यों के आधीन नहीं, ऐसे (राजा के) मन्त्रित्व को धिक्कार है। क्योंकि—

स्वेच्छया स्वामी जहाँ कहीं भी जो कुछ भी कार्य करता है उसकी प्रतिचिकीर्षा के प्रयास में मन्त्री लोग दुःख से जीवन बिताते हैं॥ २५॥

(सोचकर) तो हो रहे, और होने वाले अनर्थों में हो रहे अनर्थ का प्रतीकार प्रथम करना चाहिए ऐसा नीतिज्ञों का कथन है। तो यह सीता का समाचार ही पहले प्राप्त करना चाहिए। तो भद्रमुख! मेनका में आसक्त, त्रिशङ्कु का यज्ञ कराने वाले, क्षत्रिय-ब्राह्मण उस (विश्वामित्र) का समाचार तुम बताओ, सुना जाता है कि वह सिद्धाश्रम से चल चुके हैं। उनके दशरथ और सीरध्वज (जनक) परम मित्र हैं। तो यदि वे दशरथ की ओर जाते हैं तो मैं किसी दूसरे बहाने से रावण की यात्रा भङ्ग करने का प्रयत्न करूँगा। वे विश्वामित्र राक्षसों के स्वभावतः शत्रु हैं। तप और पराक्रम से वे समर्थ भी हैं। दशरथ भी वैसे ही हैं। और जनक योगी, शान्त और जितेन्द्रिय हैं। मैं तो मिथिला को चला था परन्तु तत्काल यह सोचकर रघुओं की राजधानी (अयोध्या)

च सिद्धाश्रमादुच्चलित इति श्रुतिः। तस्य दशरथः सीरध्वजश्च परं मित्रे। तत्र यदि दशरथं प्रति यायात् तदहमन्यापदेशेन दशकन्धरस्य यात्राभङ्गाय यतिष्ये। स हि नक्तंचराणां निसर्गामित्रो विश्वामित्रः। व्रतचर्यया वीरव्रतचर्यया च समर्थः। दशरथोऽपि तथाविध एव। जनकश्च योगी शान्तो दान्तश्च। अहं तु मिथिलां पुरीं प्रत्युच्चलितस्तत्त्वरितमिमां विचित्य रघुराजधानीं यास्यामि। (विमृश्य) तादृश एव तादृशानामपसर्पः स्यादिति कृततापसवेषोऽपि महर्षिभ्यो बिभ्यत् संचरामि। (पुरोऽवलोक्य) कथं तापसः? (प्रत्यभिज्ञाय) तत्रापि विश्वामित्रधर्मपुत्रः शुनःशेपः। भवत्वस्मादेव तत्किंवदन्तीलाभः। (उपसृत्य) भगवन्नभिवादये।

शुनःशेपः—अभिलषितेन युज्यस्व।

(इति परिक्रामतः।)

राक्षसः—(विलोक्य) भगवन् साप्तपदीनं सख्यं मां मुखरयति तत्प्रष्टु-कामोऽस्मि।

शुनःशेपः—ब्रह्मन्नभिधीयताम्।

राक्षसः—विद्यास्नातक इव लक्ष्यसे। तत् कथमयं स्वाध्यायप्रत्यूहः।

शुनःशेपः—गुरोरादेशः।

राक्षसः—कस्ते गुरुः?

को जाऊँगा। (विचार कर) वैसे लोगों के चर भी वैसे ही (अनुरूप) होंगे अतः तपस्वी का वेश करके भी महर्षियों से डरता चलता हूँ। (आगे देखकर) क्या तपस्वी है? (पहचान कर) उसमें भी विश्वामित्र का धर्मपुत्र शुनःशेप है। अच्छा इसी से वह समाचार मिलेगा। (समीप जाकर) भगवन्! प्रणाम करता हूँ।

शुनःशेप—मनोरथ पूर्ण हो। (ऐसा कहकर दोनों चलते हैं)

राक्षस—(देखकर) भगवन्! साप्तपदीन मित्रता वाचाल बना रही है अतः कुछ पूछना चाहता हूँ।

शुनःशेप—ब्रह्मन्! कहिये।

राक्षस—विद्या-स्नातक जैसे आप दिखाई पड़ते हैं तो यह स्वाध्याय में विघ्न कैसे हुआ।

शुनःशेप—गुरु का आदेश है।

राक्षस—आप के गुरु कौन हैं?

शुनःशेप—भगवान् विश्वामित्र।

राक्षस—(मन में) अच्छा, इसे क्रुद्ध करता हूँ। सुप्त, मत्त और क्रुद्ध जनों का भावज्ञान देखना चाहिए। (प्रकट) यह विश्वामित्र कौन हैं?

शुनःशेपः—भगवान्विश्वामित्रः ।

राक्षसः—(स्वगतम्) भवतु कोपयाम्येनम् । सुप्तमत्तकुपितानां हि भावज्ञानं द्रष्टव्यम् । (प्रकाशम्) अथ कोऽयं विश्वामित्रो नाम ।

शुनःशेपः—(सकोपम्) अये द्वीपान्तरादिवागतोऽसि यद्भगवन्तं विश्वामित्रमपि न जानासि ।

न्यस्यान्यान् दक्षिणस्यां दिशि गगनमुनीन् सप्त क्लृप्तर्क्षपक्षो
नव्यं हव्यं च कृत्वा त्रिदशजनहृते सर्वथा गाङ्गवर्गे ।
वासिष्ठीं शापमुद्रां सपदि विदलयन् यो महासत्रबन्धे
मध्येव्योम त्रिशङ्कोः शतमखविमुखः स्वर्गसर्गं चकार ।। २६ ।।

अपि च—

क्षत्रब्रह्ममहानिधिः क्षितिभुजां जेता मुनीनां च यः
पाणी यस्य परं पवित्रिततलौ चापस्रुवोर्धारणात् ।
विश्वामित्र इति त्रिलोकतिलकं त्वं वेत्सि नास्मद्गुरुं
योऽस्मिंश्चित्रशिखण्डिनां भगवतां धात्रा कृतः सप्तमः ।। २७ ।।

संप्रत्येव राक्षसभयात् सत्रे दीक्षिष्यमाणः स भगवान् रक्षितारं रामभद्रं वरीतुमयोध्यां गतः ।

राक्षसः—(सत्रासम्) भगवन् । मा कोपीः । वटुस्वभावसुलभं चापलमत्रापराध्यति न पुनरज्ञानम् । कः पुनः स्तम्भितरम्भं भगवन्तं विश्वामित्रं न जानाति ।

शुनःशेप—(क्रोध से) अरे ! मालूम पड़ता है कि दूसरे द्वीप से आये हो जो महर्षि विश्वामित्र को भी नहीं जानते ।

दक्षिण दिशा में अन्य सात गगन ऋषियों को स्थापित कर जिन्होंने नक्षत्रों का स्थान बनाया, समस्त यज्ञ भागों के देवों द्वारा ग्रहण करने पर जिन्होंने नवीन हव्य की रचना कर, वसिष्ठ के शाप को व्यर्थ करते हुए इन्द्र से विमुख होकर (महान् यज्ञ करके) आकाश के मध्य में त्रिशङ्कु के लिये स्वर्ग की सृष्टि की ।। २६ ।।

तथा—

जो ब्राह्म और क्षात्र (तेज) का महानिधि है तथा राजाओं और मुनियों को जीतने वाला है और जिसके दोनों हाथ धनुष और यज्ञ-स्रुवा को धारण करने से पवित्र तलों वाले हो गये हैं उस तीनों लोकों के तिलक मेरे गुरु विश्वामित्र को तुम नहीं जानते जो इन ब्रह्मर्षियों में ब्रह्मा द्वारा सातवाँ बनाये गये ।। २७ ।।

अभी ही यज्ञ में दीक्षित होने वाले वे राक्षसों के भय से रक्षा के लिये रामभद्र को लेने अयोध्या गये हैं ।

राक्षस—(भय से) भगवन् ! क्रुद्ध मत होइये । इस विषय में अज्ञान के कारण मैं अपराधी नहीं अपितु बालक के स्वभाव की चपलता अपराधी है । भला कौन ऐसा है

(स्वगतम्) कृतं यत् कर्तव्यम्। संप्रति चारसंचारस्यावसरः। (प्रकाशम्।) क्व पुनर्गुर्वदिशो गमयिता।

शुनःशेपः—मिथिलापुरीम्।

राक्षसः—किं तत्र ?

शुनःशेपः—गुरुसुहृदो राजर्षेः सीरध्वजस्य यज्ञोपस्थानम्। ब्रह्मंस्त्वमपि वैदेशिक इवासि तत्कुतः पुनरिदमागम्यते।

राक्षसः—(स्वगतम्) भवत्वेवं तावत्। (प्रकाशम्) रोहणाचलपरिसरोत्तंसादगस्त्याश्रमतः।

शुनःशेपः—(किंचित्सानुशयम्) कोऽयमगस्त्यो नाम।

राक्षसः—(विहस्य) भगवन् कृतप्रतिकृतमेतत्। निजोदयनिर्विषीकृतभुवनाम्भस्कं कः पुनरगस्त्यं न जानाति।

निषेद्धा विन्ध्यस्य प्रथमचुलुकाचान्तजलधिः
कृतापद्वातापेर्न स कलशभूः कस्य विदितः।
गुरुर्लोपामुद्राहृदयदयितो यस्त्रिजगत-
स्तटीं माणिक्याद्रेरधिवसति वैखानसवृषा॥ २८॥

जो रम्भा को स्तम्भित कर देने वाले भगवान् विश्वामित्र को नहीं जानता। (मन में) ज़ो करना था वह कर लिया। इस समय गुप्तचर के कार्य का समय है। (प्रकट) आप अब गुरु के आदेश से कहाँ जा रहे हैं ?

शुनःशेप—मिथिलापुरी को।

राक्षस—वहाँ क्या है ?

शुनःशेप—गुरु जी के मित्र राजर्षि जनक का यज्ञ है। ब्रह्मन् ! तुम भी विदेशी जैसे लगते हो तो कहाँ से आ रहे हो ?

राक्षस—(मन में) ठीक है। (प्रकट) रोहण पर्वत की उपत्यका के अलङ्कार भूत अगस्त्याश्रम से।

शुनःशेप—(कुछ अभिप्राय से) यह अगस्त्य कौन हैं ?

राक्षस—(हँसकर) भगवन् ! यह तो किये का बदला है। अपने तेज से जिन्होंने समुद्र को सुखा दिया उन अगस्त्य को कौन नहीं जानता ?

वे तपस्विश्रेष्ठ कलशोत्पन्न अगस्त्य किसे नहीं ज्ञात हैं जिन्होंने विन्ध्य पर्वत को बढ़ने से रोक दिया, पहले चुल्लू में ही समुद्र का पान कर लिया, वातापी को खा गये, लोपामुद्रा के हृदय को प्रिय हैं, त्रिलोक के गुरु हैं तथा माणिक्य पर्वत के समीप त्रटी (अथवा ऋक्, यजुः, साम की त्रयी) का आश्रय कर रहते हैं॥ २८॥

शुनःशेपः—परस्परं गुर्वधिक्षेपादुभावपि प्रायश्चित्तिनौ वर्तावहे ।

राक्षसः—तदनुजानीहि मामघमर्षणाय ।

शुनःशेपः—निर्वर्तितगुर्वाज्ञोऽहमपि प्रायश्चित्ते यतिष्ये । किन्तु किंचित्प्रष्टव्यमस्ति ।

राक्षसः—नियोजय ।

शुनःशेपः—लङ्कोपकण्ठवर्तिनि तत्राश्रमपदे कश्चिदस्ति दशकण्ठोदन्तः ।

राक्षसः—यत्किल स्थाणवीयधनुरारोपणपणेन रावणः सीतां परिणेष्यतीति तन्न कश्चिदेवंविधः ।

शुनशेपः—(विहस्य स्वगतम् ।) अये लघुचित्तवृत्तिनिर्भिन्नहृदयार्थो राक्षस इवैषः । युक्तियुक्तं चैतत् ।

अगर्भसंभवां कन्यां दशकण्ठो जगज्जयी ।
आरोप्य हरकोदण्डं कथं न परिणेष्यति ।। २९ ।।

(प्रकाशम् ।) ब्रह्मन्ननुमन्यस्व मां मिथलाप्रवेशनाय ।

राक्षसः—मामपि कार्यवशादितो गत्वा प्रायश्चिताय ।

(इति निष्क्रान्तौ ।)

शुद्धविष्कम्भकः ।

—०—

शुनःशेप—परस्पर गुरुओं की निन्दा करने से हम दोनों प्रायश्चित्त के भागी हैं ।

राक्षस—तो मुझे पाप-प्रक्षालन के लिए अनुमति दें ।

शुनःशेप—गुरु की आज्ञा पूरी कर मैं भी प्रायश्चित्त करूँगा । किन्तु कुछ पूछना है ।

राक्षस—आज्ञा दीजिए ।

शुनःशेप—लङ्का के पास स्थित उस आश्रम में. रावण का भी कुछ समाचार ज्ञात है ।

राक्षस—कि शङ्कर के धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने की शर्त पर रावण सीता से विवाह करेगा तो ऐसा कुछ नहीं है ।

शुनःशेप—(हँसकर मन में) अरे ! यह तो क्षुद्र विचार के कारण हृदय के भाव को प्रकट करने वाला राक्षस जैसा है । यह ठीक भी है—

संसार-विजेता रावण शंकर के धनुष को चढ़ाकर अयोनिजा कन्या सीता से क्यों नहीं परिणय करेगा ? ।। २९ ।।

(प्रकट) ब्रह्मन् ! मुझे मिथिला में प्रवेश करने की अनुमति दें ।

राक्षस—मुझे भी कार्यवश यहाँ से जाकर प्रायश्चित्त की ।

(दोनों निकल जाते हैं)

(ततः प्रविशति पुष्पकेण रावणः प्रहस्तश्च ।)

रावणः—

यस्यारोपणकर्मणाऽपि बहवो वीरव्रतं त्याजिताः
कार्यं सज्जितबाणमीश्वरधनुस्तद्दोर्भिरेभिर्मया ।
स्त्रीरत्नं तदगर्भसंभवमितो लभ्यं च लीलायिता
तेनैषा मम फुल्लपङ्कजवनी जाता दृशां विंशतिः ।। ३० ।।

प्रहस्तकः—(सर्वतोऽवलोक्य) कथं दशाननदेवदर्शनाकाङ्क्षिवृन्दारकवृन्द-मिदमग्रतः समग्रमपि गगनाभोगं बिभर्ति । (साक्षेपम्)

वह्ने निह्नोतुमर्चिः परिचिनु पुरतः सिञ्चतो वारिवाहान्
हेमन्तस्यान्तिके स्याः प्रथयति द्रवथुं येन ते ग्रीष्मनोष्मा ।
मार्तण्डाश्चण्डतापप्रशमनविधये धत्त नार्डीं जलार्द्रां
देवो नान्यप्रतापं त्रिभुवनविजयी मृष्यते श्रीदशास्यः ।। ३१ ।।

रावणः—(सौत्सुक्यं) हंहो नभस्तरुपुष्पपुष्पक किंचिदुच्यसे ।

सेवागतामरविमानसहस्रसेनाः सीमन्तयन् मम मनोजयिना जवेन ।
तां मैथिलस्य नृपतेर्व्रज राजधानीं यत्राद्भुतं हरधनुर्धरणीसुता च ।।३२।।

शुद्ध विष्कम्भक ।

(तदनन्तर पुष्पक से रावण और प्रहस्त आते हैं)

— रावण—जिसके आरोपण-कार्य से ही बहुतों ने वीरव्रत का परित्याग कर दिया उस शिव-धनुष पर मुझे इन भुजाओं द्वारा बाण चढ़ाना है जिससे अगर्भसम्भूत वह स्त्रीरत्न मुझे यहाँ से प्राप्त होगा । इसीलिए फूले कमल के वन के समान ये मेरी बीस आँखें प्रसन्न हो गयी हैं ।। ३० ।।

प्रहस्त—(चारों ओर देखकर) क्या महाराज दशानन के दर्शन की आकांक्षा से यह देव-समूह आगे गगन में व्याप्त है ? (तिरस्कार के साथ)

हे अग्नि ! अपनी शिखाओं को छिपाने के लिए आगे से वर्षा करते हुए मेघों का संग्रह कर लो, हे ग्रीष्म ! तुम भी हेमन्त के समीप हो जाओ जिससे तुम्हारी उष्मा से ताप न उत्पन्न हो, हे आदित्यो ! अपने भीषण ताप को शान्त करने के लिए जलार्द्र प्रभा को धारण कर लो (क्योंकि) त्रिभुवन विजयी महाराज रावण दूसरे के प्रताप को सहन नहीं करते ।। ३१ ।।

रावण—(उत्सुकता से) अहा ! आकाशविटप के पुष्प पुष्पक ! तुमसे कुछ कहना है ।

(मेरी) सेवा के लिए आये हुए हजारों देव विमानों की सेना को सीमन्त जैसी करते हुए (सेना के ऊपर से) मन से भी तीव्र वेग से राजा जनक की उस राजधानी में चलो जहाँ विचित्र शङ्कर का धनुष तथा पृथ्वी की कन्या है ।। ३२ ।।

प्रहस्तकः—किमद्याप्युत्कण्ठते देवः। नन्ववतीर्णममुना गगनार्णवपोतपात्रेण विमानराजेन जनकमन्दिरे। तद्भवतु देवागमनं सीरध्वजाय निवेदयामि। (उच्चैः)

वामैराकृष्य वेगात् प्रगुणितशिरसः पाणिभिः केशबन्धान्
सव्यैरव्याजशस्त्रप्रणयनपटुभिश्छिन्दतः कण्ठपीठीः।
मन्वानस्यानुरूपामुपकरणगतिं प्रीतये चन्द्रमौले-
र्यस्यान्तस्तोषपोषं व्यधितदशमुखी विंशतिर्बाहवश्च ॥ ३३ ॥

सोऽयं स्वयंग्रहणदुर्ललितो दशास्यस्त्वां याचते दुहितरं पणपूर्वमेव।
संबन्धसन्धिममुना च सहानुभूय वंशो निमेर्जयतु यावदियं धरित्री ॥३४॥

(कर्णं दत्त्वाऽऽकाशे) किं ब्रूथ ? सोऽयं पुराणब्रह्मवादी याज्ञवल्क्यशिष्यो राजर्षिर्जनक आङ्गिरसेन पुरोधसा सार्धमितोऽभिवर्तते। (तदिममास्थानमण्डपोपकण्ठमधिष्ठीयतामित्यवतरतः।)

(ततः प्रविशति जनकः शतानन्दश्च।)

जनकः—

यन्मीमांसयतः श्रुतीः शतपथाः साक्षात्कृतब्रह्मणो
विश्वामित्रमहामुनेरपि वयं वर्त्तामहे चेतसि।

प्रहस्त—क्या महाराज अब भी उत्कण्ठित हो रहे हैं ? ये गगन-सागर के पोतरूपी विमान राज वे जनक के प्रासाद में उतर गये हैं। तो अच्छा है, जाकर आप का आगमन जनक से कह दूं। (जोर से)—

बायें हाथों से शिरों को भूषित करने वाले केशपाशों को जोर से खींचकर निष्कपट होकर शस्त्र चलाने में कुशल दाहिने हाथों से शिर की पंक्तियों को काटते हुए भगवान् शङ्कर के प्रसाद के लिए उचित उपचार मानने वाले जिस (रावण) की बीस भुजाएँ और दशमुख मनस्तोष की पुष्टि किये ॥ ३३ ॥

वही स्वयं ग्रहण किये जाने का अभ्यस्त यह (रावण) प्रतिज्ञापूर्वक ही आपकी कन्या को माँग रहा है। इसके साथ निमित्तक सन्धि का अनुभव कर निमि का वंश जब तक यह पृथ्वी रहे तब तक बढ़ता रहे ॥ ३४ ॥

(सुनकर आकाश की ओर) क्या कहते हो ! यह पुराना ब्रह्मवादी याज्ञवल्क्य का शिष्य राजर्षि जनक आङ्गिरसगोत्रीय अपने पुरोहित (शतानन्द) के साथ इधर ही आ रहे हैं।

(ऐसा कहकर दोनों उतरते हैं)

(तदनन्तर जनक और शतानन्द प्रवेश करते हैं)

जनक—सैकड़ों मार्गों वाले वेदों की मीमांसा करने वाले तथा ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त करने वाले महामुनि विश्वामित्र के भी हृदय में जो हम लोगों को स्थान मिला है

अप्युल्लीढकषायपावनधियां सद्यः समाधिश्लथं
तत्सङ्गीतकमन्तरेण हृदयं हर्षान्नरीनर्ति नः ॥ ३५ ॥

शतानन्दः—राजर्षे सूर्यप्रशिष्य! सत्याशिषस्ते गुरवो यद्भगवान् विश्वामित्रोऽपि मैत्रीमनुरुध्यते। (प्रहस्तस्तदेव पठति।)

जनकः—(आकर्ण्य।) अये! तपस्यतामपि न निरत्ययः सुखप्रत्ययः। यत् सीतार्थी दशकण्ठोऽपि गृहानुपगच्छति।

शतानन्दः—अहह। आश्चर्यम्। एकोऽपि गरीयान् दोषः समग्रमपि गुणग्रामं दूषयति। तथा हि—

आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी शास्त्राणि चक्षुर्नवं
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि पदं लङ्केति दिव्या पुरी।
उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ॥ ३६ ॥

जनकः— (सखेदम्) भगवन्नौतथ्य! गृहानुपगताय सीतार्थिने लङ्केश्वराय किमुत्तरम्।

शतानन्दः—राजर्षे! चिरं दत्तमेवोत्तरम्।

इसीलिए कषाय रस का पान करने से पवित्र बुद्धि वाले हम लोगों का हृदय समाधि से विचलित होकर तत्काल सङ्गीत के विना ही हर्ष से अत्यधिक नृत्य कर रहा है ॥ ३५ ॥

शतानन्द—राजर्षे! सूर्यशिष्य! आप के गुरु (याज्ञवल्क्य) का आशीर्वाद सत्य है कि भगवान् विश्वामित्र भी मैत्री कर रहे हैं। (प्रहस्त उसी को पढ़ता है)

जनक—(सुनकर) अरे! तपस्या करने वालों को भी विघ्नरहित सुख नहीं कि सीतार्थी रावण भी घर में आता है।

शतानन्द—अहा! आश्चर्य है। एक भी बड़ा दोष समस्त गुणसमूह को कलुषित कर देता है। जैसे कि—

जिस (रावण) की आज्ञा इन्द्र के माथे की मणि की प्रणयिनी है (इन्द्र शिर से वहन करते हैं), शास्त्र ही जिसके नवीन चक्षु है, भूतपति भगवान् शङ्कर में जिसकी भक्ति है, लङ्का नामक दिव्य नगरी जिसका निवास स्थान है और ब्रह्मा के वंश में जिसका जन्म है, अहा! यदि यह लोक को रुलाने वाला न होता तो ऐसा वर कहाँ मिलता। सभी स्थानों में सभी गुण कहाँ मिलते हैं ॥ ३६ ॥

जनक—(दुःख से) भगवान् औतथ्य! घर में सीता के लिए आये रावण को क्या उत्तर दिया जाय?

शतानन्द—राजर्षे! उत्तर तो बहुत दिनों से दिया जा चुका है।

जनकः—भगवन् ! केन ।

शतानन्दः—भगवता शिपिविष्टेन ।

जनकः—किमिव ?

शतानन्दः—स्वधनुः ।

जनकः—(निःश्वस्य)

गिरिशधनुरधिज्यं रावणः कर्त्तुमीष्टे
करतुलितहराद्रेर्दुष्करं किं हि तस्य ।
किमुत न स निमीनां यौनसंबन्धयोग्य-
स्तदिति हि मम चित्तं चिन्तया मूर्च्छतीव ॥ ३७ ॥

शतानन्दः—राजर्षे ! मा विषीदस्व । पाणिप्रणयिनं कोदण्डदण्डं प्रसादीकुर्वतः पार्वतीपतेर्विवोढा कः सीताया अभिमत इति न जानीमः । इदं तु प्रतिजानीमहे यदुत न प्रचण्डदोःखण्डोऽपि दशकण्ठः श्रीकण्ठमनीषितमपरथा प्रस्थापयिष्यति । तदेहि दुर्वृत्तमपि मुनिपुत्रमुचितेन संभावयाव ।

(इत्युत्थाय परिक्रामतः)

जनकः—(पुरोऽवलोक्य) दिष्ट्या दृष्टपुलस्त्यप्रसवाः प्रमोदामहे । लङ्केश्वर ! इत इतो भवानिदमासनमास्यताम् । (सर्वे यथोचितमुपविशन्ति)

जनक—भगवन् ! किसके द्वारा ?

शतानन्द—भगवान् शङ्कर द्वारा ।

जनक—क्या ?

शतानन्द—अपना धनुष ।

जनक—(निःश्वास लेकर)

शङ्कर के धनुष पर रावण प्रत्यञ्चा चढ़ा सकता है । जिसने हाथ से कैलास को उठा लिया उसके लिए दुष्कर क्या है ? किन्तु वह निमिवंशियों के लिए विवाह-सम्बन्ध के योग्य नहीं है यही मेरे हृदय को चिन्ता से मूर्च्छित कर रहा है ॥ ३७ ॥

शतानन्द—राजर्षे । विषाद न कीजिए । अपने हाथ के प्रिय धनुष को प्रसाद में देने वाले पार्वती के पति शङ्कर को कौन सीता का पति अभीष्ट था यह हम नहीं जानते । यह अवश्य जानते हैं कि प्रचण्ड बाहुओं वाला भी रावण शंकर की इच्छा को अन्यथा नहीं कर सकता । तो आइये मुनि (विश्रवा) के पुत्र दुराचारी भी रावण का उचित सत्कार करें ।

(उठकर दोनों चलते हैं)

जनक—(आगे देखकर) सौभाग्य से पुलस्त्य की संतान को देखकर हम प्रसन्न हो रहे हैं । लङ्केश्वर ! आप इधर आइये । यह आसन है बैठिये । (सभी यथोचित रूप से बैठ जाते हैं)

शतानन्दः—ऋषिपुत्रको दिव्यश्चासि तत्कतमामातिथेयीं कुर्मः ।

महोक्षो वा महाजो वा श्रोत्रियाय विशस्यते ।
निवेद्यते तु दिव्याय स्रक्सुगन्धिनिर्धिर्विधिः ॥ ३८ ॥

रावणः—ब्रह्मर्षे ! इयमस्माकमातिथेयी

यत् पार्वतीहठकुचग्रहणप्रवीणे
पाणौ स्थितं पुरभिदः शरदां सहस्रम् ।
गीर्वाणसारकणनिर्मितगात्रमत्र
तन्मैथिलीक्रयधनं धनुराविरस्तु ॥ ३९ ॥

प्रहस्तकः—आविरस्तु सममगर्भसंभवया सीतया ।

रावणः—(सप्रत्याशं स्वगतं च)

निर्माल्यं नयनश्रियः कुवलयं, वक्त्रस्य दासः शशी
कान्तिः प्रावरणं तनोर्मधुमुचो यस्याश्च वाचः किल ।
विंशत्या रचिताञ्जलिः करतलैस्त्वां याचते रावण-
स्तां द्रष्टुं जनकात्मजां हृदय हे नेत्राणि मित्रीकुरु ॥ ४० ॥

शतानन्दः—इदमाविर्भवति दशानन ! माहेश्वरं धनुः ।

रावणः—(स्वात्मानं प्रति) इदमाविर्भवति माहेश्वरं धनुर्न पुनरद्यापि मान्मथम् ।

शतानन्द—आप ऋषि पुत्र तथा दिव्य पुरुष हैं तो आप की कौन सी पूजा की जाय ।

श्रोत्रिय के लिए वृषभ या बकरा (सत्कार के लिए) मारा जाता है । दिव्य (व्यक्ति) के लिए स्रुवा के साथ सुगन्धित द्रव्य दिये जाते हैं ॥ ३८ ॥

रावण—ब्रह्मर्षे ! यह हमारा सत्कार है—

जो धनुष पार्वती के स्तनों को हठपूर्वक ग्रहण करने में निपुण शङ्कर के हाथों में सहस्रों वर्षों तक रहा और जो देवताओं के सारभूत कणों से निर्मित हुआ है वह सीता का क्रय-मूल्य धनुष सामने आवे ॥ ३९ ॥

प्रहस्त—अगर्भसंभूता सीता के साथ बाहर लाया जाय ।

रावण—(आशा से मन में)

नील कमल जिसके नेत्रों की शोभा का निर्माल्य (निवेदित पुष्प) है, चन्द्रमा जिसके मुख का दास है, कान्ति शरीर का आच्छादक है और जिसकी वाणी मधु वर्षा करने वाली है उस जनकात्मजा को देखने के लिए बीसों हथेलियों से हाथ जोड़े रावण तुमसे याचना कर रहा है । हे हृदय ! नेत्रों को मित्र बनाओ ॥ ४० ॥

शतानन्द—हे रावण ! यह शिव धनुष प्रकट हो रहा है ।

रावण—यह शिवधनुष मेरे प्रति प्रकट हो रहा है किन्तु काम से संबद्ध (सीता) नहीं ।

शतानन्दः—(सहेलमालोक्य)

स्फूर्जद्वज्राहतसुरगिरिस्वर्णचूर्णच्छटाभि-
स्तुल्योल्लासैस्त्रिभुवनदृशां दत्तदौःस्थित्यमुद्रः ।
आशारन्ध्राण्ययमविरतं रुद्रकोदण्डदण्डः
स्वेच्छाचण्डो रचयति रुचां पञ्जरैः पिञ्जराणि ॥ ४१ ॥

(नेपथ्यं प्रति) कः कोऽत्र भोः सौविदल्लेषु ? कन्यान्तःपुरादागच्छतु जनकराजकन्या । (नेपथ्ये) इयमियम् । (ततः प्रविशति सीता सख्यौ च ।)

सीता—(ससाध्वसोल्लासम् ।) अम्महे रक्खसो त्ति सुणिअ सच्चं सज्झसकोदूहलाणं अन्तरे वट्टामि । [अहो राक्षस इति श्रुत्वा सत्यं साध्वसकौतूहलयोरन्तरे वर्ते ।]

एका—भट्टिदारिए ! रक्खसो त्ति मा णं परिहव रक्खसचक्कवट्टीक्खु एसो । [भर्तृदारिके ! राक्षस इति मैनं परिभव राक्षसचक्रवर्ती खल्वेषः ।]

सीता—अहिअदरं उव्वेअणिज्जो । [अधिकतरमुद्वेजनीयः ।]

द्वितीया—अह किं मन्तेध किं कादुं इध आअदो । [अथ किं मन्त्रयथ किं कर्तुमिहागतः ।]

प्रथमा—सङ्करसरासणं समारोवइदुं । [शङ्करशरासनं समारोपयितुम् ।]

शतानन्द—(अवहेलना से देखकर)

वज्र के आघात से सुमेरु के चमकते हुए सुवर्ण के चूर्ण की प्रभा के समान प्रकाश वाली कान्तियों के समूह से तीनों लोक (निवासियों) की दृष्टि को दुःखपूर्वक अवस्थित होने के कारण (दुरवलोकनीय होने से) संकुचित कर देने वाला यह स्वेच्छया भीषण भगवान् रुद्र का धनुष दिशाओं के छिद्रों को निरन्तर पिङ्गल वर्ण का कर रहा है ॥ ४१ ॥

(नेपथ्य की ओर) यहाँ कौन कञ्चुकी है ? कन्या अन्तःपुर से जानकी आवें । (नेपथ्य में) यह है, यह है । (तदनन्तर सीता और दो सखियाँ प्रवेश करती हैं)

सीता—(भय और उल्लास के साथ) अहा ! राक्षस सुनकर भय और कौतूहल के बीच हूँ ।

एक सखी—राजकुमारी ! राक्षस है ऐसे इसका तिरस्कार न करो । यह राक्षस चक्रवर्ती है ।

सीता—यह तो और अधिक उद्वेजक है ।

दूसरी सखी—क्या सलाह कर रही हो ? यहाँ क्या करने (यह) आया है ?

पहली—शिव के धनुष को चढ़ाने लिए ।

द्वितीया—णं एव्वं भण भट्टिदारिअं परिणेदुं। [नन्वेवं भण भर्तृदारिकां परिणेतुम्।]

प्रथमा—अयि उड्डामरसीले कहं पुण असङ्करो अलद्धसङ्करप्पसादो वा इमं चावमारोवइस्सदि। [अयि उड्डामरशीले! कथं पुनरशङ्करोऽलब्धशङ्करप्रसादो वेमं चापमारोपयिष्यति।]

सीता—(स्वगतम्।) अम्महे ऊससिदह्मि अणब्भवरिसेण पिअसहीवअणेण। [अहो उच्छ्वसिताऽस्मि अनभ्रवर्षेण प्रियसखीवचनेन।]

(सर्वाः परिक्रामन्ति।)

सीता—(पुरोऽवलोक्य।) एक्कासणोववेसिणो कदि उण एदे जणा। [एकासनोपवेशिनः कति पुनरेते जनाः।]

सख्यौ—णं एक्के एव्व एसो दसमुहो विंसदिभुअदण्डो अ। [नन्वेक एवेष दशमुखो विंशतिभुजदण्डश्च।]

सीता—तादसदानन्दमिस्साणं अन्तरे उवविसिस्सम्। [तातशतानन्दमिश्राणामन्तर उपवेक्ष्यामि।]

रावणः—(सौत्सुक्यमवलोक्य स्वगतम्।) अहो त्रिभुवनातिशायि मकरध्वज-सञ्जीवनं रामणीयकमस्याः। तथा हि—

इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमलता श्यामेव हेमद्युतिः।

दूसरी—अरे यह कहो कि राजकुमारी से विवाह करने के लिए।

पहली—अरे चञ्चल स्वभाव वाली! शङ्कर के अतिरिक्त या शङ्कर से बिना वरदान पाये कैसे कोई इसे चढ़ायेगा!

सीता—(मन में) अहा! बिना बादल की वर्षा के समान सखी के वचन से आश्वस्त हुई हूँ।

(सभी चलती हैं)

सीता—(सामने देखकर) एक आसन पर बैठे ये कितने लोग हैं?

दोनों सखियाँ—अरे एक ही दशमुख और बीस भुजाओं वाला है।

सीता—पिताजी और शतान्द के बीच बैठूंगी।

रावण—(उत्सुकता से देखकर मन में) अहा! इसकी सुन्दरता तीनों लोक से न्यारी तथा काम की सञ्जीवनी है। क्योंकि—

सीता के सामने चन्द्रमा ऐसा लगता है मानो अञ्जन से लिप्त है, मृगियों की दृष्टि जैसे जड़ हो गयी है, विद्रुम (मूँगे) की लता की लाली मानों मुरझा गयी है, स्वर्ण

पारुष्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव ॥ ४२ ॥

किं च बहुष्वपि निजेषु कर्मसु विवेक्त्रे कर्त्रे किंचिदेव रोचते । यतः—

एतां यथाहृदयवर्तनमायताक्षीं
संसारसारनिचयेन विधाय वेधाः ।
शङ्के दिदेश मदनं परिरक्षितार-
मारात् स मां किरति येन शरैः शिताग्रैः ॥ ४३ ॥

शतानन्दः—पुलस्त्यनन्दनेदं तद्धनुरियं सा सीता ।

रावणः—इदं तद्धनुरयं स रावणः । किं पुनरसंभाव्तनागर्भमदशकण्ठोचितं व्याहरसि । पश्य—

साद्धं हरेण हरवल्लभया च देव्या हेरम्बषण्मुखवृषप्रमथावकीर्णम् ।
कैलासमुद्धतवतो दशकन्धरस्य कैषा जरद्धनुषि दुर्मददोःपरीक्षा ॥ ४४ ॥

प्रहस्तकः—(स्वगतम्) इदं शिपिविष्टान्यस्माददृष्टगुणारोपणकर्म कार्मुकम् । कथमेतत् । (विचिन्त्य) पराक्रमपरीक्षायां को वा मङ्गादेवोऽपि देवस्य ? किंच—

की द्युति मानों काली हो गयी है, कोकिल के कण्ठ में मधुरता ने मानों कर्कशता का रूप ले लिया है, और हाय ! मयूरों के पंख भी मानों कुत्सित हो गये हैं ॥ ४२ ॥

तथा अपने बहुत से कामों में विवेचना करने वाले को कुछ ही अच्छा लगता है। क्योंकि—

इस विशाल नेत्रों वाली सीता को संसार के सार पदार्थों से बनाकर ब्रह्मा ने हृदय में रहने वाले कामदेव को इसका रक्षक बना दिया जिससे वह मुझ पर तीव्र बाणों से चारों ओर प्रहार कर रहा है ॥ ४३ ॥

शतानन्द—रावण ! यह वह धनुष है और यह सीता है ।

रावण—यह वह धनुष है और यह वह (प्रसिद्ध) रावण है । तो क्यों असम्भावना युक्त तथा रावण के लिए अपमान योग्य बोल रहे हो । देखो—

शङ्कर तथा शङ्कर की प्रिया देवी पार्वती के सहित, गणेश, कार्तिकेय तथा नन्दी एवं प्रमथों से युक्त कैलाश को उठाने वाले रावण की दुर्मद भुजाओं की इस जीर्ण धनुष पर क्या परीक्षा होगी ? ॥ ४४ ॥

प्रहस्त—(मन में) शङ्कर के अतिरिक्त इस धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाने का कार्य किसी ने नहीं किया । यह कैसे ?

(सोचकर) पराक्रम की परीक्षा में महाराज (रावण) के सामने शङ्कर भी क्या हैं ? क्योंकि—

कृतं सुराणां सारेण स्थाणवीयमिदं धनुः ।
किङ्करास्ते च देवस्य सुकरा रोपणक्रिया ।। ४५ ।।

रावणः—(सरोषं धनुरादाय)

अस्मद्दोर्दण्डचण्डाञ्चननिबिडगुणग्रन्थिभुग्नोभयाग्रि-
व्यश्रीभावोद्ध्वर्वपृष्ठत्रुटदनणुरणत्कर्मणः कार्मुकस्य ।
कल्पान्तोद्भ्रान्तभर्गप्रहतडमरुकोड्डामरध्वानधीर-
ष्टाङ्कारस्तारतारस्त्रिदशनिशमितो व्योमरन्ध्रं रुणद्धु ।। ४६ ।।

शतानन्दः—(अपवार्य) अहो लङ्कापतेरपूर्वो गर्वगरिमा यन्ममापि शतानन्दस्य न निश्चिनुते चेतः किं भवितेति । दुरारोपमैन्दुशेखरं धनुर्दुर्निवारा रावणभुजदण्डाः ।

जनकः—(स्वगतम्) भगवन् भर्ग ! सन्निधत्स्व निजे धनुषि यथा जनककुलालङ्करणं भवति मे वत्सा । जितत्रिजगतापि जामात्रा वयमपत्रपामहे ।

सीता—(आत्मगतं सप्रणामम्) अम्ब वसुन्धरे पसीद सीदा विण्णवेदि पढमं मे अन्तरं देज्ज पच्छा रावणो धनुं आरोविज्जदु । [अम्ब वसुन्धरे ! प्रसीद सीता विज्ञापयति प्रथमं मे अन्तरं देहि पश्चाद्रावणो धनुरारोपयतु ।]

देवताओं के सार भाग से शङ्कर का यह धनुष बना है और वे (देवता) महाराज (रावण) के सेवक हैं । अतः आरोपण का कार्य सुकर है ।। ४५ ।।

रावण—(रोषपूर्वक धनुष लेकर)

मेरी भुजाओं से तीव्र आरोपण के कारण घनी प्रत्यञ्चा की ग्रन्थि से झुकी हुई दोनों कोटियों के मिल जाने पर ऊर्ध्व पृष्ठ के टूटने से भयङ्कर (रण—रण) की ध्वनि करने वाले धनुष की अत्यन्त उच्च उग्र प्रलय-काल में भ्रमण करने वाले रुद्र द्वारा ताडित डमरू की प्रचण्ड ध्वनि के समान गंभीर, देवताओं को सुनाई पड़ने वाली टङ्कार आकाश मण्डल में व्याप्त हो जाय ।। ४६ ।।

शतानन्द—(हटकर) अहा ! रावण की अपूर्व गर्व-गरिमा है कि मुझ शतानन्द का भी चित्त निश्चय नहीं कर पा रहा है कि क्या होनेवाला है । शिव के धनुष का आरोपण कठिन है और रावण की भुजायें भी दुर्निवर हैं ।

जनक—(मन में) भगवान् शङ्कर ! अपने धनुष में स्थित होइये जिससे मेरी पुत्री जनक के कुल का अलङ्कार रहे । तीनों लोक के विजेता जामाता से भी हमें लज्जा होती है ।

सीता—(मन में प्रणामकर) माता वसुन्धरे ! प्रसन्न हो जाओ । सीता कह रही है कि पहले मुझे स्थान दो फिर रावण धनुष को चढ़ाये ।

सख्यौ—(आकाशे) भगवं अणङ्ग णमो दे माक्खु रक्खसं उद्दिसिअ सुउमार-जणजोग्गं पहरणं संधिहिसि । [भगवननङ्ग नमस्ते मा खलु राक्षसमुद्दिश्य सुकुमार-जनयोग्यं प्रहरणं संदधासि ।]

प्रहस्तकः—(सगर्वम्) हन्त न सर्वदा सर्वस्य सदृशो दशापाकः । यतः—

वामो बाहुर्मृडान्याः करकलितरणत्कङ्कणालीकरालो
यस्मिन्सव्यश्च शम्भोर्भुजगवलयवान् सह्यमाकर्षणं तत् ।
कैलासोद्धारधीरं दशवदनभुजामण्डलीयन्त्रबन्धं
रे रे कोदण्डदण्ड प्रतिपत तदलं नासि सोढा दृढोऽपि ॥ ४७ ॥

(विचिन्त्य) भवतु पातालचरानम्बरचरांश्च सावधानान्विधास्ये । (अधो ऽवलोक्य)

पृथ्वि स्थिरा भव भुजङ्गम धारयैनां
त्वं कूर्मराज तदिदं द्वितयं दधीथाः ।
दिक्कुञ्जराः कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षां
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥ ४८ ॥

(ऊर्ध्वमवलोक्य)

दोनों सखियाँ—(आकाश में) भगवन् कामदेव ! तुम्हें नमस्कार है । राक्षस के प्रति सुकुमार जनों के योग्य अस्त्र का उपयोग न करो ।

प्रहस्त—(गर्व से) अहा ! सबका सर्वदा भाग्यक्रम समान नहीं रहता । क्योंकि—

अरे धनुष ! जिसमें हाथ में धारण की गयी चूड़ियों से अलंकृत पार्वती की बायीं भुजा तथा सर्परूपी वलय से भूषित शङ्कर की दाहिनी भुजा है उस आकर्षण को तुम सह सकते हो (अर्धनारीश्वर शिव द्वारा आरोपण सह्य है) । अब कैलाश को उठाने से दृढ़ रावण की भुजाओं के समूह रूपी यन्त्र के बन्धन में पड़ो, तुम अत्यन्त कठिन होते हुए भी उसे सहने में समर्थ नहीं हो ॥ ४७ ॥

(सोचकर) ठीक है, पातालवासी तथा आकाश में रहने वालों को सावधान कर दूँ । (नीचे देखकर)

हे पृथ्वी स्थिर हो जाओ । हे शेषनाग ! तुम इसे धारण करो । हे कूर्मराज ! तुम इन दोनों को धारण करो हे—दिग्गजो ! तुम इन तीनों के धारण करने का यत्न करो ! महाराज (रावण) शिव के धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ा रहे हैं ॥ ४८ ॥

(ऊपर देखकर)

अश्वान् विश्वासयैतान् क्षणमरुण कुरु स्वर्गमातङ्गकण्ठं
गाढोरुग्रन्थिमाधोरण विबुधगणाः कर्णलोदंत्त हस्तान् ।
लङ्केन्द्रोदग्रपाणिप्रणयिभवधनुर्भङ्गजन्मा कठोर-
ष्टाङ्कारः स्वर्गरोदःकुहरवलयितस्त्रासकारी न कस्य ॥ ४९ ॥

रावणः—अहो मम दशाननस्याज्ञा यदमीषां स्वावयवानामपि जितगगन-चाटुकारः सर्वत्र व्यापारः । तथा हि संप्रत्येव तावत् ।

निष्पर्यायनिवेशपेशलरसैरन्योन्यनिर्भर्त्सिभि-
र्हस्ताग्रैर्युगपन्निपत्य दशभिर्वामैर्धृतं कार्मुकम् ।
सव्यानां पुनरप्रथीयसि विधावस्मिन् गुणारोपणे
मत्सेवा विदुषामहं प्रथमिका काप्यम्बरे वर्त्तते ॥ ५० ॥

(विचिन्त्य । सजुगुप्सानुतापम्) अविमृश्यकारिता हि पुंसः परं परिभवस्थानं यत्प्राकृतवदप्राकृतोऽपि रावणः पणेन परिणेतुकामः । तत्सर्वथा किमनेन ?

रुद्राद्रेस्तुलनं स्वकण्ठविपिनच्छेदो हरेर्वासनं
कारावेश्मनि पुष्पकापहरणं यस्येदृशाः केलयः ।

हे अरुण ! इन अश्वों को क्षण भर के लिए निःशङ्क करो, हे हस्तिपक ! ऐरावत के कण्ठ की ग्रन्थि को दृढ़ कर लो । हे देवो ! अपने कानों पर हाथ रख लो । रावण की उग्र भुजाओं से उठाये गये शङ्कर के धनुष के टूटने से उत्पन्न टङ्कार स्वर्ग और पृथ्वी के अन्तराल में गूंजकर किसको भयभीत नहीं कर देगा ॥ ४९ ॥

रावण— अहा ! मुझ रावण की आज्ञा कि इन अपने अङ्गों का भी गगन को जीतने वाला सर्वत्र व्यापार है । जैसा कि अभी—

एक साथ ही पकड़ने की कुशलता में तल्लीन, एक दूसरे से स्पर्द्धा करने वाली दशों बायीं हथेलियों ने एक साथ ही पड़कर धनुष को पकड़ लिया, और इस प्रत्यञ्चा के चढ़ाने की क्रिया के अपूर्ण रहने पर मेरी सेवा में तत्पर दाहिनी हथेलियों की 'मैं आगे लगूं' इस प्रकार की चेष्टा आकाश में अनिर्वचनीय ही है ॥ ५० ॥

(सोचकर ! अवज्ञा और शोकपूर्वक) विना सोचे काम करना ही पुरुष की परा-भव का सबसे बड़ा स्थान है जिससे साधारण लोगों की भांति अप्राकृत रावण भी प्रतिज्ञा से विवाह करना चाहता है । तो इस सब से क्या ?

कैलास का उठाना, अपने कण्ठ रूपी वन का काटना, इन्द्र को कारागार में रखना, पुष्पक विमान का अपहरण—जिसकी ऐसी क्रियाएँ हैं वहीं मैं दुर्मद बाँहों रूपी मन्त्री वाला रावण हूँ उस मेरी (रावण की) घुनों द्वारा जर्जर धनुष को चढ़ाने या तोड़ देने से ही क्या प्रतिष्ठा है ! ॥ ५१ ॥

सोऽहं दुर्मदबाहुदण्डसचिवो लङ्केश्वरस्तस्य मे
का श्लाघा घुणजर्जरेण धनुषा कृष्टेन भग्नेन वा ॥ ५१ ॥
(इति सावज्ञं क्षिपति ।)

सख्यौ—भट्टिदारिए दिठ्ठिआ वढ्ढसे समं पाणिग्गहणमङ्गलेण मुक्कं रावणेण धणू । [भर्तृदारिके ! दिष्टया वर्धसे समं ते पाणिग्रहणमङ्गलेन । मुक्तं रावणेन धनुः ।]

सीता—(साश्वासमात्मगतम् ।) हिअअ अणुऊलो विअ दे देवो मम्महो अ । [हृदय अनुकूल इव ते देवो मन्मथश्च ।]

शतानन्दः—भो लङ्केश्वर परममाहेश्वरोऽसि तत्किमिदमसंस्तुतं प्रस्तुतम् ।

जनकः—(ससंरम्भमुत्थाय ।)

न ब्रह्मोपनिषन्निषेवणरतिर्नो याज्ञवल्क्यो गुरुः
कोपावेशनविस्रसा च सहसा शक्नोति रोद्धुं मनः ।
दृष्ट्वा शम्भुमहाधनुःपरिभवं पाणिजराजर्जर-
स्तेनाभ्युत्सहते ममैष युगपच्चापाय शापाय च ॥ ५२ ॥

(विमृश्य नेपथ्यं प्रति) कः कोऽत्र भोः ? धनुर्धनुः । (प्रविश्य धनुरुपनीय निष्क्रान्तः पुरुषः ।)

जनकः—(परिकरं बद्ध्वा गृह्णाति)

रावणः—(सकोपहासम्)

(ऐसा कहकर तिरस्कारपूर्वक फेंक देता है)

दोनों सखियाँ—राजकुमारी ! भाग्यशालिनी हो ! रावण ने तुम्हारे विवाह-मङ्गल के साथ ही धनुष को भी छोड़ दिया ।

सीता—(आश्वासनपूर्वक मन में) हृदय ! भाग्य तथा कामदेव जैसे तुम्हारे अनुकूल हैं ।

शतानन्द—हे रावण ! तुम तो परम शैव हो । तुमने यह क्या अनुचित कर डाला ?

जनक—(क्रोधपूर्वक उठकर)

हे क्रोधावेग ! शम्भु के धनुष के तिरस्कार को देखकर वेदों तथा उपनिषदों की सेवा का अनुराग नहीं रहा, याज्ञवल्क्य गुरु नहीं रहे, वृद्धावस्था सहसा मन को रोक भी नहीं सकती । अतः वार्द्धक्य से जर्जर हाथ एक साथ ही धनुष तथा शाप दोनों के लिए उत्सुक हो रहा है ॥ ५२ ॥

(विचार कर नेपथ्य की ओर) यहाँ कौन है ? धनुष-धनुष । (प्रवेश कर एक पुरुष धनुष रखकर चला जाता है)

जनक—(फेटा कस कर ग्रहण करते हैं)

रावण—(क्रोध तथा उपहास से)

हस्तालम्बितमक्षसूत्रवलयं कर्णावतंसीकृतं
स्रस्तं भ्रूयुगमुच्चमय्य रचितं यज्ञोपवीतेन च।
संनद्धा जघने च वल्कलपटो पाणिश्च धत्ते धनु-
र्दृष्टं भो जनकस्य योगिन इदं दान्तं विरक्तं मनः ।। ५३ ।।

शतानन्दः—आश्चर्यम् । अहो महाप्रभावो मे याज्यः। अस्य हि ।
वाञ्छानुगौ न जरसा जनकस्य पाणी सत्यं स एष तपसस्तु परः प्रकर्षः ।
मौर्वी स्वयं यदधिरोहति चापकोटिं संधानकर्मणि शराश्च यदुत्सहन्ते ।।५४।।

सीता—हद्धि हद्धि। तादोवि णाम उवसमेक्कणो धणुं वावारेवि स एस हुदवहं वरिसिदुकामो मिअङ्कमणी। [हा धिक् हा धिक् तातोऽपि नामोपशमैकधनो धनुर्व्यापारयति स एष हुतवहं वर्षितुकामो मृगाङ्कमणिः ।]

प्रहस्तकः—आः क्षत्रियबन्धो वृथावृद्ध दशाननमुद्दिश्य धनुरारोपयसि नन्वेष ते पौलस्त्यशस्त्रं चन्द्रहासः शिक्षयिता ।

रावणः—(उच्चैर्विहस्य सोल्लुण्ठम् ।)
घुणव्रणनभङ्गुरं पशुपतेः पुराणं धनु-
र्निरीक्ष्य भुजमण्डलीबलमदाद्विकीर्णं मया ।
स एष न तितिक्षते समरसीम्नि सीरध्वजः
समं हसत हे मुखान्यसममेतदुद्धट्टनम् ।। ५५ ।।

हाथ में लटकती हुई जपमाला के वलय को कर्णावतंस बना लिया, (वार्द्धक्य से) शिथिल भ्रूयुगल को चढ़ा लिया है और यज्ञोपवीत से वल्कलपट को कमर में बाँध लिया है तथा हाथ में धनुष है। अहा ! योगी जनक का यह विरक्त मन भी दान्त देखा गया ।। ५३ ।।

शतानन्द— आश्चर्य है। मेरा यजमान महाप्रभाव सम्पन्न है। इसका तो—

जनक के दोनों हाथ वृद्धावस्था के कारण इच्छानुसार चल नहीं सकते। सचमुच यह तो तपस्या का ही परम प्रकर्ष है कि प्रत्यञ्चा स्वयं ही धनुष की कोटि पर चढ़ रही है और वाण स्वयं ही लक्ष्य की क्रिया में उत्सुक हो रहे हैं ।। ५४ ।।

सीता—हाय धिक्कार है ! एक मात्र शान्ति के व्रती पिताजी भी धनुष उठा रहे हो यह तो चन्द्रमा अग्नि-वर्षा करना चाहता है।

प्रहस्त—हे क्षत्रियाधम ! व्यर्थवृद्ध ! रावण के लिए धनुष चढ़ा रहे हो तो तुम्हें रावण का शस्त्र यह तलवार शिक्षा देगी।

रावण—(जोर से हँसकर उपहासपूर्वक)

घुनों के खाने से जर्जर शङ्कर के धनुष को भुजाओं के बल के मद से मेरे द्वारा फेंका गया देखकर रण-भूमि में यह सीरध्वज जनक छोड़ना नहीं चाहता है। हे मेरे मुखों ! तुम एक साथ हँसो। यह संग्राम अयोग्य है ।। ५५ ।।

जनकः—पुलस्त्यपुत्र रावण शस्त्रम् एव ते परममाहेश्वरः सीरध्वजो न क्षमते।

रावणः—अहो सीतास्नेहो मामार्द्रयति यदहमपि दशकण्ठ ईदृशानां वचसां सोढा। (ससंरम्भम्)

यज्वा, जरापरिणतः, श्वशुरो भविष्यन्,
ब्रह्मैकतानहृदयो, गुणवांस्तथेति।
क्षान्तेर्निमित्तमिदमत्र समेकमेकं
हे पाणयः किमिति वाञ्छथ चन्द्रहासम्॥ ५६॥

जनकः—रावण ! इतो भव। एष प्रहण्यसे।

(नेपथ्ये।)

जनक विरम रोषात् त्वं हि संन्यस्तशस्त्रः
कथमयमुपरागस्त्वद्गुरुर्याज्ञवल्क्यः।
परिणतिपरिहीणक्षुद्रराजन्यजन्यं
तदिह शरनिवेशं संवृणु व्रीडिताः स्मः॥ ५७॥

जनकः—बालर्षे। शुनःशेप। यदात्थ इदमपास्तं शस्त्रम्। (तथा कृत्वा) तज्जगतामपराक्षसत्वायेदं शापोदकमुत्सृजामि। (इति कमण्डलुमादत्ते।)

जनक—पुलस्त्य-पुत्र (रावण) ! शस्त्र संभालो। तुम्हारे इस कर्म को परम माहेश्वर जनक नहीं सहन कर सकता।

रावण—अहा ! सीता का स्नेह ठंडा कर रहा है। जो कि मैं रावण भी ऐसी बातें सह रहा हूँ। (क्रोध से)

यह याजक है, वृद्ध है, होने वाला श्वसुर है, ब्रह्म में तल्लीन मन वाला है तथा गुणवान् है यही एकमात्र मेरी क्षमा का कारण है। हे मेरे हाथों ! चन्द्रहास (तलवार) को तुम क्यों चाह रहे हो ?॥ ५६॥

जनक—रावण ! इधर आओ। यह मारे जा रहे हो।

(नेपथ्य में)

जनक ! क्रोध न करो। तुमने शस्त्रों का परित्याग कर दिया है, तुम्हारे गुरु याज्ञवल्क्य हैं। तुम्हें यह उपराग (विक्षोभ) कैसे हो गया ? यह परिणत बुद्धि से रहित क्षत्रियों के योग्य है। शर-सन्धान को रोको। हम लोग लज्जित हो रहे हैं॥ ५७॥

जनक—बाल ऋषि शुनःशेप ने जैसा कहा मैं शस्त्र रख रहा हूँ। (वैसा कर) तो संसार को राक्षसों से हीन करने के लिए शापोदक छोड़ रहा हूँ। (ऐसा सोचकर कमण्डलु लेते हैं)

शतानन्दः--भगवतो वैकर्तनादागतस्य निरवधिसीम्नो ब्रह्मतत्त्वोपलम्भस्य तपोराशेश्च किमयं व्ययः क्रियत इति शापोदकमुपसंहरेति ।

जनकः--भगवन् ! विश्वामित्रधर्मपुत्र ! कुलगुरो ! गौतम !

कृते राक्षसराजेन पिनाकस्य पराभवे ।
जानन्ति युक्तं गुरवो भवद्भिः परवानहम् ।। ५८ ।।

रावणः—मिथिलेश्वर ! किमिति संरम्भसे । ननु रभसनिर्जितैरावणो रावणः खल्वहम् ।

मयि कण्ठपरिच्छेदपरितोषितशङ्करे ।
कुण्ठीभवन्ति सर्वेषामस्त्राणि च तपांसि च ।। ५९ ।।

त्वं किल संबन्धज्येष्ठो ब्रह्मविद्यावरिष्ठ इति च मया क्षम्यते ।

सख्यौ--(अपवार्य) हदास दे वअणं जणअकुलदेवदाओ पडिहणन्तु । [हताश ते वचनं जनककुलदेवताः प्रतिघ्नन्तु ।]

शतानन्दः--निशाचरचक्रवर्त्तिन् ! मा वृथा विकत्थस्व । वक्रीकृतचण्डीशचापदण्डस्य शोभत एष व्याहारो न पुनस्तव ।

रावणः--(सक्रोधम् ।) किं किमाह भवान् । निशाचरचक्रवर्तिन् मा वृथा विकत्थस्वेत्यादि पूर्वोक्तमनुवदति । (विचिन्त्य) तत्किमत्र साम्प्रतम् ।

शतानन्द--भगवान् सूर्य से प्राप्त असीम ब्रह्म-ज्ञान तथा तपोराशि का यह व्यय क्यों कर रहे हैं । शापोदक हटाइये ।

जनक--भगवन् ! विश्वामित्र के धर्मपुत्र ! गौतम !

राक्षसराज (रावण) के द्वारा धनुष का तिरस्कार किये जाने पर औचित्य को गुरुजन ही जानते हैं । मैं तो आप लोगों के अधीन हूँ ।। ५८ ।।

रावण--मिथिलेश्वर ! क्रोध क्यों कर रहे हो ? बलपूर्वक ऐरावत को जीतने वाला मैं रावण हूँ ।

कण्ठों को काटकर शङ्कर को सन्तुष्ट करने वाले मुझ पर सभी के अस्त्र तथा तप कुण्ठित हो जाते हैं ।। ५९ ।।

तुम सम्बन्ध में ज्येष्ठ तथा ब्रह्म-विद्या में श्रेष्ठ हो इसलिए मैं क्षमा कर रहा हूँ ।

दोनो सखियाँ--(हटकर) हताश तेरे वचन को जनक के कुल देवता रोकें ।

शतानन्द--रावण ! व्यर्थ को डींग मत हाँको । जो शङ्कर के धनुष को झुका दे उसको यह व्यवहार शोभा देगा, तुमको नहीं ।

रावण--(क्रोध से) यह आप ने क्या कहा ? 'राक्षसराज ! व्यर्थ मत बकवाद करो, इत्यादि को दुहराता है । (सोचकर) यहाँ पर क्या उचित है ?

परिषदियमृषीणामेष वृद्धो नरेन्द्रः कथमथ तदमुष्मिन् मैथिलीलालसोऽपि ।
निजभुजबलदृप्यद्वीरवर्ये समाजे हठहरणविनोदं राक्षसेन्द्रः करोतु ॥ ६० ॥

(ससंरम्भम् ।) शृणुत भोः शृणुत निशाचरपतेः प्रतिज्ञाम् ।

कुर्वन् मौर्वीनिवेशक्रमनमदटनि स्पष्टटङ्कारटङ्कं
शम्भोः कोदण्डदण्डं बधिरितभुवनं भूर्भुवःस्वस्त्रयेऽपि ।
यस्तामेनां वरीता रसयति तदसृक् चन्द्रहासो ममासिः
कण्ठास्थिग्रन्थिशक्लीकरणमवरणत्कारवाचालधारः ॥ ६१ ॥

(नेपथ्ये कलकलः)

रावणः—भोः प्रहस्त ! किमयमकाण्डचण्डो विस्तीर्णजलधरध्वानतानवक्रदेष निर्घोषः ।

प्रहस्तकः—देव देवमनुपततामस्मद्बलानामेष निर्भरभरितभुवनाभोगतलः कलकलः ।

(नेपथ्ये वैतालिकः) जयजय त्रिजगत्पते पौलस्त्य ! सुखाय माध्यंदिनो संध्या भवतु देवस्य । संप्रति हि ।

यह ऋषियों की परिषद् है, यह राजा भी वृद्ध है फिर सीता को प्राप्त करने की उत्कट इच्छा वाला भी रावण इस अपने बाहुबल से द्दीप्त वीर-समाज में हठपूर्वक हरण का विनोद करे ॥ ६० ॥

(क्रोध से) सुन लो, सुन लो । राक्षसराज रावण की प्रतिज्ञा—

पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग तीनों लोकों में जो शम्भु के धनुष को प्रत्यञ्चा के चढ़ावे से कोटियों को झुकाकर प्रचण्ड टङ्कार की ध्वनि से भुवन को बहरा कर उस (जानकी) से विवाह करने वाला है उसके कण्ठ की हड्डियों के काटने से उत्पन्न रणत्कार की ध्वनि से मुखरित धार वाली मेरी चन्द्रहास नाम की तलवार (उसके) रक्त का आस्वादन करेगी ॥ ६१ ॥

(नेपथ्य में कलकल होता है)

रावण—प्रहस्त ! यह अकस्मात् अत्यन्त भयङ्कर घने मेघों की गर्जना से भी प्रचण्ड गर्जन कैसा है ?

प्रहस्तक—देव ! आप के पीछे आने वाली हमारी सेना का ही सम्पूर्ण भुवनों को पूरित करने वाला कलकल है ।

(नेपथ्य में वैतालिक) तीनों लोक के राजा रावण को जय हो ! दोपहर की सन्ध्या महाराज के लिए सुखद हो । इस समय—

शीतं श्रीखण्डकाण्डं निविडयति फणीभोगनालेन लीन-
श्छायावृक्षस्य मूले रचयति चमरी रम्यरोमन्थलीलाम् ।
सेर्ष्यान्तर्मानुषीयं वितरति क्रमितुर्घर्मितस्याङ्कपालीं
लीलाकस्तूरिकैणी सरति विचरितुं सारणिग्रन्थिपर्णम् ।। ६२ ।।

रावणः—तद्वयमपि निसर्गरमणीयेषु मिथिलापुरीपरिसराक्रीडेषु क्रीडाभिर्द्वित्राणि दिनान्यात्मानं विनोदयामस्तदादिश्यन्तां सेनापतयः ।

ताम्बूलीनद्धमुग्धक्रमुकतरुतलप्रस्तरे सानुगाभिः
पायंपायं कलावीकृतकदलदलं नारिकेलीफलाम्भः ।
सेव्यन्तां व्योमयात्राश्रमजलजयिनः सैन्यसीमन्तिनीभि-
र्दात्यूहव्यूहकेलीकलितकुहकुहारावकान्ता वनान्ताः ।। ६३ ।।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

।। इति प्रतिज्ञापौलस्त्यो नाम प्रथमोऽङ्कः ।।

अपने फण रूपी मृणाल में छिपा हुआ सर्प शीतल श्रीखण्ड (चन्दन) को आवेष्टित कर (लपेट) रहा है, छायेदार वृक्ष के नीचे चमरी गायें जुगाली कर रही हैं, ईर्ष्यापूर्ण यह कोई नायिका (खण्डिता) धूप से संतप्त कान्त को आलिङ्गन कर रही है तथा कस्तूरिका वाली मृगी ग्रन्थिपर्ण की कुल्या में विचरण करने के लिए टहल रही है ।। ६२ ।।

रावण—तो हम लोग भी निसर्ग रमणीय मिथिला पुरी के समीपवर्त्ती क्रीडा-भूमियों में दो तीन दिनों तक क्रीडा विनोद करें इसलिए सेनापतियों को आदेश दो ।

साथ रहने वाली सैनिक महिलाओं द्वारा ताम्बूल की लताओं से आवेष्टित सुन्दर क्रमुक वृक्षों के नीचे कदली के पत्ररूपी पात्रों में नारिकेल के फल के रस का पान कर कोकिलों के समूह द्वारा क्रीडा में उच्चरित कुहू-कुहू की ध्वनि से रमणीय, आकाश की यात्रा के श्रम को दूर करने वाले वन प्रदेशों का सेवन करें ।। ६३ ।।

(इसके अनन्तर सभी चले जाते हैं)

पौलस्त्य की प्रतिज्ञा नामक पहला अङ्क समाप्त हुआ ।। १ ।।

अथ द्वितीयोऽङ्कः

[अतः परं परशुरामरावणीयो भविष्यति ।]

(ततः प्रविशति भृङ्गिरिटिः ।)

भृङ्गिरिटिः--(सपरिक्रममात्मानं निर्वर्ण्य) अये विकृत रूपताऽपि क्वचिन्महते ऽभ्युदयाय । यतः--

स्नायुत्रायनिबद्धकीकसतनुं नृत्यन्तमालोक्य मां
चामुण्डाकरतालकुट्टितलयं वृत्ते विवाहोत्सवे ।
ह्रीमुद्रामपनुद्य यद्विहसितं देव्या समं शम्भुना
तेनाद्यापि मयि प्रभुः स जगतामास्ते प्रसादोन्मुखः ॥ १ ॥

(पुनर्निरूप्य सोपहासम्) अहो ! त्रिभुवनाधिपतेरनुचरस्य महार्हवेषता ।

कौपीनाच्छादनं वल्कमक्षसूत्रं जटासटाः ।
रुद्राङ्कुशस्त्रिपुण्ड्रं च वेषो भृङ्गिरिटेरयम् ॥ २ ॥

(विचिन्त्य) भृङ्गिरिटिस्वामिनो वा कीदृशो वेषविशेषः ।

दिगम्बरो वहति भुजङ्गभूषणं कपालवान् कलयति दाम कौणपम् ।
वृषप्रियो रचयति भस्मगुण्ठनामुमापतेश्चरितमचिन्त्यकारणम् ॥ ३ ॥

(तदनन्तर भृङ्गिरिटि प्रवेश करते हैं)

भृङ्गिरिटि—(परिक्रमा से अपने को देखकर) अहा ! विकृतरूपता भी कहीं-कहीं बड़ा हित करती है क्योंकि—

विवाह के अवसर पर स्नायु बहुल अस्थियों के मेरे शरीर पर लगे रहते हुये मुझे नाचते हुये देखकर जिस नाच में चामुण्डा करताल दे रही थीं देवी पार्वती लज्जा छोड़कर भगवान् शंकर के साथ हँस पड़ीं उससे आज भी वे जगन्नाथ शङ्कर जी मुझपर प्रसन्न रहते हैं ॥ १ ॥

(फिर देखकर उपहास-पूर्वक) अहा ! त्रैलोक्यनायक के अनुचर का बहुमूल्य वेष—

कौपीन ही पहनने का वस्त्र है, वल्कल, रुद्राक्ष माला, जटायें, त्रिशूल और त्रिपुण्ड्र यही भृङ्गिरिटि का वेष है ॥ २ ॥

(सोचकर—) अथवा भृङ्गिरिटि के स्वामी का कौन वेष है—

वे दिगम्बर हैं, सापों का आभूषण पहने हैं, कपाली हैं, शव की माला पहने हैं, बैल उन्हें प्रिय है, भस्म रमाये रहते हैं । उमापति का आचरण अचिन्त्यकारण है ॥ ३ ॥

यद्वा यस्य लैङ्गोद्भवं भैरवीयं तौम्बुरवमौमापतमार्द्धनारीश्वरमैन्दुशेखरमन्त-कान्तकरं कालकूटीयं जम्भारिभुजस्तम्भनं दक्षमखोन्माथि मान्मथं त्रैपुरमन्धका-सुरीयमित्यपरमप्यपरिमेयं चित्रं चरित्रजातमाचक्षते तस्य भगवतश्चेष्टापरीक्षायां कौ नाम परमेष्ठिवैकुण्ठावपि। किं पुनर्भृङ्गिरिटिः। तथाहि—

नग्नस्तिष्टति तं नमन्ति विबुधाः संवीतदिव्यांशुकाः
प्रीतो याति वृषेण वारणगतस्तं वासवः सेवते।
भूषा तस्य नृणां कपालशकलाः स्तोता धनेशः स्वयं
दौर्गत्यस्य परं पदं स भगवान् शम्भुर्विभुत्वस्य च॥ ४॥

तत्किमनेन यथादिष्टमनुतिष्ठामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) अये नारदः। कलहकुतूहली खल्वेष मुनिः। यद्वा।

लिङ्गोद्भवव्यतिकरे स्वमहत्त्वहेतोर्नारायणद्रुहिणयोरुदभूद्विवादः।
यस्मादयं कलिमुखो मुनिराविरासीत् तस्मा कथं नु भवतु प्रियसंप्रहारः॥ ५॥

(विचिन्त्य) भवत्वस्मादेव तर्हि तयोरुदन्तमुपलप्स्ये (इति परिक्रामति।)
(ततः प्रविशति यथा निर्दिष्टो नारदः।)

नारदः—(विचिन्त्य) सत्यं सत्यमिदं गीयते दुस्त्यजा प्रकृतिरिति। यतः—

अथवा जिनके लिङ्ग-उत्पत्ति, तुम्बरुसंबन्धी, उमापति, अर्धनारीश्वर, चन्द्रशेखर, मृत्युघ्न, कालकूट संबन्धी, जम्भ का भुजस्तम्भन, दक्षमखभङ्ग, कामदेव संबन्धी, त्रिपुर-संबन्धी, अन्धकासुरसम्बन्धी एवं इस प्रकार की दूसरी असंख्य विचित्र लीलायें हैं। उन भगवान् शंकर की कार्य परीक्षा में ब्रह्मा और विष्णु भी कौन हैं? फिर भृङ्गिरिटि की क्या हस्ती। क्योंकि—

वे शंकर नग्न रहते हैं पर दिव्य वस्त्र पहने देवता उन्हें नमस्कार करते हैं। वे प्रसन्नतापूर्वक बैल पर चलते हैं पर (ऐरावत) हाथी पर चढ़े इन्द्र उनकी सेवा करते हैं। मनुष्यों के कपाल के टुकड़े ही उनके आभूषण हैं पर स्वयं धनपति कुबेर उनकी स्तुति करते हैं। वे भगवान् शंभु दुर्गति और विभुता के परम स्थान हैं॥ ४॥

तो फिर इससे क्या? जैसा आदेश है वैसा करूँ। (घूमकर तथा देखकर) अरे! यह तो नारद हैं। इनको कलह में कुतूहल रहता है। अथवा—

लिङ्गोद्भव के अवसर पर ब्रह्मा और विष्णु का अपने महत्त्व के लिये जो विवाद हुआ उसी से विग्रह-प्रिय मुनि पैदा हुए फिर मारकाट इन्हें प्रिय क्यों न हो?॥ ५॥

(सोचकर) अच्छा इन्हीं से उन दोनों का वृत्तान्त जानें (यह सोचकर घूमता है) तदनन्तर पूर्वोक्त प्रकार से नारद आते हैं।

नारद—(—सोचकर) यह बिल्कुल सत्य कहा जाता है कि स्वभाव दुस्त्याज्य है। क्योंकि—

युयुधे युद्ध्यते को वा योत्स्यते वा मदोद्धतः।
इति मे व्यग्रमनसः कालोऽभ्येति च याति च ॥ ६ ॥

अपि च—

त्रस्तान्त्रतन्त्रतुरगाणि कृपाणघातघूर्णत्करीण्यनणुपूतनफूत्कृतानि।
धावत्कदम्बकटुताण्डवडामराणि द्रष्टुं रणान्यहरहस्त्रिजगद् भ्रमामि ॥ ७ ॥

(विमृश्य) यो यत्रानुरक्तः स तदन्यतिरस्कारेण तदेव बहु मन्यते। तथाहि—

तन्मम ब्रह्म परमं तत्तपः सा क्रतुक्रिया।
स स्वाध्यायः स च जपो यद्वीक्ष्ये युद्धमुद्धतम् ॥ ८ ॥

येन केन चिद्व्यसनिनो जनस्य तदसन्निधाने तत्प्रतिनिधिरपि विनोदाय। तथा चाहम्—

अलाभे वीरयुद्धस्य नखवादनसंभृतम्।
सापत्न्यककलिस्त्रीणां पश्यामि च शृणोमि च ॥ ९ ॥

किं च—

लावकतित्तिरिकुक्कुटमेषैर्महिषैश्च या रणक्रीडाः।
द्रुहिणाच्युतकलियोनेस्ताः प्रीत्यैं नारदस्य मुनेः ॥ १० ॥

कौन मदोद्धत लड़ा, कौन लड़ रहा है और कौन लड़ेगा ? इस प्रकार मुझ व्यग्र मन वाले का समय आता-जाता है ॥ ६ ॥

तथा—

मैं उन युद्धों को देखने के लिये प्रतिदिन संसार में घूमता रहता हूँ जिनमें घोड़ों की प्रधान आतें फलित हो जाती हैं, हाथियों को तलवार के प्रहारों से मूर्च्छा आ जाती है उत्कट पूतनों (रणरुधिर-पिपासु देव विशेषों) के फूत्कार होते रहते हैं तथा दौड़ रहे योद्धाओं से जिसमें भयङ्कर ताण्डव हुआ करता है ॥ ७ ॥

(सोचकर) जो जिसमें अनुरक्त होता है वह अन्य विषयों को तिरस्कार कर (अपने अभीष्ट) विषय को ही बड़ा मानता है। क्योंकि—

जो मैं प्रचण्ड युद्ध देखता हूँ वही मेरा परम ब्रह्म, तप, यज्ञ, स्वाध्याय और जप है ॥ ८ ॥

किसी वस्तु के व्यसनी मनुष्य का उस व्यसन के अभाव में उसके प्रतिनिधि से भी विनोद होता है। और मैं—

वीरयुद्ध के अभाव में स्त्रियों के नख काटने से उत्पन्न सापत्न्य कलह को देखता और सुनता हूँ ॥ ९ ॥

और—

लावक, तित्तिरि, कुक्कुट, भेड़े और भैंसों के द्वारा जो रण कीड़ायें होती हैं वे ब्रह्म-विष्णु के कलह से उत्पन्न नारद मुनि को प्रसन्न करती हैं ॥ १० ॥

अपि च—

वीराणां शस्त्रसंस्फोटे करिणां दन्तघट्टने ।
व्याघ्राणां नखनिर्भेदे नारदः परितुष्यति ।। ११ ।।

(आत्मानं निर्दिशन्) अपि च—

यन्नारीतनुरच्युतः स भगवान् कन्दर्पदर्पापहो
यच्चाभूद् गिरिशः पतिश्च मरुतां यत्फेनपुञ्जायुधः ।
सौम्यं यच्च विमुच्य रूपमभवच्चण्डी हिमाद्रेः सुता
तत्सर्वं मम नारदस्य ललितं युद्धैकलीलारुचेः ।। १२ ।।

संप्रत्येवोपस्थितामिव मनोरथसिद्धिं पश्यामि यदावेदितमेतस्य त्रयीविद्या-शिष्येण माठरेण यथा याचितपरशुं दशग्रीवमाधूतधूर्जटिधनुषं चाभियोक्तुं मिथिला-पुरीं प्रस्थितो राम इति । (विचिन्त्य) तदहमपि तत्र गत्वा तयोरमर्षवृद्धिविधिना मनोरथानामप्यपथं समरसंभारमालोकयामि । (इति परिक्रामति ।)

भृङ्गिरिटिः—(वेगात्कतिचित्पदानि गत्वा) स्वागतं देवर्षेर्नारदस्य ।

नारदः—कथं महादेवानुचरो भृङ्गिरिटिः । (उपसृत्य) स्वस्ति भृङ्गिरिटये । क्व पुनः प्रस्थीयते ।

तथा—

वीरों के शस्त्र बजाने, हाथियों के दन्तप्रहार और सिंहों के नखप्रहार में नारद प्रसन्न होते हैं ।। ११ ।।

(अपने को निर्देश करते हुए)

और भी—

विष्णु ने जो स्त्री का शरीर धारण किया, कन्दर्पदर्पहारी शंकर जो गिरिश बने, इन्द्र जो फेन पुञ्जों के आयुध (वज्र) वाले हुये तथा हिमाद्रि-पुत्री पार्वती अपने सौम्य रूप को छोड़कर जो चण्डी हुई वह सभी एकमात्र युद्ध लीला की रुचि वाले मुझ नारद की लीला है ।। १२ ।।

इसी समय मनोरथ सिद्धि को मानों उपस्थित देख रहा हूँ जैसा कि इस परशुराम के त्रयी विद्या-शिष्य माठर ने बताया है कि परशु को मांगने वाले रावण तथा धनुष को तोड़ने वाले को दण्ड देने के लिये परशुराम मिथिला को चले हैं । (सोचकर) तो मैं भी वहाँ जाकर मनोरथों के भी अविषय उन दोनों के क्रोधापूरित युद्धक्रम को देखूँ । (ऐसा कहकर चलते हैं)

भृङ्गिरिटि—(जल्दी से कुछ पग चलकर) देवर्षि नारद का स्वागत है ।

नारद—क्या महादेव का अनुचर भृङ्गिरिटि ? (पास जाकर) भृङ्गिरिटि का भला हो । कहाँ जा रहे हो ?

भृङ्गिरिटिः—यत्र वीरवर्गवरिष्ठौ जामदग्न्यदशकण्ठौ ।

नारदः—प्रमथप्रथम ! साधु स्मारितोऽस्मि । तत्कथय कः पुनर्जामदग्न्य-दशग्रीवयोर्वीरव्रतचर्यासु प्रकृष्यते ।

भृङ्गिरिटिः—देवर्षे ! महदन्तरं रामरावणयोर्वीरव्रतचर्यां प्रति । पश्य ।

त्रिःसप्तावधि बाधिता क्षितिभुजामाजन्मवैखानसः
कर्ता मातृवधैनसः स सकलश्रुत्यर्थवीथीगुरुः ।
विश्वस्याश्च भुवः क्रतौ वितरिता श्यामाकमुष्टिपचो
रामः सोमसुदप्रमेयमहिमा कासां गिरां गोचरः ॥ १३ ॥

नारदः—चन्द्रशेखरसखे ! न रावणोऽपि वीरव्रतचर्यां प्रति केनाप्यतिसंधीयते । यतः ।

आसीदस्ति भविष्यति क्वचिदपि त्रैलोक्यमालोक्यतां
यद्येतस्य दशाननस्य सदृशो दिव्या हि युष्मद्दृशः ।
तुल्यं कृत्स्नशिरश्छिदः कृतनुतेः स्तोकं त्रिलोकीप्रदो
यस्मात्सोऽपि वरप्रदानसमये देवः शिवो लज्जितः ॥ १४ ॥

भृङ्गिरिटिः—देवर्षे नारद ! यथा समर्थयसे । तथा हि ।

भृङ्गिरिटि—जहाँ वीरों में श्रेष्ठ परशुराम तथा रावण हैं ।

नारद—प्रमथ श्रेष्ठ ! तुमने स्मरण दिलाया । तो फिर बताओ कि परशुराम तथा रावण में वीरता में कौन श्रेष्ठ है ।

भृङ्गिरिटि—देवर्षे ! राम-रावण की वीरता में महद् अन्तर है । देखिये—

क्षत्रियों का इक्कीस बार संहार करने वाले, जन्म से वैखानसव्रती, मातृवधरूपी पाप के कर्ता, समस्त श्रुतिमार्ग के गुरु, इस समस्त भूमण्डल को यज्ञ में दान करने वाले, श्यामाक (साँवाँ) दाने खाने वाले परशुराम सोमाभिषव करने वाले हैं । उनकी महिमा अप्रमेय है, वह किससे वर्णित हो सकती है ॥ १३ ॥

नारद—चन्द्रशेखर (शिव) के मित्र ! रावण भी वीर-व्रताचरण में किससे समानता रखता है ?

सम्पूर्ण त्रैलोक्य को देखिये—आपको दिव्य आँखें हैं कि इस रावण के समान जिसने नमन कर समस्त शिरों को एक ही साथ काट दिया, कोई था, है या होगा । क्योंकि समस्त त्रिलोकी को देने वाले भी भगवान् शंकर वरदान के समय लज्जित हो गये ॥ १४ ॥

भृङ्गिरिटि—देवर्षि नारद ! जैसा आप समझते हैं वैसा ही है क्योंकि—

एकः कैलासमद्रिं करगतमकरोच्चिच्छिदे क्रौञ्चमन्यो
लङ्कामेकः कुबेरादहृत वसतये कोङ्कणानब्धितोऽन्यः ।
एकः शक्रस्य जेता समिति भगवतः कार्तिकेयस्य चान्य-
स्तत् कामं कर्मसाम्यात्किमपरमनयोर्मध्यगा वीरलक्ष्मीः ॥ १५ ॥

नारदः—(सहर्षं हस्तमुद्यम्य)

चित्रं नेत्ररसायनं त्रिदशतासिद्धेर्महामङ्गलं
मोक्षद्वारमपावृतं मम मनःप्रह्लादनाभेषजम् ।
साकं नाकपुरन्ध्रिभिर्नवपतिप्राप्त्युत्सुकाभिः सुराः
सर्वे पश्यत रामरावणरणं वक्त्येष वो नारदः ॥ १६ ॥

भृङ्गिरिटिः—युद्धैकरुचे ! मा निर्भरं संरम्भस्व । त्वन्मनोरथपरिपन्थी हि देवादेशः । यदेषोऽस्मि स्वचापतिरस्कारमप्यविगणय्य ऋचीकपुलस्त्यसहितस्तयो-रन्योन्यमन्युग्रन्थिश्लथीकरणाय प्रेषितः ।

नारदः—(सविषादमात्मगतम्) धिक्कष्टमुत्थितश्च कौतुकद्रुमाङ्कुरो झटिति त्रुटितश्च तदन्तरितं तावदिदं रामरावणीयं युद्धमयोध्यां गत्वा परं रामरावणीयं योजयिष्यामि संप्रत्येवोभयरामीयं वा । (प्रकाशम् ।) भूर्भुवःस्वस्त्रितयवासिभि-रप्यनुल्लङ्घनीयो देवादेशः । तदहं ब्रह्मणः सदनं प्रति तावद्यास्यामि ।

एक ने कैलास पर्वत को उठा लिया तो दूसरे ने क्रौञ्च पर्वत का भेदन कर डाला । एक ने रहने के लिए कुबेर से लङ्का छीन ली तो दूसरे ने समुद्र से कोङ्कण लिया । एक युद्ध में इन्द्र को जीतने वाला है तो दूसरे ने भगवान् कार्तिकेय को जीत लिया है । अतः पौरुष की समानता से दोनों तुल्य हैं । वीरलक्ष्मी दोनों के बीच में है ॥१५॥

नारद—(हर्ष से हाथ उठाकर)

यह विचित्र नेत्ररसायन है । देवत्व सिद्धि का महामङ्गल है । खुला हुआ मोक्ष द्वार है और मेरे मन की प्रसन्नता का औषध है । नवीन पतियों की प्राप्ति की उत्सुकता वाली स्वर्ग रमणियों के साथ सभी देवता राम-रावण के युद्ध को देखें । यह नारद घोषणा कर रहे हैं ॥१६॥

भृङ्गिरिटि—हे एकमात्र युद्ध की रुचि वाले ! ऐसा उत्साह न करो । भगवान् शंकर का आदेश आपके मनोरथ का विरोधी है । उन्होंने अपने धनुष के तिरस्कार को न गिन कर मुझे ऋचीक और पुलस्त्य सहित उन दोनों के क्रोध को शान्त करने के लिए भेजा है ।

नारद—(दुःख से मन में) धिक् ! कष्ट है ! कुतूहल-वृक्ष उठा और नष्ट हो गया और यह (परशु) राम-रावण का युद्ध टल गया तो अयोध्या जाकर राम और रावण के युद्ध की योजना करूँ या इसी समय दोनों राम के बीच युद्ध की योजना करूँ । (प्रकट) भूः, भुवः, तथा स्वः इन तीनों लोकों के निवासियों द्वारा देवादेश अनुलंघनीय है । तो मैं ब्रह्मलोक में जाता हूँ ।

भृंगिरिटिः—अहमपि प्रस्तुतकार्यसिद्धये (इति निष्क्रान्तौ ।)

शुद्धविष्कम्भकः ।

(ततः प्रविशति रावणः प्रतीहारी च ।)

रावणः—(सीतामनुसंधाय ।)

तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा तच्चेत्स्मितं का सुधा
सा दृष्टिर्यदि हारितं कुवलयैस्ताश्चेद्गिरो धिङ्मधु ।
सा चेत्कान्तिरतन्त्रमेव कनकं किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविरसः सर्गक्रमो वेधसः ।। १७ ।।

प्रतीहारी—(स्वगतम् ।) कहं अज्जवि सच्चेअ चित्तभित्ती तंचेअ चित्तअम्म ता गाढमभिणिविट्ठो दसाणणे कामो ता मण्णे सदमण्णुपक्खवादो एत्थ वित्थरइ । (आकाशे) । हहो बिसमबाण जुत्तमिणं सरिसमिणं जं दाणिं एदहमेत्तेवि दसाणणपसादे ईदिसो दे पुरन्दरपक्खवादो जेण सअलजणणिन्दणिल्लेण इमिणा उन्नअचेदणत्तणेणवि ण लज्जीअदि । भोदु कज्ज कज्जन्तरमन्तरेदि ता ण्व्वं दाव । (प्रकाशम् ।) देव माआमओ दुवारुद्देसे चिठ्ठदि । [कथमद्यापि सैव चित्रभित्तिस्तदेव चित्रकर्म तद्गाढमभिनिविष्टो दशानने कामस्तन्मन्ये शतमन्युपक्षपातोऽत्र विस्तार्यते । (आकाशे) हंहो विषमबाण युक्तमिदं सदृशमिदं यदिदानीमेतावन्मात्रेऽपि दशाननप्रासादे ईदृशस्ते पुरन्दरपक्षपातो येन सकलजननिन्दनीयेनानेनोभयवेदनत्वेनापि न लज्ज्यते । भवतु कार्यं कार्यान्तरमन्तरयति तदेवं तावत् (प्रकाशम्) देव मांयासयो द्वारोद्देशे तिष्ठति ।]

भृङ्गरिटि—मैं भी वर्तमान कार्य की सिद्ध के लिये जाता हूँ । (दोनों जाते हैं)

शुद्ध विष्कम्भक

(तदनन्तर रावण और प्रतीहरी आते हैं)

रावण—(सीता को लक्ष्यकर)

यदि उसका मुख (दिखाई पड़ता) है तो चन्द्रमा की कथा बन्द हो जाती है । उसके स्मित के सामने सुधा क्या है, उसकी दृष्टि के सामने कमल हार जायेंगे, उसकी वाणी के सामने मधु व्यर्थ है । उसकी कान्ति के सामने स्वर्ण तुच्छ है अथवा अधिक क्या कहें सत्य तो यह है कि ब्रह्मा की सृष्टि की वस्तुयें (उसके सामने) पुनरुक्त तथा विरस हैं ।।१७।।

प्रतीहारी—(मन में) क्यों अब भी वही चित्रभित्ति वही चित्र कर्म दशानन में दृढ़ता से प्रविष्ट है । प्रतीत होता है कामदेव ही इन्द्र के प्रति पक्षपात का विस्तार कर रहा है । हे कामदेव ! यह तुम्हारे अनुरूप और उचित ही है कि इस समय ऐसे भी रावण के महल में तुम्हारा ऐसा इन्द्र के प्रति पक्षपात है जिससे सकल जनो से निन्द्य इस उभय वेदनशीलता से लज्जित नहीं होते । एक कार्य दूसरे कार्य को छिपा देता है । तो ठीक है (प्रकट) महाराज रावण ! मायामय दरवाजे पर खड़े हैं ।

रावणः—(अनाकर्ण्य) भोभो मदन अति हि नाम दुर्ललितोऽसि यन्मय्यपि प्रहरसि यद्वा ।

अपि प्रहर्त्ता मम वल्लभोऽसि मृगाङ्कबन्धो निखिलामरेषु ।
यैर्व्यापृतस्त्वं मयि रावणेऽपि तैरेव बाणैर्यदि तां प्रति स्याः ।। १८ ।।

प्रतीहारी—पूर्वोक्तमभिधत्ते ।

रावणः—हन्त हन्त नैकप्रकारो मदनव्यापारः। यतो मम वैदेहीदर्शनतः प्रभृति ।

न्यञ्चत्कुञ्चितमुन्मुखं हसितवत्साकूतमाकेकरं
व्यावृत्तं प्रसरत्प्रसादि मुकुलं सत्प्रेम कम्पं स्थिरम् ।
उद्भ्रू भ्रान्तमपाङ्गवृत्तिविकचं मज्जत्तरङ्गाकुलं
चक्षुः साश्रु च वर्त्तते रसवशादेकैकमन्यक्रियम् ।। १९ ।।

प्रतीहारी—(स्वगतम् ।) सव्वधा मन्दोदरीमन्दीकिदसिणेहगण्ठिणो से सीदामआ उल्लावा । (विचिन्त्य ।) तो भोदुणिस गदूसहेण से परसुरामणामग्गहणेण सिढिलेमि सीदावेसं । (प्रकाशम् ।) णं विण्णवेमि परसुरामपासप्पडिणिअत्तो (इत्यर्घोक्ति) [(स्वगतं) सर्वथा मन्दोदरीमन्दीकृतस्नेहग्रन्थेरस्य सीतामया उल्लापास्तद्भवतु निसर्गदुःसहेनास्य परशुरामनामग्रहणेन शिथिलयामि सीतावेशम् । (प्रकाशम्) ननु विज्ञापयामि परशुरामपार्श्वप्रतिनिवृत्तः (इत्यर्घोक्ते) ।]

रावण—(न सुनकर) हे कामदेव ! तुम अत्यन्त ढीठ हो कि मुझपर भी प्रहार कर रहे हो । अथवा

हे चन्द्रबन्धु ! समस्त देवों में तुम प्रहार करने वाले होकर भी मेरे प्रिय हो यदि तुम मुझ रावण पर जिन बाणों से व्याप्त हो उन्हीं से उस (सीता) के प्रति भी व्याप्त हो ॥१८॥

प्रतीहारी—पूर्वोक्त को कहती है ।

रावण—हन्त ! कामदेव का व्यापार एक ही प्रकार का नहीं है । क्योंकि सीता को देखने के समय से मुझ रावण की

रसवश प्रत्येक आँख एक-एक क्रिया में संलग्न है—कोई झुक रही है, कोई संकुचित हो रही है, कोई उन्मुख है, कोई हँसने जैसे है, कोई चकित है, कोई आधी मुंदी है, कोई खुली है, कोई फैल रही है, कोई प्रसन्न है, कोई मुकुलित है, कोई प्रेमयुक्त है, कोई हिल रही है, कोई स्थिर है, कोई ऊपर भ्रू वाली है, कोई भ्रान्त है, कोई अपाङ्गवृत्ति वाली है, कोई विकसित है, कोई डूब रही है कोई तरङ्गाकुल है और कोई आँसुओं से भरी है ॥१९॥

प्रतीहारी—(स्वगत) इसने मन्दोदरी के प्रति स्नेह-ग्रन्थि को सर्वथा मन्द कर दिया है और सीता के प्रति बोल रहा है तो सर्वथा दुःसह परशुराम का नाम लेकर सीता के प्रति आवेश को शिथिल कर दूँ । (स्पष्टता से) कहता हूँ कि परशुराम के पास से लौट आया है ।

रावणः—मायामयस्तच्छीघ्रं प्रविशतु।

(प्रविश्य)

मायामयः—देव ! मायामय इतो दृष्टिदानेनानुग्राह्यः।

रावणः—अथ याचितपरशुना परशुरामेण किमभिहितमासीत्।

मायामयः—त्रैलोक्यमाणिक्यरामोदन्तमाकर्णयतु स्वामी।

पौलस्त्यः प्रणयेन याचत इति श्रुत्वा मनो मोदते
देयो नैष हरप्रसादपरशुस्तेनाधिकं ताम्यति।
तद्वाच्यः स दशाननो मम गिरा दत्ता द्विजेभ्यो मही
तुभ्यं ब्रूहि रसातलत्रिदिवयोर्निर्जित्य किं दीयताम्॥ २०॥

रावणः—कदा नु खलु परशुरामो रसातलत्रिदिवयोर्जेता दाता च संवृत्तः। रावणः पुनः प्रतिग्रहीता। ततस्त्वया किमसौ प्रत्युक्तः।

मायामयः—नक्तंचरचक्रवर्तिन् ! इदमिदं निवेद्यते।

देवो यद्यपि ते गुरुः स भगवान् खण्डेन्दुचूडामणिः
क्षोणीमण्डलमेकविंशतिमिदं वारान् जितं यद्यपि।
द्रष्टव्योऽस्यमुमेव भार्गवबटो कण्ठे कुठारं वहन्
पौलस्त्यस्य पुरस्तथापि रचितप्रत्यग्रसेवाञ्जलिः॥ २१॥

राणव—तो मायामय शीघ्र आवे।

(प्रवेश कर)

मायामय—देव ! इधर दृष्टि फेरकर मायामय को अनुग्रहीत करें।

रावण—परशुराम ने परशु माँगे जाने पर क्या कहा ?

मायामय—त्रैलोक्यमणि परशुराम के वृत्तान्त को स्वामी सुनें।

'पौलस्त्य रावण प्रेम से माँग रहा है यह सुनकर मन प्रसन्न हो रहा है। यह शंकर का प्रसाद परशु नहीं देना है इससे अधिक दुःखी हो रहा है। तो रावण से मेरी वाणी कहना कि 'ब्राह्मणों को मैंने पृथ्वी दे दी। तुम बताओ कि स्वर्ग और पाताल में से कौन जीत कर तुम्हें दें॥२०॥

रावण—कब से परशुराम स्वर्ग और रसातल का जेता और दाता हुआ है तथा रावण प्रतिग्रह लेनेवाला हुआ है। तो तुमने उससे क्या कहा ?

मायामय—राक्षसराज ! जो मैंने कहा उसे सुनिये 'यद्यपि भगवान् शंकर आपके गुरु हैं तथा इक्कीस बार आपने पृथ्वी को जीत लिया है पर हे भार्गव-वंशोत्पन्न ! तुम इसी कुठार को कण्ठ में बाँधकर सेवा में हाथ जोड़े रावण के आगे खड़े दिखाई पड़ोगे॥२१॥

रावणः—(सप्रसादम् ।) कथमीदृशमनीदृशोऽभिदधीत ततस्ततः ।

मायामयः—(तूष्णीं तिष्ठति ।)

रावणः—पराभिहितं हि भाषसे तन्निर्विशङ्कं निवेदय ।

मायामयः—देव ! प्रकृतिमुखरा हि ब्राह्मणजातिर्देवादेश इति निवेद्यते ।

परशुमिममदेयं याचते युद्धहेतो-
र्गिरिशधनुरधिज्यं कर्त्तुमुत्कण्ठते च ।
तदिदमभिदधीथास्तं प्रवाचं पिशाचं
तव भुजतरुखण्डं मत्कुठारो न सोढा ।। २२ ।।

रावणः—(सक्रोधहासम् ।) सूक्तं भद्रेण प्रकृतिमुखरा ब्राह्मणजातिरिति तदनुभविष्यति क्षुद्रक्षत्रियविजयदुःशिक्षितो मुनिखेटश्चापलस्य फलम् ।

मायामयः—अस्तमितान्यविक्रमगतीनि जगन्ति त्रीण्यपि मन्वानो नितरां दृप्यति ब्रह्मवीरः ।

रावणः—कतरदधिष्ठानमध्यास्ते स ते ब्रह्मवीरः ।

मायामयः—(स्वगतम् ।) सकोपग्रन्थिरिवास्मत्स्वामी । भवतु । न प्राणनिर्याणेऽप्यनुचितवाचो भवन्ति भृत्याः (प्रकाशम्)

रावण—(प्रसन्न होकर) ऐसी कटूक्ति कैसे कह दी ? फिर क्या हुआ ।

मायामय—(चुप रहता है)

रावण—दूसरे का कहा तो सुना रहे हो अतः निश्शङ्क कहो ।

मायामय—देव ! ब्राह्मण जाति स्वभाव से मुखर होती है । आपका आदेश है अतः सुना रहा हूँ—

इस अदेय परशु को युद्ध के लिए माँग रहा है तथा शंकर के धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाना चाहता है तो उस बकवादी पिशाच से यह कहना कि तुम्हारे भुजतरु खण्डों को मेरा कुठार नहीं सह सकता ।।२२।।

रावण—(क्रोध से हंसकर) ठीक ही तुमने कहा कि ब्राह्मणजाति स्वभाव से मुखर होती हैं । तो वह छोटे क्षत्रियों की जीत से उद्दण्ड हुआ नीच मुनि इस चपलता का फल पायेगा ।

मायामय—वह वीर ब्राह्मण तीनों लोकों को अस्तमित तथा अर्थ पौरुषहीन मानता हुआ दर्प करता है ।

रावण—वह तुम्हारा वीर ब्राह्मण किस स्थान पर है ?

मायामय—(स्वगत) हमारा स्वामी क्रुद्ध जैसा हो गया है । तो ठीक है । भृत्य लोग प्राण निकलने के समय भी अनुचित बात नहीं कहते । (प्रकट)

नि:शेषं काश्यपाय क्रतुविधिगुरवे दक्षिणीकृत्य पृथ्वीं
काण्डैर्ज्योतिःशिखण्डैर्मधुरिपुशयने व्यस्तवान् वारि येभ्यः ।
तानेलानालिकेरीक्रमुकफणिलताराजरम्भावनान्ता-
नम्भोधेर्गर्भभागानधिवसति मुनिर्भार्गवो भर्गशिष्यः ॥ २३ ॥

रावणः—तर्हि मिथिलातः सिंहलानुत्तरेण लङ्कां साधयतः सविधीभविता ।

मायामयः—देव ! प्रकृतिरोषणो रेणुकापुत्रस्तमागतमुत्प्रेक्षे ।

रावणः– तत्प्रियं ! प्रियं नः ।

(नेपथ्ये)

स एष भृगुपुङ्गवो गिरिशबालशिष्यो मुनिः
परश्वधशिखाशुशुक्षणिहुताखिलक्षत्रियः ।
उपैति धृतमत्सरो गुरुशरासनन्यक्कृते:
क्व नाम दशकन्धरो वहतु चन्द्रहासं करे ॥ २४ ॥

रावणः—(अनाकर्णनमभिनीय) अपि न नर्मगर्भमभिधत्से ।

मायामयः—सत्यमेतत् ।

रावणः—स विनोदयिता मे कन्दर्पकण्डूलभुजदण्डमण्डलम् ।

(नेपथ्ये पुनस्तदेव)

शिव-शिष्य महर्षि भार्गव (परशुराम) यज्ञविधि के गुरु महर्षि काश्यप को सम्पूर्ण पृथ्वी दक्षिणा में देकर भगवान् विष्णु के शयन करने पर तेज पूर्ण बाणों से जिन (वन प्रदेशों) से जल को सुखा दिया उन समुद्र के गर्भ में स्थित इलायची, नारिकेल, सुपाड़ी, नागवली तथा राजरम्भा के रमणीय वनों से निवास करते हैं ॥२३॥

रावण—तो मिथिला से लङ्का जाते समय सामीप्य होगा ।

मायामय—देव ! रेणुका-पुत्र परशुराम स्वभाव से क्रोधी हैं । उन्हें मैं यहीं आया मानता हूँ ।

रावण—तब तो यह हमारा प्रिय ही है ।

(नेपथ्य में)

भृगु-श्रेष्ठ, शंकर के बालशिष्य, फरसे की शिखा रूप अग्नि में समस्त क्षत्रियों की आहुति देने वाले ये मुनि परशुराम अपने गुरु शंकर के धनुष को तिरस्कृत करने वाले के प्रति वैर बाँधकर आ रहे हैं । रावण कहाँ है अपने हाथ में चन्द्रहास तलवार ले ॥ २४ ॥

रावण—(अनसुनी प्रदर्शित करते हुये) क्या परिहास तो नहीं कर रहे हो ?

मायामय—यह सत्य है ।

रावण—काम के खुजली वाले मेरे, बाहुदण्डों का वह विनोद कर्ता बनेगा ।

(नेपथ्य में फिर वही सुनायी पड़ता है ।)

मायामयः—ननु प्राप्त एवायमसावितः समहस्तास्फाल्यमानमार्जनामञ्जुमुरज-निनदनिष्पन्दसुन्दरेण रवेण निवेदितनिजागमनो जामदग्न्यः।

(ततः प्रविशति करेण शरमान्दोलयन्धृतधनुर्जामदग्न्यो माठरश्च।)

माठरः—(स्वगतम्।)

अयमेव महाभागो भृग्वपत्यं यदस्य हि।
यदेव ब्रह्म परमं स एव गिरिशो गुरुः॥ २५॥

किंच—अनाकलितसत्त्वसारसंभारभीषणरमणीयाकृतयो हि महात्मानः। तथा हि।

वैखानसो मुनिवृषा प्रवरश्च वीरश्चित्रं चरित्रमिदमस्य मुदे भिये च।
क्षीराम्बुधेरिव पयः सभुजङ्गराजं मार्तण्डरूपमिव घर्मपरिप्लुतं च॥ २६॥

(विचिन्त्य) भवत्वेवं तावत्। (प्रकाशम्) भगवन् भार्गव किमिदमपाकृतच्यवनादिवचःशृङ्खलाविसंष्ठुलमपक्रममुपक्रान्ततम्।

जामदग्न्यः—(सस्मरणमनाकर्ण्य) अहो मयि महान् खलु महेश्वरवल्लभायाः प्रसादः। कुतः—

मायामय—समान हस्त के संचालन से बजायी जाती ढोल के सुन्दर मुरज के शब्द संचालन के समान सुन्दर शब्द से अपना आगमन सूचित करते हुये जामदग्न्य परशुराम आ ही गये।

(तदनन्तर हाथ से बाण हिलाते हुये तथा धनुष धारण किये हुये परशुराम तथा माठर आते हैं)

माठर—(मन में)

यह भृगुवंशी परशुराम धन्य हैं जिनके स्वयं ब्रह्मभूत शिव गुरु हैं॥ २५॥

तथा—महात्मा लोग ऐसे हैं कि जिनके पौरुष की गणना नहीं तथा जो भीषण एवं रमणीय आकृति वाले हैं। क्योंकि—

ये मुनि श्रेष्ठ वैखानस (साधु) हैं तथा वीर हैं इनका विचित्र चरित्र आह्लादक तथा भयङ्कर है जो सर्पराज से युक्त क्षीरसागर के जल के समान मार्तण्ड रूप तथा तप्त हैं। ॥२६॥

(सोचकर) ठीक है (प्रकट) भगवन् भार्गव ! च्यवनादिकी वचन-परम्परा को तोड़कर यह क्या उलटाक्रम आपने उठा लिया।

जामदग्न्य—(सोचकर न सुनते हुये) अहा ! मुझपर पार्वती का महान् प्रसाद है। क्योंकि—

गोदानमङ्गलविधेरनु रेणुका यान् केशानवर्धयत तातनिवारिताऽपि ।
वेणीकृता मम जटापटलस्य हेतोस्ते कुन्तलाः स्वयमपास्य भवं भवान्या ॥२७॥

माठरः—भगवन् भार्गवेत्यादि तदेवाभिधत्ते ।

जामदग्न्यः—महाब्राह्मण ! किमुच्यते यदनभिज्ञोऽसि वीरव्रतचर्याक्रमस्य न च विन्दानस्य योगमार्गमसुप्रतिपदः परब्रह्मानन्दः । पश्यतु भवान् ।

सेर्ष्यं पश्यति षण्मुखे भगवती कोदण्डशिक्षाश्लथं
धम्मिल्लं विरचय्य चुम्बितवती यं वत्सला मूर्द्धनि ।
सोढा सोऽपि हि भार्गवो गुरुधनुर्निर्भर्त्सनं रावणा-
दित्याकर्ण्य गणैर्वृतः स्मितमुखैरीशोऽपि लज्जिष्यते ॥ २८ ॥

माठरः—शिष्यस्नेह एव मां मुखरयति । तदाचार्याः प्रमाणम् ।

जामदग्न्यः—स एष भृगुपुङ्गव इत्यादि पठति ।

रावणः—साधु भोः साधु । सत्यमिन्दुशेखरशिष्योऽसि ।

वीरप्रसूर्जगति भार्गव रेणुकेव या त्वां त्रिलोकतिलकं सुतमभ्यसूत ।
शक्रेभकुम्भतटखण्डनचण्डधारो येनैष मे न गणितो युधि चन्द्रहासः ॥ २९ ॥

गोदान विधि के बाद (मेरी माता) रेणुका ने पिताजी के मना करने पर भी जिन बालों को जटा के लिये बढ़ाया और वे बाल स्वयं संवार कर भवानी के द्वारा वेणी बनाये गये ।

माठर—भगवन् भार्गव ! इत्यादि पूर्वोक्त को दुहराता है ।

जामदग्न्य—महाब्राह्मण ! क्या बक रहे हो । वीरव्रत चर्या से अनभिज्ञ हो । योगमार्ग न जानने वाले के लिए (वीरव्रत का आचरण) प्राणों को प्रिय बनाने वाला परब्रह्म विषयक सुख है । आप देखिये—

स्वामी कार्तिकेय के द्वारा ईर्ष्या पूर्वक देखे जाने पर भी वत्सला भगवती स्वयं धनुष की शिक्षा से शिथिल केशों को बनाकर (सँवार कर) जिसके शिर का चुम्बन करती थीं वही परशुराम रावण के द्वारा अपने गुरु के धनुष का तिरस्कार सहन कर गया—हँस रहे गणों से घिरे हुये शंकरजी भी यह सुनकर लज्जित हो जायेंगे ॥२८॥

माठर—शिष्य-स्नेह ही मुझे बोलने के लिये बाध्य कर रहा है । उसके विषय में आप ही प्रमाण हैं ।

जामदग्न्य—'वही यह परशुराम हैं' (२.२४) इत्यादि पढ़ते हैं ।

रावण—साधु, साधु । सत्य ही शंकर के शिष्य हो—

हे भार्गव ! जगत् में रेणुका ही वीर उत्पन्न करने वाली है जिसने तुझ त्रैलोक्य तिलक पुत्र को उत्पन्न किया । तुमने ऐरावत के कुम्भ स्थल को काटने से तीव्र धारवाली मेरी चन्द्रहास असि की परवाह न की ॥२९॥

जामदग्न्यः—पुलस्त्यापत्य अयमस्माकमाकस्मिकवीरव्रतदायी विफलीकृतकृतान्तक्रोधहासः स ते चन्द्रहासो येन शिपिविष्टपरितुष्टये स्वकण्ठकाण्डमण्डलीं द्विधा कृतवानसि ।

रावणः—आम् ! जामदग्न्य स एवैष निसर्गकरालः करवालः येन सा मम भूर्भुवःस्वस्त्रयी पादपीठे लोठिता ।

जामदग्न्यः—लङ्केश्वर ! ईदृश एवायं चन्द्रहासः ।

दृष्टे मुखानामेतस्मिन्कण्ठखण्डनशङ्कया ।
स्वेषां च न परेषां च जायन्ते कम्पसंपदः ।। ३० ।।

रावणः—भार्गव भार्गव ! मामैवं किं करवाम यदतिक्रान्ते वस्तुनि साक्षिप्रत्ययपरतन्त्रा व्यवहाराः । ततश्च ।

आस्कन्धावधि कण्ठकाण्डविपिने द्राक्चन्द्रहासासिना
छेत्तुं प्रक्रमिते मयैव टसितित्रुटच्चिछरासंततौ ।
अस्मेरं गलिताश्रु गद्गदपदं भुग्नभ्रु वा यद्यभू-
द्वक्त्रेष्वेकमपि स्वयं स भगवांस्तन्मे प्रमाणं शिवः ।। ३१ ।।

जामदग्न्यः—आत्मवधः प्रथमः पातकेषु । अनेनापि विकत्थस इत्यहो ते श्रुतिषु वैचक्षण्यं यदित्थमध्यगीष्महि ।

जामदग्न्य—पुलस्त्यापत्य ! यम के क्रोधपूर्ण हास को विफल करने वाला तुम्हारा यह चन्द्रहास मुझे आकस्मिक रूप से वीरव्रत देने वाला हुआ । इसी चन्द्रहास से तूने शंकर की प्रसन्नता के लिये अपने गले को काटा था ।

रावण—हे जामदग्न्य ! यही वह स्वभावतः कराल तलवार है जिससे भू, भुवः और स्वः तीनों (लोक) मेरे पैरों पर गिरे ।

जामदग्न्य—रावण ! ऐसी ही यह तलवार है ।

इसके देखने पर अपने और पराये मुख नहीं खण्डित होने की शंका से निष्पन्द हो जाते हैं ।।३०।।

रावण—भार्गव ! ऐसी बात नहीं । क्या करें परोक्ष की वस्तु में साक्षी के प्रत्यय से ही कार्य होते हैं । तदनन्तर—

मेरे द्वारा स्वयं ही चन्द्रहास नामक तलवार से वेगपूर्वक कन्धे तक काठरूपी वृक्षों के समूह को काटने में 'टस्' की ध्वनि के साथ शिराओं की पंक्ति के टूटने पर (दसों) मुखों मे एक भी हास्यरहित, अश्रुपूर्ण, गद्गद् शब्द युक्त, कुटिल भौंह वाला रहा हो तो उसमें भगवान् शिव साक्षी हैं अर्थात् किसी भी मुख से ऐसा नहीं हुआ ।।३१।।

जामदग्न्य—आत्मवध पातकों में सबसे बड़ा है । इसके द्वारा भी आत्मश्लाघा कर रहे हो यह तुम्हारी श्रुतियों में बुद्धिमत्ता है ऐसा मैं समझता हूँ ।

असुर्या इति ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
तांस्ते मृत्वाभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।। ३२ ।।

रावणः—आः क्षत्रियापुत्र ! ब्राह्मण इव मीमांसमानस्त्रिवेदीं विप्लावयसि। तदेष ते राजा रावणो दण्डधरः ।

जामदग्न्यः—(विहस्य) अहो वर्णाश्रमेषु वैशारद्यं राज्ञः । तदिदमध्याप्यसे ।

सकलस्यास्य लोकस्य जातिर्भवति मातृतः ।
ऋषीणां तु श्रुतिदृशां पितृतो धर्मनिर्णयः ।। ३३ ।।

रावणः—यदात्थ एवमपि भवतु ।

जामदग्न्यः—किं पुनरैरम्मदे महसि न दारवोयं ज्योतिरस्तमयते । अतश्च ।

यः पाणिप्रणयात्पवित्रिततनुर्देवेन खट्वाङ्गिना
यः शस्त्रैकगुरुर्गजासुरवधूवैधव्यमुद्राप्रदः ।
तत्रास्मिन् परशौ शिताग्रहुतभुग्ज्वालाच्छटाडामरे
श्लिष्यन्तः सहसा व्रजन्ति विलयं ते चन्द्रहासादयः ।। ३४ ।।

रावणः—(विहस्य ।) अयमसौ चन्द्रहासस्य विलापयिता कुठारो यः खण्डैक-भाग इत्यमाङ्गलिकत्वाद्भगवता भर्गेण भवते दत्तः । तत्तपस्यतस्ते महदुपकरणमासीत्समित्काण्डखण्डनाय ।

जो लोग आत्महत्या करते हैं वे घोर अन्धकार से आवृत 'असुर्य' नाम के लोकों को जाते हैं ।।३२।।

रावण—ओह ! क्षत्रिया के पुत्र तुम ब्राह्मण की भाँति मीमांसा करते हुये त्रिवेदी का उल्लंघन कर रहे हो । अतः यह राजा रावण तुम्हारे लिये दण्ड की व्यवस्था करेगा ।

जामदग्न्य—(हँसकर) अहा ! राजा की वर्णाश्रम में प्रवीणता ! तो तुम्हें यह सिखाता हूँ—

इस सम्पूर्ण लोक की जाति माता से होती है पर श्रुतिद्रष्टा ऋषियों का पिता के द्वारा धर्मनिर्णय होता है ।।३३।।

रावण—जैसा कहते हो वैसा भी हो ।

जामदग्न्य—महान् उल्कापात (या बड़वानल) से दारवीय लकड़ी की आग को ज्योति अस्त नहीं होती । अतः

जो भगवान् शङ्कर के पाणिस्पर्श से पवित्र है तथा जो शस्त्रों का एकमात्र गुरु गजासुर की स्त्री को वैधव्य प्रदायक है उस श्वेत अग्नि की ज्वालाओं की घटा को धारण करने वाले इस परशु को स्पर्श कर तुम्हारे चन्द्रहास आदि (शस्त्र) विलीन हो जायेंगे ।।३४।।

रावण—(हँसकर) चन्द्रहास को विलीन करके वाला यह तुम्हारा कुठार है जिसे भगवान् शङ्कर ने 'खण्ड' इस अमाङ्गलिक शब्द से युक्त होने के कारण तुम्हें दे दिया । यह तो तपस्या करते समय लकड़ी आदि लाने के लिये तुम्हारा महान् साधन था ।

जामदग्न्यः—आं रावण स एवायं भगवतो भवानीवल्लभस्य प्रसादचिन्तकः परशुर्महदुपकरणं च मे तपस्यतः समित्काण्डखण्डनाय क्रुद्ध्यतस्तु प्रचण्डदुर्वृत्त-दण्डनाय।

रावणः—जामदग्न्येदृश एवायं खण्डपरशुपाणौ परशुरासीत्। आधारनिव-न्धनो यदाधेयस्य गुणाध्यारोपः। मुक्ताशुक्तिसंपुटपीतं हि पश्य पाथो ग्रन्थी-भवति।

जामदग्न्यः—निशाचरचक्रवर्तिन्। न सार्वत्रिकमिदं सलिलगर्भगतोऽपि गभ-स्तिमाली दुरालोक एव। जामदग्न्यपाणिप्रणयवानपि हरपरश्वधो दुर्निषेध एव।

रावणः—ओमिति ब्रूमः। यदि न दुर्निषेधः कथमिव रेणुकाशिरश्छेदेऽपि स्वच्छन्दः। अपि च रे ब्रह्मबन्धो।

देवीविलासमुकुरः परशुर्य आसीत् स्तम्बेरमासुरशिरोमणिशातधारः।
तं रेणुकारुधिरपङ्ककृताङ्कमेनं द्रष्टुं न कस्य हृदयं करुणा रुणद्धि ॥ ३५ ॥

(विचिन्त्य।) हंहो नीललोहितशिष्य! नूतनः खल्वेष क्षत्रियधर्मो यज् जननीजनेऽपि शौर्यपर्यवसायः। तथाप्याद्रियसे। अहो स्वतन्त्रा लोकयात्रा। यद्वा असतामपि महापुरुषशुश्रूषा किमपि कामदुघा। यतः—

जामदग्न्य—हाँ रावण! भगवान् शंकर का प्रसादभूत यही परशु तपस्या के समय समित् काटने के लिये मेरा महान् साधन है और मेरे क्रुद्ध होने पर प्रचण्ड दुराचारियों को दण्ड देने का साधन है।

रावण—जामदग्न्य! शंकर के हाथ में यह परशु ऐसा ही था। आधेय का गुण-अध्यारोप आधार के अनुसार ही होता है। मुक्ताशुक्ति के संपुट में पड़ा सूर्य ग्रन्थिभूत (मोती) हो जाता है।

जामदग्न्य—राक्षसराज! यह नियम सार्वजनिक नहीं। जल के गर्भ में पड़े सूर्य भी कठिनाई से ही दिखाई पड़ते हैं। परशुराम के हाथ से प्रेम करने वाला यह शंकर का परशु दुर्निवार ही है।

रावण—मैं इसे सत्य ही मानता हूँ। यदि दुर्निवार नहीं होता तो रेणुका के शिर काटने में भी कैसे स्वतन्त्र होता। अरे ब्राह्मण!

जो परशु देवी पार्वती के विलास का दर्पण था, और गजासुर के शिरोमणि को काटने वाला था उस परशु को रेणुका के रक्त से सिक्त देखकर किसके हृदय में करुणा नहीं आयेगी।

(सोचकर) अरे शंकर शिष्य! यह नया ही क्षात्र-धर्म है कि मातृवर्ग में वीरता दिखाई जाती है। फिर भी आदर किये जाते हो। अहा! लोकाचार स्वतन्त्र है। अथवा दुर्जनों द्वारा भी महापुरुषों की सेवा कामदुघा होती है। क्योंकि—

त्वं जामदग्न्य जननीवधपातकेन न ब्रह्मवर्चसवतां सविधेऽभविष्यः ।
गीर्वाणवन्द्यचरणस्तव चन्द्रमौलिराचार्यकं स भगवान् यदि नाकरिष्यत् ।।३६।।

तथाप्येतदभिधीयसे ।

चापाचार्यस्त्रिपुरविजयी कार्त्तिकेयो विजेयः
शस्त्रव्यस्तः सदनमुदधिर्भूरियं हन्तकारः ।
अस्त्येवैतत् किमु कृतवता रेणुकाकण्ठबाधां
बद्धस्पर्द्धस्तव परशुना लज्जते चन्द्रहासः ।। ३७ ।।

जामदग्न्यः—कथं नाम न लज्जते यतो निसर्गनिरवग्रहं न जानाति जामदग्न्यम् ।

रेवाम्भोगर्भमज्जद्विविधवरवधूहस्तयन्त्रोज्झिताभिः
क्रीडन् वारां लताभिः स्मरसि यदकरोदर्जुनः कार्तवीर्यः ।
तद्दोष्णां यत्तु रामो रणभुवि विदधे वेगवल्गत्कुठारः
प्रायः पौलस्त्य सा ते श्रवणपरिणतिं नो गता किंवदन्ती ।। ३८ ।।

प्रतीहारी—(स्वगतम् ।) एदं तं रक्खसाणं पि रक्खसो अत्थित्ति । [एतत्तत् राक्षसानामपि राक्षसोऽस्तीति ।]

हे जामदग्न्य ! यदि देवताओं के द्वारा जिनके चरण वन्दित किये जाते हैं वे भगवान् शङ्कर तुम्हारे आचार्य न होते तो तुम मातृवध कृत पातक द्वारा ब्रह्मतेज संपन्न व्यक्तियों में न होते ।।३६।।

फिर भी सुनो—धनुष विद्या में शंकर तुम्हारे आचार्य हैं । स्कन्द को तुमने जीत लिया है । शस्त्र से तुमने समुद्र से स्थान ले लिया पर इन प्रशस्तियों से क्या ? रेणुका के कण्ठ को काटने वाले तुम्हारे इस परशु से मेरा चन्द्रहास बद्ध वैर होने पर भी लज्जित हो रहा है ।।३७।।

जामदग्न्य—तुम्हें लज्जा इसलिये नहीं आती कि स्वभावतः अवग्रह हीन परशुराम को नहीं जानते ।

हे रावण ! नर्मदा नदी के जल में स्नान कर रही अनेकों श्रेष्ठ स्त्रियों के हाथरूपी यन्त्र से फेंकी गयी जल की लताओं से क्रीड़ा करता हुआ कार्तवीर्य अर्जुन ने जो किया था उसे स्मरण कर रहे हो ? उसकी उन भुजाओं पर परशुराम ने युद्ध में वेग से चमकता हुआ । कुठार चलाया था । मालूम पड़ता है कि यह किंवदन्ती तुम्हारे कान में नहीं पहुँची ।। ३८ ।।

प्रतीहारी—(स्वगत) तो यह तो राक्षसों का भी राक्षस प्रतीत हो रहा है ।

रावणः—(विहस्य) मानुषेण रावणपराजय इत्यहो सुभाषितम् । तं प्रति आर्चीकिरपत्यः शत्रुरिति योधनीयो भवति न पुनर्मृषादोषैर्योजनीयः । (विभाव्य ।) यद्वा आयुधनिषेध्या रिपवो न सामसाध्याः । (हस्तमुद्यम्य) भार्गव-भार्गव मा निरर्गलं प्रगल्भस्व । न निरस्त्रेषु निशाचरपतिः प्रहरति यदि ते निर्विघ्नो वीरव्रतचरितोत्कर्षः । अतश्च ।

त्र्यम्बकः परशुरेष निसर्गचण्डः सौपर्णकेतनमिदं धनुरुन्नतं च ।
अस्मिन् द्वये बिभृहि भार्गव हेतिमेकां येनायमृच्छति करं मम चन्द्रहासः ।३९।

जामदग्न्यः—किं नाम रामोऽप्येवमुच्यते । वाडवीयमपि ज्योतिरर्णवार्णःपानार्थमभ्यर्थ्यते । किंच—

कैलासाद्रिविटङ्कुतः सह सुरैर्द्रष्टुं प्रवृत्ते हरौ
मध्यस्थे शशिशेखरे रणविधौ सूनोश्च शिष्यस्य च ।
सार्द्धं येन विनिर्जितो गणचमूचक्रेण हेरम्बिणा
स्कन्दोऽसौ दशकण्ठ कुण्ठरभसास्तस्मिन् मयि त्वादृशाः ॥ ४० ॥

रावणः—(विहस्य)सैषा गुरुप्रदेया गुरुपुत्रे दक्षिणा तदिदमनुष्ठितं गुरुवद्गुरुपुत्रे वर्त्तितव्यमिव ।

रावण—(हँसकर) मनुष्य के द्वारा रावण की पराजय हुई यह तो सुभाषित है । उसके खिलाफ ऋचीक का अपत्य शत्रु है तो वह युद्ध का पात्र है, मृषादोष देने का पात्र नहीं (सोचकर) अथवा अस्त्र से रोके जाने वाले शत्रु सान्त्वनापूर्ण वचन से शान्त नहीं होते (हाथ उठाकर) भार्गव ! भार्गव ! मिथ्या डींग मत हांको । निशाचर-पति रावण निरस्त्रों पर प्रहार नहीं करता । यदि तुम्हारी वीरव्रत चर्चा निर्विघ्न है तो हे भार्गव ! यह स्वभावतः प्रचण्ड शंकर का परशु है और यह उन्नत वैष्णव धनुष है । इन दोनों शस्त्रों से एक उठा लो क्योंकि मेरा यह हाथ चन्द्रहास लेना चाहता है ।। ३० ।।

जामदग्न्य—क्या परशुराम से भी यह कहना पड़ेगा ? वडवानल से समुद्र के जल को पीने के लिये कहा जाता है । और भी—

हे रावण ! कैलास पर्वत को चिह्नित करते हुये देवताओं के साथ शंकर के देखने में प्रवृत्त होने पर तथा पुत्र और शिष्य के युद्ध में शंकर के मध्यस्थ होने पर जिन्होंने गणेश और गणों के साथ कार्तिकेय को जीत लिया उस मुझपर तुम्हारे जैसे लोग कुण्ठित गति वाले हैं ।। ४० ।।

रावण—(हँसकर) तो यह गुरु को देने वाली दक्षिणा गुरुपुत्र को दी गई आपने गुरु के समान गुरुपुत्र में व्यवहार करना चाहिये इसका अनुष्ठान किया ।

जामदग्न्यः—भवानिव न सर्वः श्रुत्यर्थवीथीविदग्धः। यतस्तवैव गुरुवद्गुरुपुत्रे प्रवृत्तिः। वयं पुनरशास्त्रचक्षुषस्तदिदं ब्रूमहे।

वन्द्यः पितेव स भवान् नलकूबरस्य रम्भा स्नुषा धनपतेरिव सा तवापि।
यत्त्वन्यदत्र हृदयान् न तदेति कण्ठं दोषस्तथापि यदि तत् स्मृत एष रुद्रः।४१।

रावणः—आधेयविक्रमकर्माणो येन केन चिदपवदन्ते।

किंच—

हेरम्बडम्बरिणि नन्दिनि नन्दिहेता-
वुद्दामचन्द्रमसि संयति षण्मुखेन।
मुक्तोऽसि यत् पशुपतिप्रणयानुरोधात्
तेन त्वमेव विजयी विजितः कुमारः ॥ ४२ ॥

जामदग्न्यः—किमभेद्यमम्भसां किमदूष्यं दुर्जनवचसां यतो जामदग्न्यवचांस्यपि विचार्यन्ते। पश्य पश्य—

ईशो गुरुर्गिरिसुता जननी किमाभ्यां शश्वत् स एव समरेषु पराङ्मुखस्य।
अद्यापि काण्डचयखण्डितचन्द्रकायः साक्षी शिखण्डनिवहो गुहवाहनस्य ॥४३॥

जामदग्न्य—आपकी तरह सभी वेदार्थ-मार्ग में निपुण नहीं हैं क्योंकि तुम्हारी ही गुरु के समान गुरु-पुत्र में प्रवृत्ति है।

हम अशास्त्रचक्षु हैं इसीलिये ऐसा कहते हैं। जैसे—

आप तो पिता के समान ही नलकूबर के वन्द्य हैं और कुबेर की ही भाँति रम्भा आपकी भी पुत्रवधू है। यहाँ जो अन्य बात है वह हृदय से कण्ठ में नहीं आ रही है तो भी (बिना कहे भी) यदि दोष है तो यह रुद्र का स्मरण कर लेता हूँ। ॥४१॥

रावण—आरोपित विक्रमकर्मा की कुछ लोग निन्दा करते हैं।

तथा

गणेश के सन्नद्ध होने पर, नन्दीश्वर को आनन्दित करने वाले चन्द्रमा के प्रकट होने पर युद्ध में स्कन्द द्वारा भगवान् शङ्कर के प्रिय होने के कारण जो तुम छोड़ दिये गये उससे तुम्हीं विजयी हो और कुमार (स्कन्द) पराजित हो गये ? ॥ ४२ ॥

जामदग्न्य—जल के लिये अभेद्य तथा दुर्जनों के वचन के लिए अदूष्य क्या है ? क्योंकि जामदग्न्य के वचनों पर भी विचार किया जा रहा है। देखो-देखो—

भगवान् शङ्कर पिता तथा गिरिजा माता हैं परन्तु इन लोगों से क्या प्रयोजन ? युद्ध में पराङ्मुख कार्तिकेय के वाहन (मयूर) का वाणों के समूह से खण्डित चन्द्रकों वाला पुच्छ-समूह आज भी साक्षी है ॥ ४३ ॥

रावणः—कस्य पुनः प्रत्यक्षपराङ्मुखस्य मतिमतः सतोऽनुमाने बहुमानः। ततश्च तदेवाभिधीयसे त्रैयम्बकः परशुरित्यादि पुनः पठति।

जामदग्न्यः—निशाचरचक्रवर्त्तिन्! अपकुर्वतापि भवता परमुपकृतं यदेष स्मारितोऽस्मि ततश्च।

> **येन न्यक्कृतमिन्दुशेखरधनुर्दर्पादनादृत्य मां**
> **स्वर्वन्दीभिरसूयितः स बलवान् पौलस्त्य कस्ते करः।**
> **द्राक्छित्त्वा मणिबन्धनाद्वलयिनं रामः कुठारेण तं**
> **देव्याः कोपविभिन्नमास्यशशिनि स्वं धाम संधास्यति ॥ ४४ ॥**

अथवा एकस्मिन्नपराधिनि सर्वेऽपि सहधर्मचारिणोऽपराद्धारः। ततश्च।

> **ये हेलोद्धृतचन्द्रचूडगिरयो ये चन्द्रहासार्थिनः**
> **संग्रामे युगपद्भवन्ति सभयं श्लिष्टाश्च ये रम्भया।**
> **दोर्दण्डास्त इमे क्षुरप्रपतनच्छिन्नोच्चलत्पाणयो**
> **मत्कोपाद्दिवि नालशेषकमलामासूत्रयन्त्वब्जिनीम् ॥ ४५ ॥**

रावणः—अथ सनाथः प्रमथनाथो भवता परिग्राहकेण। अथ भगवती भवानी च विमाननानतं शिरः समुन्नेष्यति। (विचिन्त्य)

रावण—कौन बुद्धिमान् प्रत्यक्ष से पराङ्मुख होकर अनुमान में आदर करेगा। इसीलिये कहते हो। 'त्र्यम्बकः परशुः' इत्यादि पुनः पढ़ता है।

जामदग्न्य—निशाचरराज! अपकार करते हुये भी तुमने महान् उपकार कर दिया जो मुझे यह स्मरण दिला दिया और—

जिस हाथ ने दर्प से मेरा अनादर कर शिव के धनुष का तिरस्कार किया वह स्वर्ग के वन्दियों द्वारा ईर्ष्या किया हुआ तुम्हारा हाथ कौन है? परशुराम उस कंकण युद्ध हाथ को प्रकोष्ठ से तुरन्त काटकर देवी पार्वती के क्रोध से विकृत मुखचन्द्र पर उनके निजी तेज को देखेगा ॥ ४४ ॥

अथवा एक के अपराध करने पर सभी सहधर्मचारी अपराधी माने जाते हैं—तो

जिन्होंने लीलापूर्वक कैलास को उठा लिया, युद्ध में जो चन्द्रहास तलवार को लेना चाहते हैं और जो रम्भा के द्वारा एक ही साथ भय से दो कमलों के समान श्लिष्ट हो जाती है वे तुम्हारी भुजायें तीव्रकुठार के गिरने से छिन्न करतलों वाली होकर स्वर्ग में नाल मात्र शेष कमलिनी को सूत्रित करें ॥ ४५ ॥

रावण—आप जैसे शिष्य से प्रमथनाथ शंकर सनाथ हो गये तथा भगवती भवानी भी अपमान से नत शिर को ऊपर उठायेंगी (सोचकर)—

वन्दीकृतामरपतेर्जितपुष्पकस्य तस्याट्टहासमुखराणि मुखानि मेऽद्य ।
तूणीधनुःपरशुवल्कजटाक्षसूत्री वैखानसो भृगुवटुर्यदयं विपक्षः ।। ४६ ।।

जामदग्न्यः—विरोचनस्नुषाजनपरीक्षितविक्रमस्य शोभत एव मादृशेषु वटुरित्यधिक्षेपः । (सजुगुप्सम् ।)

अपि दशमुख कच्चिद्वृत्तपातालयात्रः स्मरसि लयविचित्रं वक्त्रवाद्यं विधाय ।
यदसि बलिवधूभिः स्मेरनेत्रोत्पलाभिर्निजकरतलरङ्गे नर्तितः कौतुकेन ।।४७।।

रावणः—सर्वमस्ति यतो न भार्गव इव रावणः करुणात्मनि परित्रातव्ये स्त्रीजने पुरुषः ।

जामदग्न्यः—भार्गवो न रावण इव पशावप्यपुरुषः । अपि च किंचित्पृच्छामि ।

त्वां संक्रन्दननन्दनः किल कपिः कक्षागुहागह्वरे
कृत्वा प्रत्युदधि व्यधत्त स यदा सन्ध्यासमाधिव्रतम् ।
शङ्के रावण बाहुयन्त्रघटनासंरोधमन्वीकृत-
श्वासश्रेणिविसंष्ठुलाननवनो दुःखं तदासीः स्थितः ।। ४८ ।।

इन्द्र को बन्दी बनाने वाले तथा पुष्पक को जीतने वाले मेरे मुख आज अट्टहास से मुखरित हैं कि तरकस, धनुष, फरसा, वल्कल, जटा एवं रुद्राक्ष-धारण करने वाले तपस्वी भृगुवंशी बालक शत्रु है ।। ४६ ।।

जामदग्न्य—विरोचन की पुत्रवधू से जिसका पराक्रम परीक्षित हो चुका है वैसे व्यक्ति का मुडे वटु (बालक) कहना ठीक ही है । तिरस्कार के साथ—

अरे रावण ! क्या याद करता है कि अपनी पाताल यात्रा में हँसी पूर्ण नेत्र कमलों वाली वलि की स्त्रियों के द्वारा अपनी हथेलियों से लीलापूर्वक मुंह का बाजा बनाकर नचाये गये थे ।। ४७ ।।

रावण—पर सब ठीक है क्योंकि रावण रक्षणीय तथा करुणापूर्ण स्त्री जनों पर परशुराम नहीं है ।

जामदग्न्य—भार्गव रावण की तरह पशु पर भी अपुरुष (निर्वीय) नहीं है कुछ पूछता हूँ—

तुझे इन्द्र-पुत्र बानर वलि ने काँख की गुफा में रखकर जब प्रत्येक समुद्र में सन्ध्यारूपो समाधिव्रत को सम्पन्न किया था तो हे रावण मैं समझता हूँ कि बाहुरूपी यन्त्र के दबाव की रुकावट से जिसकी मुखरूपी वन की सासें असम्यक हो गयी थीं ऐसे तुम दुःख से एक रहे होगे ।। ४८ ।।

रावणः—(सक्रोधहासम् ।) मुग्धबुद्धयो हि यथाश्रुतस्य ग्रहीतारो न पुनर्विवेक्तारः । अतश्च पश्य पश्य—

अर्द्धं नारी पुमानर्द्धमिति संचिन्त्य चेतसा ।
चण्डीशस्यापि कोदण्डे यस्यावज्ञा न संहृता ।। ४९ ।।
भूर्भवःस्वस्त्रयीवीरः स एव दशकन्धरः ।
का नाम राम तस्यास्था बटौ वा मर्कटेऽपि वा ।। ५० ।।

जामदग्न्यः—पुलस्त्यापत्य यद्वा तद्वा भवतु भार्गवस्तादृशानि तु वीररत्नानि न जात्या जुगुप्सते । पश्य—

लोकोत्तरं चरितमर्पयति प्रतिष्ठां पुंसां कुलं न हि निमित्तमुदात्ततायाः ।
वातापितापनमुनेः कलशात् प्रसूतिर्लीलायितं पुनरमुद्रसमुद्रपानम् ।। ५१ ।।

रावणः—अरे दुर्मुखबटो ! वैखानसखेट ! विडम्बितत्र्यम्बकाचार्य ! स्वहेतिधारातिथीकृतरेणुकामूर्द्धन् ! मूर्धाभिषिक्तरुधिरजलनिवापाञ्जलितर्पितपितृक ! क्षत्रियागर्भपातनमहापातकिन् ! एष प्रदर्श्यते दशाननदोर्दण्डमण्डलीसामर्थ्यसारः । ततश्च -

लूत्वा बिसलतालावं कण्ठं ते रेणुकारिपोः ।
स एष चन्द्रहासासिः प्रायश्चित्तं चरिष्यति ।। ५२ ।।

रावण—(क्रोध से हँसकर) मूर्ख लोग जिस बात को जैसा सुन लेते हैं वैसा ही ग्रहण कर लेते हैं उसके (याथार्थ्य) का विवेक नहीं करते । देखो-देखो—

मन से आधा स्त्री है और आधा पुरुष ऐसा सोचकर जिसने शंकर के धनुष में भी तिरस्कार को नहीं रोक सका वही यह भूः, भुवः, और स्वः त्रैलोक्य का वीर दशमुख रावण है उसकी वटु या मर्कट में क्या आस्था है ? ।।४९-५०।।

जामदग्न्य—पुलस्त्य के वंश में उत्पन्न होने वाले रावण ! जो कुछ भी हो परशुराम ऐसे वीररत्नों की जाति (जन्म) के आधार पर निन्दा नहीं करता । देखो—

लोकोत्तर चरित्र ही प्रतिष्ठा देता है । पुरुषों का कुल उन्नति का निमित्त नहीं । वातापि को तपाने वाले अगस्त्य मुनि का जन्म कलश से हुआ है किन्तु उनकी लीला है अगाध समुद्र को पी जाना ।।५१।।

रावण—अरे दुर्मुख वटुक ! अरे अधम साधु ! अरे शैवाचार्य होने की विडम्बना करने वाले ! अपने अस्त्र की धार का रेणुका के शिर को अतिथि बनाने वाले ! मूर्धाभिषिक्त राजाओं के रक्त से पितरों को निवाप देने वाले ! क्षत्राणियों के गर्भ गिराने रूप महापातक के करने वाले ! रावण के बाहुमण्डल की सामर्थ्य का सार यह प्रदर्शित किया जा रहा है तो—

तुम रेणुका के शत्रु के कण्ठ को कमल-नाल की कटाई की भाँति काटकर मेरी यह चन्द्रहास तलवार प्रायश्चित्त करेगी ।।५२।।

यद्वा ।

क्वायं मे चन्द्रहासः प्रहृतिशतलिपिन्यस्तजैत्रप्रशस्तिः
स्वर्मातङ्गस्य कुम्भे क्व च कुहक भवान् ब्राह्मणः शस्त्रवाही ।
वामेभ्योऽस्मत्करेभ्यो बहिरयमिह यस्तत्कनिष्ठाङ्गुलीभूः
प्रारब्धब्रह्मघोषं हरतु नखशिखा वच्छिरः कन्धरातः ।। ५३ ।।

जामदग्न्यः—अरे रे पुनरुक्ताकार दुराचार ! निशाचरचरम ! विरञ्चिकुल-कलङ्क ! लङ्कोपपते ! पातकैकरसिक ! कुबेरवैरिन्नभिलषितरम्भापरीरम्भ दाक्षायणीप्रणाम परिहारिन्नन्वेष ते दृश्यते दोर्दण्डमण्डलीसामर्थ्यसारः ।

रावणः—(विहस्य) स्वसारानुसारेण भार्गवो दशकण्ठमप्याकलयति । (नेपथ्यं प्रति) पुष्पक ! इत इतः ।

(प्रविश्य)

पुष्पकः—अयमहम् ।

रावणः—एष समारुह्यसे । (अर्धारोहणावरोहणनाटितकाभ्याम्) अहह मनाङ्किल वीरव्रतसमयमुद्रामतिक्रान्तोऽस्मि ।

जामदग्न्यः—

वीरव्रताज् जहिहि रावण चन्द्रशालां
मा पुष्पकस्य मयि पादचरेऽपि रामे ।
पश्यन्त्विमाः समरमप्सरसोऽद्य तावन्
न्यक्पातिभिर्विहितमूर्ध्वचरैश्च बाणैः ।। ५४ ।।

अथवा—ऐरावत के कुम्भस्थल पर सैकड़ों प्रहारों के द्वारा जीतने की प्रशंसा को लिपिबद्ध करने वाला कहाँ मेरा यह चन्द्रहास और कहाँ तुम शस्त्र ढोने वाले तुच्छ ब्राह्मण ? हमारे बाम हस्तों की कनिष्ठ अङ्गुली से उत्पन्न जो यह नख है वह ब्रह्मघोष करने वाले तुम्हारे शिर को कन्धे से काटे ।।५३।।

जामदग्न्य—अरे बकवादी, दुराचारी, महानिशाचर ! ब्रह्मा के कुल कलङ्क, लङ्काजार, एकमात्र पापों के प्रेमी, कुबेर के वैरी ! रम्भा के परीरम्भ के इच्छुक, पार्वती के प्रणाम को हरण करने वाले ! तुम्हारे बाहुमण्डल की सामर्थ्य को देखता हूँ ।

रावण—(हँसकर) अपने पराक्रम के अनुसार ही भार्गव मुझे भी माप रहा है (नेपथ्य की ओर) पुष्पक इधर आओ ।

पुष्पक—मैं यह हूँ ।

(प्रविष्ट होकर)

रावण—यह तुझपर आरूढ़ हो रहा हूँ । (ऐसा कह कर आधा चढ़ना उतरना प्रदर्शित करता है) अहा ! वीरव्रत की परिपाटी को थोड़ा उल्लघंन कर रहा हूँ ।

जामदग्न्य—हे रावण ! मुझ परशुराम के पदाति होने पर भी तुम पुष्पक विमान के ऊपरी कक्ष को वीरोचित शिष्टता से मत छोड़ो । आज ये अप्सरायें नीचे गिरने वाले तथा ऊपर उड़ने वाले बाणों से हुए युद्ध को देखें ।।५४।।

रावणः—अनभ्यस्तचरस्तवैष समरारम्भ इति ममानुकम्पा ।

जामदग्न्यः—(सोल्लुण्ठम्) पशुपतिनाप्यननुकम्प्यमानमनुकम्पस इत्यहो सकरुणा ते धिषणा । किं पुनरिदमुच्यते ।

यथाभ्यासं प्रवर्तन्ते त्वादृशामत्र पत्रिणः ।
हरान्तेवासिनस्त्वेते सर्वतोदिक्कविक्रमाः ।। ५५ ।।

रावणः—तद्यदि तवाधुना भगवांस्त्रिनेत्रस्त्राता ।(इत्युभावपि चापारोपणं नाटयतः ।)

(ततः प्रविशतः सशिष्यावृचीकपुलस्त्यौ भृङ्गिरिटिश्च ।)

शिष्यः—(पुरो निर्दिशन् । साश्चर्यम् ।) किं उण इदो एदाओ अखण्डपिण्डिअसिहासंहचण्डीकिअचित्तभाणुणो तक्खणोवणदडाहुत्तरणतारतरजच्चकंचणमअकेउदण्डमण्डलीओ अमन्दसछन्दसंपडिअजडिलजालालिपक्खालणासविसेससमुज्जलन्तअग्गिरासिअसंठिअधअपडाडम्बरिल्लीओ णिबिडुह्मापम्भारपरिगमेवि अमुलायमाणसरसुप्पलाविच्छिएणकणअकोअणअपरिअरेण अ विराअमाणाओ विमाणपन्तीओगअणपरेन्ताहिं झत्ति ओसरन्ति । [किं पुनरित एता अखण्डपिण्डितशिखासङ्घचण्डीकृतचित्रभानवस्तत्क्षणोपनतदाहोत्तरणतारतरजात्यकाञ्चनमयकेतुदण्डमण्डल्योऽमन्दस्वच्छन्दसंपतितजटिलज्वालालिप्रक्षालनोसविशेषमुज्ज्वलदग्निराशिचयसंस्थितिध्वजपटाडम्बरिण्यो निबिडोष्मप्राग्भारपरिगमेप्यम्लायमानिसरसोत्पलाविच्छिन्नकनककोकनदपरिकरेण च विराजमाना विमानपङ्क्त्यो गगनप्रान्तेभ्यो झटित्यपसरन्ति ।]

रावण—तुम्हारा यह उद्योग अनभ्यस्त है इसीलिए मेरी यह अनुकम्पा है

जामदग्न्य—(तिरस्कारपूर्वक) शंकर के द्वारा भी जिस पर अनुकम्पा नहीं की गई उस पर अनुकम्पा कर रहे हो इसीलिए तुम्हारी करुणापूर्ण बुद्धि को धन्यवाद ? फिर यह कह रहा हूँ—

तुम्हारे जैसे लोगों के बाण अभ्यास के अनुसार चलते हैं। किन्तु मुझ शंकर-शिष्य के बाण तो सभी दिशाओं में चलते हैं।

रावण—तो इस समय आपके भगवान् शंकर ही रक्षक हैं। (तदनन्तर दोनों चाप चढ़ाने का प्रदर्शन करते हैं)

(तदनन्तर सशिष्य ऋचीक और तथा भृङ्गिरिटि प्रवेश करते हैं।)

शिष्य—(आगे निर्देश कर आश्चर्य से) तो क्यों ये सम्पूर्ण घनीभूत शिखाओं के समूह (अग्निवाण की ज्वालाओं के पुञ्ज) से उद्दीप्त की गयी विचित्र ज्योति वाली, तत्काल उत्पन्न दाह से उद्धार के कारण चमकीले उत्कृष्ट स्वर्ण-निर्मित पताका-दण्ड वाली वेग से यथेच्छ गिरती हुई भीषण ज्वालाओं के स्पर्श से और अधिक उद्दीप्त अग्निराशि के बीच पड़े हुए ध्वजा के वस्त्रों के विस्तार वाली, अत्यन्त सन्ताप के वेग के उपस्थित होने पर भी अम्लान आर्द्र कमल तथा विना जले हुए स्वर्णमय रक्तकमलों के समूह से शोभित विमान-पंक्तियाँ आकाश प्रान्त से द्रुतगति से भाग रही हैं ?

ऋचीक—वत्स दाक्षायण !

नश्यन्नानाविमानाङ्गणमणिवलभीरत्नवातायनेभ्यो
वक्त्रैराकण्ठदृश्यैर्यदमरललना लोलमालोकयन्ति ।
यच्चेदं व्योम विद्युत्खचितमिव पुरस्तेन मन्ये किमन्य-
द्वत्साभ्यासाद्रियन्ते शिखिनिचयमुचो देवताः शस्त्रमय्यः ।। ५६ ।।

पुलस्त्यः—(सविशेषमालोक्य) सखे तत्त्वानुगतस्ते तर्कः ।

एकत्रैकतमोऽपरत्र दशधा कीर्णो यदाकर्ण्यते
टङ्कारस्तिरयन् जगन्ति धनुषामेकादशानामयम् ।
रामोऽसौ स च रावणो रणधरां धर्तुं समभ्युद्यता-
वीषद्बालकुशाङ्कुरामरवधूकेशप्रियैः पाणिभिः ।। ५७ ।।

शिष्यः—(एकतोऽलोक्य ।) (सचमत्कारम् ।) पेक्खह पेक्खह इदो एदाओ अमन्दसिन्दूरसुन्दरिअकुम्भवब्भारभासुराओपअण्डमुण्डमण्डलीमयिदुअमुण्डादण्डम्ब-रुड्डामराओ पअट्टमअधाराधोरणीणीरन्धणिरुद्धरेणुरमणिअसरणीओ गलगुहारिज्जज-पुज्जिअणिज्जिदजलदजालत्थणिदवित्थराओ दोग्धदृघटाओ ओदरन्ति । [प्रेक्षध्वं प्रेक्षध्वम् । इत एता अमन्दसिन्दूरसुन्दरितकुम्भप्राग्भारभासुराः प्रचण्डमुण्डमण्ड-लीमण्डितशुण्डादण्डडम्बरोड्डामराः प्रवृत्तमदधाराधोरणीनीरन्ध्रनिरुद्धरेणुरमणीयसरण्यो गलगुहानिकुञ्जपुञ्जितनिर्जितजलदजालस्तनितविस्तरा दोर्घण्टघटा अवतरन्ति ।

ऋचीक— वत्स दाक्षायण !

भागते हुए विविध विमानों के आँगन में रत्नमयी खिड़कियों से कण्ठ तक दिखाई पड़ने वाले मुखों से जो सुराङ्गनायें सतृष्ण देख रही हैं तथा आगे जो यह आकाश विद्युत् से व्याप्त जैसा हो गया है उससे मानो कोई दूसरी बात नहीं है वल्कि दोनों वत्स (राम-रावण) अग्नि की वर्षा करने वाले दैवी शस्त्रों का प्रयोग कर रहे हैं ।।५६।।

पुलस्त्य—(विशेष रूप से देखकर) तुम्हारा तर्क तत्त्वानुगामी (यथार्थ) है ।

यह ग्यारह धनुषों का—एक ओर एक तथा दूसरी ओर दश—जो फैलता हुआ टङ्कार सुनाई पड़ रहा है । यह परशुराम है तथा वह रावण है जो (क्रमशः) छोटे कुशों के अंकुर तथा अमर वधुओं के बालों के प्रिय हाथों से रणभूमि को धारण करने के लिये उद्यत हैं ।। ५७ ।।

शिष्य—(एक ओर देखकर) देखो, देखो । इधर से ये घने सिन्दूर से शोभित कुम्भ स्थल के पूर्व भाग से विराजमान, उग्र मुण्ड समूह से अलंकृत शुण्डों के विस्तार से भयङ्कर, वहती हुई मद धारा की परम्परा से निरन्तर मार्ग की धूलि को समाप्त करने वाले, कण्ठ रूपी कन्दरा में मेघों की गर्जना को तिरस्कृत करने वाली चिग्घाड़ को संचित किये हुए हाथियों के समूह उतर रहे हैं ।

भृङ्गिरिटिः—भद्र दाक्षायण ! साधु दृष्टं वारणास्त्रमिदमामन्त्रितं रावणेन यतः—

उत्सर्पद्दर्पहेलागुलुगुलितगलाडिण्डिमोड्डामरिण्यः
सन्नाहन्यासकर्मक्रमरुचिररुचः सादिभिः शोभमानाः ।
एतास्तीव्राङ्कुशाग्रप्रगुणितशिरसः श्रेणयो वारणानां
प्रेङ्खद्भिः शीकराम्भस्स्तबकितककुभः केतुभिः संपतन्ति ।। ५८ ।।

शिष्यः—इदोवि एदे उत्तुङ्गलाङ्गलग्गालिङ्गिअगअणङ्गणुच्छङ्गा घणघोणघुरुघुराघोसघग्घरिज्जन्तगलगुहाकुहरप्फारफुल्लगल्लविदुरिल्ला विज्जुप्पुज्जपिज्जरिददिठ्ठच्छडाकडक्खदुत्तेच्छा सहसत्ति सीहसंहा ओदरन्ति । [इतोऽप्येते उत्तुङ्गलाङ्गूलाग्रालिङ्गितगगनांगणोत्संगा घनघोणघुरघुराघोषघर्घरद्गलगुहाकुहरस्फारफुल्लगल्लव्यतिकरा विद्युत्पुञ्जपिञ्जरितदृष्टिच्छटाकटाक्षदुष्प्रेक्ष्याः सहसैव सिंहसङ्घा अवतरन्ति ।

पुलस्त्यः—इदमपि द्विरदास्त्रप्रतिद्वन्द्वि पञ्चाननास्त्रमामन्त्रितं जामदग्न्येन यतः ।

गुञ्जापुञ्जारुणाक्षैर्धुतविकटसटासंकटस्कन्धबन्धै-
र्विभ्रद्भिर्बभ्रु गात्रं खरनखरशिखाश्रेणिनिर्याणरौद्रैः ।
एतैः कण्ठप्रणालीप्रणयिघुरुघुराघोरनिर्घोषनिघ्नै-
र्निर्विघ्नं सिंहसंघैरिदमतिरभसात्क्रान्तमेवान्तरिक्षम् ।। ५९ ।।

(सर्वे साकूतम् ।) एतएत एतयोरन्तरे भवामः । (शिष्यवर्जमितरे हस्तमुद्यम्य ।)

भृङ्गिरिटि—भद्र दाक्षायण ! ठीक तुमने देखा । रावण ने यह वारणास्त्र का आमन्त्रण किया है । क्योंकि बढ़ते हुए अहंकार और अवज्ञा से गलगल शब्द युक्त कण्ठ वाले, डिण्डिम बाजे से उत्साह युक्त, संग्राम की सजावट की क्रिया से रुचिर शोभा वाले, हस्तिपकों द्वारा तीखे अंकुशों के नोक से छिले हुए शिर वाले, शोभायमान हाथियों की श्रेणियाँ जल की बूंदों से दिशाओं को व्याप्त करती हुई, चलती हुई ध्वजाओं के साथ गिर रही हैं ।। ५८ ।।

शिष्य—इधर से भी ऊँची पूंछों के अग्रभागों से गगन का आलिङ्गन करने वाले, गम्भीर नासिका के घुर घुर शब्द से घर्घराहटयुक्त कण्ठ रूपी गुफा के भीतर तक फैलाने से शोभायमान गले वाले, विजलियों के पुञ्ज के समान पिङ्गलवर्ण की दृष्टि की ज्वाला के कटाक्ष से दुष्प्रेक्ष्य सहसा सिंहों के समूह उतर रहे हैं ।

(सभी आश्चर्य से) इधर आइये, इधर आइये । इन दोनों के बीच हो जाय ।
(शिष्य को छोड़कर अन्य हाथ उठाकर)

विरम भार्गव संहर सङ्गरं त्यज धनूंषि दशापि दशानन।
विषहते न परस्परवैशसं स भवतोर्भगवान् वृषभध्वजः ॥ ६० ॥

रावणः—(सविषादं) सोऽयं दिधक्षोर्दावपावकस्य गरिमसारः सीकरासारः (विमृश्य)

वीरः स भार्गवमुनिः स च राक्षसेन्द्रो
योऽयं द्विधा प्रविततो यशसां प्ररोहः।
कस्मान् न वाञ्छति मया स तमष्टमूर्ति-
रेकायनं त्रिजगति क्रियमाणमीशः ॥ ६१ ॥

जामदग्न्यः—(सावज्ञम्)

न्यक्कारो गुरुकार्मुकस्य कुरुते मां वीरवर्गे पुनः
साक्षाद्भृङ्गिरिटिर्गिरा पशुपतेराज्ञापयत्येष च।
हा तत्किं करवै किमन्यदथवा याचे महीमन्तरं
येन स्यां सशरासनः सपरशुः कालाग्निरुद्रातिथिः ॥ ६२ ॥

(इतरे तदेव पठन्ति)

रावणः—भार्गव भार्गव देवादेशान्मित्रमसि तदिदमापृच्छ्यसे गमनाय।

जामदग्न्यः—यथात्थ मित्रमसि तदेष प्रेष्यसे। (इतरे प्रियं नः प्रियं नः।)

भार्गव ! रुको। युद्ध को बन्द करो। हे रावण ! दशों धनुषों को छोड़ो। आप दोनों के परस्पर वैर को भगवान् शंकर नहीं सहन करते।

रावण—(दुःख से) तो यह जलाने की इच्छा वाले दावानल के लिये घनघोर वर्षा है। (सोचकर)।

वह भार्गव मुनि परशुराम तथा वह राक्षसेन्द्र वीर हैं—यह यशः की वृद्धि दो रूप में फैली हैं। उसे अष्टमूर्ति भगवान् मेरे द्वारा त्रैलोक्य में एक किया जाता हुआ क्यों नहीं सहन करते ॥ ६१ ॥

जामदग्न्य—(अवज्ञा से) गुरु के धनुष का तिरस्कार कर पुनः मुझे वीरवर्ग में गिनता है, ये साक्षाद् भृङ्गिरिटि हैं जो पशुपति की वाणी से आज्ञा दे रहे हैं। हाय तो क्या करूँ अथवा और क्या करूँ पृथ्वी से विवर माँगू जिससे धनुष और फरसे के साथ कालाग्निरुद्र का अतिथि हो जाऊँ।

(दूसरे उसे ही पढ़ते हैं)

रावण—भार्गव ! भार्गव ! देव शंकर के आदेश से मित्र हो अतः जाने के लिये अनुमति माँगता हूँ।

जामदग्न्य—जैसा कहा मित्र हो अतः भेजे जाते हो। (अन्य लोग कहते हैं हमारा प्रिय हुआ, प्रिय हुआ)।

(नेपथ्ये ।) भगवन् भार्गव तत्रभवत्या परमे ब्रह्मणि वर्त्तमानया मैत्रेय्या लोकयात्रापरतन्त्रया च कात्यायन्या समं समुपरतकल्को याज्ञवल्क्यस्त्वामाह—

अतिथिरसि　किमन्यद्　देवदेवो　गुरुस्ते
वयमपि　च　सदाराः　साग्नयोऽस्मिन् वसामः ।
तदुपसर　गृहान्नस्त्वं　भृगोः　पुत्रभाण्डं
बटुपरिषदभीष्टाः　सन्त्वनध्यायचेष्टाः ॥ ६३ ॥

जामदग्न्यः—यथाह सूर्यशिष्यः ।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

॥ इति परशुरामरावणीयो नाम द्वितीयोऽङ्कः ॥

(नेपथ्य में)

भगवान् भार्गव ! परमब्रह्म में तल्लीन श्रीमान्या मैत्रेयी तथा लोकमार्ग में संलग्न कात्यायनी के साथ निष्पाप याज्ञवल्क्य ने आपसे कहा है ।

आप हमारे अथिति हैं । साक्षाद् देव शंकर आपके गुरु हैं । हम सस्त्रीक हैं और अग्नि के साथ यहां वसते हैं । अतः हे भृगुपुत्र ! आप हमारे घर पर आइये और छात्र मण्डली अभीष्ट अनध्याय मनाये ॥ ६३ ॥

जामदग्न्य—जैसा सूर्य-शिष्य ने कहा है ।

(अनन्तर सभी निकल जाते हैं)

परशुराम रावणीय नाम का दूसरा अंक समाप्त हुआ ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽङ्कः

[अतः परं विलक्षलङ्केश्वरो भविष्यति।]

(ततः प्रविशति गृध्रमिथुनम्)

पक्षी—प्रिये सुवेगे ! भवतो लक्ष्मीपतिलाञ्छनस्य निसर्गनागशत्रोरमृताहरण-विश्रुतविक्रमस्य शकुन्तचक्रवर्तिनो वैनतेयस्यास्मत्कुलप्रथमपुंसः सकलगोत्रधुरन्धरेण भविष्यतापत्येन नूनमन्तर्वत्न्यसि यत् ते निशाचरमांसास्वादनेन तत्कीलालकवलेन च दोहदविधेरयमुपस्थितः समयः।

सुवेगा—अयि चित्तसिहण्ड तेल्लोकेक्कमल्ले रक्खसरक्खाकरे पुलत्थकुमारे णन्दमाणे दुल्लहं दोहलअमिमं मण्णे। [अये चित्रशिखण्ड ! त्रैलोक्यैकमल्ले राक्षसरक्षाकरे पुलस्त्यकुमारे नन्दमाने दुर्लभं दोहदमिमं मन्ये।]

चित्रशिखण्डः—भवति ! यथात्थ किमुच्यते रावणः खल्वसौ पश्य।

> साक्षाद्यत्प्रपितामहः कमलभूर्मानः स कोऽप्युन्नतो
> न स्त्रीति प्रणनाम यश्च वरदां देवीं भवानीमपि।
> यच्छौर्योदयसाक्षिणी च सकला सा भूर्भुवःस्वस्त्रयी
> तं व्यावर्त्य दशास्यमन्यचरितस्तोत्रेण लज्जामहे ॥ १ ॥

[इसके अनन्तर विलक्षङ्केश्वर नामक तृतीय अंक प्रारम्भ होता है।]

(तदनन्तर गृध्र-मिथुन प्रविष्ट होता है।)

पक्षी—प्रिये सुवेगे ! भगवान् लक्ष्मीपति विष्णु के चिह्न वाले, स्वभावतः नागों के वैरी, अमृत को हरण करने के कारण प्रथित पराक्रम वाले, हमारे कुल के प्रथम पुरुष पक्षिराज गरुड के (वंश में) समस्त गोत्र में धुरन्धर होने वाले पुत्र को गर्भ में धारण किये हो क्योंकि (मृत) राक्षसों के मांस के आस्वाद द्वारा तथा उनके रक्त पीने के द्वारा तुम्हारे दोहद का समय आ गया है।

सुवेगा—हे चित्रशिखण्ड ! त्रैलोक्य में एक वीर तथा राक्षसों के रक्षा करने वाले रावण के प्रसन्न रहने पर यह दोहद दुर्लभ ही है।

चित्रशिखण्ड—तुम जैसा कहती हो वैसा ही रावण है। देखो—

जिसके साक्षाद् प्रपितामह कमलजन्मा ब्रह्मा जी हैं वह उन्नति का मान है और जिसने वरदा देवी भवानी को स्त्री न समझ कर प्रणाम किया और जिसके पराक्रम की साक्षिणी भूः, भुवः और स्वः समस्त भूमियां हैं उस दशमुख रावण को छोड़कर दूसरे चरित की स्तुति से लज्जा आती है ॥ १ ॥

किन्तु

गतः स कालो यत्रासीन् मुक्तानां जन्म वल्लिषु ।
वर्तन्ते सांप्रतं तासां हेतवः शुक्तिसंपुटाः ॥ २ ॥

यतः श्रुतताडकाताडनोऽपि न निशाचरपतिरद्यापि निजदोर्दण्डचण्डिमोचितमाचरति ।

सुवेगा—हंहो गरुत्मद्गोत्तालङ्करण कधेसु कीदिसी उण सुन्दसुन्दरीए वहविडम्बणा संवुत्ता । [हं हो गरुत्मद्गोत्रालङ्करण कथय कीदृशी पुनः सुन्दसुन्दर्या वधविडम्बना संवृत्ता ।]

चित्रशिखण्डः—प्रिये श्रूयताम् । एकदा स भगवान् विश्वस्य मित्रं विश्वामित्रः सप्ततन्तुत्राणाय दाशरथिमयोध्यातः सिद्धाश्रमं सलक्ष्मणं राममानिनाय । वैतानिकं च वितताम । तत्र यथोचितसामोद्गारिण्युद्गातरि शस्तमन्त्रसंस्कृताहुतौ होतरि प्रचरणकर्मधुर्येऽध्वर्यौ दिव्यां गिरमनुवर्तमाने यजमाने सम्यगवेक्षिताखिलकर्मणि ब्रह्मणि सरभसमनैरम्मदमदाम्भोलमानैन्दवममार्तण्डीयमचैत्रभानवं च ज्योतिरुदजृम्भत ।

सुवेगा—अच्चरिअमच्चरिअम् । तदोतदो । [आश्चर्यमाश्चर्यम् । ततस्ततः ।]

चित्रशिखण्डः—ततश्च सपुत्रदारेषु दिगन्तरादागतेषु किमिदमिति कान्दिशीकेषु मुनिषु तत्रोदघोषि जनैः ।

किन्तु— अब वह समय बीत गया जब लताओं में मोतियाँ उगा करती थीं अब तो उनका जन्म शुक्तिसंपुटों से होता है ॥ २ ॥

क्योंकि ताड़का का मारा जाना सुनकर भी रावण अब भी अपने बाहुदण्डों की प्रचण्डता के अनुरूप आचरण नहीं कर रहा है ।

सुवेगा—हाय ! गरुड़ के गोत्र के अलङ्कारभूत ! बताइये कि सुन्द की सुन्दरी स्त्री की वध-विडम्वना कैसी घटित हुई ?

चित्रशिखण्ड—प्रिये ! सुनो ! एक दिन विश्व के मित्र भगवान् विश्वामित्र दाशरथि राम को लक्ष्मण के साथ यज्ञ की रक्षा के लिये अयोध्या से सिद्धाश्रम ले आये । यज्ञ कर्म को प्रारम्भ किया । तब उद्गाता के यथोचित सामोग्गार करने पर होता के शस्त्र मन्त्र से आहुति देने पर, अध्वर्यु के अपने कार्य में संलग्न होने पर, यजमान की दिव्य वाणी के कहे जाने पर, ब्रह्मा के समस्त कर्मों के सम्यक् अवेक्षण करने पर सहसा न वाडवाग्नि की, न वज्र की, न चन्द्र की, न सूर्य की और न अग्नि की उद्दीप्त ज्योति आविर्भूत हुई ।

सुवेगा—आश्चर्य, आश्चर्य । उसके बाद—

चित्रशिखण्ड—तदनन्तर दिशाओं से पुत्र, स्त्रियों के साथ आये भयद्रुत ऋषियों में लोगों ने जोर से उद्घोषित किया ।

रक्ताभ्यक्तोरुसृक्का गुरुकवलवलज्जाङ्गलव्यग्रतालुः
फेत्कारैः फुल्लगल्लव्यतिकरगुरुभिः कम्पयन्तो जगन्ति ।
अन्योन्येनाग्रपाणिप्रणयि शवयुगं ताडका ताडयन्ती
सेयं द्रागृष्टदंष्ट्राङ्कुरकषणरणत्कारभीमाऽभ्युपैति ।। ३ ।।

सुवेगा—अहह भीषणाणं वि भीसणा हदासा । तदोतदो । [अहह भीषणानामपि भीषणा हताशा । ततस्ततः ।]

चित्रशिखण्डः—अथ स भगवान् कुशिकनन्दनस्तत्प्रमथनार्थं राममेव नियुयुजे ।

सुवेगा—दुक्करमुवक्कन्तं भअवदा कोसिएण । तदोतदो । [दुष्करमुपक्रान्तं भगवता कौशिकेन । ततस्ततः ।]

चित्रशिखण्डः—ततः संजातस्त्रीवधविचिकित्सामुद्रो रामभद्रः सविनयमिदमाह

स्त्रीराक्षसी कथमिवात्र पतन्तु बाणाः
प्रेष्यस्य ते कुशिकनन्दन तत्प्रसीद ।
आदिश्यतामिह हि कोऽपि तपस्वितन्त्रे
मन्त्राक्षरैः कतिपयैर्य इमामपास्येत् ।। ४ ।।

सुवेगा—अहो उचिदकारित्तणं राहवस्स । तदोतदो । [अहो उचितकारित्वं राघवस्य । ततस्ततः ।]

रक्त से व्याप्त मुखवाली, मृग का भारी ग्रास लेने से व्यग्र तालुवाली, फूले हुए गले के व्यतिकर से भारी फेत्कारों से जगत् को कम्पित करती हुई, हाथ में लिये दो शवों को परस्पर पीटती हुई, परस्पर दाँतों को पीसने के शब्द से भयङ्कर यह ताटका आ रही है ।। ३ ।।

सुवेगा—अहह ! यह दुष्टा तो भीषणों की भी भीषण है ।

चित्रशिखण्डः—तब भगवान् कुशिकनन्दन विश्वामित्र ने उसके प्रमथन (दमन) के लिये राम को नियुक्त किया ।

सुवेगा—भगवान् कौशिक ने दुष्कर कर डाला । तब—

चित्रशिखण्डः—तब होने वाले स्त्री वध की शंका से रामभद्र ने सविनय यह कहा—

हे कुशिकनन्दन यह राक्षसी स्त्री है अतः इस पर आपके सेवक के बाण कैसे गिरें । अतः प्रसन्न होइये और इन तपस्वियों में से किसी को आदेश दीजिये जो कुछ मन्त्रों से इसे दूर हटा दे ।। ४ ।।

सुवेगा—अहा ! राघव की उचितकारिता है । तब—

चित्रशिखण्डः—अथैकजन्मानुभूतक्षत्रब्रह्मभावः स भगवांस्त्रिपताकेन पाणिना चिबुके रामुन्नमय्य निजगाद ।

कालरात्रिकरालेयं स्त्रीति किं विचिकित्ससे ।
तज्जगत्त्रितयं त्रातुं तात ताडय ताडकाम् ॥ ५ ॥

सुवेगा—(साकूतम्) तदोतदो । [ततस्ततः ।]

चित्रशिखण्डः—ततः सहैव मुनिगिरां विरामेण रामकार्मुकतो भुजङ्गभोग-भीषणा बाणपद्धतिराविरासीत् । उक्तं च लक्ष्मणेन ।

विध्वस्तहस्तयुगलं ललितान्त्रतन्त्रमुन्मुक्तरक्ततति खण्डितकालखण्डम् ।
उत्कृत्तकृत्ति रचितं च शरैः शरीरमार्येऽखिलाङ्गपरिताडिनि ताडकायाः ॥६॥

सुवेगा—डिम्भत्तणेवि तरुणराहवोचिदं चरिदं रामभद्दस्स तदोतदो । [डिम्भत्वेऽपि तरुणराघवोचितं चरितं रामभद्रस्य । ततस्ततः]

चित्रशिखण्डः—ततस्त्रैशङ्कवस्य शोकशङ्कोः शमयिता सुन्दासुरवधूवधचरित्रेण चित्रीयमाणः ।

साकं लेभे जृम्भकास्त्रैः समन्त्रैर्विश्वामित्रस्तुष्यतो यं कृशाश्वात् ।
रामायासौ तं धनुर्वेदमाद्यं प्रीतः प्रादात् तत्र सौमित्रये च ॥ ७ ॥

चित्रशिखण्ड—तदनन्तर एक ही जन्म में ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों भावों को प्राप्त करने वाले महर्षि विश्वामित्र राम की ठुड्डी पकड़ मुख को उठाकर कहा—

हे तात ! यह विकटा कालरात्रि के समान विकट है । स्त्री समझ कर क्यों शंका कर रहे हो । अतः तीनों लोकों की रक्षा के लिये ताड़का को मारो ॥ ५ ॥

सुवेगा—(कुतूहल से) तब—

चित्रशिखण्ड—तब मुनि की वाणी के रुकने के साथ ही—राम के धनुष से सूर्य की ऋणा के समान भीषण बाणों की पंक्ति आविर्भूत हुई । लक्ष्मण ने कहा—

आर्य राम से बाणों द्वारा समस्त अंगों पर प्रहार करने पर उस ताड़का का शरीर ऐसा हो गया जिसमें दोनों हाथ विध्वस्त हो गये, अतड़ियाँ बिखर गई, रक्त की धारा बह चली, यकृत् कट गया, तथा चमड़ी उधड़ गई ॥ ६ ॥

सुवेगा—बचपन में भी राम का काम तरुण राघव जैसा है ।

चित्रशिखण्ड—पुनः त्रिशङ्कु के शोक को शमित करने वाले विश्वामित्र ने सुन्दासुर की स्त्री के वध से प्रसन्न होते हुए कृशाश्व से जिन समस्त जृम्भकास्त्रों को मन्त्र के साथ लिया था उस आद्य धनुर्वेद को प्रसन्न हो राम और लक्ष्मण को दे दिया ॥ ७ ॥

सुवेगा—अह्यो से भरदमादामहस्स मुणिणो सुसदिससंजोअगब्भाचरिअ-विब्भमा। किंच तदो कोसिएग पडिवण्णं [अहो अस्य भरतमातामहस्य मुनेः सुसदृशसंयोगगर्भाश्चरितविभ्रमाः। किंच ततः कौशिकेन प्रतिपन्नम्।]

चित्रशिखण्डः—ततश्च शकुन्तलायाः पिता सुकेतुसुतोन्मथनपरीक्षितविक्रमं संक्रान्तकार्मुकोपनिषदं सलक्ष्मणं राममादाय शङ्करशरासनारोपणप्रवर्तितसीता-स्वयंवरयात्रां मिथिलां पुरीं प्रत्युच्चचाल।

सुवेगा—तदोतदो। [ततस्ततः।]

चित्रशिखण्डः—ततस्तेषां ताटकेयो निजतेजस्तिरस्कृतमार्तण्डमरीचिर्मारीचः सततोद्यतबाहुः सुबाहुश्च जननीवधविरुद्धावध्वानमनुरुन्धाताम्।

सुवेगा—ठाणेक्खु अहिणिविठ्ठा दुठ्ठा दुठ्ठरक्खसीसुदा तदो किं संवुत्तं ताणं। [स्थाने खल्वभिनिविष्टौ दुष्टौ दुष्टराक्षसीसुतौ। ततः किं संवृत्तं तयोः।]

चित्रशिखण्डः—यत्तयोर्मातुः। तथा हि—

कोदण्डात्तरलमुदञ्चतः शरस्य द्राग्द्वेधा व्यधितसुधारया सुबाहुम्।
मारीचं सपदि च पुङ्खपत्रवातैरम्भोधेः पुलिनचरं चकार रामः॥ ८॥

सुवेगा—(सपरितोषम्) रक्खसकुलक्खअकारिक्खु रामचन्दचरिदम्। [राक्षसकुलक्षयकारि खलु रामचन्द्रचरितम्।]

सुवेगा—अहा! इस भरत के मातामह मुनि का आचरण उचित संयोग कराने वाला है। पुनः कौशिक ने क्या किया।

चित्रशिखण्ड—फिर जिनके विक्रम की परीक्षा सुकेतु-पुत्री (ताड़का) के दमन से हो चुकी थी तथा जिन्हें धनुर्वेद मिल चुका था ऐसे राम को लक्ष्मण के साथ लेकर शकुन्तला के पिता मिथिलापुरी को चले जहाँ शंकर के धनुष के आरोपण के आधार पर सीता का स्वयंवर चल रहा था।

सुवेगा—तब तब?

चित्रशिखण्ड—तब अपने तेज से सूर्य के तेज को तिरस्कृत करने वाला मारीच तथा सदैव उद्यत बाहुवाला सुबाहु—ताड़का के इन दोनों पुत्रों ने उनके मार्ग को रोक लिया।

सुवेगा—दुष्टा राक्षसी के दोनों दुष्ट पुत्र उचित स्थान पर जुटे। फिर उन दोनों का क्या हुआ?

चित्रशिखण्ड—जो इन दोनों की माता का हुआ था। क्योंकि—

राम ने धनुष में शीघ्रता से बाण की धार से सुबाहु के सद्यः दो खण्ड कर डाला, तथा मारीच को सद्यः पाँख वाले बाणों से समुद्र के किनारे भेज दिया॥ ८॥

सुवेगा—(सन्तुष्ट होकर) रामचन्द्र का चरित्र राक्षस-कुल का नाश करने वाला है।

चित्रशिखण्डः—तस्माच्च समरतः सुचिरसंचितेन निशाचराणामसृजा मांसेन च संपादय दोहदम् ।

सुवेगा—णाह एव्वं तुए उवअरन्तेण णिज्जिदसअलसउन्तसीमन्तिणीसोहग्गा सुवेगा कआ । किं पुण किंपि पुच्छीअदि । [**नाथ एवं त्वयोपकुर्वता निर्जितसकलशकुन्तसीमन्तिनीसौभाग्या सुवेगा कृता । किं पुनः किमपि पृच्छ्यते ।**]

चित्रशिखण्डः—प्रिये समादिश्यताम् ।

सुवेगा—कीस दशाणणोवि अवमाणणासहणसहावो वट्टदि । [**कथं दशाननोऽप्यवमाननासहनस्वभावो वर्तते ।**]

चित्रशिखण्डः—अयि सुपत्रिणि ! सर्वावमानी दशाननः कथमवमाननां सहते । किंतु सीताविरहवैधुर्यमत्रापराद्धति । न विना हिमानीमचण्डो मार्तण्डः ।

सुवेगा—कीदिसा उण सीदाविरहवेदणविणोदा दसाणणस्स । [**कीदृशाः पुनः सीताविरहवेदनविनोदा दशाननस्य ।**]

चित्रशिखण्डः—लङ्कापुरचारिणा त्रिकूटाचलपक्षिराजेन रत्नशिखण्डेन भवद्देवरेण निवेदिता एव ।

सुवेगा—के उण दे । [**के पुनस्ते ।**]

चित्रशिखण्डः—नन्वेते कथ्यन्ते ।

चित्रशिखण्ड—इसीलिये युद्ध में बहुत दिनों से संचित राक्षसों के रक्त तथा मांस से दोहद की पूर्ति करो ।

सुवेगा—नाथ ! इस प्रकार करके आपने समस्त पक्षिस्त्रियों से अधिक सौभाग्यशाली बना दिया । फिर भी कुछ पूछ रही हूँ ।

चित्रशिखण्ड—प्रिये ! आदेश दो ।

सुवेगा—अपमान को न सहन करने के स्वभाव वाले रावण की क्या अवस्था है ?

चित्रशिखण्ड—ऐ सुन्दर पाँखों वाली ! सबका अपमान करने वाला रावण कैसे अपमान सहेगा ? किन्तु सीता के विरह का दुःख ही यहाँ अपराधी है । सूर्य हिमानी (हिमराशि) को छोड़ अन्यत्र अप्रचण्ड नहीं है ।

सुवेगा—सीता के विरह-जन्य रावण के विनोद कैसे हैं ?

चित्रशिखण्ड—लङ्कापुरी में रहने वाले त्रिकूट पर्वत के पक्षिराज तुम्हारे देवर रत्नशिखण्ड ने कहा ही है ।

सुवेगा—फिर वे क्या हैं ?

चित्रशिखण्ड—इन्हें कह रहा हूँ—

इन्दुः सीतावदनसदृशो जानकीनेत्रहृद्यं
नीलाम्भोजं बिसकिसलया मैथिलीहासभासः।
सम्यक्साम्यादिति च बहवस्तस्य जाता जगत्यां
लङ्काभर्तुर्जनकतनयाविप्रलम्भे विनोदाः॥ ९॥

विनोदान्तरं पुनरिदमद्य यत्किल भगवतः पुरन्दरस्यादेशात्तत्रभवता भरताचार्येण सीतास्वयंवरचरितसंबद्धं नूतनं नाटकमुपनिबद्धं सुरसदसि प्रयुक्तं च। तद्दर्शनाय दशाननेन द्रौहिणिर्भणितः। तेन चाप्सरोभिः सह पुत्रशतमपि लङ्कां पुरीं प्रति प्रहितमिति।

सुवेगा—ता एहि अह्मेवि णिअरज्जाहिट्ठाणं विंझगिरिं गदुअ णिबिडणीडणिवासिणो दोहलअं संपादेह्म [तद् एहि आवामपि निजराज्याधिष्ठानं विन्ध्यगिरिं गत्वा निबिडनीडनिवासिनौ दोहदं संपादयावः] (इति परिक्रम्य निष्क्रान्तौ।)

मिश्रविष्कम्भकः।

(ततः प्रविशति रावणः प्रहस्तश्च)

रावणः(मदनाकूतमभिनीय)—हृदय दिष्ट्या वर्द्धसे सीताप्रतिकृतिदर्शनेन।

(नेपथ्ये) जयजय त्रिजगत्पते पौलस्त्य सुखाय सायंतनी सन्ध्या भवतु देवस्य। संप्रति हि

चन्द्रमा सीता के मुख के समान है, नील कमल जानकी के नेत्र के समान मनोहर है, मृणालतन्तु से सीता के हास का साम्य है—इस प्रकार सम्यक् साम्य से सीता के वियोग में रावण के बहुत से विनोद हैं॥ ९॥

विनोद के अनन्तर पुनः आज इन्द्र की आज्ञा से भरताचार्य ने सीता के स्वयंवर से सम्बद्ध नूतन नाटक रचा है और सुरसभा में प्रदर्शन किया है। उसे दिखाने के लिये रावण ने द्रौहिणि से कहा। उन्होंने अप्सराओं के साथ सौ पुत्रों को भी लङ्का भेज दिया।

सुवेगा—तो आइये हम दोनों भी अपने राज्य के निवास विन्ध्यपर्वत पर चलकर घने घोसले में बैठकर दोहद (इच्छा) की तृप्ति करें। (घूमकर निकल जाते हैं।)

मिश्र विष्कम्भक

(तदनन्तर रावण और प्रहस्त आते हैं।)

रावण—(काम-चेष्टा प्रदर्शित कर) हृदय! भाग्यवश सीता के चित्र-दर्शन से बढ़ रहे हो।

(नेपथ्य में) त्रिजगत्पति रावण की जय हो। सायं सन्ध्या आपको सुखद हो। इस समय तो—

माञ्जिष्ठीकृतपट्टसूत्रसदृशः पादानयं पुञ्जयन्
यात्यस्ताचलचुम्बिनीं परिणतिं स्वैरं ग्रहग्रामणीः ।
वात्यावेगविवर्तिताम्बुजरजश्छत्रायमाणः क्षणं
क्षीणज्योतिरितोऽप्ययं स भगवानर्णोनिधौ मज्जति ॥ १० ॥

रावणः—दिष्ट्या गतं दिवसेन । भो भो प्रहस्त तदुच्यन्तां वैरिञ्चा मुनयः प्रस्तूयतामिति ।

प्रहस्तः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) भो भो भरतपुत्राः ! प्रेक्षणककृते कृतक्षणः क्षणदाचरचक्रवर्ती । तत्प्रस्तूयताम् ।

(प्रविश्य कोहलः)

कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने ।
नमः शृङ्गारबीजाय तस्मै कुसुमधन्वने ॥ ११ ॥

रावणः—द्वादशपदेयं प्रवर्तिता नान्दी तत्प्रस्तावयिष्यति ।

कोहलः—तत्रभवतः परमेष्ठिनो मानसभुवः प्रथमपुत्रस्य नाट्ययोनेर्भरताचार्यस्य कृतिरभिनवं सीतास्वयंवर इति नाटकं प्रयोक्तव्यम् । अतः कमलसम्भवोपदिष्टनाट्यवेदेन स्वपौरुषपरितोषितखण्डपरशुदर्शितलास्यताण्डवप्रपञ्चचतुरेण भवता दीयमानमवधानमभ्यर्थये । यतः—

ये ग्रहश्रेष्ठ सूर्य देव माञ्जिष्ठ रंग के सूत्र की भांति किरणों को इकठ्ठा करते हुये अस्ताचल-चुम्बिनी परिणति को प्राप्त कर रहे हैं और यहाँ से भी ये हवा से उड़ायी गयी कमलधूलियों से छत्रित होते हुये क्षीण ज्योति होकर समुद्र में डूब रहे हैं ॥१०॥

रावण—भाग्य से दिन बीत गया। हे प्रहस्त ! ब्रह्मर्षियों से कहो कि प्रस्तुत करें—

प्रहस्त—(नेपथ्य की ओर देखकर) हे भरत पुत्रो ! राक्षसराज रावण नाटक देखने के लिये सन्नद्ध हैं अतः आप लोग प्रदर्शित करें ।

(कोहल प्रवेश कर)

जो शृङ्गार के बीज पुष्पधन्वा कामदेव जलकर भी कर्पूर की भांति प्रत्येक व्यक्ति में शक्तिमान् हैं उन्हें नमस्कार है ॥११॥

रावण—यह द्वादश पदा नान्दी हुई अब प्रस्तावना करेगा ।

कोहल—ब्रह्मा जी के प्रथम मानस-पुत्र नाट्य-प्रवर्तक भरताचार्य की कृति 'सीता-स्वयंवर' नामक अभिनव नाटक प्रदर्शित करना चाहिये । जिन्होंने कमलजन्मा ब्रह्मा जी से नाट्यवेद को शिक्षा पायी है तथा अपने पौरुष से परितुष्ट शंकर जी द्वारा प्रदर्शित लास्य विद्या में जो कुशल हैं ऐसे भरताचार्य के इस नाटक पर कृपया आप ध्यान दें । क्योंकि—

श्रवणैः पेयमनेकैर्दृश्यं दीर्घैश्च लोचनैर्बहुभिः ।
भवदर्थमिव निबद्धं नाट्यं सीतास्वयंवरणम् ॥ १२ ॥

रावणः—किं पुनरिदमसंस्तुतं प्रस्तूयते । कः पुनरसौ योऽयमत्र मयि रावणेऽपि सति सीतां स्वयं वृणुते । (विमृश्य) भवतु निरङ्कुशाः कविवाचः ।

कोहलः—(समन्तादवलोक्य) अहो राक्षसराजस्य त्रिभुवनशिरःशेखरायमाणा प्रभुशक्तिः । तथा हि—

ज्योतींषि प्रस्तुवन्ति प्रतिफलनवशान् मौक्तिकन्यासलक्ष्मी-
मिन्दोर्ज्योत्स्ना वितानीभवति भगवतां दर्पणत्वं रवीणाम् ।
सन्ध्यारागश्च रङ्गे रचयति सहसा सान्द्रसिन्दूररेखां
स्वेदच्छेदाय चैते दिशि दिशि मरुतस्तालवृन्तीभवन्ति ॥ १३ ॥

भो भो लङ्केश्वरसभासदः ! स तत्रभवान् द्रौहिणिराह—

वाग्वैदर्भी मधुरिमगुणं स्यन्दते श्रोत्रलेह्यं
वस्तुन्यासो हरति हृदयं सूक्तिमुद्रानिवेद्यः ।
सद्यः सूते रसमनुपमप्रौढिजन्मा प्रसादः
संदर्भश्रीरिति कृतधियां धाम गीर्देवतायाः ॥ १४ ॥

ततश्च !

यह अनेकों श्रवणों से पेय हैं, बहुत सी आखों से दीर्घकाल तक दृश्य है । यह 'सीता स्वयंवरण' नाट्य आपके लिये रचित है ॥१२॥

रावण—क्या व्यर्थ का प्रस्तुत कर रहे हो । कौन ऐसा है जो मुझ रावण के यहाँ होने पर भी सीता का वरण करेगा । (सोचकर) ठीक है । कवियों की वाणियाँ निरङ्कुश हैं ।

कोहल—(चारों ओर देखकर) अहा ! राक्षसराज रावण का प्रभुत्व त्रैलोक्य के शिर पर शेखर की भाँति विराजमान है । क्योंकि—

ज्योतियाँ प्रतिफलित होने से मौक्तिक की शोभा को प्रकट करती हैं, चन्द्र-ज्योत्स्ना वितान का कार्य करती है, और भगवान् भास्कर की किरणें दर्पण का कार्य करती हैं, सन्ध्या की अरुणिमा अरुण सिन्धूर की रेखा बनाती है और दिशाओं में पवन स्वेद-हरण करने के लिये तालवृन्त का कार्य करते हैं ॥१३॥

हे लङ्केश्वर के सभासदो । भगवान् द्रौहिणि भरत ने कहा है—वैदर्भी वाक् है जिससे श्रोत्रपेय माधुर्य गुण बरस रहा है, सूक्तिमुद्रा से सूचित होने वाला वस्तु-विन्यास हृदय का हरण कर रहा है, अनुपम प्रौढ़ि से प्रोद्भूत प्रसाद सद्यः रस की सर्जना करता है, सज्जनों के सन्दर्भ की शोभा ही सरस्वती का निवास है ॥१४॥

सुवर्णबन्धविद्योति कुरुत श्रवणाश्रयम् ।
सच्छायमुल्लसद्वृत्तं काव्यं मुक्तामयं बुधाः ।। १५ ।।

(नेपथ्ये गीयते)

प्रकटितरामाम्भोजः कौशिकवान् सपदि लक्ष्मणानन्दी ।
सुरचापदमनहेतोरयमवतीर्णः शरत्समयः ।। १६ ।।

कोहलः—कथमुपक्रान्तं भरतपुत्रैः यदियं रामलक्ष्मणानुगतस्य भगवतो विश्वामित्रस्य प्रावेशिकी ध्रुवा। तदहमप्यनन्तरकरणीयाय सज्जो भवामि। (इति निष्क्रान्तः)

॥ प्रस्तावना ॥

(ततः प्रविशति विश्वामित्रो रामलक्ष्मणौ च ।)

विश्वामित्रः—अहो तत्त्वेऽभिनिविष्टं मनो जनकस्य यद्वा याज्ञवल्क्याद्यजुर्विज्ञानविभवः खल्वसौ । स हि चन्द्रमसोऽनुभावो यदस्य ग्रावाणोऽपि निस्यन्दन्ते ।

रामलक्ष्मणौ—भगवन्नुपाध्याय ! किमसौ वैदेहः शुक्लान्यपि यजूंषि विज्ञाय याज्ञवल्क्यतो न वनाय प्रतितिष्ठते ।

तो सुन्दर वर्णों के विन्यास से शोभमान, अच्छी कान्ति से विराजमान वृत्तों वाला, सुन्दर रंग से सुशोभित, मनोहर कान्ति से युक्त शोभमान वृत्ताकार मुक्ता के हार की भाँति काव्य को सुनें ।।१५।।

(नेपथ्य में गाया जाता है)

देव (शिव) के धनुष के मर्दन हेतु यह शरत्समय आविर्भूत हो गया। इसमें राम रूप कमल प्रकट हो गये हैं जिसमें विश्वामित्र रूपी आमोद है तथा जो लक्ष्मण रूपी हंस को आनन्द देने वाला है ।।१६।।

कोहल—भरत-पुत्रों ने कैसे प्रारम्भ कर दिया। अब राम, लक्ष्मण से अनुगत महर्षि विश्वामित्र का प्रवेश निश्चित है। तो मैं भी इसके बाद के कार्यों के लिये तैयार हो जाऊँ (इसके बाद निकल जाता है)

प्रस्तावना

(तब विश्वामित्र, राम और लक्ष्मण प्रवेश करते हैं)

विश्वामित्र—अहा ! जनक का मन तत्त्व-ज्ञान में सम्यक् संलग्न है। अथवा याज्ञवल्क्य से उन्होंने यजुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया है। यह तो चन्द्रमा का प्रभाव है कि पत्थर भी स्रवित होने लगते हैं ।

राम-लक्ष्मण—भगवन् गुरो ! क्या ये जनक याज्ञवल्क्य से शुक्ल यजुर्वेद पढ़कर भी वन में नहीं जाते ?

विश्वामित्रः—वत्स दाशरथे राम ! वत्स लक्ष्मण ! स खलु राज्याश्रममहामुनिरित्थं समर्थयते ।

स्थितिः पुण्येऽरण्ये सह परिचयो हन्त हरिणैः
फलैर्मेध्या वृत्तिः प्रतिदिनं च तल्पानि दृषदः ।
इतीयं सामग्री फलति हि विरक्त्यै स्पृहयतां
वनं वा गेहं वा सदृशमुपशान्तस्य मनसः ॥ १७ ॥

रामः—सत्यमिदं गीयते । अतथाविधो न तथाविधरहस्यवेदी ।

रावणः—(साक्षेपम्) अये अयमसौ रामो दाशरथिर्यस्ताडकारिस्ताडकेयारिश्च । (मुनिमुद्दिश्य) अहो क्षत्रियब्राह्मणस्याभिचारे चातुर्यं यदस्मत्परिजनेऽपि जनितवानयमपि क्षत्रियडिम्भो डिम्भडम्बरम् ।

लक्ष्मणः—(पुरोऽवलोक्य) अये सविधीकृतधनुषि स्वयंवरयात्राभुवि वर्त्तामहे । यतः ।

क्वणत्कनककिङ्किणीमुखरतोरणैर्गोपुरै-
र्विचित्रमणिदीधितिस्फुरणसूचितेन्द्रायुधैः ।
चकास्त्ययमवाङ्मुखीकृतनभश्चरीलोचनः
स्थितोन्नतनरेश्वरः किमपि मञ्चहर्म्योच्चयः ॥ १८ ॥

विश्वामित्र—वत्स दशरथ-नन्दन राम ! वत्स लक्ष्मण ! वे राज्यरूपी आश्रम में महामुनि हैं ऐसा मानना चाहिये—

पावन वन में निवास, हरिणों से परिचय, प्रतिदिन फलों से पवित्र जीवन यापन, तथा पत्थरों की शैया—यह सामग्री विरक्ति की कामना वालों के लिये सिद्धिदायक है। पर, जिसका मन शान्त हो चुका है उसके लिये वन या घर दोनों समान हैं ।

राम—यह ठीक कह रहे हैं । जिसका ऐसा व्यवहार नहीं वह वैसे रहस्य को नहीं जान सकता ।

रावण—(आक्षेप से) अरे ! क्या यही दशरथ-पुत्र राम है जो ताड़का तथा उसके पुत्रों का शत्रु है । (मुनि की ओर देख कर) अरे ! इस क्षत्रिय ब्राह्मण का अभिचार में चातुर्य देखिये कि मेरे परिजनों पर भी इस क्षत्रिय-बालक ने लड़कपन (या मूर्खता) प्रकट की ।

लक्ष्मण—(सामने देखकर) धनुष से युक्त स्वयंवर भूमि में आ गये हैं क्योंकि—

बज रही स्वर्णकिङ्किणी से मुखरित तोरण वाले गोपुरों के द्वारा तथा विचित्र मणियों की किरणों के स्फुरणों से सूचित इन्द्रायुधों के द्वारा नीचे किया हुआ नभश्चरी (देवता या पक्षी) की आँख वाला तथा उन्नत नरेश्वर से आसीन मञ्चरूप हर्म्य शोभित है ॥१८॥

विश्वामित्रः—(समन्तादवलोक्य)

पुरविजयि तदेतत् कार्मुकं चन्द्रमौलेरयमिह जनकानामग्रणीर्योगिनां च।
अयमपि च निमीनां धर्मबन्धुः पुरोधाः सुरयजनसमुत्था मैथिली चेयमत्र ।१६।

(ततः प्रविशन्त्युपविष्टा यथानिर्दिष्टा जनकशतानन्दसीताः
प्रतीहारी धात्रेयिका च ।)

शतानन्दः—भोः सीरध्वज अद्य खलु ताडितताडकाकुटुम्बस्य रामभद्रस्य दर्शनेन दशरथशैशवमनुस्मारितोऽस्मि यत्तेनापि ।

अदृष्टश्मश्रुभेदेन गतेन क्षणमित्रताम् ।
वज्रपाणेः कृतं राज्यमदैत्यमपदानवम् ।। २० ।।

जनकः—एवमेवैतत् । न खल्विक्ष्वाकूणामपेक्षितवयःप्रक्रमो विक्रमः ।

शतानन्दः—हेमप्रभे। शाम्भवधनुःसमीपवर्त्तिनीं कुरु राजपुत्रीं प्रवृत्ता स्वयंवरयात्रा।

(सीता धात्रेयिका तथा कुरुतः ।)

विश्वामित्रः—वत्स लक्ष्मण ! यथा निर्दिष्टं जनकासनासन्नवर्तिनं मञ्चैकदेशमारोहय रामभद्रम् । आरोह च स्वयं येन सीरध्वजोऽनुसंधत्ते ।

विश्वामित्र—(चारो ओर देखकर)

त्रिपुर को जीतने वाला यह चन्द्रमौलि शंकर का धनुष है तथा जनकों और योगियों में अग्रणी ये जनक हैं, निमि-वंशियों के धर्म बन्धु ये पुरोहित शतानन्द हैं तथा यहाँ यह यज्ञ से समुद्भूता जानकी हैं ।।१९।।

(तदन्तर यथानिर्दिष्ट जनक, शतानन्द, सीता, प्रतीहारी तथा धात्री प्रविष्ट होते हैं)

शतानन्द—हे सीरध्वज जनक ! आज ताड़का के कुल को ताडित करने वाले रामभद्र के दर्शन से दशरथ का बचपन याद आ गया है । उन्होंने भी—

अदृष्ट श्मश्रु के भेद (अर्थात् बिना दाढ़ी-मूछ आये बचपन में ही) क्षणिक मित्रता को प्राप्त कर उन्होंने भी इन्द्र का राज्य अदैत्य और अदानव कर दिया ।।२०।।

जनक—यही बात है। इक्ष्वाकु-वंशियों का विक्रम अवस्था-क्रम की अपेक्षा नहीं करता ।

शतानन्द—हेमप्रभे ! राजपुत्री को शिव-धनुष के पास करो। स्वयंवर प्रारम्भ हो गया ।

(सीता और धात्री वैसा करती हैं)

विश्वामित्र—वत्स लक्ष्मण ! यथानिर्दिष्ट जनकासन के समीपवर्ती मञ्च के एक भाग पर राम को आरूढ़ करो । स्वयं भी आरूढ़ हो जाओ जिससे जनक देख लें ।

(रामलक्ष्मणौ तथा कुरुतः)

रामः—(स्वगतम्) अये इयमसौ सीता यस्याः स्वयं भगवती वसुमती माता यागभूमिर्जन्ममन्दिरं इन्दुशेखरकार्मुकारोपणं च जामातृगुणः । (सस्पृहं निर्वर्ण्य)

समन्तात् साभोगं न च कुचविभागाञ्चितमुरो
नितम्बः स्वां लक्ष्मीमभिलषति नाद्यापि लभते ।
दृशो लीलामुद्रा स्फुरति च न चातिस्थितिमती
तदस्यास्तारुण्यं प्रथमभवतीर्णं विजयते ॥ २१ ॥

(विचिन्त्य) हंहो हृदय ! इतः प्रभृति नूनमस्खलितशासनः कुसुमायुधो भविता । पश्य—

वहतु धनुरसङ्गादैक्षवं वैणवं वा प्रहरतु च पृषत्कैः कौसुमैरायसैर्वा ।
तदपि मकरकेतुर्मूर्ध्नि धन्वीश्वराणामियमिह युवभावं यावदङ्गीकरोति ॥२२॥

(सम्यग्विभाव्य) तामियं वयोवस्थामलङ्करोति यस्यामभिनवाकल्पविकल्पविभ्रमभङ्गिव्यग्रमानसा शङ्के दिवानिशं तिष्ठतीति । यतः—

(राम-लक्ष्मण वैसा करते हैं)

राम—(स्वगत) अरे ! यही वह सीता है जिनकी स्वयं भगवती पृथ्वी माता हैं, यज्ञभूमि जन्म-मन्दिर है, और शिव के धनुष का आरोपण जामाता का गुण है। (स्पृहा से देखकर)—

स्तनों में परस्पर पार्थक्य परिलक्षित होने से वक्षःस्थल चारो ओर से परिपूर्ण नहीं है, नितम्ब अपनी शोभा प्राप्त करना चाहता है पर अभी भी नहीं पा सका है, नेत्रों में विलास के चिह्न स्फुटित हो रहे हैं, परन्तु अभी स्थिर नहीं हैं। अतः इसका (सीता का) नवागत यौवन सर्वोपरि है ॥ २१ ॥

(सोचकर) हे हृदय ! आज से कामदेव अस्खलित शासन वाला होने वाला है। देखो—

कामदेव अवज्ञापूर्वक इक्षु का या बाँस का ही धनुष धारण करे, पुष्प के या लोहे के बाणों से प्रहार करे तो भी जब तक सीता युवती रहेगी तब तक वह धनुर्धारियों में श्रेष्ठ ही रहेगा ॥ २२ ॥

(अच्छी तरह देखकर) यह उस उम्र को अलंकृत कर रही है जिसमें मानो नवीन आभूषणों की रचना के विलास की चातुरी (अथवा संकल्प-विकल्प एवं हाव-भाव) में ही दिन रात मग्न-चित्त रहती है। क्योंकि—

उत्तालालकभञ्जनानि कबरीपाशेषु शिक्षारसो
दन्तानां परिकर्म नीविनहनं भ्रूलास्ययोग्याग्रहः ।
तिर्यग्लोचनवर्तितानि वचसां छेकोक्तिसंक्रान्तयः
स्त्रीणां म्लायति शैशवे प्रतिपलं कोऽप्येष केलिक्रमः ॥ २३ ॥

रावणः—इयमसौ हृदयविशल्यकरणौषधिर्मैथिली । तदखिलनेत्रसंपातनेन पश्याम्येनाम् । (सुचिरं विभाव्य)

धम्मिलो ललितः स्मितं शुचि दृशौ दीर्घे भ्रुवौ भङ्गुरे
पाशाभे श्रवसी विशालमलिकं माञ्जिष्ठपृष्ठोऽधरः ।
कण्ठो रुक्मरुचिः समुन्नतमुरः काम्यं च काञ्चीपदं
दृग्द्वन्द्वानि चिरं विभज्य दशधा तन्मैथिलीं पश्यत ॥ २४ ॥

(आकाशे)

(सीतामनुसंधाय सोन्मादमिव)

तरङ्गय दृशोऽङ्गने पततु चित्रमिन्दीवरं
स्फुटीकुरु रदच्छदं व्रजतु विद्रुमः श्वेतताम् ।
क्षणं वपुरपावृणु स्पृशतु काञ्चनं कालिका-
मुदञ्चय मनाङ्मुखं भवतु च द्विचन्द्रं नभः ॥ २५ ॥

बाल्यावस्था के समाप्त होने पर लम्बी अलकों को कुटिलता से सजाना, केशों के बाँधने की शिक्षा में अनुराग, दाँतों को रंगना, नीवी (वस्त्र की गाँठ) को बाँधना, भौंहों के नचाने के अभ्यास में यत्न, नेत्रों को तिरछे घुमाना, तथा वाणी में वैदग्ध्य का सङ्क्रमन—यह स्त्रियों का प्रतिक्षण अनिर्वचनीय विलास होता है ॥ २३ ॥

रावण—यह जानकी हृदय को विशल्य करने वाली औषधि है । तो समस्त नेत्रों को लगाकर इसे देखूं । (देर तक देखकर)—

केशपाश ललित है, स्मित स्वच्छ है, आखें विशाल हैं, भौंहें टेढ़ी हैं, कान पाश की भांति हैं, ललाट विशाल है, ओष्ठ माञ्जिष्ठ वर्ण का है, कण्ठ स्वर्ण की कान्तिवाला है, उरःस्थल समुन्नत है, काञ्ची का स्थान रमणीय है अतः हे दृग्द्वन्द्वो ! दशधा बंटकर जानकी को अच्छी तरह देखो ॥ २४ ॥

(सीता को देखकर उन्माद से)

(आकाश में)

हे अङ्गने ! आखों को घुमाओ जिसमें नील कमल गिर पड़ें, दन्तों की शोभा को स्फुट करो जिससे विद्रुम श्वेतता को प्राप्त हो, क्षण भर के लिए शरीर को निरावृत (नंगी) करो जिससे स्वर्ण कालिमा को प्राप्त हो जाय और जरा मुखको ऊपर करो जिससे आकाश में दो चन्द्रमा हो जाय ॥ २५ ॥

प्रतीहारी—(समन्तादवलोक्य भूमिपालान्) यत् सत्यं निरुपमरूपसंपदो जनस्य साहायकेन स भगवान् कुसुमायुधः किमपि कामिजनं विडम्बयति। यतः—

एतेनोच्चैर्विहसितमसौ काकलीगर्भकण्ठो
लुभ्यच्चक्षुः प्रहितममुना साङ्गभङ्गः स्थितोऽयम्।
हारस्याग्रं कलयति करेणैष हर्षाच्च किंचित्
स्त्रैणः पुंसां नवपरिगमः काममुन्मादहेतुः ॥ २६ ॥

(किंचिदुच्चैः)

शृणुत जनकशुल्कं क्षत्रियाः सर्व एते
दशवदनभुजानां कुण्ठिता यत्र शक्तिः।
नमयति धनुरैशं यस्तदारोपणेन
त्रिभुवनजयलक्ष्मीर्मैथिली तस्य दाराः ॥ २७ ॥

रावणः—(सक्रोधहासम्) अप्यलीककवे मूढ ! कथमिव करतलल्लुलितकैलासशैलोच्चयाः कार्मुकलतारोपणेऽपि दशकण्ठबाहवः कुण्ठाः। किंच रे विचक्षणंमन्य ! रुद्राद्रेस्तुलनमित्यादि पठति।

हेमप्रभा—सहि जाणइ उववकन्ता धणुज्जता ता सफलपरिस्समं होदु संपअं पआवयिणो पिअसहीए रूवणिम्माणणिउणत्तणं अत्थु अ कदत्थो कुसुमकोअण्डस्स कोअण्डजोग्गो परिस्समो। [सखि जानकि उपक्रान्ता धनुर्यात्रा तत् सफलपरिश्रमं भवतु साम्प्रतं प्रजापतेः प्रियसख्या रूपनिर्माणनिपुणत्वम्। अस्तु च कृतार्थः कुसुमकोदण्डस्य कोदण्डयोग्यः परिश्रमः।]

प्रतीहारी—(राजाओं को चारो तरफ देखकर) यह सत्य है कि अनुपम सुरूप सम्पन्न मनुष्य की सहायता से वे भगवान् कामदेव कामीजन को किसी भी प्रकार प्रतारित करते हैं।

(जैसे) यह जोर से हँस रहा है, यह (दूसरा) कण्ठ से काकली गा रहा है, इसने सतृष्ण नेत्र चलाया, यह तिरछा खड़ा है, यह हाथ से हार का अग्र भाग हर्ष से कुछ उठा रहा है ॥ २६ ॥

(कुछ जोर से) हे समस्त क्षत्रियों ! जनक के शुल्क को सुनो। जिस शंकर के धनुष में रावण के भुजाओं की शक्ति कुण्ठित हो गई उसे जो नमित कर देगा उसकी त्रैलोक्य जय रूपी लक्ष्मी सीता स्त्री होंगी ॥ २७ ॥

रावण—(सक्रोध हास्य से) ऐ झूठ बोलने वाले मूढ कवि ! हथेलियों से कैलास की शिलाओं को नचाने वाली रावण की बाहें धनुष की डोरी चढ़ाने में कैसे कुण्ठित हो गयीं ? क्यों रे अपने को बुद्धिमान् मानने वाले ! 'कैलास का उठाना' इत्यादि पढ़ता है।

हेमप्रभा—सखि जानकि ! धनुर्यात्रा आ गयी। अतः सखी के रूप निर्माण में प्रजापति की निपुणता सफल हो तथा कामदेव का धनुषयोग्य परिश्रम भी कृतार्थ हो !

प्रतिहारी—(पुरोऽवलोक्य स्वगतम्) अये नरक एष प्रथममुपस्थितः। (प्रकाशम्)

कृष्णागुरुद्रुमतलेषु सुराङ्गनाभिरामोदिगन्धमृगबन्धुषु गीतकीर्तिः।
शौरेर्वराहवपुषो जगतीकलत्रे प्राग्ज्योतिषाधिपतिरेष सुतः किलाभूत् ॥ २८॥

किं च—

अस्योद्योगे प्रसर्पत्पटुपटहरवोद्रिक्तदानद्रवाणां
सन्नाहन्यासदर्पद्विगुणिततरसां वारणानां भरेण।
निःशेषन्यञ्चदुर्वीवलयपरिणतिस्रस्तसन्नाहबन्धः
पृष्ठाष्ठीलं विलोलं कलयति कलया जर्जरं कूर्मराजः॥ २९॥

हेमप्रभा—दंसणमेत्तमहणिज्जत्तकामरूवो कामरूवेसरो एसो ता इमस्सिं तरुणतापिच्छरिछोलीसरिच्छच्छाआ णिवडन्तु णिविडकडक्खविक्खेवा। [दर्शनामात्रमहनीयकामरूपः कामरूपेश्वर एषः। तदस्मिंस्तरुणतापिच्छकान्तिसदृशच्छाया निपतन्तु निबिडकटाक्षविक्षेपाः।]

सीता—ओ सुरपडिपक्खो असुरो। [यः सुरप्रतिपक्षोऽसुरः।]

हेमप्रभा—सहि मा उत्तम्म ण असुरसमारोवणिज्जं सङ्करसरासणम्। [सखि मा उत्ताम्य नासुरसमारोपणीयं शङ्करशरासनम्।]

प्रतीहारी—(सामने देखकर स्वगत) अरे! पहले नरकासुर ही उपस्थित हो गया (प्रकट)—

प्राग्जोतिषपुर का यह राजा नरकासुर वराहरूपधारी भगवान् कृष्ण का पृथ्वी स्त्री में पुत्र हुआ है। इसकी कीर्ति को सौरभ युक्त कस्तूरी मृगों के आश्रयभूत कृष्णागुरु वृक्षों के नीचे सुराङ्गनायें गाया करती हैं॥ २८॥

तथा—

इस (नरक) की यात्रा में फैलते हुए तेजः पटह के निनाद से उद्दीप्त मद वाले, सन्नाह (युद्ध की वेशभूषा) की रचना से उत्पन्न दर्प से द्विगुणित बल वाले हाथियों के भार से चारो तरफ से नमित होती हुई पृथ्वी के झुकाव से परिकर के शिथिल हो जाने से कूर्मराज अंशतः चञ्चल एवं जर्जर पीठ की मांस-ग्रन्थि को धारण करते हैं॥ २९॥

हेमप्रभा—यह कामरूप देश का राजा दर्शन मात्र से ही महनीय कामरूप है अतः इसकी ओर तरुणतायुक्त कटाक्षपात हो।

सीता—यह सुरों का प्रतिपक्षी असुर है।

हेमप्रभा—सखि! दुःखी न हो। शंकर का धनुष राक्षस से आरोपित होने योग्य नहीं है।

प्रतिहारी—अहो प्रभावो भवानीवल्लभस्य यद्वसुमतीसूनुरपि—

दोर्दण्डचरितोच्चण्डो हरचिन्ताचमत्कृतः ।
कार्मुकारोपणायैव समुत्थाय पुनः स्थितः ।। ३० ।।

रावणः—धिग्भवन्तं वासुन्धरेय धिक् । यदभिमानिनामारम्भस्यानिर्वहणमन्दो दुर्यशःकन्दः ।

प्रहस्तः—देव न सर्वो दशाननः ।

प्रतीहारी—(अन्यतोऽवलोक्य स्वगतम्) अये कथमसौ पाण्ड्यः ? (प्रकाशम्)

यत्कीर्तिं मलयाद्रिचन्दनलताकुञ्जे भुजङ्गाङ्गनाः
श्रुत्वा यच्छबरीजनात् फणिपतेर्गायन्ति संगीतिषु ।
पाण्ड्यः सोऽयमुदन्वदन्वयवृषा किंचान्यदस्य स्वयं
दातुं मौक्तिककामधेनुरसमा सा ताम्रपर्णी सरित् ।। ३१ ।।

अपि च—

वाचः संवननं सतां रणविधिः क्लृप्तामरीवल्लभो
नेत्रोन्मादकरं वपुर्मृगदृशां हस्तावचेयं यशः ।
इत्येतस्य निसर्गसुन्दरगुणस्यैतत्परं लाञ्छनं
पात्रापात्रविवेचनं न यदभूत् सर्वस्वदानेष्वपि ।। ३२ ।।

प्रतीहारी—शंकर के धनुष का ऐसा प्रभाव है कि धरती का पुत्र भी—

बाहों के चरित से प्रचण्ड होते हुये भी शंकर की चिन्ता से चमत्कृत होकर धनुष के आरोपण के लिये उठकर भी बैठ गया ।। ३० ।।

रावण—पृथ्वी पुत्र ! तुझे धिक्कार है । क्योंकि अभिमानियों के लिये आरम्भ किये कार्य का अनिर्वाह अयशकारी है ।

प्रहस्त—देव ! सभी रावण नहीं हैं ।

प्रतीहारी—(दूसरी ओर देखकर, स्वगत) अरे क्या यह पाण्ड्य-राजा है (प्रकट)—

जिसकी कीर्ति को मलयाचल के लताकुञ्ज में शबर-स्त्रियों से सुनकर सर्पराज की स्त्रियाँ गीतों में गाया करती हैं वही उच्च वंश में श्रेष्ठ ये पाण्ड्य राजा हैं । इनके बारे में और क्या कहा जाय इन्हें मोती देने के लिये स्वयं ताम्रपर्णी नदी कामधेनु के समान है ।। ३१ ।।

तथा—

यह वाणी का यज्ञ है, सज्जनों की रणविधि है, श्रेष्ठ देवाङ्गनाओं का प्रिय है, इसका रूप मृगनयनियों के नेत्र को उन्मत्त करने वाला है, इसका यशः हाथ से इकट्ठा करने योग्य है—इस प्रकृत्या सुन्दर गुण वाले पाण्ड्य-नरेश का दोष यह है कि सर्वस्व दान करने में भी पात्रापात्र का विवेक नहीं है ।। ३२ ।।

हेमप्रभा—कपोलकन्तिनिम्भच्छिअमुद्धमहूअकुसुमपण्डिमे पण्डमेइणीणाहो एसो ता इमस्स वअणसदवत्ते णिवेसअ संचरन्तछच्चरणरिछोलीसच्छाअं दिट्ठिम् । [कपोलकान्तिनिर्भर्त्सितमुग्धमधूककुसुमपाण्डिमे पाण्ड्यमेदिनीनाथ एष तदस्य वदनशतपत्रे निवेशय संचरत्षट्चरणकान्तिसच्छायां दृष्टिम् ।]

सीता—जो दमिदचूडामणी । [यो द्रविडचूडामणिः ।]

प्रतीहारी—(साकारसंवरणं विहस्य)

रभसादयमादाय कोदण्डं मदनद्विषः ।
व्रीडाविनमितग्रीवो वन्दित्वा पुनरुज्झति ।। ३३ ।।

रावणः—(विहस्य) अहो द्रविडपतेः सुसूत्रितस्त्यागकारणपरिग्रहः ।

प्रतीहारी—(अन्यतोऽवलोक्य स्वगतम्) अये अयं माहिष्मतीपतिः । (प्रकाशम्)

अत्रेर्लोचनशुक्तिमौक्तिकमणेर्देवात्सुधादीधिते-
र्गोत्रं हैहयभूभुजां यदुदगात्तस्मिन्नभूदर्जुनः ।
दोःसीमन्तितनर्मदेन वपुषा पौलस्त्यदर्पद्रुहः
सूनुर्वाञ्छितमेघनादविजयस्तस्यैष शत्रुंतपः ।। ३४ ।।

रावणः—आः जरत्क्षत्रियप्रतीहार दुरभिधायिनमेनं त्वां मृष्यतां नाम दशास्यः । वत्समेघनादनिन्दापदं पुनरयं न क्षमते चन्द्रहासः (इति खड्गमादित्सते)

हेमप्रभा—हे कपोल की कान्ति से विकसित मधूक पुष्प की पाण्डिमा को लज्जित करने वाली सखि ! ये पाण्ड्य-नरेश हैं । इनके मुखकमल पर भ्रमित भ्रमर की कान्ति वाली दृष्टि को डालो ।

सीता—यह द्रविड चूडामणि हैं ।

प्रतीहारी—(आकार को छिपाते हुये हँसकर)—यह तेजी से शंकर के धनुष को लेकर लज्जा से गर्दन झुकाकर प्रणाम कर पुनः छोड़ देता है ।

रावण—(हँसकर) अहा ! द्रविणाधिप का त्याग के निमित्त परिग्रह प्रकट हो रहा है ।

प्रतीहारी (दूसरी ओर देखकर) (स्वगत) अरे ! यह तो माहिष्मती नगरी के अधीश्वर है (प्रकट)—

महर्षि अत्रि के नेत्र की शुक्तिरूपी मौक्तिक मणि अमृतकिरण चन्द्रदेव से जो हैहय राजाओं का गोत्र उत्पन्न हुआ उसमें अर्जुन हुये उन्होंने अपनी बाहों से नर्मदा नदी को बांध दिया तथा रावण के दर्प को चूर्ण कर दिया । उन्हीं का यह शत्रुजयी पुत्र है जो मेघनाद पर विजय करना चाहता है ।। ३४ ।।

रावण—ऐ वृद्ध क्षत्रिय के प्रतीहार ! कुवाच्यवादी ! तुझे रावण क्षमा कर सकता है पर पुत्र मेघनाद की निन्दा को यह मेरा चन्द्रहास खड्ग नहीं क्षमा कर सकता ।

(ऐसा कहकर खड्ग को लेना चाहता है)

प्रहस्तः—देव मुनिजनप्रयोज्यं प्रेक्षणकमेतत् तदलमकाण्डसंरम्भेण ।

प्रतिहारी—

यन्मेखला भवति मेकलशैलकन्या वीतेन्धनो वसति यत्र च चित्रभानुः ।
तामेष पाति कृतवीर्ययशोवतंसां माहिष्मतीं कलचुरेः कुलराजधानीम् ॥ ३५ ॥

अपि च—

अस्याहवे हरिचमूखुरखण्डितोर्वीपांसुप्रसारपरिपूर्तिभिया वहन्ति ।
नेत्राणि नित्यविकचानि मरुत्तरुण्यो नीरन्ध्रपाणिपुटयुग्मपिधानवन्ति ॥ ३६ ॥

हेमप्रभा—गुरुअणदंसिअविणअणम्मदे णम्मदेक्कालङ्करणमाहिस्सईणअरणरिन्दो एसो ता इमस्सिं तरलपह्मलधवलविसाला लोअण्णरत्तणीला दिज्जन्तु सहसेति णेत्तपेरन्ता । [गुरुजनदर्शितविनयनर्मदे नर्मदैकालङ्करणमाहिष्मतीनगरनरेन्द्र एष तदस्मिंस्तरलपक्ष्मलधवलविशाला लावण्यरक्तनीला दीयन्तां सहसैव नेत्रपर्यन्ताः ।]

सीता—जो खत्तिअकुलकुमारोत्रिव भविअ अवमण्णिअपरसरामपरक्कम्मो । [यः क्षत्रियकुलकुमारोऽपि भूत्वाऽवमानितपरशुरामपराक्रमः ।]

प्रतीहारी—(स्वगतम्) अहो गर्वगरिमा हैययकुलकुमारस्य । (प्रकाशम्)

त्रैयम्बकेऽपि कोदण्डे दोर्दण्डमदडामरः ।
अयमाद्रियते वीरो नारोपणपणक्रियाम् ॥ ३७ ॥

प्रहस्त—देव ! यह मुनिजनों से प्रयुक्त नाटक है अतः असमय में पराक्रम से रुकें ।

प्रतीहारी—नर्मदा जिसकी मेखला है, जहाँ वीतेन्धन चित्रभानु (अग्नि, या सूर्य) बसते हैं उस कलचुरियों कुलराजधानी माहिष्मती जो पराक्रम के यश से प्रसिद्ध है, का यह पालन करता है ॥ ३५ ॥

और भी—

जिसके युद्ध में अश्वसैन्य की खुर से कटी पृथ्वी से उठी धूल के प्रसार के भरजाने के डर से मरुत् स्त्रियां नित्य विकसित आखों को दोनों हाथों से कस कर ढँका करती हैं ॥ ३६ ॥

हेमप्रभा—ऐ गुरुजनों के प्रति विनय तथा नम्रता प्रदर्शित करने वाली ! नर्मदा का एकमात्र अलङ्करण माहिष्मती नगर का यह राजा है । अतः चंचल पलकों से स्वच्छ विशाल तथा लावण्य से रक्तलीला वाले कोरकों को इसकी ओर फेरो ।

सीता—जो क्षत्रियकुल का बालक होकर भी परशुराम के पराक्रम को अपमानित करने वाला है ।

प्रतीहारी—(स्वगत) हैहय-कुल-कुमार की वाह रे गर्व गरिमा ! (प्रकट)

बाहों के मद से मत्त यह त्रयम्बक की धनुष पर प्रत्यञ्चारोपण को पसन्द नहीं करता ॥ ३७ ॥

प्रहस्तः—मूढ दशकण्ठायसे किंतु न बन्दीकृतमहेन्द्रोऽसि ।

प्रतीहारी—(अन्यतोऽवलोक्य स्वगतम्) अये अयमितश्चेदिपतिः । (प्रकाशम्)

सीतास्वयंवरनिदानधनुर्धरेण दग्धात् पुरत्रितयतो विभुना भवेन।
खण्डं निपत्य भुवि या नगरी बभूव तामेष चैद्यतिलकस्त्रिपुरीं प्रशास्ति ॥ ३८ ॥

किंच—

पाणिप्रथैर्बकुलसुमनःसौरभं यो मिमीते
दम्पत्योर्यः सुरतचरिते सौख्यसंख्यां करोति ।
यश्च ज्योत्स्नां चुलुकपुटकैः काममाचामतीन्दोः
शक्तः स्तोतुं स खलु निखिलान्यस्य कीर्त्यद्भुतानि ॥ ३९ ॥

हेमप्रभा—अमन्दमअणमअदाणपअडह्याले डह्यालेसरो एसो ता इमं पेच्छ तिरिच्छदंसणलीलाणिमीलिअकालिमेण कलिअससिहण्डपज्जिमेण दिट्ठिच्छडाकडक्खेण । [अमन्दमदनमददानप्रकटभाले दशार्णेश्वर एष तदिमं प्रेक्षस्व तिर्यग्दर्शनलीलानिमीलितकालिम्ना कलितशशिखण्डपाण्डिम्ना दृष्टिच्छटाकटाक्षेण ।]

सीता—जो सो णम्मदालङ्किदमण्डलाहिपई । [यः स नर्मदालङ्कृतमण्डलाधिपतिः ।]

प्रहस्त—मूर्ख ! रावण की नकल करता है। किन्तु तू ने इन्द्र को बन्दी नहीं बनाया है।

प्रतीहारी (दूसरी ओर देखकर स्वगत) अरे ! इधर चेदिनरेश हैं (प्रकट)

सीता के स्वयंवर के निदानभूत पिनाक धनुष को धारण करने वाले भगवान् शंकर ने त्रिपुर को जला दिया। उस त्रिपुर का जो खण्ड गिरकर नगर बना उसी त्रिपुरी का यह चेदिदेश का अलंकारभूतनरेश पालन करता है ॥ ३८ ॥

और जो हाथ फैलाकर पुष्प के सौरभ को माप सके, दम्पतियों के सुरत-सुख की गणना कर सके, चन्द्र की ज्योत्स्ना को चुल्लू से पी सके वही इसकी अद्भुत कीर्तियों को गिन सकता है ॥ ३९ ॥

हेमप्रभा—जिसके भाल से अमन्द काम-मद का दान (मद) प्रकट हो रहा है ऐसी हे सखि ! इस दशार्ण देश के अधिपति को तिर्यक् देखने की लीला से निमीलित कालिमा वाले चन्द्रखण्ड की श्वेतता को प्रकट करनेवाले दृष्टिच्छटा के कटाक्ष से देखो।

सीता—यह नर्मदा से अलङ्कृत देश का स्वामी है।

प्रतिहारी—

मानी गिरिशकोदण्डमयमाकलयन् दृशा।
सद्यो निभृतमुन्मार्ष्टि निजदोर्दण्डमण्डलम् ॥ ४० ॥

रावणः—अहो मेकलपतेः स्वपरिच्छेदवैदग्धी।

प्रतीहारी—(अन्यतोऽवलोक्य स्वगतम्) अयमितः सिंहलेश्वरः। (प्रकाशम्)

यस्याम्बुधिः स भगवान् स च रोहणाद्रिः
कोशाविमौ मदनमन्त्रपदैर्वचोभिः।
सोऽयं प्रियो यदि हसन् मृदु सिंहलेन्द्रः
क्रीडानिधानमनुरोधपुरं धिनोति ॥ ४१ ॥

किंच—

यस्योच्चण्डासिदण्डप्रहतिविदलितैर्वैरिवर्गैरलक्ष्य-
क्षिप्तास्त्रोद्भ्रान्तवीरप्रतिबलकलनाशून्यसंग्राममार्गे।
जीवत्संस्कारशक्त्या भुवि चरति चिरात्कृत्तबन्धे कबन्धे
दत्तो देवीभवद्भिः सह सुरकुसुमैरात्मनः साधुवादः ॥ ४२ ॥

हेमप्रभा—असमन्तजोव्वणारोहणारम्भे रोहणमाणिक्कगिरिणो परमेसरो एसो ता इमं णिज्झाअन्ती कुण खणविसट्टकन्दोट्टणिउरम्बकरम्बिअं अम्बरद्धन्तं।
[असमस्तयौवनारोहणारम्भे रोहणमाणिक्यगिरेः परमेश्वर एष तदिमं निध्यायन्ती कुरु क्षणविशदकमलनिकुरम्बकरम्बितमम्बरार्द्धान्तम्।]

प्रतीहारी— यह मानी शंकर के धनुष को आँख से देखते (मापते) हुये सद्यः अपने बाहुमण्डल को समेट लेता है।

रावण—मेकलराज की अपनी विवेचना-चतुरता धन्य है।

प्रतीहारी—(दूसरी ओर देखकर) (स्वगत) ये इधर सिंहलेश्वर है। (प्रकट)

जिसके ऐश्वर्यशाली सुप्रसिद्ध समुद्र और वह रोहण पर्वत ये दोनों कोश हैं वही सिंहलेन्द्र भी कामव्यञ्जक शब्दों के साथ कोमलतापूर्वक हँसता हुआ विलास के भण्डार अन्तःपुर को अनुरक्त करता है ॥ ४१ ॥

और—जिसकी तीक्ष्ण तलवार के प्रहार से छिन्न होकर देवत्व को प्राप्त होने वाले शत्रु-समूह रणक्षेत्र में अलक्ष्य अस्त्रों के प्रक्षेप से व्याकुल वीरों और शत्रुयोद्धाओं के पलायन के कारण संग्राम-मार्ग के शून्य होने पर जीवित संस्कार के वश कबन्धों के निर्बाध विचरण करने पर पुष्पों के साथ अपने को ही साधुवाद दिये ॥ ४२ ॥

हेमप्रभा—असम्पूर्ण यौवन के आरोहण की आरम्भभूता (हे सखि) ! रोहणमाणिक्य पर्वत का यह स्वामी है अतः इसको देखती हुई क्षण भरके लिए आकाश के अर्ध भाग को विकसित कमलों की माला से युक्त करो।

सीता—जो कोत्थुहसगोत्तरअणरइदसेहरालङ्किदसिरुद्देसो। [यः कौस्तुभसगोत्ररत्नरचितशेखरालङ्कृतशिरउद्देशः।]

प्रतिहारी—(स्वगतम्) अनिश्चिन्वता चित्तेन मन्दोद्यम इवायम्। (प्रकाशम्)

अस्य चण्डीशकोदण्डे स्वदोर्दण्डे च भूपतेः।
गतागतशते संख्यं विदधाते विलोचने॥ ४३॥

रावणः—सिंहलपते! किमिदं संदिह्यते न च संदेहदेहो वीरव्रतनिर्वाहः।

प्रतीहारी—(अन्यतोऽवलोक्य स्वगतम्) कथं मथुरानाथः। (प्रकाशम्)

हन्तुं रिपूनवतरिष्यति शार्ङ्गपाणिः कंसप्रलम्बवृषकेशिमुखानिहेति।
यस्यामशुश्रुम पुराणकवेर्वचांसि तामेष पार्थिवपतिर्मथुरां प्रशास्ति॥ ४४॥

किंच—

दृष्ट्वा व्योमनि बालमभ्रशकलं लेह्यं जगच्चक्षुषां
नीपानां कुसुमावतंसजननं नृत्यप्रदं बर्हिणाम्।
यात्रावेशहरं जिगीषुमनसामस्य स्फुटत्कञ्चुकः
कान्ताभिः सुहृदां द्विषां च युगपत् प्राप्तः प्रमोदोत्सवः॥ ४५॥

सीता—कौस्तुभ के सगोत्र रत्न से इसके शिर का शेखर अलंकृत है।

प्रतिहारी—(स्वगत) अनिश्चय चित्त से यह ढीला उद्यम वाला लगता है (प्रकट) इस राजा के दोनों नेत्र शिव के धनुष पर तथा अपनी भुजाओं पर सैकड़ों वार गमनागमन कर रहे हैं॥ ४३॥

रावण—सिंहलेश्वर! यह सन्देह क्या कर रहे हो? संशयात्मा शरीर से वीरव्रत का निर्वाह नहीं होता।

प्रतीहारी—(दूसरी ओर देखकर) (स्वगत) क्या ये मथुरानाथ हैं! (प्रकट)

जिस मथुरा के बारे में हम पुराण कवि की वाणी सुनते हैं कि यहाँ कंस, प्रलम्ब, वृष, केशि इत्यादि शत्रुओं को मारने के लिये विष्णु अवतार लेंगे उसी मथुरा का यह नरेश पालन करता है॥ ४४॥

और—आकाश में संसार की आँखो द्वारा पेय, कदम्बों की पुष्प शोभा को उत्पन्न करने वाले, मयूरों को नृत्योत्सव देने वाले तथा विजय की अभिलाषा रखने वालों की युद्ध यात्रा के वेश को निकलवाने वाले मेघ के छोटे से खण्ड को देखकर इसके मित्रों तथा शत्रुओं की कामिनियों को भी कञ्चुक को हटाने वाला आनन्दोत्सव एक साथ ही प्राप्त हुआ॥ ४५॥

हेमप्रभा—णिसग्गसव्वङ्गमहुरे महुरेक्कालङ्करणं एसो ता इमस्सिं णिवेसअ दिट्ठिं जइ तुमं णिरुवमरूवरेहादंसणुक्कण्ठाविसंठुलमाणसासि। [निसर्गसर्वाङ्गमधुरे मधुरैकालङ्करणमेष तदस्मिन्निवेशय दृष्टिं यदि त्वं निरुपमरूपरेखादर्शनोत्कण्ठाविसंष्ठुलमानसाऽसि।]

सीता—जो विन्दावणविहारदुल्ललिओ। [यो वृन्दावनविहारदुर्ललितः।]

प्रतीहारी—(स्वगतम्) कथमधिगतकोदण्डपाण्डित्योप्ययमुदास्ते। (प्रकाशम्)

आरोपयतु वा मा वा राजैष हरकार्मुकम्।
सूच्यतेऽस्य धनुर्योग्या प्रकोष्ठकिणमालया॥ ४६॥

रावणः—(सोपहासम्) कथं मधुराधिपतिर्महाधन्वी न सुरचापारोपणकर्मणि परमप्रवीणः।

प्रतीहारी—(अन्यतोऽवलोक्य स्वगतम्) अयमितोऽवन्तिपतिः। (प्रकाशम्)

निर्वाणैकरुचिर्भवश्च भगवांस्त्रैलोक्यलीलागुरु-
र्देवोऽसौ मकरध्वजश्च वसतो विश्रान्तवैरव्रतम्।
यस्यामाश्रमतृष्णयैव नगरीमेकासनीं तामसौ
शिप्राम्भःपरिखावतीं नरपतिः सत्यव्रतो रक्षति॥ ४७॥

हेमप्रभा—ऐ प्रकृत्या सर्वाङ्ग सुन्दरी ! यह मथुरा का एक मात्र अलंकार है। यदि तुझे निरुपम रूप देखने की इच्छा है तो इस मधुर को देखो।

सीता—जो वृन्दावन में विहार से दुर्ललित है।

प्रतीहारी—(स्वगत) क्यों धनुष में पाण्डित्य प्राप्त भी यह उदास है? (प्रकट)

यह राजा हरचाप का आरोपण करे या न करे किन्तु इसका मणिबन्ध की किण (गाँठों) से धनुष की सामर्थ्य द्योतित होती है॥ ४६॥

रावण—(उपहासपूर्वक) महाधनुर्धारी मथुरा-नरेश शिवधनुष के आरोपण में परम प्रवीण क्यों नहीं है?

प्रतीहारी—(दूसरी ओर देखकर स्वगत) इधर ये अवन्तिनरेश हैं (प्रकट)

शिप्रा नदी के जल से परिखावाली उस उज्जयिनी का यह सत्यव्रत नामक राजा पालन करता है जहाँ निर्वाण में एकमात्र रुचि रखने वाले भगवान् शंकर तथा त्रैलोक्य की लीला के आचार्य कामदेव वैर छोड़कर मानों आश्रम की तृष्णा से एकत्र वसते हैं॥ ४७॥

किंच—

वीरश्रीवेणिबन्धो भुजभुजगफणा शत्रुषु भ्रूपताका
देवस्य प्रेतभर्तुः पृथुतरपृतनाह्रीपिनीवीचिलेखा।
क्रोधाग्नेर्धूमवर्तिः सुरयुवतिदृशां शृङ्खलादाम दीर्घं
लक्ष्मीलीलाकटाक्षः प्रतिसमरमभूदस्य जैत्रः कृपाणः ॥ ४८ ॥

हेमप्रभा—रहचलणचडुलणिअम्बुद्देसविसाले विसालेक्कसाभिलासो एसो ता कीरउ इमस्सिं क्खणमण्डलतण्डवपण्डिच्चपत्तलब्भूलदालङ्कदा दिठ्ठी। [रथचरणनितम्बोद्देशविशाले विशालैकसाभिलाष एष तत् कीर्यतास्मिन् क्षणमण्डलताण्डवपाण्डित्यपत्रलभ्रूलतालङ्कृता दृष्टिः।]

सीता—जो तिउरडहणठ्ठाणठ्ठिअमहाकालणामन्तरिअखण्डपरसुणामपवित्तिअणिहालवट्टो। [यस्त्रिपुरदहनस्थानस्थितमहाकालनामान्तरितखण्डपरशुनामपवित्रितनिभालपट्टः।]

प्रतीहारी—(स्वगतम्) कथं धनुरारोपणपराङ्मुखोऽयम्। (प्रकाशम्)

नेत्रत्रिभागमात्रेण निरीक्ष्य हरकार्मुकम्।
एष स्थितो वलत्कण्ठः सुहृदालापतत्परः ॥ ४९ ॥

रावणः—हंहो कुशस्थलीनाथ ! कोऽयमनाकलितकालपरिणामजर्जरेऽपि धनुष्यनध्यवसायस्तव।

और—इसकी विजयिनी तलवार प्रत्येक युद्धों में वीरों की श्री का केशपाश थी, भुजा रूपी सर्प की फण थी, शत्रुओं पर कुटिल भौंह रूपी पताका चिह्न थी, देव यमराज की महती सेना रूपी नदी की लहर थी, क्रोधाग्नि की धूमलेखा थी, देवाङ्गनाओं की आँखों की लम्बी करधनी थी, तथा लक्ष्मी का सविलास कटाक्ष थी ॥ ४८ ॥

हेमप्रभा—हे रथ के चक्र की तरह विशाल नितम्बों वाली ! विशाला (उज्जयिनी) में एकमात्र अनुराग रखने वाले इस पर क्षण भर के लिए मण्डलाकार चलने की कला में कुशल भ्रूलता से शोभित दृष्टि करो।

सीता—जो त्रिपुर के दाह के स्थान पर स्थित महाकाल नाम से विख्यात शिव के नाम से अङ्कित ललाट फलक वाला है ?

प्रतीहारी—(स्वगत) धनुष के आरोपण में यह पराङ्मुख क्यों है ? (प्रकट)

नेत्र के त्रिभाग से हर-चाप को देखकर मित्रों से बात करता हुआ चञ्चल कण्ठ वाला यह स्थित है ॥ ४९ ॥

रावण—हा ! कुशस्थली नरेश ! अगणित समय का होने से इस जीर्ण धनुष में भी आपका कैसा अनध्यवसाय।

प्रतीहारी—(अन्यतोऽवलोक्य स्वगतम्) कथमयं क्रथकैशिकाधिपतिः । (प्रकाशम्)
वाग्देवता वसति यत्र रसप्रसूतिर्लीलास्पदं भगवतो मदनस्य यच्च ।
प्रेङ्खद्विदग्धवनिताञ्चितराजमार्गं तत्कुण्डिनं नगरमेष विभुर्बिभर्ति ॥ ५० ॥
किच—

रूपाधारैकवेधाः कुलगृहमुचितं चातुरीचेष्टितानां
कन्दर्पाह्वानविद्या हृदयहृतिकरो रागिणां मुक्तिहेतुः ।
श्रुत्वैतन्नाम नष्टेष्वरिषु रणभुवो दिव्यभावाक्षमेषु
व्यर्थः स्वःसुन्दरीणां वरवरणविधौ वेषलाभो बभूव ॥ ५१ ॥

हेमप्रभा—सिणिद्धसामलघणकुडिलकुन्दले कुन्दलेसरो एसो ता इमस्स दंसणेण सहलीकुरु पसइसमप्पमाणं णअणणिम्माणम् । [स्निग्धश्यामलघनकुटिलकुन्तले कुन्तलेश्वर एष तदस्य दर्शनेन सफलीकुरु प्रसृतिसमप्रमाणं नयननिर्माणम् ।]

सीता—जो मरहठ्ठवरिट्ठो [यो महाराष्ट्रवरिष्ठः ।]

प्रतीहारी—(स्वगतम्) अये प्रकृतिपराधीनं चरितमेतस्य । (प्रकाशम्)

हरचापसमारोपे प्रेरितोऽप्यनुजीविभिः ।
स्वरूपं वर्णयत्येष कुन्तविद्याविशारदम् ॥ ५२ ॥

प्रतीहारी—(दूसरी ओर देखकर स्वगत) क्या यह क्रथकैशिकराज है ? (प्रकट)

यह विभु उस कुण्डिन नगर का शासन करता है, जहाँ वाग्देवता बसती हैं, रस की उत्पत्ति होती है, जो भगवान् कामदेव का लीला-स्थान है और जहाँ का राजमार्ग चल रही विदग्धा वनिताओं के कटाक्ष से सुशोभित है ॥ ५० ॥

तथा—

जिसके रूप का आश्रय केवल ब्रह्मा हैं, विलास-चेष्टाओं का जो उचित आवास-गृह है, जो कामदेव के उद्दीपन की विद्याओं से हृदय को मोह लेता है, जो अनुरागियों को अपवर्ग का उपदेश देने वाला है इसके नाम को सुनकर युद्धभूमि से शत्रुओं के भाग जानेपर देवत्व प्राप्त करने में असमर्थ होने से अप्सराओं की वरवरण के लिए की गयी शृङ्गार की सज्जा व्यर्थ हो गयी ॥ ५१ ॥

हेमप्रभा—स्निग्ध श्यामल घन के समान कुटिल केशों वाली सीते ! ये कुन्तलेश्वर हैं इन्हें देखकर विस्तार के समान प्रमाण वाले (अर्थात् विस्तारानुरूप) नयनों के निर्माण को सफल करो ।

सीता—ये महाराष्ट्र श्रेष्ठ हैं ।

प्रतीहारी—(स्वागत) अरे ! इसका चित्र तो प्रकृति के पराधीन है (प्रकट)

सेवकों के द्वारा शंकर के चाप को चढ़ाने के लिये प्रेरित किये जाने पर भी यह अस्त्रविद्या में पटु (केवल) स्वरूप का वर्णन कर रहा है ॥ ५२ ॥

रावणः—अति हि नाम शैशवोचितमाचरितमनेन।

प्रतीहारी—(अन्यतोऽवलोक्य स्वगतम्) कथमयं काञ्चीपुरपरमेश्वरः। (प्रकाशम्)

देवस्य मन्मथजितो नयनानलोत्थे जातः कुले कुलवतां प्रवरः कुमारः।
कृत्स्नत्रिलोकभवनाभरणैर्यशोभिः काञ्च्याः पुरः पतिरयं पुरतश्चकास्ति ॥ ५३ ॥

किंच—

वीराश्चण्डासिदण्डप्रहरणसुहृदः संमुखं संपतन्तो
ये जाताः पात्रमाजिष्वनिमिषसुमनोदामदानोत्सवस्य।
अस्य प्रेङ्खत्क्षुरप्रप्रहृतिभिरमरीभूय तैरेव भूयः
शेषाणां मूर्ध्नि मुक्ताः सुरकुसुममहावृष्टयः पुष्टभृङ्गाः ॥ ५४ ॥

हेमप्रभा—णवकञ्चनकञ्चिदामालङ्किदकञ्चिदेसे कञ्चिदेसेसरो एसो ता इमस्सं वअणहरिणङ्के विसम्मउ दंसिअमअणवाणसिठी दिठ्ठी। [नवकाञ्चनकाञ्चिदामालङ्कृतकाञ्चिदेशे काञ्चिदेशेश्वर एष तदस्य वदनहरिणाङ्के विश्राम्यतु दर्शितमदनबाणसृष्टिर्दृष्टिः।]

सीता—जो चन्दसेहरप्पसादीकिदकुलक्कमागदवुसहलच्छणो। [यश्चन्द्रशेखरप्रसादीकृतकुलक्रमागतवृषभलाञ्छनः।]

प्रतीहारी—(स्वगतम्) कथमप्रमाणीकृतेन्द्राणीशाप इवायम्। (प्रकाशम्)

रावण—इसने अत्यन्त शैशवोचित व्यवहार किया।

प्रतीहरी—(दूसरी ओर देखकर स्वगत) क्या यह काञ्चीपुर के स्वामी है (प्रकट)

भगवान् शंकर के नयनाग्नि से उत्पन्न कुल में कुलीनों में श्रेष्ठ उत्पन्न काञ्ची नरेश यह कुमार संपूर्ण त्रैलोक्य रूपी भवन के अभरणभूत यश से युक्त का सुशोभित है ॥ ५३ ॥

और—तीक्ष्ण तलवार अस्त्र ही जिनका सहायक है ऐसे जो वीर युद्धों में इसके चमकीले क्षुरप्र नामक बाणों के प्रहार से सम्मुख गिरकर देवताओं की पुष्पमाला प्रदान करने की प्रसन्नता के पात्र हुए वे ही शेष (मरने वाले वीरों) के सिरपर पारिजात के पुष्पों की अत्यधिक वृष्टि किया करते थे ॥ ५४ ॥

हेमप्रभा—नवीन स्वर्ण की काञ्ची से अलंकृत कमरवाली सीते ! ये काञ्चीदेश के राजा हैं। इनके वदनचन्द्र पर कामबाण को प्रदर्शित करने वाली तेरी दृष्टि पड़े।

सीता—ये शंकर की प्रसन्नता से वृष चिह्न वाले कुल में उत्पन्न हैं—

प्रतीहारी—(स्वगत) यह इन्द्राणी के अप्रमाणी कृत शाप की भाँति क्यों है ? (प्रकट)

चापारोपमपास्यैव स्थितः सीतास्वयंवरे।
दृश्यते भूभुजां नेत्रैरेष रोषकषायितैः ॥ ५५ ॥

रावणः—(सक्रोधम्) रेरे निर्मर्याद ! स्वयंवरसमयं विभिन्दन्नेष न भवसि। (विभाव्य सलज्जम्) नन्वेष भवसि।

प्रहस्तः—(विहस्य)

अस्य स्वयंवरविभेदसमुत्सुकस्य दृष्ट्वा स्फुरत्पुलकपक्ष्मलमङ्गमङ्गम्।
प्रत्युल्लसन्ति च रुषो विलयं च यान्ति प्रेक्षाप्रपञ्चमनुसृत्य दशाननस्य ॥ ५६ ॥

प्रतीहारी—(अन्यतोऽवलोक्य स्वगतम्) कथमयं वीरश्रृङ्गारललितलम्पटो लाटेश्वरः। (प्रकाशम्)

देवात् कुशेशयभुवो भुवनैकबन्धोः संध्याविधौ कलयतश्चुलुकं जलस्य।
यो जातवान् प्रतिमया स मुनिश्चुलुक्यस्तस्यान्वयैकतिलको नृप एष लाटः ॥ ५७ ॥

किंच—

हेलावल्गितकण्ठनालविलसन्मुक्तालतालङ्कृतं
वासां संदधतीभिरेकविजयी सोऽयं द्विषां धामसु।
भृङ्गाग्रप्रहकृष्टकेतकदलस्पर्द्धावतीनां दृशां
वारस्त्रीभिरदभ्रविभ्रमवशादातृप्ति पात्रीकृतः ॥ ५८ ॥

सीता के स्वयंवर में चापारोपण को छोड़कर खड़ा हुआ यह राजाओं की क्रोध से रक्त दृष्टियों से देखा जा रहा है ॥ ५५ ॥

रावण—(सक्रोध) रे रे अमर्यादित ! स्वयंवर की शर्त को तोड़ता हुआ तुम नहीं रहेगा (सोचकर लज्जा से) नहीं रहेगा।

प्रहस्त—(हँसकर)—

स्वयंवर का भेद करने के इच्छुक इसकी प्रकट फुलक से रोमाञ्चित शरीर को देखकर इस रावण की (आखें) नाटक के प्रपंच को यादकर पुलकित हो रही हैं तथा क्रोध से स्तब्ध हो रही हैं ॥ ५६ ॥

प्रतीहारी—(दूसरी ओर देखकर स्वगत)

क्या यह वीर-श्रृङ्गार में कुशल लम्पट लाटेश्वर (गुर्जरेश्वर) है ? (प्रकट)—

संसार के बन्धु कुशजन्मा भगवान् कार्तिकेय के सन्ध्या करते समय जल का चुल्लू लेते समय जो प्रतिमा से चुलुक्य मुनि उत्पन्न हुए उन्हीं के वंश का यह तिलकभूत लाट-नरेश है ॥ ५७ ॥

और—वही यह एकमात्र विजयी (लाटनरेश) (विजित) शत्रुओं के गृहों में सविलास हिलती हुई कण्ठनाल में शोभायमान मुक्तावली से अलंकृत माला को धारण करने वाली वाराङ्गनाओं द्वारा अतिशय विलास के कारण भृङ्गों से युक्त अग्रभाग वाले केतकी की पंखुड़ी से स्पर्द्धा करने वाले नेत्रों से तृप्ति पर्यन्त देखा गया ॥ ५८ ॥

हेमप्रभा—अठ्ठमीचन्दसुन्दरललाडे लाडेसरो एसो ता इमस्सिं सामलधवल-पवालसच्छसुरचापरिछोलिच्छाअं विच्छाअन्ता दिज्जन्तु लडहकडक्खविक्खेवा। [अष्टमीचन्द्रसुन्दरललाटे लाटेश्वर एष तदस्मिन् श्यामलधवलप्रवालस्वच्छसुरचापकान्तिच्छायामपि छादयन्तो दीयन्तां सुन्दरकटाक्षविक्षेपाः।]

सीता—जो पइदिणमण्डणमेत्तवावारे सत्तचित्तो। [यः प्रतिदिनमण्डनमात्रव्यापारे सक्तचित्तः।]

प्रतीहारी—(स्वगतम्) स्वभावेन मायावानयम्। (प्रकाशम्)

मार्जनाव्याजलग्नेन करेणोत्सरता पुनः।
न गृहीतं न च त्यक्तमनेन हरकार्मुकम्॥ ५९॥

रावणः—सत्यं श्रृंगारलीलालम्पट एवायं लाटराजः। किमत्र वीरव्यपदेशेन।

प्रतीहारी—(अन्यतोऽवलोक्य स्वगतम्) कथमयं कुशस्थलीनाथः। (प्रकाशम्)

विश्वामित्रमहामुनेर्यदजनि ब्रह्मण्यलाभात्पुरा
क्षात्रं गोत्रमयं तदादिनृपतिर्दिग्विश्रुतः सुश्रुतः।
प्रोक्तं येन नृणां महाकरुणया चित्रं चिकित्सामृतं
कीर्तिस्तम्भविभूषणाश्च ककुभो यद्वाहिनीशैः कृताः॥ ६०॥

हेमप्रभा—अष्टमी के चन्द्रमा के समान सुन्दर ललाट वाली सीते! ये लाटेश्वर हैं। इन पर श्यामल और धवल प्रवाल की भाँति स्वच्छ तथा इन्द्रधनुष की कान्ति की छाया को भी ढकने वाले कटाक्षों को डालो।

सीता—यह प्रतिदिन अलंकरण में ही आसक्त चित्त रहता है।

प्रतीहारी—(स्वगत) स्वभाव से ही यह मायावान् है। (प्रकट)

पोंछने के मिस (बहाने) में लगे आगे बढ़ते हाथ से इसने हर-चाप को न तो ग्रहण ही किया, और न छोड़ा ही॥ ५९॥

रावण—सचमुच यह लाटनरेश शृङ्गार की लीला में लम्पट है। इसे वीर कहने से क्या लाभ?

प्रतीहारी—(दूसरी ओर देखकर) क्या ये कुशस्थली-नरेश हैं? (प्रकट)

महामुनि विश्वामित्र से उनके ब्राह्मण होने से पहले जो क्षत्रिय गोत्र उत्पन्न हुआ उसके आदि राजा दिशाओं में विश्रुत सुश्रुत हुए उन्होंने मनुष्यों पर अत्यन्त दया कर विचित्र चिकित्सा रूपी अमृत का वर्णन किया तथा उनके सेनापतियों ने दिशाओं को कीर्तिरूपी स्तम्भ से विभूषित किया॥ ६०॥

किंच—

वासो जाम्बवपल्लवानि जघने गुञ्जास्रजो भूषणं
हस्तस्वस्तिकदानमङ्गलविधिर्धातुद्रवो मण्डनम् ।
उत्तंसः शितिकण्ठपिच्छलतिका वेषोऽयमल्पैर्दिनै-
रस्यारातिवधूजनेन शबरीसंवासतः शिक्षितः ॥ ६१ ॥

हेमप्रभा—करअलगेज्झमज्झदेसे मज्झदेसणरिन्दो एसो ता इसं कोदूहलफुल्लाविअणअणभरिज्जमाणवअणमण्डला पुलोएसु । [करतलग्राह्यमध्यदेशे मध्यदेशनरेन्द्र एष तदिमं कौतूहलफुल्लितनयनभरितवदनमण्डला विलोकय ।]

सीता—जो मन्दरान्दोलिददुद्धसिन्धुसमुप्पण्णधण्णन्तरिचरमावदारस्स दिवोदासस्स पढमसिस्सो । [यो मन्दरान्दोलितदुग्धसिन्धुसमुत्पन्नधन्वन्तरिचरमावतारस्य दिवोदासस्य प्रथमशिष्यः ।]

प्रतीहारी—

वामहस्तधृतेशानधनुरन्येन पाणिना ।
एष ज्यामटनीं नेतुं न शक्नोति न मुञ्चति ॥ ६२ ॥

रावणः—(विहस्य) हंहो धनुर्वेदविद्याकुश्रुत सुश्रुत ! विविधेषु व्याधिषु भिषज्यतु भवान् न पुनः खाण्डपरशवे धनुषि ।

प्रतीहारी—(समन्तादवलोक्य स्वगतम्) कथमथैते राजानः सर्वेऽप्यहंपूर्विकया पार्वतीपतेर्भगवतो धनुरारोपयितुमुपस्थिताः । (प्रकाशम्)

और—इसके शत्रुओं की स्त्रियों ने (पतियों के पराजित होने के बाद जंगल में निवास से) शबरस्त्रियों के साथ रहने से जघनस्थल में जामुन के पल्लवों का वस्त्र, गुञ्जाओं का आभूषण, हाथ की स्वस्तिक दानमुद्रा आंचल तथा मयूरों की पूछों का कर्णभूषण यह वेष थोड़े ही दिनों में सीख लिया ॥ ६१ ॥

हेमप्रभा—ऐ करतल से ग्राह्य मध्य देशवाली सीते ! मध्यदेश के ये नरेश हैं । कुतूहल से प्रफुल्लनयनों वाले मुखवाली तुम इन्हें देखो ।

सीता—ये मन्दराचल से मथे गये दुग्ध समुद्र से उत्पन्न धन्वन्तरि के अवतार दिवोदास के प्रथम शिष्य हैं ।

प्रतीहारी—यह वाम हस्त से शंकर का धनुष पकड़ कर अन्य हाथ से प्रत्यञ्चा को धनुष की कोटि (किनारे) पर लाने में समर्थ नहीं है और न छोड़ ही रहा है ॥ ६२ ॥

रावण—(हँसकर) अरे ! धनुर्वेद-विद्या में कुत्सितरूप में भिज्ञ सुश्रुत ! आप विविध व्याधियों में औषधि करें शंकर के धनुष पर नहीं ।

प्रतीहारी—(चारों ओर देखकर स्वगत) क्यों ! ये सभी राजा 'मैं पहले मैं पहले' करके शंकर के धनुष को चढ़ाने के लिये उपस्थित हैं (प्रकट)

औण्ड्रश्चण्डासिरश्मिर्मगधविभुरसावेष काम्बोजराजः
सौराष्ट्रोऽयं नरेन्द्रः शकनृपतिरितोऽप्यत्र नेपालपालः।
अन्ध्राणामीश्वरोऽग्रे सदसि समुदिताः क्ष्माभृतः सर्व एते
सीतायामिन्दुमौलेर्धनुषि च सरसाः प्रेमकौतूहलाभ्याम् ॥ ६३ ॥

हेमप्रभा—पेरन्तघोलन्तहारलदालङि्कदघणत्थणि घणत्थणिदपअण्डगम्भीर-भीसणे सअलमहीमण्डलमण्डणेक्कपरक्कमे महामहीवइणो सञ्चरणचञ्चुरचञ्च-रीअचञ्चुसंपुडठ्ठिअसिहासंचिअचावलपुण्डरीअगब्भदलदोणीणं सरिच्छेण तिरि-च्छेण अ सवणावदंसत्तणं दंसअन्तेण अच्छिविच्छोहेण जहिज्जं पेच्छ। [प्रान्तघूर्ण-द्धारलतालङ्कृतघनस्तनि घनस्तनितप्रचण्डगम्भीरभीषणान् सकलमहीमण्डलमण्डनैक-पराक्रमान् महामहीपतीन् संचरणचञ्चुरचञ्चरीकचञ्चुसंपुटस्थितशिखासंचितचापल-पुण्डरीकगर्भदलद्रोणीनां सदृक्षेण तिरश्चा च श्रवणावतंसत्वं दर्शयताऽक्षिविक्षोभेण यथेच्छं प्रेक्षस्व।]

सीता—कीस उण ण्दे णरिन्दा सअलखत्तिअमाणखण्डणखण्डपरसुचावारोवण-मुहाडम्बरेण विडम्बअन्ति अत्ताणम्। [कथ पुनरेते नरेन्द्राः सकलक्षत्रियमानखण्डन-खण्डपरशुचापारोपणमुखाडम्बरेण विडम्बयन्त्यात्मानम्।]

प्रतीहारी—एकतरे पृथिवीपालाः।

एकाग्रया धिया ध्येयं न करस्पर्शमर्हति।
इति भक्त्या नमन्त्येते केवलं हरकार्मुकम् ॥ ६४ ॥

ये प्रचण्ड तलवार वाले ओण्ड्रनरेश हैं, ये मगधेश्वर हैं, ये काम्बोजनरेश हैं, ये सौराष्ट्रनरेश हैं, इधर शकराज है, ये नेपालनरेश हैं, ये आन्ध्रनरेश हैं—सभा में सभी राजा सीता तथा शिवधनुष में प्रेम और कुतूहल से आसक्त होकर प्रकट हुये हैं ॥ ६३ ॥

हेमप्रभा—किनारे पर हिल रहे हार की लता से अलङ्कृत स्तनों वाली सीते! घनगर्जन तुल्य प्रचण्ड एवं भीषण तथा समस्त पृथ्वीमण्डल के मण्डनभूत पराक्रमशाली इन राजाओं को संचरणशील भ्रमरों के चञ्चु सम्पुट पर स्थित शिखा के समान संचित चपलता वाली कमल के गर्भ की पत्राकार द्रोणियों के समान तिरछी तथा कर्णावतंस बनती हुई नेत्रों की चपलता से इच्छानुसार देखो।

सीता—क्यों ये राजा समस्त राजाओं के मान को खण्डित करने वाले शंकर के धनुष के आरोपण के आडम्बर से अपने को लज्जित करा रहे हैं?

प्रतीहारी—एक ओर तो ये राजा—

एकाग्र बुद्धि से ध्येय यह हरचाप करस्पर्श के योग्य नहीं यह सोचकर इसे केवल प्रणाम करते हैं ॥ ६४ ॥

अन्यतरे तु राजानः ।

आरोपणाय कलया कार्मुके कलितेऽप्यमी ।
तद्भारभुग्नसर्वाङ्गा जानुभिर्जगतीं गताः ॥ ६५ ॥

रावणः—(विहस्य) परं नामीभिरारोपितमौमापतं धनुरात्मापि नारोपितः प्रवीरजनसंख्यासु ।

प्रतीहारी—(स्वगतम्) कथमेते निखिलक्षत्रियाः क्षत्रियजनोचितेऽपि चापारोपणकर्मणि वितथसामर्थ्या वर्त्तन्ते । तदेतेषु परमनाकलितसत्त्वसारो विकर्त्तनकुलकुमार आस्ते । यद्वा किमनेनापि ।

यस्य वज्रमणेर्भेदे भिद्यन्ते लोहसूचयः ।
करोतु तत्र किं नाम नारीनखविलेखनम् ॥ ६६ ॥

(विचिन्त्य) भवतु तथापि संकीर्तयाम्येनम् । अनाकलितसारा हि वीरप्रकाण्डप्रसूतिः ।

रावणः—अनारोपितमसंभावनया लङ्केश्वरेण क्षत्रियैरप्यसामर्थ्येन मन्ये वृषध्वजायुधं दृप्यति । (धनुरुद्दिश्य) रेरे पुराणवेणुदलद्द्रोणीनिर्माण ।

मुक्तं मयाऽसि हरकार्मुक यत्तदानीं मा तेन भूद् द्रढिमदर्पपरिग्रहस्ते ।
त्वद्भङ्गमार्गपटुभिः स पुनः प्रकोष्ठैर्नन्वेष तिष्ठति हठैकरुचिर्दशास्यः ॥ ६७ ॥

और दूसरे राजा—धनुष के आरोपण में संलग्न होकर भी उसके भार से त्रुटित सर्वाङ्ग वाले होकर घुटने के बल पृथ्वी पर गिर गये ।। ६५ ॥

रावण—(हँसकर) किन्तु इन लोगों ने शंकर के धनुष को न चढ़ाकर अपने को भी प्रवीरों की गणना में नहीं रखा ।

प्रतीहारी—(स्वगत) क्या ये सभी क्षत्रिय क्षत्रियों के उपयुक्त चापारोपण-कार्य में व्यर्थ पौरुष वाले हो गये । परन्तु इनमें जिसके पौरुष की थाह नहीं चली है ऐसा विकर्तन (सूर्य) कुल का कुमार है । अथवा इससे भी क्या—

जिस वज्रमणि के भेदन में लोहे की सुइयाँ टूट जाती है वहाँ स्त्रियों के नख की कुरेद क्या करेगी ? ॥ ६६ ॥

(सोचकर) फिर भी इसे कहूँगी । वीर पुरुषों की सन्तानों के पौरुष की थाह नहीं ।

रावण—रावण द्वारा (शंकर के) अपमान को समझकर तथा क्षत्रियों द्वारा असामर्थ्य से न चढ़ाया गया मानों यह शंकर का धनुष दर्प कर रहा है (धनुष से) रे रे प्राचीन बाँस के दलों से निर्मित धनुष !

मैंने उस समय जो शंकर का धनुष समझ कर तुझे छोड़ दिया उससे तुझे अपनी कठोरता का दर्प न हो । तुम्हारे तोड़ने में पटु इन भुजाओं से यह हठीला रावण युक्त है ॥ ६७ ॥

(इत्युत्थातुमिच्छति)

प्रहस्तः—देव ! नेयं जानकी न चेदमैन्दुशेखरं धनुः ।

रावणः—तत्किमिदम् ।

प्रहस्तः—प्रेक्षणकमिदम् ।

प्रतीहारी—

यद्बिम्बमम्बरमणिर्यदपां प्रसूति-
र्नक्तं निषिञ्चति यदग्निशिखासु भासः ।
ज्योत्स्ना निशासु हिमधाम्नि च यन्मयूखाः
पूषा पुराणपुरुषः स नमोऽस्तु तस्मै ॥ ६८ ॥

तस्मादजायत मनुर्नरराजबीजं यस्यान्वये स सगरः स भगीरथश्च ।
एकेन येन जलधिः परिखानितोऽयमन्येन सिद्धसरिता परिपूरितश्च ॥ ६९ ॥

सावित्रान् मनुतो महीयसि कुले ये जज्ञिरे क्षत्रिया-
स्तेषामेष महारथो दशरथः क्ष्माचक्रमाक्रामति ।
पीनांसः पृथुलोचनः प्रमदयन् कृत्स्नामयोध्यां गुणै-
र्विश्वामित्रवितीर्णचापनिगमस्तस्यैष रामः सुतः ॥ ७० ॥

रामः—वत्स लक्ष्मण ! कथमेष मां निर्दिशति । तदुत्थीयते ।

(ऐसा कहकर उठना चाहता है)

प्रहस्त—देव ! न तो यह जानकी है न यह शिव का धनुष है ।

रावण—तो यह क्या है ?

प्रहस्त—यह नाटक है ।

प्रतीहारी—उन पुराण पुरुष पूषा (सूर्यदेव) को नमस्कार है जिनका बिम्ब आकाश की मणि है, जलों की प्रसूति है, जो रात्रि में अग्नि शिखाओं को अपनी दीप्ति अर्पित करता है और जिसकी किरणें रात्रि में चन्द्रमा में चन्द्रिका बन जाती है ॥ ६८ ॥

उन (पुराण पुरुष सूर्य) से मनुष्य राजाओं के बीजभूत मनु उत्पन्न हुए जिनके वंश में वे सगर तथा वे भगीरथ हुए जिनमें एक ने तो इस समुद्र को (खनकर) बनाया तथा दूसरे ने सिद्धसरिता गंगा के द्वारा उसे भरा ॥ ६९ ॥

वैवस्वत मनु के महान् कुल में जो क्षत्रिय उत्पन्न हुए उनमें ये महारथी दशरथ पृथ्वी पर शासन कर रहे हैं । उन दशरथ के पुत्र ये राम हैं—ये वृहत्स्कन्ध तथा दीर्घ-लोचन हैं और गुणों से अयोध्या को प्रसन्न कर रहे हैं, इन्होंने विश्वामित्र से धनुर्वेद की शिक्षा पायी है ॥ ७० ॥

राम—वत्स लक्ष्मण ! क्या यह मुझे निर्दिष्ट कर रहा है । तो उठें ।

लक्ष्मणः—एतदुत्थीयते। (मञ्चावरोहणनाटितकेन परिक्रामतः)

प्रतीहारी—साधु रामभद्र साधु सत्यं मार्तण्डकुलैकमण्डनमसि।

रावणः—साधु रे क्षत्रियडिम्भ साधु तवैव परमखण्डितोऽभिमानग्रन्थिरनवधिरध्यवसायश्च। तन्मानुषेषु भवन्माता पुत्रवती।

विश्वामित्रजनकौ—अतिदिलीपममतिदशरथमङ्गीकृतं कर्म रामभद्रेण।

हेमप्रभा—कालेण बालत्तणं रामचन्दस्स चरिदेण उण सअलणरेन्दमण्डलीजेट्ठो। [कालेन बालत्वं रामचन्द्रस्य चरित्रेण पुनः सकलनरेन्द्रमण्डलीज्येष्ठः।]

शतानन्दः—सूर्यशिष्यान्तेवासिन्नतिसाहसिको रामभद्रः।

यतः—

कोदण्डमीशकरपीडनदृष्टसारमारब्धनिर्वहणनिर्वृतिपूर्वपुंसि ।
आरोपणाय परिसर्पति रामभद्रे गोत्रं तुलां समधिरूढमहस्करस्य ॥ ७१ ॥

प्रतीहारी—

प्रणिपत्य कुमारोऽयं मृडान्यै च मृडाय च।
उद्युक्तो धनुरादातुं न विद्मः किं करिष्यति ॥ ७२ ॥

लक्ष्मण—यह उठ रहे हैं (मञ्च से उतरने का नाटक कर दोनों घूमते है।)

प्रतीहारी—साधु रामभद्र! साधु! सत्य ही सूर्य-वंश के एकमात्र अलंकरण हो।

रावण—रे क्षत्रिय बालक साधु है, साधु हैं। तुम्हारी हीं मानग्रन्थि अत्यन्त अखण्डित हैं तथा तुम्हारा ही अध्यवसाय असीम है। मनुष्यों में आपकी माता पुत्रवती हैं।

विश्वामित्र और जनक—राम ने दिलीप और दशरथ से भी बढ़कर कार्य स्वीकार किया है।

हेमप्रभा—अवस्था में रामचन्द्र बालक है पर आचरण से समस्त नरेश मण्डली में ज्येष्ठ है।

शतानन्द—सूर्य-शिष्य (याज्ञवल्क्य) के शिष्य! (अर्थात् हे जनक) रामभद्र अत्यन्त साहसी हैं क्योंकि भगवान् शंकर के हाथ द्वारा ग्रहण करने से देखी गयी दृढ़ता वाला धनुष के पास (कार्य को) प्रारम्भ कर समाप्ति पर ही संतुष्ट होने वाले पूर्वजों वाले रामभद्र आरोपण के लिए आ रहे हैं। (अतः) सूर्य का वंश तुला (परीक्षा) पर आरूढ़ है ॥ ७१ ॥

प्रतीहारी—मृडानी (भवानी) तथा शंकर को प्रणाम कर यह कुमार धनुष लेने के लिये उद्यत हुआ है। न जाने क्या करेगा? ॥ ७२ ॥

हेमप्रभा—जं किदं भअवदा दक्खाअणीवल्लहेण । किंच केसरिकिसोरसरिच्छपओट्ठाणं पुरिसाणं भुअदण्डमण्णिज्जे कज्जे किं विअ दुक्करं णाम । [यत् कृतं भगवता दाक्षायणीवल्लभेन । किंच केसरिकिशोरसदृक्षप्रकोष्ठानां पुरुषाणां भुजदण्डमण्डनीये कार्ये किमिव दुष्करं नाम ।]

रामः—(प्रदक्षिणयन् स्वगतम्)

वैदेहीवरबीजाय सुरसारमयाय च ।
तुभ्यं चण्डीशचापाय त्रिपुरप्लोषिणे नमः ॥ ७३ ॥

(सरभसमादाय प्रकाशम्)

मद्दोर्दण्डद्वयाक्रान्त्या वत्स लक्ष्मण लक्षय ।
स्फुटिष्यति न कोदण्डं त्रुटिष्यति न वा गुणः ॥ ७४ ॥

रावणः—(विहस्य) इदं तन्नटगर्जितं नाम ।

लक्ष्मणः—सोढशङ्करकराकर्षणकर्मणि कार्मुके केयमसम्भावनाऽऽर्यस्य ।

रामः—तर्हीदमारोप्यते ।

रावणः—इयमपि सा नटविभीषिका ।

प्रतिहारी—(समन्तादवलोक्य)

यथायथा धूर्जटिचापकोटिं रामानुबन्धादधिरोहति ज्या ।
तथातथा सर्वनरेश्वराणां मुखानि मूलान् मलिनीभवन्ति ॥ ७५ ॥

हेमप्रभा—जो भवानीवल्लभ भगवान् शङ्कर ने किया है । सिंहशावक के समान मणिबन्ध वाले पुरुषों के लिये हाथ से निष्पाद्य कार्यों में क्या दुष्कर है ।

राम—(प्रदक्षिणा करते हुये स्वगत) वैदेही के वर के लिये बीजभूत तथा देवताओं के सारमय एवं त्रिपुर को वध करने वाले हे शङ्कर के धनुष ! तुझे नमस्कार है ।

(बल पूर्वक उठाकर) (प्रकट)

वत्स लक्ष्मण ! देखो कि मेरे दोनों भुजदण्डों के आक्रमण से धनुष फट नहीं जाता या रस्सी टूट नहीं जाती ? ॥७४॥

रावण—(हँसकर) यह तो नट-गर्जना है ।

लक्ष्मण—जिस इस धनुष ने शङ्कर के हाथ के आकर्षण की क्रिया को सहन कर लिया है उस पर आप के लिये यह असम्भव क्या है ?

राम—तो इसे मैं आरोपित कर रहा हूँ ।

रावण—यह भी वही नटों का डराना है ।

प्रतीहारी—(चारो ओर देखकर)

राम के प्रयत्न से जैसे-जैसे प्रत्यञ्चा शङ्कर के धनुष की कोटि (किनारे) पर चढ़ती है वैसे-वैसे सभी राजाओं के मुख मूल से मलिन हो रहे हैं ॥७५॥

लक्ष्मणः—न केवलं वैलक्ष्यवतां महीपालानामेकेन वदनमालिन्येन संपन्नम्। अपि तु।

आर्ये रुद्रशरासनं तुलयति स्मित्वा स्थितं पार्थिवैः
सिञ्जासज्जनतत्परे विहसितं दत्त्वा मिथस्तालिकाः।
आरोप्य प्रचलाङ्गुलीकिसलये म्लानं गुणास्फालन-
स्फाराकर्षणरुग्णपर्वणि पुनः सिंहासने मूर्च्छितम् ॥ ७६ ॥

प्रतीहारी—(सहसाऽवलोक्य) न केवलमाकृष्टं भग्नं च (किंचिदुच्चैः)

संस्पर्शादपि मन्थरस्य मरुतः सिञ्जानसिञ्जालतं
सार्द्धं क्षत्रवधव्रतैकगुरुणा क्रौञ्चाचलद्वेषिणा।
दोर्दण्डाञ्चलमण्डलीकृतमिदं रामेण राज्ञां पुरः
प्रागप्राप्तपराभवं भवधनुष्टङ्कारवत् त्रुट्यति ॥ ७७ ॥

रावणः—सेयं कवीनां वचनकामधेनुः। यदसद्भूतमपि सूते।

विश्वामित्रः—सखे जनक! फलितमस्मद्धनुर्वेदविद्यान्तेवासितया रामभद्रस्य। तथा हि—

लक्ष्मण—लज्जित राजाओं का केवल वदन-मालिन्य ही नहीं हुआ अपितु—

राम के रुद्र-धनुष के उठाने पर राजा लोग मुस्कराने लगे, प्रत्यञ्चा चढ़ाने के लिये उद्यत होते पर परस्पर ताली बजाकर हँसने लगे, चञ्चल अँगुलीरूपी किसलयों से आरोपित कर लेने पर म्लान हो गये एवं डोरी चढ़ाने के लिये जोर से खींचने पर धनुष के जोड़ों के टूटने पर सिंहासन पर मूर्च्छित हो गये ॥७६॥

प्रतीहारी—(सहसा देखकर) केवल खींचा ही नहीं बल्कि तोड़ भी दिया। (कुछ जोर से)

मन्दपवन के स्पर्श से भी शब्दायमान प्रत्यञ्चा वाला तथा इसके पूर्व किसी से भी पराजित न होने वाला यह शंकर का धनुष राम द्वारा क्षत्रियों के वध की प्रतिज्ञा से प्रचण्ड एवं क्रौञ्चपर्वत के विदारक परशुराम तथा राजाओं के सामने बाहुदण्ड के आकर्षण से मण्डलाकार हुआ और टङ्कार के साथ ही टूट रहा है ॥७७॥

रावण—यह तो कवियों की वचनरूपी कामधेनु है जो असद्भूत को भी उत्पन्न करती है।

विश्वामित्र—सखे जनक! रामभद्र के मेरे अन्तेवासी (शिष्य) होने से मेरी धनुर्वेद-विद्या फलित हो गई। क्योंकि—

गुर्वी मौर्वीं विधुन्वन् विदधदतिभियः सप्तपातालपालान्
वृन्दैर्वृन्दारकाणां प्रसरति परितस्तूर्णमाकर्ण्यमानः।
ठात्कारः खण्डिताशाकरिकरटतटोदानदुर्वर्ण एष
त्रुट्यत्पर्वोऽनुसन्धेर्वृषधरधनुषो रामदोर्यन्त्रितस्य ॥ ७८ ॥

शतानन्दः—आश्चर्यमाश्चर्यम्। अतिभवानीवल्लभं रामभद्रचरितम्।
तथा हि—

ओङ्कारो विश्वरक्षाक्रमनिगमविधेरन्तकस्याट्टहासः
संहर्ता शात्रवाणां पटुपटहरवः कीर्तिनिर्वासनस्य।
दोर्यन्त्रासञ्जिसिञ्जानमदटनिरटत्सर्वपर्वप्रसूत-
ष्टीत्कारः शम्भुचापे जयति विजयिनो राघवस्यादिवन्दी ॥ ७९ ॥

जनकः—नमो भगवते नीललोहिताय।
विश्वक्षमातलनरेश्वरदुष्करेऽस्मिन् सद्यः कृते गुरुणि कर्मणि राघवेण।
चण्डीशचापमथनाद् व्यथते च चित्तं जामातृलाभरभसान्मम मोदते च ॥ ८० ॥

सीता—सहि हेमप्पहे भग्गं भग्गस्स भअवदो चावं [सखि हेमप्रभे भग्नं भर्गस्य भगवतश्चापम्।]

राम की भुजाओं से आकृष्ट शिव-धनुष की प्रत्येक ग्रन्थि के टूटने से उत्पन्न, दृढ़ प्रत्यञ्चा को तोड़ता हुआ सातों पातालों के रक्षकों को भयभीत करता हुआ, देवताओं के समूहों द्वारा चारों ओर से सहसा सुना जाता हुआ तथा विदीर्ण गण्डस्थल वाले दिग्गजों के कर स्थल के मदजाल से अवर्णनीय यह टंकार फैल रही है ॥७८॥

शतानन्द—आश्चर्य है। आश्चर्य है। रामचन्द्र ने तो शङ्कर से भी बढ़कर कर दिया।

संसार की रक्षा का नियम ही वेद का विधान है उसके लिए ओंकार (ब्रह्मणः प्रणवं कुर्यादादावन्ते च सर्वतः), शत्रुओं का संहार करने वाला यमराज का अट्टहास, कीर्ति को दूर तक विस्तृत करने वाली प्रचण्ड नगाड़ा की ध्वनि, विजयी राम के बाहु-यन्त्र से आकृष्ट मौर्वी से झुकती हुई कोटि के कारण टूटती हुई गाठों से उत्पन्न शिव-धनुष का टंकार पहला वन्दी (स्तुतिपाठक) है ॥७९॥

जनक—भगवान् नीललोहित को नमस्कार है।

सम्पूर्ण पृथ्वी तल के राजाओं के लिये दुष्कर इस महान् कार्य के राम द्वारा सद्यः कर लेने पर मेरा चित्त शंकर के धनुष के टूटने से दुःखी हो रहा है और जामाता के मिलने से प्रसन्न हो रहा है।

सीता—सखि हेमप्रभे ! भगवान् शङ्कर का धनुष टूट गया।

हेमप्रभा—संपण्णं च पिअसहीए पाणिग्गहणं [सपन्नं च प्रियसख्याः पाणिग्रहणम् ।]

रावणः—(उच्चैर्विहस्य) प्रज्ञावतां हि चक्षुरक्षुद्रमतिविषयासु धिषणासु प्रतिवसति । यतः—

रामेण मुग्धमनसा वृषलाञ्छनस्य यज्जर्जरं धनुरभञ्जि मृणालभञ्जम् ।
तेनामुना त्रिजगदर्पितकीर्तिभारो रक्षःपतिर्ननु मनाङ् न विडम्बितोऽभूत् ॥ ८१ ॥

रामः—(सकण्ठरोधम्)

वाचा कार्मुकमस्य कौशिकपतेरारोपणायार्पितं
मद्दोर्दण्डहठाञ्चनेन तदिदं भग्नं कृतन्यक्कृति ।
नो जाने जनकस्तदत्रभगवान् व्रीडावशादुत्तरं
त्रिक्षेप्त्रे नतकन्धरो भगवते रुद्राय किं दास्यति ॥ ८२ ॥

लक्ष्मणः—अहो महदन्तरं पुरुषकाराणाम् ।

भग्नं निरीक्ष्य हरकार्मुकमित्यथैते रोमाञ्चकञ्चुकमिदं वपुरुद्वहामः ।
आर्यस्तु कण्ठधृतवाणि विलक्षभावान्नासानिषण्णनयनं वदनं बिभर्ति ॥ ८३ ॥

विश्वामित्रः—किमुच्यते दिलीपकुलालङ्करणं दशरथोऽस्य जनयिता ।

हेमप्रभा—प्रिय सखी का पाणिग्रहण भी सम्पन्न हो गया ।

रावण—(जोर से हँसकर) बुद्धिमानों की विशद दृष्टि बुद्धि द्वारा अप्राप्त विषयों में जाती है । क्योंकि—

मुग्धमन (अर्थात् मूढ़ता) से राम ने जो शङ्कर का पुराना धनुष मृणाल की भाँति तोड़ दिया उससे त्रैलोक्य में कीर्तिभार देनेवाला रावण जरा भी विचलित (या भ्रमित) नहीं हुआ है ॥८१॥

राम—(रुद्ध कण्ठ से)—इस कौशिकपति विश्वामित्र के कहने से यह धनुष चढ़ाने के लिये मुझे दिया गया वह मेरे बाहुदण्ड के हठपूर्वक चढ़ाने से टूट गया । मैं नहीं समझता कि महाराज जनक लज्जावश नीची गर्दन कर त्रिपुर नाशक भगवान् शंकर को क्या उत्तर देंगे ? ॥८२॥

लक्ष्मण—पुरुषार्थियों में महत् अन्तर है—

ये हम लोग शङ्कर के धनुष को टूटा देख रोमाञ्चित शरीरवाले हो गये हैं पर आर्य राम का मुख तो ऐसा है जिसमें वाणी गले में लगी है और अन्यमनस्कता से आखें नाक पर गड़ी हैं ॥८३॥

विश्वामित्र—क्या कहा जाय ! दिलीप-कुलके अलङ्कार राजा दशरथ इनके पिता हैं ।

शतानन्दः—महाराज सीरध्वज ! यथोचितमत्र प्रस्तूयतां समर्प्यतां वैदेही रामभद्राय ।

जनकः—(मञ्चावरोहणनाटितकेन परिक्रम्य)

रुग्णचण्डीशकोदण्डनिजदोर्दण्डनिर्जिताम् ।
गृहाण पाणौ वैदेहीं पद्मा पद्मे निषीदतु ॥ ८४ ॥

(इति पाणौ पाणिमर्पयति)

रावणः—(सक्रोधम्) आः कथमयमलीकदुर्विदग्धः क्षत्रियबटुकोटो ममापि लङ्केश्वरस्य पुरतः सीतायाः पाणिं पाणिना पीडयति । तदेष न भवति । (इति संरभते)

प्रहस्तः—(विहस्य स्वगतम्)

दृष्ट्वैतां रभसादलीकजनकप्रत्तां मृषा मैथिलीं
हस्ताग्रे नटराघवेण विधृतां रागेण रङ्गाङ्गणे ।
उत्ताम्यन्ति रुषा कषायितदृशो देवस्य लङ्कापते-
र्दोर्दण्डा विधृतायुधाश्च वदनान्याकृष्टदंष्ट्राणि च ॥ ८५ ॥

(प्रकाशम्) राक्षसपते ! पर्यवसिताप्रायः प्रेक्षाविधिः । तद्भावयतु चतुराभिनयां बुद्धिं रसवृद्धिं च नर्तकानां देवः ।

शतानन्द—महाराज सीरध्वज ! यहाँ यथोचित प्रस्तुत करिये और राम के लिये जानकी समर्पित करिये ।

जनक—(मञ्च कर चढ़ने का नाटक कर घूमकर)

शङ्कर के प्राचीन धनुष को अपने भुजदण्ड से तोड़ने के कारण जीती हुई वैदेही को हाथ में लो, पद्मा (लक्ष्मी) पद्म पर बैठे ॥८४॥

(ऐसा कहकर हाथ में हाथ देते हैं)

रावण—(क्रोध से) आह ! असत्य से ढींठ बना यह नीच क्षत्रिय बालक मेरे लंकेश्वर के सामने कैसे सीता का हाथ अपने हाथ में ले रहा है ? तो यह नहीं रहा । (ऐसा कहकर संरंभ करता है)

प्रहस्त—(हँसकर स्वगत) रङ्गभूमि में प्रेम से मिथ्या जनक से प्रदत्त मिथ्या मैथिली को नट राघव के द्वारा हाथ से पकड़ा देखकर सहसा लङ्केश्वर महाराज रावण के, जिनकी आँखें क्रोध से लाल हो गई हैं, हाथ अस्त्र लेकर उतावले हो रहे हैं और मुखों में दाँत पीसे जा रहे हैं ॥८५॥

(प्रकट) राक्षसराज ! नाटक प्रायः समाप्त हो गया अतः आप नर्तकों के अभिनय में चतुर बुद्धि और रस वृद्धि को देखें ।

रावणः—(सस्मरणलज्जम् आत्मगतम्) कथं प्रेक्षणकमेतत्। मुधा संरब्धमस्माभिः। (प्रकाशम्) सखे प्रहस्त अपि स्मरसि दशकन्धरस्य प्रतिज्ञाम्।

प्रहस्तः—देव स्मरामि (कुर्वन् मौर्वीत्यादि पठति)

रावणः—तदिदमनुष्ठास्यते।

(द्वितीयनेपथ्ये)

वैतालिकः—जयजय महाराज सीरध्वज सुखाय सायन्तनी सन्ध्या तत्रभवतो भवतु देवस्य जामात्रा रामभद्रेण सह संप्रति हि—

संकोचव्रतमादिशन् जलरुहां देवस्त्रिवेदीतनुः
सोऽयं विद्रुमकन्दसुन्दरवपुर्यात्यस्तमस्तातपः।
माञ्जिष्ठत्रसरच्छटैकसुहृदां यद्दीधितीनां पुरः
प्रेङ्खङ्खाति सनालनीलनलिनप्रस्ताररम्यं तमः॥ ८६॥

अपि च—

दिनसन्ध्यावरवध्वोर्वहति विवाहाग्निविभ्रमं भानुः।
लाजायते च साक्षादुत्तरलस्तारकानिकरः॥ ८७॥

(पुनर्नेपथ्ये)

रावण—(स्मरण कर लज्जित होकर स्वगत) क्या यह नाटक है ? (प्रकट) सखे प्रहस्त ! क्या रावण की प्रतिज्ञा को स्मरण कर रहे हो ?

प्रहस्त—देव ! स्मरण है 'कुर्वन् मौर्वी' इत्यादि पढ़ता है।

रावण—तो यह किया जाय—

(द्वितीय नेपथ्य में)

वैतालिक—महाराज सीरध्वज जनक की जय हो। जामाता रामभद्र के साथ आपकी सायं-सन्ध्या सुखकर हो। संप्रति—

वेदत्रयी स्वरूप भगवान् सूर्य कमलों को संकुचित होने का आदेश देते हुये विद्रुम के टुकड़े की भाँति सुन्दर शरीर होकर तथा धूपरहित होकर अस्ताचल की ओर जा रहे हैं जिनकी मंजीठे रंग के सूत्रों के समान किरणों के सामने मृणाल युक्त नीलकमलों के समान फैलता हुआ अन्धकार शोभित हो रहा है ॥८६॥

और—सूर्य दिन और सन्ध्या रूप वर तथा वधू के विवाहाग्नि का विभ्रम धारण कर रहे हैं तथा चमकता तारा-समूह लाजा का रूप धारण कर रहा है ॥८७॥

(पुनः नेपथ्य में)

देव ! देव्यो विज्ञापयन्ति—

जनककुलवधूनामेष सज्जः समाजो विवहनविधिबन्धुर्वर्तते चाप्यनेहा ।
अनुभवितुमुदारां कौतुकागारदीक्षां तदिह सह दुहित्रा प्रेष्यतां रामभद्रः ॥ ८८ ॥

जनकः—एष प्रेष्यते स्वयं च प्रस्थीयते । (प्रतीहारस्य कर्णे) एवमेवम् ।

प्रतीहारी—(किंचिदुच्चैः)

इह सुजनसमाजे सङ्गता ये नरेन्द्राः स्फुटमुकुलितपाणिः प्राह सीरध्वजस्तान् ।
सविधमधिवसन्तो मत्पुरीगोपुराणां परिचिनुत सपर्यां सोत्सवो यावदस्मि ॥ ८९ ॥

(निष्क्रान्ताः सर्वे)

सीतास्वयंवरो नाम गर्भोऽङ्कः ।

रावणः—(विचिन्त्य)

राज्ञां वृथा सदसि रामयशः प्रकीर्णं नूनं मुधा मुकुलिता च पिनाककीर्त्तिः ।
दीर्णेन जीर्णधनुषा गिरिशोज्झितेन यातः पदं मम रुषां च मृषैव रामः ॥ ९० ॥

(सीतामनुसंधाय तद्वक्त्रमित्यादि पठति)

प्रहस्तः—देव समाप्तमेव देवप्रेक्षणकम् । तत प्रेष्यन्तां वैरिञ्चा मुनयः परमेश्वरोऽपि प्रविशत्वभ्यन्तरम् । (इति परिक्रम्य निष्क्रान्तौ)

॥ इति विलक्षलङ्केश्वरो नाम तृतीयोऽङ्कः ॥

देव ! देवियाँ कहती हैं—

जनक की कुलवधुओं का यह समाज सज्जित है तथा विवाह की विधि के उपयुक्त दिन भी है अतः उदार कौतुकगृह (कोहबर) की दीक्षा का अनुभव करने के लिये अपनी दुहिता सीता के साथ रामभद्र को भेजिये ॥८८॥

जनक—यह भेज रहा हूँ और स्वयं भी चल रहा हूँ (प्रतिहार के कान में) इस प्रकार-इस प्रकार ।

प्रतीहारी (कुछ जोर से)

इस सुजन-समाज में जो राजा आये हैं उनसे हाथ जोड़कर राजा सीरध्वज जनक ने कहा है कि वे लोग उनकी पुरी के गोपुरों के पास रहते हुए जब तक उत्सव है तब तक पूजा ग्रहण करें ॥ ८९ ॥

(सीतास्वयंवर नामक यह गर्भाङ्क समाप्त हुआ)

रावण—(सोचकर)

शंकर द्वारा त्यक्त पुराने धनुष के तोड़ने से राजाओं की सभा में राम का यश व्यर्थ ही फैला और व्यर्थ ही पिनाक की कीर्ति सहसा बन्द हुई एवं व्यर्थ ही राम मेरे कोप का पात्र बना ॥ ९० ॥

(सीता का ध्यान कर 'तद्वक्त्र' इत्यादि पढ़ता है ।)

प्रहस्त—देव ! यह नाटक समाप्त हुआ अतः ब्रह्म-मुनियों को भेज दिया जाय और आप भी भीतर चलें (ऐसा कहकर घूमकर निकल जाते हैं)

विलक्षलङ्केश्वर नामक तृतीय अङ्क समाप्त हुआ ।

अथ चतुर्थोऽङ्कः

अतः परं भार्गवभङ्गो भविष्यति

(ततः प्रविशत्युपाध्यायो बटुश्च)

बटुः—भोभो उवज्झाअ अब्भुवगदसिस्सभावो अहमेस भवभूदी सपादोपग्गहमभिवादेह्मि [भोभो उपाध्याय अभ्युपगतशिष्यभावोऽहमेष भवभूतिः सपादोपग्रहमभिवादये ।]

उपाध्यायः—विद्यावान्भूयाः । (शिरसि स्पृशन्) वत्स भवभूते ! कुतः पुनरुपनयनादिकाः संस्काराः कुतश्च मामुपाध्यायीकर्तुमागतोऽसि ।

बटुः—भअवदो भग्गवादो । [भगवतो भार्गवात् ।]

उपाध्यायः—भगवान् भार्गवो भगवतो भवानीवल्लभात् प्रतिपन्नकार्मुकोपनिषत् संविदितचतुर्दशविद्यास्थानरहस्यश्च तदनुपपन्नमिवेदं पश्यामि यदुताध्ययननिमित्तमाचार्यान्तरसमाश्रयणम् ।

बटुः—भो उवज्झाअ ण हु दिट्ठे अणुववण्णं णाम । [भो उपाध्याय ! न खलु दृष्टेऽनुपपन्नं नाम ।]

उपाध्यायः—कथम् ।

बटुः—सो क्खु महेसी भविअ समरसमारम्भमहग्गहग्गहिओ । [स खलु महर्षिर्भूत्वा समरसमारम्भमहाग्रहगृहीतः ।]

(इसके अनन्तर भार्गवभङ्ग नामक अङ्क होगा)

(तदनन्तर उपाध्याय और बटु प्रवेश करते हैं)

बटु—हे उपाध्याय ! शिष्य-भाव को ग्रहण किया मैं भवभूति पैर पकड़ कर अभिवादन कर रहा हूँ ।

उपाध्याय—विद्यावान् होओ । (शिर स्पर्श करते हुए) वत्स भवभूति ! तुम्हारे उपनयनादि संस्कार कहाँ हुए हैं और कहाँ से मुझे उपाध्याय बनाने आये हो ।

बटु—भगवान् भार्गव (के पास) से ।

उपाध्याय—भगवान् भार्गव परशुराम ने भगवान् भवानी-वल्लभ से धनुर्वेद-विद्या प्राप्त की है तथा चौदह विद्यास्थानों के रहस्य भी ज्ञात किये हैं अतः यह उपयुक्त प्रतीत नहीं होता कि अध्ययन के निमित्त दूसरे आचार्य का आश्रय लिया जाय ।

बटु—उपाध्याय ! दृष्ट विषय में अनुपपन्नता कहा है ।

उपाध्याय—कैसे ?

बटु—वे महर्षि होकर भी युद्धोद्योग के महाग्रह से गृहीत हैं ।

उपाध्यायः—तस्य खल्वियं मात्रंशक्षत्रभावसुलभा यावज्जीवमायुधपिशाची न हृदयादपक्रामति।

बटुः—तेण क्खु अहं एदे विणिहदपडिवक्खदोघट्ट घटाकडपासवाससत्तसल्ला भल्ला विद्दाविअमहारिउदप्पा खुरप्पा असमसमरारम्भपवट्टिदवेरिवीररुहिरराआ णाराआ खण्डिअविपक्खधाणुक्कबाणासणदण्डा कण्डा सुट्ठुमुच्छिअचतुरङ्गबलसेण्णसहअरिसहस्सदंसणसव्वंगुक्कीरिदाओ भेरिआओ सअलखत्तिअगोत्तणिद्दलणदुव्विडिल्ला बाणावलित्ति पभूदकण्डसंभारअं वहन्तेण कुदो दाव विज्जाहिगमो णिअसरीरदोवि परिब्भंसिदोह्मि जदो गआणणगरुअङ्गभारोवि भविअ भिङ्गिरिटिपडिरूवो वट्टामि। (सस्मरणम्)। अदिक्कन्तदिअसप्पओसे उण णिद्दलिदणीलकण्ठसरासणं दासरहिराममभिजुज्जिदुं णिच्छिदमणेण सअं चिन्तिअ बहवो बहुप्पआरफलसारा कण्डकारण्डआ संजमिदा। जाणं दुव्वहत्तणं अणुसंधिअ अद्धरत्तसमएणिहुदपदसंचारमवक्कमिअ उवज्झाअत्तणेण भअवन्तमब्भुववण्णोह्मि। [तेन खलु अहं एते विनिहतप्रतिपक्षगजघटाकटपार्श्वध्यासवतशल्या भल्ला विद्रावितमहारथरिपुदर्पाः क्षुरप्राः असमसमरारम्भप्रवर्तितवैरिवीररुधिररागा नाराचाः खण्डितविपक्षधानुष्कबाणासनदण्डाः काण्डाः सुष्ठुमूर्च्छितचतुरङ्गबलसैन्यसहचरिसहस्रदंशनसर्वाङ्गोत्कीरिता भेरिकाः सकलक्षत्रियगोत्रनिर्दलनदुर्ललिता बाणावलिरिति प्रभूतकाण्डसम्भारं वहता कुतस्तावत् विद्याधिगमो निजशरीरादपि परिभ्रंशितोऽस्मि। यतो गजाननगुर्वङ्गभारोऽपि भूत्वा भृङ्गिरिटिप्रतिरूपो वर्ते। अतिक्रान्तदिवससप्रदोषे पुनर्निर्दलितनीलकण्ठशरासनं दाशरथिराममभियोक्तुं निश्चितमनसा स्वयं चिन्तयित्वा बहवो बहुप्रकारफलसाराः काण्डकरण्डकाः संयमिता येषां दुर्वहत्वमनुसंधायार्द्धरात्रसमये निभृतपदसंचारमवक्रम्योपाध्यायत्वेन भवन्तमनभ्युपन्नोऽस्मि।]

उपाध्याय—उनकी यह माता के अंश से क्षत्रियोचित शस्त्रपिशाची जीवन भर हृदय से नहीं हटती।

बटु—उनके बाण शत्रुओं के गजों को मारकर उनके कर्ण और पार्श्व में लगे रहते हैं, महारथियों के दर्प को दूर करते हैं, सहसा समर प्रारम्भ कर वैरियों के रुधिर को बहाते हैं। विपक्षियों के धनुष बाण को काटते हैं। सहस्रों चतुरङ्ग सेनाओं को मूर्च्छित करते हैं तथा समस्त क्षत्रियों को नष्ट करने से धृष्ट हैं। ऐसे प्रभूत बाण समूह को धारण करने वाले से विद्या की प्राप्ति कैसे हो सकती है? अपितु मैं यह ढोते-ढोते अपने शरीर से भ्रष्ट हो गया हूँ क्योंकि गजानन जैसा भारी भरकम होकर भी भृङ्गिरिटि का प्रतिरूप (अर्थात् क्षीण) हो गया हूँ। गत दिन की सन्ध्या समय शंकर के धनुष को तोड़ने वाले राम को उन्होंने अभियुक्त बनाने के लिए निश्चित कर बहुत प्रकार के फलों वाले बहुत से बाणों को इकट्ठा किया। उन्हें दुर्वह समझ कर आधीरात को पैर की आहट बचाकर मैं भाग निकला और आप को उपाध्याय बनाने आया हूँ।

उपाध्यायः—एतदेव स्वर्गगमनप्रभावभाजां मुन्यतिथीनां मुखेभ्यः श्रुतमस्माभिः। यदुत श्रुतभार्गवसमरसंरम्भेण पुरन्दरेणापि दशरथः सत्कृत्य प्रहित इति। (विचिन्त्य) अहो महदन्तरमन्योन्यं रामयोः। यत् परिणतवयाः प्रगल्भविक्रमो वैखानससूनुर्यत् कौमारकमुग्धमधुराननो राजन्यपोतः। (विमृश्य) अहह! सकृद्दृष्टमपि नयनावलम्बिनमिव तमहमिमं पुरतः पश्यामि। अहो न खलु भोः।

ज्यायान् धन्वी नवधृतधनुस्ताम्रहस्तोदरेण
क्षत्रक्षोदव्यतिकरपटुस्ताडकाताडकेन ।
कर्णाभ्यर्णस्फुलितपलितः क्षीरकण्ठेन सार्द्धं
योद्धुं वाञ्छन्न कथममुना लज्जते जामदग्न्यः ॥ १ ॥

बटुः—भो उअज्झाअ जदि क्खु एवंविधपरक्कमो परसुरामो ता की उण ण तिणअणबाणासणे पअट्टो आसि। [भो उपाध्याय यदि खल्वेवंविधपराक्रमः परशुरामस्तत् किं पुनर्न त्रिनयनबाणासने प्रवृत्त आसीत्।]

उपाध्यायः—स खलु शरासनशिक्षाविचक्षणः सब्रह्मचारिभिरनुयुक्तोऽपि पुनःपुनरित्थमभिधाय स्थितः।

उपाध्याय—मैंने भी स्वर्ग-गमन के प्रभाव वाले अतिथि मुनियों के मुख से यही सुना है और भार्गव के युद्धोद्योग को सुनकर इन्द्र ने दशरथ को भी सत्कृत कर भेंज दिया है। (सोचकर) अहा! दोनों रामों में महत् अन्तर है। एक तो परिपक्व अवस्था के, प्रसिद्ध विक्रमी तथा तपस्वी के पुत्र हैं और दूसरे कुमारावस्था के उपयुक्त मनोहर मुख वाले राजकुमार हैं (विचार कर) अहा! एक बार देखा होने पर भी उसे मैं आखों में लगा सामने देख रहा हूं (अहा)—

परशुराम श्रेष्ठ धनुषधारी हैं, क्षत्रियों के समूह को नष्ट करने में पटु हैं और कर्ण पर्यन्त वार्धक्य के कारण उनके बाल पक गये हैं। वे भला नये लाल हाथों से धनुष-धारण करने वाले, ताड़का को मारनें वाले तथा दुधमुहे राम से युद्ध करने की इच्छा करने वाले होकर लज्जित क्यों नहीं होते ? ॥ १ ॥

बटु—हे उपाध्याय! यदि परशुराम ऐसे पराक्रमी हैं तो वे शंकर के धनुष में ही क्यों प्रवृत्त नहीं हुए ?

उपाध्याय—धनुर्वेद में विचक्षण वे ब्रह्मचारियों से कहे जाने पर इस प्रकार कहते हुए स्थित रहे—

आचार्यो मे स खलु भगवानस्मदग्राह्यनामा
तस्मादेषा धनुरुपनिषत् तत्प्रसादात् क्षमोऽपि ।
अध्यासीनः कथमहमहो वर्त्म वैखानसानां
सीतापाणिग्रहणपणितं चापमारोपयामि ॥ २ ॥

बटुः—कीरिसं मन्तेध भग्गवराहवाणं समरसंरम्भे कस्सि जअवडाआ पडिवज्जिस्सइ । [कीदृशं मन्त्रयथ । भार्गवराघवयोः समरसंरम्भे कस्मिन् जयपताका प्रतिवर्तिष्यते ।]

उपाध्यायः—भद्र भवभूते ! किं कथयामि । यदुभयपराक्रमावलोकि सन्देहदोलाधिरूढमिव चेतः । पश्य—

एकः सङ्ख्येऽभिमुखमजयत् सूनुमर्द्धेन्दुमौले-
स्तस्यैवान्यो धनुरनुपमं पुष्पमाथं ममाथ ।
द्वावप्येतावति हि बलिनौ किन्तु तद्गा जयश्री-
र्यस्य प्रीतः स खलु भगवान् पार्वतीप्राणनाथः ॥ ३ ॥

(नेपथ्ये)

अत्रे पुलस्त्य पुलह प्रतिथे सुगीथ शाण्डिल्य कुण्डिन विभाण्डक याज्ञवल्क्य ।
काण्वे वसिष्ठ यम दत्त पदं रणाय शापेन निर्दहति नारद एष नो चेत् ॥ ४ ॥

उनके प्रसाद से समर्थ होते हुये भी वे भगवान् शंकर हमारे गुरु हैं अतः उनका नाम हमारे लिए अग्राह्य है और वन्य मुनियों के मार्ग में आरूढ मैं सीता के पाणिग्रहण रूप शर्तवाले चाप को मैं कैसे आरोपित करूँगा ॥ २ ॥

बटु—कैसा विचार कर रहे हैं—राम और परशुराम के समर में जय पताका किसको मिलेगी ?

उपाध्याय—वत्स भवभूति ! क्या कहूँ ? दोनों के पराक्रम को देखता हुआ मेरा मन सन्देह की डोला पर चढ़ गया है । देखो—

एक ने युद्ध में शंकर जी के पुत्र कार्तिकेय को सामने जीत लिया और दूसरे ने उन शंकर जी के धनुष को पुष्प की भाँति तोड़ दिया । वे दोनों इतने बलवान् हैं तथापि जयश्री उसे मिलेगी जिसपर भगवान् शंकर प्रसन्न होगें ॥ ३ ॥

(नेपथ्य में)

हे अत्रि ! पुलस्त्य ! प्रतिथि ! सुगीथ ! शाण्डिल्य ! कुण्डिन ! विभाण्डक ! काण्व ! वसिष्ठ ! और यम ! रणभूमि में तुम लोग पैर रखो नहीं तो यह नारद तुम लोगों को शाप से दग्ध कर रहा है ॥ ४ ॥

भो नाकनायक विनायक चित्रभानो भानो विशाख वरुण क्षणदेशदम्भौ ।
कीनाश किन्नरपते पवमान रुद्र द्राक्सङ्गरं भजत भार्गवराघवीयम् ॥ ५ ॥

रत्नप्रभे रजनि चित्रलते लवङ्गि सौदामिनि भ्रमरि सुन्दरि देवसेने ।
रम्भे घृताचि कलकण्ठि सुकण्ठि सर्वाः स्वर्योषितो व्रजत पश्यत रामभद्रम् ॥ ६ ॥

मायावने विहगवेग कृपाणकेतो जीमूतवाहन कपिञ्जल हंसनाद ।
विद्यावतंस तिलकोत्तर केलिसार विद्याधरास्त्वरितमेत रणाय यामः ॥ ७ ॥

हे हेमवर्ण मणिशेखर चित्रबाहो वीणाविनोद मदवल्लभ रक्तकण्ठ ।
क्रीडाकुमार कनकाङ्गद रुद्रहास द्राक् सारणाः सरत मां युधि चेद्दिदृक्षा ॥ ८ ॥

उपाध्यायः—वत्स भवभूते ! कलहकुतूहली नारदमुनिर्महर्षीन् देवानप्सरसो विद्याधरान् सिद्धांश्च हठप्रसादाभ्यामभिधत्ते तदेह्यावामपि तत्समरोपस्थानेन कमलसंभवसंभवमुनिमनुवर्तामहे ।

(इति निष्क्रान्तौ । मिश्रविष्कम्भकः ।)

(ततः प्रविशति मातलिसारथिना रथेन चामरधारिण्या वीज्यमानो दशरथः । समन्तादवलोक्य)

हे इन्द्र ! विनायक ! अग्नि ! सूर्य ! विशाख ! वरुण ! चन्द्रमा ! दम्भ ! मृत्यु ! किन्नरराज । पवमान ! रुद्र ! राम और परशुराम के युद्ध में जाओ ॥ ५ ॥

हे रत्नप्रभे ! रजनि ! चित्रलते ! लवङ्गि ! सौदामिनि ! भ्रमरि ! सुन्दरि देवसेने ! रम्भे ! घृताचि ! कलकण्ठि ! सुकण्ठि ! तुम सभी स्वर्वेश्यायें जाओ और रामभद्र को देखो ॥ ६ ॥

हे मायावनि ! विहगवेग ! कृपाणकेतु ! जीमूतवाहन ! कपिञ्जल ! हंसनाद ! विद्यावतंस ! तिलकोत्तर ! केलिसार ! तुम सभी विद्याधर जल्दी आओ युद्ध में चलें ॥ ७ ॥

हे हेमवर्ण ! मणिशेखर ! चित्रबाहु ! वीणाविनोद ! मदवल्लभ ! रक्तकण्ठ ! क्रीडाकुमार ! कनकाङ्गद ! रुद्रहास ! तुम सभी सारण सद्यः यदि युद्ध देखने की इच्छा हो तो मेरे साथ चलो ॥ ८ ॥

उपाध्याय—वत्स भवभूति ! कलह के कुतूहल वाले नारद मुनि महर्षियों, देवों, अप्सराओं, विद्याधरों और सिद्धों को हठ और प्रसन्नता से कह रहे हैं । अतः आओ हम भी चलकर समर के समीप ब्रह्माजी के पुत्र नारद मुनि का अनुसरण करें ।

(ऐसा कहकर दोनो निकल जाते हैं । मिश्र विष्कम्भक समाप्त हुआ)

(तदनन्तर चामर धारणी के द्वारा हवा किये जाते हुए दशरथ रथ पर दिखाई पड़ते हैं । उस रथ पर मातलि सारथि है । चारो ओर देखकर)

कथमुन्निद्रपारिभद्रद्रुमस्तबकरमणीयारुणसन्ध्यानुबन्धिनि गगनाङ्गणपृष्ठे प्रतिष्ठामहे (विचिन्त्य) अहो काऽपि वैचित्री वर्तते अन्तरिक्षकुक्षौ प्रभात-समयस्य तथा हि—

व्योमोत्सङ्गविभूषणस्य सवितुर्द्यावापृथिव्योः समं
ध्वान्तध्वस्तिरुदङ्मुखैश्च किरणैः प्रारम्भि चावाङ्मुखैः।
प्रत्यासन्नविरोधितस्य गगने मन्दाकिनीसद्मना
पद्मानां प्रकरः प्रगेऽपि विकसत्यावृत्तकीर्णच्छदः ॥ ९ ॥

अपि च—

निर्याति प्रथमप्रचारसमये स्फारध्वनड्डिण्डिम-
स्रस्ताधोरणदूरनामितगजेनायं नभोवर्त्मना।
अभ्रं वा जघनान्तदोलितकरः स्वर्वाहिनीं गाहितुं
रोधस्ताडनकेलिरुग्णदशनग्रावाभ्रिरैरावणः ॥ १० ॥

(स्मरणमभिनीय) आर्य मातले ? सकलसुरसुन्दरीकरतलान्दोलितचामरचिंकुरचुम्ब्यमानमांसलांसस्थलीसंदानितसन्तानकुसुममालाप्रालम्बेन समददानवद्विरद-निकुरम्बडम्बरडामरैकहारिणा हरिणा समादिष्टोऽस्मि यथा सखे दशरथ गच्छ त्वं मिथिलां पुरीं यदावेदितं मे मर्त्यमण्डलचाराधिकारचतुरेण चारणचक्रेण यदुत

विकसित पारिभद्र वृक्ष के गुच्छों के समान रमणीय अरुण सन्ध्या से संपृक्त गग-नाङ्गण में आ गये। (सोचकर) अहा ! अन्तरिक्ष में प्रभात समय की क्या विचित्रता है। क्योंकि—

आकाश-मण्डल के भूषण शत्रुओं को परास्त किये हुए सूर्य देव की ऊपर तथा नीचे जाती हुई किरणों ने एक ही साथ आकाश और पृथ्वी के अन्धकार को दूर करना प्रारम्भ कर दिया, आकाश में प्रातःकाल मन्दाकिनी में उत्पन्न होने वाले कमलों का समूह पत्रों के विस्तार को प्राप्त करता हुआ विकसित हो रहा है ॥ ९ ॥

तथा—

वप्र क्रीड़ा से खण्डित दशनाग्र वाला ऐरावत प्रथम गमन के समय भीषण ध्वनि करने वाले डिण्डम से सरकते हुए हाथीवानों द्वारा गजों को दूर हटाये गये अन्त-रिक्ष मार्ग पर मेघ या मन्दाकिनी में स्नान करने के लिए जघन स्थल तक सूंड को डुलाता हुआ निकल रहा है ॥ १० ॥

(स्मरण का नाटक कर)—आर्य मातलि ! समस्त सुरसुन्दरियों से हिलाये जाते हुये चामर के बालों से स्पष्ट जिनके पुष्टकन्धों पर सन्तान पुष्प की माला लटकती है एवं जो मदमत्त रूप दानवों को अकेले नष्ट करते हैं उन इन्द्रदेव ने आदेश दिया है कि सखे दशरथ ! तुम मिथिलापुरी को जाओ क्योंकि मेरे भूमण्डल के चार-कर्म

शङ्करशरासनसमारोपणपणप्रवर्तितसीतास्वयंवरयात्रापरतन्त्रायां मिथिलायां शिथिलाभिमानग्रन्थिमन्थरस्थितिषु सकलपृथ्वीपालेषु।

गात्रं गोत्राचलेन्द्रस्त्रिनयनवलयं यस्य सिञ्जा भुजङ्गो
विष्णुर्बाणः पुराणां त्रयमभयमभूद् दुःखलव्यं शरव्यम्।
धन्वी येनेन्दुमौलिः स च भुवनगुरुस्तद्धनुर्धाम धाम्नां
क्रूरक्रेङ्कारमारात्स्वभुजवलयितं रामभद्रेण भग्नम्॥ ११॥

गुरुधनुर्ध्वंसजनितामर्षविषमेण वीतत्रासरेणुना रैणुकेयेन सह रामभद्रस्य समरसंरम्भो भवितेति तत्र च तत्प्रतिकृत्य वधूवरमयोध्यामध्यारोप्य सुरकार्यशेषसंपत्तये पुनरनाहूतेनोपस्थातव्यमिति। तन्नमुचिसूदनसारथे! कथय स भगवान् पौलोमीवल्लभो भृगुपतिचरितानि बहु मन्यते न वा।

मातलिः—किं नाम बहु मन्यते न वेति शृणु श्रावयामि।

आस्थानसद्मनि विलासगृहे विमाने
जैत्रे रथे च सततं सुरचक्रवर्ती।
रामस्य चित्रलिखितानि कुतूहलेन
वीरो विलोकयति पूर्वविचेष्टितानि॥ १२॥

में चतुर चारण ने बताया है कि शंकर के धनुष पर आरोपण की शर्त से सीता स्वयंवर जिस मिथिला में चल रहा है वहाँ राजाओं की मानग्रन्थि के शिथिल हो जाने पर—

जिसका अंग पर्वतराज था, प्रत्यञ्चा सर्प था, विष्णु बाण थे, अभय त्रिपुर कठिनता से प्राप्य लक्ष्य था एवं जिसके धनुर्धारी त्रैलोक्य गुरु भगवान् शंकर थे वह तेजःपुञ्ज का स्थान धनुष रामभद्र के हाथ में लेते ही सहसा कठोर शब्द करता हुआ टूट गया॥ ११॥

गुरु-शंकर के चाप के टूटने से क्रुद्ध तथा निर्भय परशुराम से राम का युद्ध-प्रसंग होगा अतः सुरकार्य-सिद्धयर्थ उनका निवारण कर वर-वधू को अयोध्या में आरोपण करने के लिये बिना बुलाये भी वहाँ जाना है। तो हे इन्द्रसारथे! बताओ कि वे भगवान् पौलोमी (शची) पति इन्द्र परशुराम के चरित्रों का सम्मान करते हैं या नहीं—

मातलि—वे सम्मान करते हैं या नहीं सुनो सुनाता हूँ—

बैठने के स्थान में, विलासगृह में, विमान में तथा जैत्ररथ में सर्वदा देवराज परशुराम के चित्र में बने पूर्वचरितों को देखा करते हैं॥ १२॥

यदस्यैव पुरन्दरस्यन्दनस्य चतुर्दिशं मत्तवारणीयफलकेषु रामचित्रं लिखितम्। (अङ्गुल्या निर्दिशन्) तत्तावदितो दीयतां दृष्टिः। इयं च प्ररोचना भृगुपतिपराक्रममहानाटकस्य यदुत भगवतस्त्र्यम्बकात् कार्मुकोपनिषल्लाभः।

दशरथः—कथमयं विशालशिलः शिलोच्चयः। तत्रापि हिमालय इति प्रालेयपाण्डुराभिः शिखरश्रेणीभिर्लक्ष्यते।

मातलिः—

शैलेन्द्रो हिमवानयं गुरुगुहागर्भस्थविद्याधरी
गीतत्वच्चरितः कृताश्रमपदो रुद्रेण पत्न्या सह।
एतस्मिंश्चिरजीविभिः परिगतं दिव्यौषधीसेवनात्
कन्दर्पस्य वपुष्मतश्च चरितं राजन्ननङ्गस्य च॥ १३॥

(अन्यतो दर्शयन्) इह धनुर्वेदविद्योपदेशः।

देवस्त्र्यम्बक एष वन्द्यचरणो वृन्दैः सुधाभोजिना-
मत्रास्ते स शरासनोपनिषदं दातुं धृताचार्यकः।
दूरावर्जितमौलयः सरभसाः सद्यः प्रतीच्छन्त्यमी
हेरम्बेण च षण्मुखेन च समं रामादयः सुव्रताः॥ १४॥

दशरथः—अहो मनुष्यमुनिमहाभागधेयो भगवान् भार्गवो यस्य स्वयमर्द्धेन्दुमौलिर्धनुर्वेदविद्याचार्यः।

और इसी इन्द्र-रथ पर चारों ओर मत्तगजदन्त निर्मित फलकों पर राम का चरित बना है (अंगुलि से निर्देश करते हुए) इधर दृष्टि दौड़ाइये—परशुराम के पराक्रम रूप महानाटक की यह प्रशस्ति है जो उन्होंने भगवान् शंकर से धनुर्वेद को प्राप्त किया है।

दशरथ—यह विशाल शिलाओं वाला पर्वत है, उसमें भी हिमालय है, यह हिम से स्वच्छ शिखर श्रेणियों से ज्ञात होता है।

मातलि—बड़ी गुफाओं में स्थित विद्याधरियों द्वारा गाये गये तुम्हारे चरित से शब्दायमान यह हिमालय है। जिस पर रुद्र ने पार्वती के साथ निवास-स्थान बनाया है। हे राजन्! इसमें दिव्यौषधि के सेवन से चिरजीवियों द्वारा शरीरधारी तथा अनङ्ग कामदेव के चरित ज्ञात हैं॥ १३॥

(दूसरी ओर दिखाते हुए) यहाँ धनुर्वेद-विद्या का उपदेश हुआ था—

देववृन्दों से वन्द्य चरणों वाले ये भगवान् शंकर यहाँ धनुर्वेद-विद्या देने के लिये आचार्य बने हैं और ये गणपति और कार्तिकेय के साथ रामादिक व्रतधारी दूर से बलपूर्वक शिर झुकाये हुए सद्यः प्रतीक्षा कर रहे हैं॥ १४॥

दशरथ—अहा! भगवान् परशुराम मानव मुनियों में महाभाग्यशाली हैं जिनके स्वयं चन्द्रशेखर शंकर आचार्य हों।

सौदामिनी— कधं अधिगदोवदेसरहस्सा खुरलीखेलिणो इदो एदे वट्टन्ति किं उण दूरदेसप्पसरो लक्खविक्खेवो णिविडप्पहारितणं च रामबाणाणं सविसेसमालिहिदं एत्थ। [कथमधिगतोपदेशरहस्याः खुरलीखेलिन इत एते वर्तन्ते। किं पुनर्दूरदेशप्रसरो लक्ष्यविक्षेपो निबिडप्रहारित्वं च रामबाणानां सविशेषमालिखितमत्र।]

मातलिः— अहो महदन्तरं प्रज्ञाप्रकर्षस्य तथा हि।

उपदिशति समानं कर्म कृत्स्नं पिनाकी
सममपि च यतन्ते कर्तुमभ्यासमेते।
तदपि भृगुकुलेन्दुः काममुत्कृष्यतेऽसौ
ननु भवति निवीतं द्रव्यमेव क्रियाभिः॥ १५॥

(पुरोऽवलोक्य) अति हि नाम स्वच्छन्दचरितस्याऽपि देवस्य माध्यस्थ्यं। तथा हि—

बर्हिध्वजेऽपि सति सत्यपि दन्तिवक्त्रे प्रेमोपधानमवधूय पिनाकपाणिः।
हस्तेन नित्यधृतवासुकिकङ्कणेन प्राज्ञप्रियः स्पृशति भार्गवमेव पृष्ठे॥ १६॥

(पुरतोऽवलोक्य) कथं खुरलीखेलनप्रसरत्पृषत्कपङ्क्तीनां त्रिनयनान्तेवासिनां चेतसि विरचितं पदं परस्परस्पर्द्धया। (पुनरवलोक्य) कोदण्डपाण्डित्यनिबन्धनः प्रवृत्त एव कलहः।

दशरथः— एवमेवैतत्।

सौदामिनी—उपदेश प्राप्त शस्त्र के खिलाड़ी क्या इधर ही हैं। यहाँ तो राम का दूरस्थ लक्ष्यवेध तथा सघनप्रहारित्व पूर्णतः चित्रित हैं।

मातलि—अहा! प्रज्ञा की श्रेष्ठता का महद् अन्तर है—

शंकर सम्पूर्ण कर्म का समान रूप से उपदेश करते हैं और ये भी समान रूप से अभ्यास करते हैं। फिर भी ये परशुराम अच्छी प्रकार उत्कृष्ट हो रहे हैं—द्रव्य ही क्रियाओं से अलंकृत होता है॥ १५॥

(सामने देखकर) अत्यन्त स्वच्छन्दचारी भगवान् शंकर की यह मध्यस्थता है, क्योंकि—

कार्तिकेय तथा गणेश के होने पर भी प्रेम के बन्धन को छोड़कर बुद्धिमन्तप्रिय भगवान् शंकर नित्य वासुकि नाग के कङ्कणयुक्त हाथ से परशुराम की पीठ ही सहलाते हैं॥ १६॥

(सामने देखकर) शस्त्र के अभ्यास में जिनके बाण चतुर्दिक् प्रसृत हो रहे हैं ऐसे शंकर के शिष्यों के चित्त में परस्पर स्पर्धा ने स्थान कर लिया है, (पुनः देखकर) धनुष में पाण्डित्य सम्बन्धी कलह प्रारम्भ हो गया।

दशरथ—ऐसी ही बात है—

द्वन्द्वारम्भविजृम्भितभ्रुकुटिना भालेन रामे मुनौ
कोदण्डं निबिडाङ्गुलीपरिगमादास्फालयत्यग्रतः।
ज्यानिर्घोषकषायितोदरजुषां गीर्वाणसेनापतेः
षड्वक्त्रीश्रवसां करोति न करद्वन्द्वं पिधानक्रियाम् ॥ १७ ॥

सौदामिनी—एस समरङ्गणसमासण्णकेलाससिहरणिवेमो भअवं वुसहलञ्छणो समं विसाहजणणीए देवीए पेक्खिद णदित्पमुहसेणावदिपरिव्वुदाणं कुमारहेरम्बाणं रामेण सह झति समरसंरम्भविवसिदं। [एष समराङ्गणसमासन्नकैलासशिखरनिवेशी भगवान् वृषभलाञ्छनः समं विशाखजनन्या देव्या प्रेक्षते नन्दिप्रमुखसेनापतिपरिवृत्तयोः कुमारहेरम्बयो रामेण सह झटिति समरसरम्भव्यवसितम्।]

मातलिः—न केवलं पश्यति स्वमनीषिकोत्कर्षिणि शिष्ये किमपि प्रीयते यतः।

सम्यक्कोदण्डविद्या विनयचतुरता कुत्र सोल्लेखरेखा
पुत्रान्तेवासिनोर्मे सपदि परिणतेत्येष वेत्तुं विशेषम्।
देवः श्रीचन्द्रचूडामणिरचलसुतापाणिपद्मावलम्बी
स्थित्वोद्ग्रीवं विटङ्कात् स्फटिकशिखरिणो वीक्षते निश्चलातः ॥ १८ ॥

दशरथः—अति हि प्रीयते यतः—

युद्ध आरम्भ होने से टेढ़ी भ्रुकुटि वाले ललाट से महर्षि राम के सघन अँगुलियों से सामने धनुष को बजाने पर धनुष की प्रत्यञ्चा की टंकार से बधिर कार्तिकेय के छः मुखों के बारह कानों को दो हाथ आच्छादित नहीं कर पाते हैं ॥ १७ ॥

सौदामिनी—समराङ्गण के समीपवर्ती कैलास पर्वत के शिखर पर पार्वती के साथ बैठे भगवान् शंकर नन्दी आदि प्रमुख सेनापतियों से घिरे कुमार और गणेश का परशुराम के साथ सहसा प्रारब्ध युद्ध देख रहे हैं।

मातलि—केवल देख ही नही रहे हैं अपितु अपनी बुद्धि से बढ़ रहे शिष्य पर कुछ प्रसन्न भी हो रहे हैं। क्योंकि—

पुत्रों और शिष्य में धनुर्वेद-विद्या तथा विनय चतुरता विशेषरूप से कहाँ परिणमित हो रही है यह जानने के लिये पार्वती के करकमल का सहारा लिये भगवान् शंकर स्फटित शिखर वाले पर्वत के उन्नत भाग से गर्दन ऊँची कर निश्चल नयन होकर देख रहें हैं ॥ १८ ॥

दशरथ—अत्यन्त प्रसन्न हो रहे हैं। क्योंकि—

नन्दन्नन्दिनि चण्डचण्डचरिते हेलाचलच्चन्द्रम-
स्युद्दामद्विरदास्यहास्यरसवत्याविष्टघण्टामुखे ।
भ्राम्यद्भृङ्गिरिटौ च भङ्गुरगणग्रामे सहैवोमया
संग्रामे प्रहरन्नयं दिशि दिशि प्रेम्णा हरेणेक्ष्यते ॥ १९ ॥

मातलिः—इत इतः पश्य हास्याद्भुतयोरधिष्ठानम् ।

दोर्दण्डद्वितयाञ्चितोन्नतधनुर्यन्त्रप्रसूतेषवः
शुण्डोद्दण्डपरश्वधाः परिणमद्दन्तार्गलाकोटयः ।
एताः कर्णविकीर्णवक्त्रकवचाः संरम्भिणः सङ्गरे
हेरम्बस्य हरन्ति हन्त हृदयं द्राक्कोपविक्रान्तयः ॥ २० ॥

नरनागक्रियामिश्रा हृतरुद्राम्बकक्रियाः ।
दुर्धरा हन्त हेरम्बरणव्यापारकेलयः ॥ २१ ॥

सौदामिनी—कुञ्जराणणरणकम्मणिम्माणपडिविदण जमदग्गिसूणुणा उवक्कन्तं किंपि जेण णासन्तगणग्गामं समज्जिदं विअ समरङ्गणं पडिहाअदि । [कुञ्जराननरणकर्मनिर्माणपरिकोपितेन जमदग्निसूनुनोपक्रान्त किमपि येन नश्यद्गणग्रामं संमार्जितमिव समराङ्गणं प्रतिभाति ।]

दशरथः—साधु सौदामिनि साधु यथा समर्थयेः ।

नन्दी के प्रसन्न होने पर, चण्ड के भीषण चरित्र प्रारम्भ करने पर, अवहेलनापूर्वक चन्द्रमा के विचलित होने पर, उत्कट गणेश के हास्य के उदीप्त होने पर, घण्टामुख (एक गण) के मतवाले होने पर भृङ्गिरिटि के भ्रमण करने पर और गणों के पलायन करने पर संग्राम में प्रत्येक दिशा में प्रहार करते हुए इस (परशुराम) को उमा के साथ ही भगवान् शंकर प्रेम से देखते हैं ।

मातलि—हास्य और अद्‌भुत रस का विषय इधर-देखिये, इधर-देखिये ।

दोनों भुजदण्ड से लम्बे धनुष को लिए हुये बाणों की वर्षा करने वाले तथा शूण्ड में भयंकर फरसा लिये हुए, दाँत रूपी शृंखला की नोक को हिलाये हुये तथा कानों से मुख के आवरणों को विच्छिन्न करने वाले क्रुद्ध गणेश के युद्ध में ये क्रोधपूर्वक वेग से किये गये पराक्रम हृदय को मुग्ध कर देते हैं ।। २०-२१ ।।

सौदामिनी—गणेश के युद्ध से क्रुद्ध परशुराम ने ऐसा किया जिससे गण-समूहों के नष्ट होने से संग्राम संमार्जित (साफ किया हुआ) सा दीखता है ।

दशरथ—ठीक कह रही हो सौदामिनी ठीक कह रही हो—

अत्रैते प्रमथाः सरन्ति सभियः कैलासशैलोच्चयात्
नन्दी भृङ्गिरिटिश्च लूनधनुषावत्रेषुधी मुञ्चतः।
हेरम्बस्य च मुक्तमत्र मधुपैस्त्रासादाद्यन्मुखं
क्रौञ्चारिः परमेष तिष्ठति हसन् सङ्ख्ये शरैः पुङ्खितैः॥ २२॥

(पुरोऽवलोक्य) कथं जामदग्न्यस्य पुरतोऽक्षरावली। (वाचयति)

त्वं पुत्रस्त्रिपुरद्रुहः पुनरहं शिष्यस्तदेतावता
तुल्योऽप्यस्तु कथं तवायमधिकः कोदण्डशिक्षाविधिः।
तत्राधारनिबन्धनो यदि भवत्याधेयधर्मोदयः
स्तद्भोः स्कन्द गृहाण कार्मुकमिदं निर्णीयतामन्तरम्॥ २३॥

मातलिः—भूकाश्यप! पुरतः पश्य सहषण्मुखं संमुखीभूय स्थितवन्तं गजाननं च भृगुपतिः पाशुपतास्त्रेण ज्योतिश्छटाछादितरोदःकन्दरकुहरडामरेण हर्षादुपतिष्ठते।

दशरथः—कथमक्षरावली वाचयति।

क्रोधोद्बोधव्यतिकरसदृङ्निर्भराभ्यासयोग्यो
मद्दोर्दण्डोपगमसदृशस्त्र्यक्षशिष्योचितश्च।
दत्तातङ्को विबुधमनसां कर्तुमद्धा कबन्धं
चापादस्मात् प्रसरतु शरः सम्मुखः षण्मुखेऽपि॥ २४॥

इधर ये प्रमथ भय से कैलास पर्वत से अन्यत्र जा रहे हैं और छिन्न धनुष वाले नन्दी तथा भृङ्गिरिटि यहाँ धनुष छोड़ रहे हैं, यहाँ गणेश मदहीन मुख को भय भ्रमरों ने छोड़ दिया है और यहाँ कार्तिकेय युद्ध में पुंखवाले बाणों से हँसते हुये स्थित हैं॥ २२॥

(सामने देखकर) क्या परशुराम के आगे शब्दावली है? (पढ़ते हैं) आप शंकर के पुत्र हैं और मैं शिष्य—यह तो समान है पर आपकी यह धनुर्वेद की शिक्षा अधिक कैसे? यदि इस विषय में आधेय का गुण आधार के अनुसार अधिक होता है तो हे स्कन्द! इस धनुष को लो और अन्तर का निर्णय हो जाय॥ २३॥

मातलि—राजन्! सामने देखिये। सहसा सामने खड़े कार्तिकेय और गजानन का परशुराम अपनी ज्योति की छटा से पर्वत गुफाओं को प्रभाषित कर रहे पाशुपतास्त्र के सहित प्रसन्नता से सामना कर रहे हैं।

दशरथ—ये क्या अक्षर हैं? (पढ़ते हैं)—

क्रोध की अभिव्यक्ति के अनुरूप, नितान्त अभ्यास के उपयुक्त, मेरे बाहुबल के अनुरूप, शंकर के शिष्य के उपयुक्त तथा देवताओं के मन को आतंकित करने वाला मेरा बाण सम्मुख कार्तिकेय पर भी निश्चित रूप से कबन्ध बनाने के लिये इस धनुष से छूटे॥ २४॥

मातलिः—अत्रान्तरे किञ्चिज्जातम् ।

किञ्चित्कोपकषायितेन मनसा यावत् सतीसूनवे
त्र्यक्षं भृगुनन्दनो निजधनुर्यन्त्रे निधत्ते शरम् ।
हेलास्रस्तदुकूलसंवृतिमती विस्रंसिकाञ्चीलता
तावद्व्याकुलनूपुरं भगवती मध्ये मृडानी स्थिता ।। २५ ।।

दशरथः—(पुरतोऽवलोक्य) अयं तु प्रकृत्युद्धतो रामः कथमित्थमतिप्रश्रयते । तदस्य त्रिभुवनातिशायि चरिताद्भुतं तथाहि—

दृष्ट्वा रामः किसलयसमं पाणिमुद्यम्य सम्यङ्-
मध्ये भूतां गिरिदुहितरं षण्मुखस्यात्मनश्च ।
संहृत्यास्त्रं विधृतशरधिर्मुक्तकोदण्डदण्डः
पादौ मार्जन्नमति नमता प्राग्जटामण्डलेन ।। २६ ।।

सौदामिनी—अहो पसादादिसओ रामम्मि चन्दसेहरस्स सत्थभवं मच्चमण्डलाखण्डल ता इदो पेक्ख [अहो प्रसादातिशयो रामे चन्द्रशेखरस्य तत्रभवन् मर्त्यमण्डलाखण्डल तदितः प्रेक्षस्व ।]

दशरथः—(दृष्ट्वा)

येनात्र खण्डपरशुः परशूत्तमेन शम्भुः सुमेरुतटताडनखण्डितेन ।
रामाय निर्जितवते तमसौ कुठारमस्मै समर्पयति साञ्जलिसंपुटाय ।। २७ ।।

मातलि—इसी बीच कुछ हो गया ।

कार्तिकेय पर कुछ क्रोधयुक्त होकर परशुराम अपने धनुष पर ज्यों ही शंकर-बाण रखते हैं त्यों ही लीला से हिल रहे वस्त्र को सिकोड़े हुये, शिथिल काञ्चीलता वाली तथा व्याकुल नूपुरवाली भगवती पार्वती बीच में आ गईं ।। २५ ।।

दशरथ—(सामने देखकर) स्वभाव से उद्धत ये परशुराम कैसे इस प्रकार अति विनम्र आचरण कर रहे हैं । तो इनके चरित्र त्रिभुवन से ऊपर हैं क्योंकि—

परशुराम अपने तथा षड्मुख कार्तिकेय के बीच में किसलय के समान हाथों को उठाये पार्वती को खड़ी देखकर शस्त्र वापिस कर तरकस-धारण कर तथा धनुष छोड़कर झुक रहे जटामण्डल से पैरों को पोछते हुये प्रणाम कर रहे हैं ।। २६ ।।

सौदामिनी—परशुराम पर चन्द्रशेखर की अतिशय कृपा है । आप भूमण्डल के इन्द्र हैं । इधर देखिये ।

दशरथ—(देखकर)

सुमेरु के तट को ताडित कर काटने वाले जिस परशु के कारण भगवान् शंकर खण्ड परशु कहे जाते हैं उस कुठार को हाथ जोड़े हुये विजयी परशुराम को दे रहे हैं ।। २७ ।।

दत्ते च विद्यास्थानानि देवस्तस्मै चतुर्दश।
शतभङ्गीभवद्भद्रा महतां हि प्रसत्तयः॥ २८॥

सौदामिनी—संके तदोपहुदि रामो परसुरामोत्ति उच्चादि [शङ्के ततः प्रभृति रामः परशुराम इत्युच्यते।]

मातलिः—इदमग्रतः पश्य।

यः शृङ्गाग्रैः सरणिमरुणत् क्रौञ्चशैलः सहेलं
यातुः शम्भोर्धनुरुपनिषत्प्राप्तये पादमूलम्।
सोऽयं कोपाद्वहति विहितं मार्गणैर्भार्गवस्य
छिद्रद्वारं त्रिदिवसरसीहंसयात्रापवित्रम्॥ २९॥

अथेदमग्रतः पश्य अयं हि पितृभक्त्यतिशयः परशुरामस्य यदुतं रेणुका-शिरश्छेदः।

दशरथः-अहह शान्तं पापम्। कथं जमदग्न्यपत्यमपि प्रमाद्यति हंहो पुरुहूतसूत।

सहस्रं हि पितुर्माता गौरवेणातिरिच्यते।
तत्किं पितृगिरा रामो विधत्ते रेणुकावधम्॥ ३०॥

यद्वा निरपराधवधादेष जमदग्निरपि प्रमाद्यतिस्म। (विचिन्त्य) कः पुनरयं मार्गो भार्गवस्य यदिदमपि प्रस्मर्यते।

तथा इन्हें शंकर जी १४ विद्याओं को दे रहे हैं। महान् लोगों की प्रसन्नता सैंकड़ों रूपों से मङ्गलदायिनी होती है॥ २८॥

सौदामिनी—प्रतीत होता है तभी से राम परशुराम कहे जाते हैं।

मातलि—यह आगे देखिये—

जिस क्रौञ्च पर्वत ने शम्भु के पास धनुर्वेद की प्राप्ति के लिये जाते समय अवहेलना पूर्वक पर्वत चोटियों से मार्ग को रोक दिया था वही क्रौञ्च पर्वत राम के बाणों से बनाये गये छिद्र से स्वर्ग के तालाब के हंसों की यात्रा से पवित्र मार्ग को धारण करता है॥२९॥

और यह आगे देखिये। यह परशुराम की अतिशय पितृभक्ति है जो उन्होंने रेणुका का सिर काट दिया।

दशरथ—अहा! चुप रहिये, हे इन्द्रसारथि! जमदग्नि का पुत्र भी कैसा प्रमाद करता है।

गौरव में माता, पिता से सहस्र गुना बड़ी होती है फिर पिता के कहने से परशुराम रेणुका का व्रध कैसे करते हैं?॥ ३०॥

अथवा निरपराध के वध से जमदग्नि भी प्रमाद करते हैं. (सोचकर) यह परशुराम का कौन मार्ग है जो इसे भी स्मरण किया जाता है।

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्यामार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते ।। ३१ ।।

सौदामिनी—(कर्णौं पिधाय) कहं उण भअवदा भग्गवेग सुदं सवणेहिं सुणिअ वा अणुचिदआरि अणुठ्ठिदं परसुधारावावारेण [कथं पुनर्भगवता भार्गवेण शोभते श्रुतं श्रवणाभ्यां श्रुत्वा वाऽनुचितकार्यंनुष्ठितं परशुधाराव्यापारेण ।]

मातलिः—अथाग्रतः पश्य ।

दशरथः— (दृष्ट्वा) कथं प्रत्याप च जीविता पुनरस्य माता ।

मातलिः – आश्चर्यमाश्चर्यम् ।

यावद्वरं न वृणुते किल जामदग्न्य-
स्तुष्टात् पितुः स्वजननीप्रतिजीविताय ।
तावच्छिरः पृथगपि स्थितमस्य मातु-
र्वेगादुपेत्य विदधात्यकबन्धभावम् ।। ३२ ।।

सौदामिनी—तक्खणजणिदजीवितावदाणस्स सोहइ जणणोसिरच्छेदोवि भअवदो भग्गवस्स [तत्क्षणजनितजीवितावदानस्य शोभते जननीशिरश्छेदोऽपि भगवतो भार्गवस्य ।]

प्रमत्त, कार्याकार्य के अज्ञानी तथा कुमार्गगामी गुरु का भी त्याग विहित है ।। ३१ ।।

सौदामिनी—भगवान् परशुराम ने कानों से कैसे सुना और सुनकर परशु की धारा से कैसे अनुचित कर दिया ।

मातलि—और आगे देखिये ।

दशरथ—(देखकर) फिर इनकी माता जीवित कैसे हुई ।

मातलि—आश्चर्य है, आश्चर्य है, आश्चर्य है ।

ज्योंहि प्रसन्न पिता से अपनी माता के पुनर्जीवन के लिये परशुराम वर नहीं मांगते है त्योंही इनका माता का पृथक् पड़ा शिर वेग से जाकर शरीर (धड़) से लग जाता है ।। ३२ ।।

सौदामिनी—सद्यः जीवनदान के कारण परशुराम के द्वारा माता का शिरच्छेद भी शोभित हो रहा है ।

दशरथः—

यच्छिन्नं जननीशिरः पितृवराद्भूयोऽपि यत् संहितं
तच्छिष्यस्य पिनाकिनो महदभूच्चित्रं चरित्रं किल।
तेनैतेन कथाद्भुतेन तु वयं वाचाऽपि लज्जामहे
यद्वा ते गुरवोऽविचिन्त्यचरितास्तेभ्योऽयमस्त्वञ्जलिः॥ ३३॥

मातलिः—इदमन्यद्दृश्यतां द्रष्टव्यम्।

दशरथः—अयं हि प्रचण्डदोर्दण्डसहस्रदुःसहो हैहयनरेन्द्रः श्रूयते।

मातलिः—

इष्टापूर्तपवित्रमाश्रमपदं प्राप्तोऽयमत्रार्जुनो
राजानं जमदग्निरत्र भगवान् सज्जातिथेयोऽर्चति।
धेनोः कामदुहः कृतोऽत्र च मुनेर्वत्सापहारोऽमुना
प्राणान्मुञ्चति चैष गोग्रहविधावार्चीकिरस्मिन् मुनिः॥ ३४॥

सौदामिनी—(पुरतोऽवलोक्य सविचिकित्सम्) अहह अखत्तिअगोत्तोचिदं आचरिदं बाहुसहस्साज्जुत्तेण सहस्सज्जुणेण जं दाणिं समररच्छामुच्छिदभत्तारपरित्ताणणिमित्तं उअरि णिवेसिदणिअसरीरा पडिव्वदाणं पढमोदाहरणं रेणुआ किवाणधारापहारेहिं तहिं तडित्ति ताडिदा [अक्षत्रियगोत्रोचितमाचरितं बाहुसहस्रयुक्तेन सहस्रार्जुनेन यदिदानीं समररथ्यामूर्छितभर्तृपरित्राणनिमित्तमुपरि निवेशितनिजशरीरा पतिव्रतानां प्रथमोदाहरणं रेणुका कृपाणधाराप्रहारैरत्र तडिति ताडिता।]

दशरथ— जो माता का शिरश्छेद हुआ और पिता के वर से जो पुनः जुड़ गया यह शंकर-शिष्य परशुराम का विचित्र चरित्र है। इस अद्भुत कथा को वाणी से कहने में भी हम लज्जा का अनुभव कर रहे हैं अथवा ये महनीय लोग अचिन्त्य चरित्रवाले हैं— इन्हें प्रणाम है॥ ३३॥

मातलि— यह दूसरा दर्शनीय विषय देखिये।

दशरथ— यह तो प्रचण्ड सहस्र भुजाओं से दुःसह हैहयराज है।

मातलि— यहाँ यह अर्जुन इष्टापूर्त से पवित्र जमदग्नि के आश्रम पर पहुँच गया है। आतिथ्य के लिये उद्यत जमदग्नि ऋषि इस राजा की पूजा कर रहे हैं। यह राजा मुनि की कामधेनु के लिए बछड़े को हरण कर रहा है और यह गाय के ग्रहण निमित्तक यहाँ ऋषीक-पुत्र जमदग्नि प्राण-त्याग कर रहे हैं॥ ३४॥

सौदामिनी— (सामने देखकर तथा विचार कर) सहस्रबाहुयुक्त अर्जुन ने अक्षत्रियकुल जैसा व्यवहार किया जो इस समय युद्धभूमि में मूर्छित पति की प्राण-रक्षा के लिये पतिव्रताओं श्रेष्टा रेणुका पर, जो पति के शरीर को आवेष्टित किये हैं तलवार से प्रहार किया।

दशरथः—कथं महतामपि प्रमादः। तदहो क्रिमपि कन्दलितानुरागाः संसारभोगाः।

मातलिः—(पुरतोऽवलोक्य) अयमितो महावीरः पृष्ठासज्जिततूणीरः परमेश्वरोपदिष्टधर्मा सज्जीकृतकार्मुककर्मा परशुधाराज्योतिरुज्जृम्भणडामरः समरपरितोषितामरः सकलारण्यकजननिवेदितवृत्तान्तः साक्षादिव कृतान्तः शिखण्डिकेतुकाण्डावलीभिरप्यप्रहृतः शशिशेखरसेवानिवृत्तः सरभसमितोऽभ्युपेतः। कथमियमग्रतो वर्णावली। (वाचयति)

विद्वान् दारसखः परंपरिणतो नीवारमुष्टिंपचः
सत्यज्ञाननिधिर्दधत् प्रहरणं होमार्जुनीहेतवे।
रे दुःक्षत्रिय किं त्वया मम पिता शान्तो मया पुत्रवान्
नीतः कीर्त्यवशेषतां तदिह ते धिग्धिक्सहस्रं भुजान्॥ ३५॥

मातुः प्रहारत्रयमाहितं मे विनापराधादिह हैहयेन।
निःक्षत्रियां त्वां विनिहत्य तेन त्रिःसप्तकृत्वो जगतीं करोमि॥ ३६॥

भो भो निरवद्यवाचस्तपोधनाः! किं मम कोपप्रशमं परिमार्गध्वं तदस्मिन् परवान् वर्ते।

दशरथ—बड़े लोग भी कैसा प्रमाद कर देते हैं। सांसारिक भोग अनुराग को बढ़ा देते हैं।

मातलि—(सामने देखकर) ये इधर महावीर पीठ पर तरकस बाँधे परमेश्वर से उपदिष्ट धर्मवाले, सन्नद्ध धनुर्धर, परशु की धारा की ज्योति से उद्भासित, युद्ध में देवों को तुष्ट करने वाले सकल वनवासियों से समाचार को सुने हुए, साक्षात् काल-समान षडानन से भी अपराजित शिव की सेवा से निवृत्त परशुराम सहसा यहाँ आ गये। यह आगे क्या शब्द है (पढ़ता है)

वे (जमदग्नि) विद्वान्, सपत्नीक, अत्यन्त वृद्ध, नीवार की मुष्टि से भरण-पोषण करने वाले, सत्यज्ञान के निधि तथा होमीय गाय के लिये अस्त्र-धारण करने वाले थे। रे दुष्ट क्षत्रिय! ऐसे मेरे शान्त पिता को तू ने कीर्तिशेष बना दिया। तुम्हारी सहस्रों भुजाओं को धिक्कार है, धिक्कार है॥ ३५॥

यहाँ हैहय ने बिना अपराध के मेरी माता पर तीन प्रहार किये अतः तुझे मारकर इक्कीस बार पृथिवी को निःक्षत्रिय करता हूँ॥ ३६॥

हे निष्कलुष वाणी वाले तपस्वियो! क्या आप लोग मेरे क्रोध की शान्ति ढूढ़ रहे हैं। इस विषय में मैं पराधीन हूँ।

सा सूतिश्च्यवनान्वये व्रतविधिः सोऽयं च वैखानस-
स्ता एताश्च गुरोरनङ्गदहनात् संस्कारशुद्धाः क्रियाः ।
तत्त्वज्ञानमिदं च यत्किल दया भूतेषु धर्मः परः
सर्वं तत् परिहृत्य मातृवधजः क्रोधानलो जृम्भते ।। ३७ ।।

मातलिः— सत्यसङ्गरः परशुरामः ।
ज्यावल्लीबद्धलङ्केश्वरसकलसुहृद्दीनविज्ञापनायां
दत्त्वा यः कर्णमूचे यदुत चिरतरं शिक्षतां राक्षसेन्द्रः ।
सोऽपि ह्यास्कन्धबन्धत्रुटितभुजतरुर्भार्गवेणैष रोषात्
कीर्तिस्तम्भोपमश्रीः परशुविहृतिभिर्द्राक्कृतः कार्तवीर्यः ।। ३८ ।।

सोदामिनी—सच्चं परसुरामो भअवदो भग्गस्स सिस्सो किं उण भैरवरूव-धारिणो ण उण सदासिवस्स कहं अण्णधा से भुअदण्डखण्डणेक्कमल्ला परक्कमा-रम्भा। [सत्य परशुरामो भगवतो भर्गस्य शिष्यः किं पुनर्भैरवरूपधारिणो न पुनः सदाशिवस्य कथमन्यथास्य भुजदण्डखण्डनैकमल्लाः पराक्रमारम्भाः ।]

दशरथः—
एष त्रिःसप्तकृत्वस्त्रिभुवनतिलको माथकः क्षत्रियाणां
तावद्वा भूतधात्र्याः क्रतुषु गुणवते कश्यपाय प्रदाता ।
स्नाता क्षत्रास्रवापीष्वतनुषु बहलक्रोधवह्निप्रशान्त्यै
पित्रोः किञ्च प्रवीरः सपदि वितरिता तन्निवापाञ्जलीनाम् ।।३९।।

च्यवन के वंश में मेरी वह उत्पत्ति, यह वैखानस की व्रत-विधि, शंकर जी द्वारा कामदहन से ये संस्कार-शुद्ध क्रियायें तथा यह तत्त्वज्ञान कि प्राणियों पर दया ही परम धर्म है—इन सभी बातों को छोड़कर माता के वध से उत्पन्न क्रोधानल धधक रहा है ।। ३७ ।।

मातलि—परशुराम सत्यप्रतिज्ञ हैं ।

जिस कार्तवीर्य अर्जुन ने धनुष की प्रत्यञ्चा में लङ्केश्वर को बाँध कर उसके समस्त मित्रों की दीन याचना पर छोड़ दिया तथा कान में (धीरे से) कहा कि रावण बहुत दिनों तक सीखे उसी अर्जुन को परशुराम ने क्रोध से फरसे की चोट से कन्धे से बाहों को काट कर अपनी कीर्ति स्तम्भ के समान कर दिया ।। ३८ ।।

सौदामिनी—सत्य ही परशुराम भैरवरूपधारी भर्ग (शंकर) के शिष्य हैं, सदाशिव के नहीं, नहीं तो क्यों इसके भुजाओं को काटने का ही पराक्रम करते ।

दशरथ—ये त्रिभुवन-तिलक इक्कीस बार क्षत्रियों के मथनकर्ता और उतनी ही बार यज्ञ में पृथ्वी को गुणवान् महर्षि कश्यप के लिये प्रदाता हैं। घोर क्रोध की शान्ति के लिये इन्होंने क्षत्राणियों की आँसुओं की बड़ी-बड़ी बावलियों में स्नान किया और सद्यः उसी से पिता को निवापाञ्जलि अर्पित की ।। ३९ ।।

(पुरोऽवलोक्य) अहो भार्गवपुङ्गवस्य पराक्रमातिशयो यदियं दशा वर्तते महीपालानां तथा हि ।

याचन्ते गृहिणीमुखैर्नृपतयः स्वप्राणभिक्षामिमे
बध्नन्तश्चरणाग्रयोर्निपतिताः कण्ठे कुठारान् परे ।
लीलादर्पणपाणयो विरचितस्त्रीवेशमेते नताः
किञ्चान्ये विगलन्ति चीवरभृतो द्वार्वेदिकाशायिनः ।। ४० ।।

मातलिः—(पुरोऽवलोक्य) तदिदमतिचरमं चरिताद्भुतं परमेश्वरशिष्यस्य परशुरामस्य ।

दत्त्वा पृथ्वीं जलधिरसनामर्थिने ब्राह्मणाय
स्फारज्योतिःशरविहृतिभिः सिन्धुमुक्ते परान्ते ।
ब्रह्माप्त्यै जयपरशुनास्मिन् समित्काण्डलावः
शिष्यः शम्भोर्विहितवसतिस्तप्यतेऽसौ तपांसि ।। ४१ ।।

दशरथः—किमपरमारम्भपर्यवसानयोरखण्डः खण्डपरशुशिष्यस्य वीरव्रतनिर्वाहः ।

सौदामिनी—उभअं खु एदं अप्पडिहदप्पहावं सुणिमो जं णीललोहिदणीडाललोअणुल्लासी भअवं हुदवहो जं चण्डोसकोअण्डरहस्सोवदेसणीसंदपल्लविदपदावप्पसरो परसुरामोत्ति [उभयं खल्वेतदप्रतिहतप्रभावं श्रृणुमो यन्नीललोहितभाललोचनोल्लासी भगवान्हुतवहो यच्चण्डीशकोदण्डरहस्योपदेशनिष्यन्दपल्लवितप्रतापप्रसरः परशुराम इति ।]

(सामने देखकर) अहा ! भार्गव श्रेष्ठ के पराक्रम का यह परम उत्कर्ष है कि राजाओं की यह दशा है—

ये राजा स्त्रियों के मुख से अपने प्राणों की भिक्षा माँग रहे हैं, तथा ये दूसरे कण्ठ में कुठार मारते समय (या गले में कुठार बांधकर) चरणों में गिर पड़े । ये दूसरे नम्र हुए स्त्रीवेश बनाकर हावभाव के लिये हाथों में दर्पण लिये हैं तथा ये दूसरे चीवर लेकर दरवाजे-दरवाजे पर सोने वाले बनकर भाग रहे हैं ।। ४० ।।

मातलि—(सामने देखकर) यह शिव-शिष्य परशुराम का अद्भुत चरित्र अतिश्रेष्ठ है—

याचक ब्राह्मण को समुद्ररसना पृथ्वी को देकर स्फुट ज्योति शंभु-शिष्य परशुराम शरप्रहार के द्वारा समुद्र से मुक्त इस परान्त प्रदेश में निवास करते हुए जय परशु के द्वारा समिधा काटते हैं और ब्रह्मप्राप्ति के लिये तपस्या करते हैं ।। ४१ ।।

दशरथ—शिव-शिष्य का आरम्भ और अन्त युक्त वीरव्रत का कैसा निर्वाह है ?

सौदामिनी—इन दोनों को अप्रतिम प्रभाव वाला सुनते हैं—एक तो शंकर के मस्तक की आँख में रहने वाला अग्नि और दूसरा शंकर से धनुर्वेद के रहस्य की प्राप्ति से प्राप्त प्रताप वाले परशुराम ।

दशरथः—(समन्तादवलोक्य) आर्य मातले ! महावीरचरितावलोकनपरायत्ते चित्ते न किञ्चित्प्रतिभाति । तत्कथय कतमः पुनरयमन्तरिक्षोद्देशो यत्र वर्तामहे ।

मातलिः—पुरन्दरनगरीतः सप्तमो मर्त्यमण्डलतः प्रथम एष वायुस्कन्धः किं पुनरदूरवर्ति वसुधातलादस्मद्रथगतिः । (रथवेगनाटितकेन) सेयं विदेहनगरो तदिदं च विदेहपतिमन्दिरं तदवतीर्य महाराजदशरथो मामनुजानातु स्वर्गगमनाय सौदामिनीं च । अयं च मिथिलेश्वरप्रतीहारः प्रत्यभिज्ञाय भवन्तमभ्युत्थितः ।

दशरथः—(अवतीर्य) आर्य मातले ! भद्रे सौदामिनि ! साधयतं युवामिति ।

प्रतिहारः—(प्रविश्य प्रणम्य च) इतइतोऽभ्येतु महाराज दशरथः ।

दशरथः—(परिक्रम्य) हंहो सीरध्वजदौवारिक ! अपि वृत्तविवाहमङ्गलो रामभद्रः ।

प्रतीहारः—न केवलं वृत्तविवाहमङ्गलः प्रस्थानोन्मुखश्च वर्तते तदर्थं च महाराजसीरध्वजो विश्वामित्रो रामभद्रलक्ष्मणौ सीता हेमप्रभे च तमिममास्थानमण्डपमधितिष्ठन्ति ।

दशरथः—हृदय ! किमुत्कण्ठसे सवधूटीकं रामभद्रं पश्य । (इति प्रविशतः)

दशरथ—(चारों ओर देखकर) आर्य मातलि ! महान् वीर चरित्र के अवलोकन से पराधीन चित्त में कुछ दिखाई नहीं पड़ता । तो बताइये किस अन्तरिक्ष लोक में हम हैं ।

मातलि—इन्द्रनगरी से सातवाँ तथा मर्त्यलोक से पहला वायुस्कन्ध है हमारी रथ की गति वसुधा के समीप है । (रथ का वेग प्रदर्शित करते हुये) यह विदेह-नगरी है, यह विदेहराज का भवन है । अब महाराज दशरथ उतरकर मुझे और सौदामिनी को स्वर्ग जाने की अनुमति दें । यह मिथिलेश्वर का प्रतीहार आप को पहचान कर उठ गया ।

दशरथ—(उतर कर) आर्य मातलि तथा भद्रे सौदामिनि ! आप दोनों जाँय ।

(प्रतीहार प्रवेश कर तथा प्रणाम कर) महाराज दशरथ इधर से आवें, इधर से आवें ।

दशरथ—(घूमकर) हे सीरध्वज जनक के द्वारपाल ! क्या रामभद्र का विवाह-मंगल संपन्न हो गया ।

प्रतीहार—न केवल विवाहमंगल ही सम्पन्न हो गया है अपितु प्रस्थान के लिये भी तैयार हैं । इसके लिये महाराज जनक, विश्वामित्र, राम-लक्ष्मण और सीता तथा हेमप्रभा इस मण्डप में बैठे हैं ।

दशरथ—हृदय ! क्यों उत्कंठित हो रहे हैं ? वधू के साथ रामभद्र को देखो (प्रवेश करते हैं ।)

(ततः प्रविशन्त्युपविष्टा यथानिर्दिष्टाः सीरध्वजादयः)

शतानन्दः—(सीतायाश्चिबुकमुन्नमय्य)

यस्यास्ते जननी स्वयं क्षितिरियं योगीश्वरोऽयं पिता
मातर्मैथिलि शिक्ष्यते कथय किं तस्याः सुजातेस्तव ।
स्नेहात्केवलमुच्यते पुनरिदं स्त्रीणां पतिर्दैवतं
यद्भूयास्त्वमपास्य धर्ममपरं छायेव रामानुगा ॥ ४२ ॥

सीता—(लज्जते)

जनकः—वत्से वैदेहि ! यदभिधानीयं तदभिहितं कुलगुरुणाऽऽङ्गिरसेन तथाप्यपत्यस्नेह एष मां वाचालयति ।

अभ्युत्थानमुपागते गृहपतौ तद्भाषणे नम्रता
तत्पादार्पितदृष्टिरासनविधिस्तस्योपचर्या स्वयम् ।
सुप्ते तत्र शयीत तत्प्रथमतो जह्याच्च शय्यामिति
प्राच्यैः पुत्रि निवेदिताः कुलवधूसिद्धान्तधर्मा अमी ॥ ४३ ॥

शतानन्दः—जानकि ! इदं च प्रसङ्गानुगतं शिक्ष्यसे ।

निर्व्याजा दयिते ननान्दृषु नता श्वश्रूषु भक्ता भव
स्निग्धा बन्धुषु वत्सला परिजने स्मेरा सपत्नीष्वपि ।
पत्युर्मित्रजने सनर्मवचना खिन्ना च तद्द्वेषिषु
स्त्रीणां संवननं नतभ्रु तदिदं वीतौषधं भर्तृषु ॥ ४४ ॥

(तदनन्तर यथा निर्दिष्ट बैठे हुए जनकादिक प्रवेश करते हैं ।)

शतानन्द—(सीता की ठुड्डी को उठा कर)

मातः मैथिलि ! जिसकी पृथ्वी स्वयं माता है और ये योगीश्वर पिता हैं ऐसी सुजन्म वाली तुम्हें क्या शिक्षा दी जाय। स्नेह से केवल यही कहा जा रहा है कि स्त्रियों का पति देवता है। तुम दूसरे धर्म को छोड़कर केवल राम की वशानुवर्तिनी होना ॥ ४२ ॥

सीता—(लज्जित होती हैं)

जनक—वत्से वैदेहि ! जो कुछ कहने लायक है वह कुल गुरु अङ्गिरस् गोत्रोत्पन्न शतानन्द ने कह दिया फिर भी यह सन्तान-स्नेह मुझे वाचाल बना रहा है ।

हे पुत्रि ! प्राचीन लोगों ने कुलवधुओं के लिये ये सिद्धान्त-धर्म बताये हैं—गृहपति के आने पर उठ जाना, उससे बात करने में नम्रता, उसके पैरों से प्रदत्त दृष्टि का आसन, उसकी स्वयं पूजा, उसके सोने पर सोना और उससे पहले ही शय्या छोड़ देना ॥ ४३ ॥

शतानन्द—यह भी प्रसङ्गात् शिक्षा दी जा रही है—प्रिय तथा ननदों में निर्व्याज (अहैतुक) नम्र तथा सासों की भक्त बनो, बन्धुओं में कोमल, परिजनों में वत्सल, सपत्नियों पर भी स्मितमुखी, पति के मित्र जनों में परिहास वाली, तथा उसके शत्रुओं पर खिन्न बनो—हे नम्र भ्रूवाली सीते ! स्त्रियों का पतियों को वश करने की यह प्रिय औषधि है ॥ ४४ ॥

सीता—(रोदिति)

जनकः—(निःश्वस्य)

सीते संवृणु बाष्पवारि भवती मुग्धा ममेदं मनो
व्युत्पत्त्याऽपि हि याज्ञवल्क्यगुरुतः संसारभागे स्थितम् ।
किञ्चान्यत्कथयामि मे हृदयतो ह्रीमुद्रया प्रोषितं
विश्वामित्रमहामुनेरपि पुरो यल्लोचने साश्रुणी ॥ ४५ ॥

शतानन्दः—कथमिव भगवान् कुशिकनन्दनोऽपि व्रीडाबीजं यस्यास्य ।

सांसारिकैर्वचोभिस्ते सीताविश्लेषजन्मभिः ।
द्रवतीव मनो बाष्पैर्विश्वामित्रमुनेरपि ॥ ४६ ॥

रामः—(स्वगतम्) कथमियं रोदिति । (विभाव्य)

बाष्पोत्पीडः श्लथपुटतया तावदन्तर्निरुद्ध-
स्तूर्णोत्तीर्णस्तरलनयनस्तारकाभ्यां निपातः ।
सान्द्रस्यन्दः सपदि चपलैः पक्ष्मभिः प्रान्तकीर्णः
पूर्णस्रोतास्तदनु सुदृशा लोठितोऽवक्रकण्ठम् ॥ ४७ ॥

(विचिन्त्य) रुदन्त्यपि किमपि जानकी समाधाय मधुरस्य हि मानुषस्य प्रकृतिरेषा । तद्यथाकथमपि रमयति ।

सीता—(रोती है)

जनक—(निःश्वास लेकर)—

हे मुग्ध सीते ! तुम आँसुओं की धारा को रोको । मेरा यह मन याज्ञवल्क्य गुरु से व्युत्पत्ति ज्ञान पाकर भी सांसारिक विषयों में स्थित है और क्या कहूँ मेरा मन तो लज्जित हो रहा है कि सामने महामुनि विश्वामित्र की आँखे अश्रुपूर्ण हैं ॥ ४५ ॥

शतानन्द—कैसे भगवान् विश्वामित्र भी द्रवित हो गये ।

महामुनि विश्वामित्र का भी मन सीता के अलग होने से उत्पन्न आसुओं से द्रवित हो रहा है ॥ ४६ ॥

राम—(स्वगत) क्या यह रो रही है (देखकर)

उष्ण वाष्प की बाढ़ शिथिल बन्ध होने से अन्तः में रुक गयी फिर शीघ्रता से उठ आँखों से गिरने लगी, तरल होने से सद्यः चञ्चल तारकाओं द्वारा प्रान्त भाग में फैल गयी और फिर सुन्दर स्रोत वाली बन कर सीधे कण्ठ तक पहुँच गयी ॥ ४७ ॥

(सोचकर) रोती हुई भी जान कुछ समाधान कर चुप हो जाती है । सुन्दर मनुष्य की यही प्रवृत्ति होती है । वह जिस किसी प्रकार से मन को प्रसन्न करता है ।

सीता—ताद उम्मिलामण्डवीसुदकित्तीहिं समं गमस्सिं [तात उर्मिलामाण्डवी-श्रुतकीर्तिभिः समं गमिष्यामि ।]

विश्वामित्रः—भो ता अपि यास्यन्ति ।

हेमप्रभा—तव सिक्खिदं भअवदा किंपि [तव शिक्षितं भगवता किमपि]

शतानन्दः—अति हि मुग्धा जानकी ।

प्रतीहारः—देवो दशरथो राजन् सम्बन्धी ते समागतः शतक्रतुरथेनायमभ्युत्थानेन पूज्यताम् । (सर्वे सहसा समुत्थाय यथोक्तं कुर्वन्त्युपविशन्ति च)

जनकः—पुरन्दरस्य सखे संबन्धिन् दशरथ ।

मया विना विवाहोऽभूदिति चेतसि मा कृथाः ।
यदासीत् सन्निधौ तत्र स्वयं कुशिकनन्दनः ॥ ४८ ॥

(नेपथ्ये)

उच्चण्डाच्चन्द्रचूडालिकफलकतटालंकृतेरूर्ध्वनेत्रात्
त्रैलोक्याकाण्डरोगज्वरजननगुरोर्मण्डितुर्मण्डलस्य ।
उत्तप्तस्वर्णचूर्णप्रतिकृति विकिरन् दिङ्निकुञ्जेषु तेजः
कोऽयं वेगाद्वपुष्मानिव सरति दृशां बर्हणो बर्हिरुत्थः ॥ ४९ ॥

सीता—तात ! उर्मिला-माण्डवी-श्रुतकीर्ति के साथ जाऊंगी ।

विश्वामित्र—हाँ वे भी जायेंगी ।

हेमप्रभा—भगवान् ने तुझे कुछ सीख दी है ।

शतानन्द—जानकी अत्यन्त मुग्धा है ।

प्रतीहार—हे राजन् ! आपके सम्बन्धी राजा दशरथ इन्द्र के रथ से आये हैं । उठकर इनकी पूजा करिये (सभी सहसा उठकर उसी प्रकार करते हैं और बैठते हैं ।)

जनक—इन्द्र के सखा मेरे रिश्तेदार दशरथ ! यह मत मन में सोचिये कि मेरे बिना यह विवाह हो गया क्योंकि पास तो स्वयं विश्वामित्र ही थे ॥ ४८ ॥

(नेपथ्य में)

त्रैलोक्य का असमय में ही संहार करने वाले जगन्मण्डल के अलङ्कार (भगवान् शिव) के अत्यन्त उग्र चन्द्रमा की चूड़ा वाले ललाट के आभूषण-भूत तीसरे नेत्र से उत्पन्न, तपाये हुए स्वर्ण चूर्ण के समान तेज को दिशाओं में बिखेरता हुआ, नेत्रों को चकाचौंध करने वाला मूर्त्तिमान् अग्नि की भाँति अत्यन्त वेग से यह कौन आ रहा ॥ ४९ ॥

पुनस्तत्रैव—

यत्तूणे परशुर्धनुर्गुणनतं पाणौ शराः पञ्चषाः
कृष्णेणाजिनमक्षसूत्रवलयं यज्ञोपवीतं जटाः।
तन्नूनं जमदग्निजो मुनिवृषा रोषादुपैत्यग्रत-
स्तुल्यं मूर्तिमिवैष बिभ्रदुभयीं वीरस्य शान्तस्य च ॥ ५० ॥

जनकदशरथौ—भगवन्नाङ्गिरस सज्जातिथेयो भव भार्गवोऽतिथिर्भवति।

शतानन्दः—अस्त्यतिथिरयं किं पुनः समरश्राद्धकर्मणि।

रामः—वत्स लक्ष्मण! निखिलवैखानसवन्द्यो वीरग्रामणीः श्रवणपरम्परोत्पादितकौतुकातङ्कमुद्रो भगवान् भार्गवो दिष्ट्या द्रष्टव्यः।

लक्ष्मण—आर्य! न केवलं द्रष्टव्योऽनुभवितव्यश्च।

रामः—के वयं भार्गवानुभवे।

सीता—(अपवार्य) पिअसहि हेमप्पहे चण्डीससिस्सो खत्तिअअन्तअरो अ परशुरामोत्ति सुणिअ पल्लविदकोदूहलवल्ली पज्जविदसज्झसरशपरवसा वट्टामि [प्रियसखि हेमप्रभे चण्डीशिष्यः क्षत्रियान्तकरश्च परशुराम इति श्रुत्वा पल्लवितकौतूहलवल्ली प्रज्ज्वलितसाध्वसरसपरवशा वर्ते।]

हेमप्रभा—जुज्जदि पप्फुल्लकोदूहलत्तणं परशुरामदंसणेणउण ससज्झसत्तणं भग्गधणुद्दण्डचण्डचरिदस्स पुरदो रामअन्दस्स [युज्यते प्रफुल्लकौतूहलत्वं परशुरामदर्शनेन पुनःससाध्वसत्वं भर्गधनुर्दण्डचण्डचरितस्य पुरतो रामचन्द्रस्य।]

तरकस में फरसा है, धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ी है, हाथ में पाँच बाण हैं, कृष्ण मृगचर्म लपेटा हुआ, रुद्राक्ष, यज्ञोपवीत और जटा जो ये चीजें हैं तो निश्चय ही जमदग्नि-पुत्र परशुराम क्रोध से आ रहे हैं, ये वीर और शान्त दोनों की मूर्ति को मानो धारण कर रहे हैं ॥ ५० ॥

जनक और दशरथ—भगवान् शतानन्द आतिथ्य करने के लिये प्रस्तुत हो जाइये, परशुराम अतिथि हो रहे हैं।

शतानन्द—ये तो समरश्राद्ध कर्म के अथिति है।

राम—वत्स लक्ष्मण! समस्त साधुओं में वन्द्य वीर श्रेष्ठ परशुराम जिनकी भयानकता सुनी जाती है भाग्य से दिखाई पड़ेंगे।

लक्ष्मण—आर्य! केवल देखना ही नहीं है अनुभव भी करना है।

सीता—(हटाकर) प्रिय सखि हेमप्रभे! परशुराम शिव के शिष्य तथा क्षत्रियों के नाशक हैं यह सुनकर कुतूहल वाली तथा भयभीत हो गयी हूँ।

हेमप्रभा—परशुराम के दर्शन से कुतूहल तथा शिव-धनुष के दमनकर्ता रामचन्द्र को सामने भय ठीक है।

(ततः प्रविशति सरोषसंभ्रमो जामदग्न्यः)

जामदग्न्यः— भो किमसावकाण्डचण्डो निबिडकडत्कारपूरितरोदसीकन्दरोदरमेदुरो निनदनिस्यन्दः (कर्णं दत्त्वा आकाशे) किं ब्रूथ दाशरथिना रामेण स्थाणवीयं धनुरारोपितमाकृष्टभग्नं च तदुद्भवः कोदण्डकोटरकुटीरकटुरसौ सुटङ्कष्टङ्कारः । (सविषादम्)

पौलस्त्यस्य तिरस्कृतामरपतेस्ते बाहवो विंशति-
र्दम्भोलिव्रणगुच्छलाञ्छनभृतो यस्मिन् गताः कुण्ठताम् ।
तद्भग्नं यदि कार्मुकं भगवतो रामेण चूडावता
धिग् धिङ्मां तदिदं नमः परशवे स्वस्त्यस्तु रुद्राय च ।। ५१ ।।

(विचिन्त्य) (आत्मानं निर्दिशन्) सत्यसङ्गरस्तदेष परशुरामस्तदेकवारं गुरुष्वपि प्रतिज्ञातमर्थं कथयति । यदित्यं कथयन्ति गुणदोषयोर्युगपदापततोर्गरीयसि प्रयतितव्यम् । (अञ्जलिं बध्वा आकाशतः) ।

भोः सर्वे च्यवनादयः शृणुत मे रामस्य विज्ञापना-
माज्ञां वो न च लङ्घयामि किमु तद्भर्गस्य भग्नं धनुः ।
क्षुण्णक्षत्रियमेकविंशतिमतो वारान् विधातुर्जगद्-
द्वाविंशोऽपि ममैष संप्रति पुनर्जातः प्रतिज्ञाक्षणः ।। ५२ ।।

(तब क्रुद्ध परशुराम आते हैं)

परशुराम—ऐ ! अकारण प्रचण्ड तथा सघन कड़कड़ाहट से द्यावा-पृथिवी के अन्तराल को भरने वाला यह कैसा शब्द हुआ है ? क्या कह रहे हो, दशरथपुत्र राम ने शंकर के धनुष को आरोपित्त किया । खींचा और तोड़ दिया उसी से उत्पन्न यह कठोर टंकार है (विषाद से)

वज्र की चोट से चिह्नित तथा इन्द्र को तिरस्कृत करने वाली रावण की भुजायें जिसमें कुण्ठित हो गईं वही भगवान् का धनुष यदि चूड़ाधारी (अर्थात् बालक) राम से टूट गया तो मुझे धिक्कार है, परशु को नमस्कार है, रुद्र को नमस्कार ।। ५१ ।।

(सोचकर) (अपने को निर्दिष्ट करते हुए) यह परशुराम सत्यप्रतिज्ञ है । एक बार प्रतिज्ञात को गुरुओं से भी कहता है । ऐसे विषय में कहते हैं कि गुण-दोष के एक साथ आने पर बड़े के लिये प्रयत्न करना चाहिये । (हाथ जोड़कर आकाश से)

हे समस्त च्यवनादिक ! मुझ राम का कथन सुनिये—आप लोगों की आज्ञा भङ्ग नहीं कर रहा हूँ पर शंकर का धनुष टूट गया है । इक्कीस बार पृथ्वी के क्षत्रियों का विनाश करने वाले मुझ परशुराम की बाइसवीं प्रतिज्ञा का समय आ गया है ।। ५२ ।।

(सहसा परिक्रम्य) (धनुर्भङ्गदर्शनं नाटयित्वा) हा शंकरकरान्दोलनदुर्ललित ! हा त्रिपुरदहनडम्बरहठकर्मकर्मठ ! हा गीर्वाणसारपरमाणुनिर्माण ! हा दुर्जनजनकसदनदुर्निक्षेप ! हा नतसकलनाक पिनाक ! त्वमपीदृशं दृश्यसे तदिदमापतितं ! लूतातन्तुना गन्धगजालानसंदानं सूचीतुण्डेन वज्रमणिभेदः । तथाहि ।

पार्वत्या निजभर्तुरायुधमिति प्रेम्णा यदभ्यर्चितं
निर्मोकेण च वासुकेर्निचुलितं यत् सादरं नन्दिना ।
निर्दग्धत्रिपुरेन्धनं धनुरिदं तन् मन्मथोन्माथिनः
शिष्ये सत्यपि रामनामनि मयि द्वेधा कृतं दृश्यते ।। ५३ ।।

(सक्रोधगर्वं समन्तादवलोक्य) भोभो प्रोषितजामदग्न्यं जगदवीरं मन्यमाना वीरंमन्याः ! क्षणमात्रमवधत्त ।

चूडापञ्चकमण्डनः क्व नु शिशुश्चण्डः क्व चायं मुनि-
नित्याकुण्ठक्षुरप्रखण्डितबृहत्क्रौञ्चाद्रिगर्भान्तरः ।
तत् सर्वानपि वः स्वयंवरविधौ राज्ञः समेतान् ब्रुवे
रामं रक्षत शक्तिरस्ति यदि वः क्रुद्धः पुनर्भार्गवः ।। ५४ ।।

(सहसा घूमकर) (धनुभंग देखने का नाटक कर) हा शङ्कर के हाथों में हिलाने से दुर्ललित ! हा त्रिपुर के नाशन रूप दुष्कर कर्म में कठिन ! हा देवों के सारभूत परमाणुओं से निर्मित ! हा दुष्ट जनक के घर में बुरे निक्षेपभूत ! हा समस्त स्वर्ग को नत रखनेवाले पिनाक ! तुम भी ऐसे दिखाई पड़ते हो यह तो लूता (लता विशेष) के तन्तु द्वारा मदमत्त हाथी के खूंटे में बाँधने की रस्सी तथा सूई को नोक से वज्रमणि का भेद हुआ । क्योंकि—

जो धनुष पार्वती के द्वारा अपने पति का आयुध समझकर सादर पूजित हुआ और नन्दी के द्वारा आदरपूर्वक वासुकिनाग की केंचुली से ढका गया तथा त्रिपुर इंधन के समान जिससे जलाया गया वही कामदेव के मथनकर्ता शिव का धनुष रामनामधारी मुझ शिष्य के रहते हुये भी दो टुकड़ा किया दिखाई पड़ता है ।।५३।।

(क्रोध और गर्व से चारो ओर देखकर) परशुराम के बाहर रहने से संसार को वीरहीन मानने वालो तथा अपने को वीर माननेवालो ! क्षण भर ध्यान देकर सुनो ।

पञ्च चूडा से अलंकृत कहाँ बालक और कहाँ प्रति दिन अबाध वाण से क्रौञ्च पर्वत के अन्तभाग को खण्डित करने वाला यह प्रचण्ड मुनि अतः इस स्वयंवर में आये आप समस्त राजाओं से कहता हूँ कि यदि आप लोगों में शक्ति हो तो राम की रक्षा करें, परशुराम क्रुद्ध हैं ।।५४।।

(कर्णं दत्त्वा आकाशे) किं ब्रूथ वह्निरेव वह्नेर्भेषजं राम एव रामस्य रक्षिता। न परवीर्यरक्षणीयं रघुकुलमिति। (विभाव्य) न निजवीर्यरक्षणीयं नापरवीर्यरक्षणीयं रघुकुलं नीललोहितान्ते वासिनि रामेऽभियोक्तरि (विचिन्त्य) अहो कालपरिपाको यदश्रुतपूर्वाणि वचांसि श्रूयन्ते यदनालोकितचराणि चालोक्यन्ते (सखेदम्)। इदं च दुःसहतरं निकारान्तरम् (हस्तमवधूय)

अद्यापि धिक्किमिव जीवति भार्गवोऽसौ
बाणावलूनगुहवाहनबर्हदाम्नः ।
यस्यावमत्य गुरुदत्तमिमं कुठारं
डिम्भोऽपि राम इति नाम यदस्य हर्ता ।। ५५ ।।

(कर्णं दत्त्वा आकाशे) किं ब्रूथ केन न वर्णितं दाशरथेः शंकरकार्मुकारोपणं को न विस्मितश्चन्द्रभङ्गेन (साक्षेपम्) किमुक्तं केन न वर्णितमित्यादि (पठति) तच्छृणुत भोः।

यः कर्ता हरचापदण्डदलने यश्चानुमन्ता ननु
द्रष्टा यश्च परीक्षिता च य इह श्रोता च वक्ता च यः ।
सद्यः खण्डितकण्ठपीठवलयः केलिं करिष्यत्ययं
कीलालोल्लसितस्य तस्य परशुर्भर्गप्रसादीकृतः ।। ५६ ।।

(कान देकर आकाश में) क्या कहते हो ! अग्नि ही अग्नि का औषध है, राम ही राम के रक्षक हैं। रघुकुल दूसरे के पराक्रम से रक्षणीय नहीं हैं। (सोचकर) शङ्कर के शिष्य परशुराम के अभियोक्ता होने पर रघुकुल न तो अपने वीर्य से रक्षणीय है और न दूसरे के वीर्य से रक्षणीय है (सोचकर) समय का परिपाक धन्य है जो पूर्व में न सुने गये वचन सुनाई पड़ रहें हैं, और न देखी गई वस्तुएँ दीख रही हैं (खेद-सहित) यह दुःसह अपमान है (हाथ हिलाकर)—

धिक्कार है कि आज भी यह भार्गव जी रहा है जिसने कार्तिकेय के वाहन मयूर की बाणों के द्वारा काटी गई पूछों की माला बनाई थी। उसी के गुरु-प्रदत्त इस कुठार की अवहेलना कर बालक राम ने इसे तोड़ दिया ।।५५।।

(आकाश में कान देकर) क्या कहते हो ! कि राम के चापारोपण का किसने वर्णन नहीं किया और कौन धनुर्भंग से विस्मित नहीं हुआ (आक्षेप से) क्या कहा किसने वर्णन नहीं किया (इत्यादि दुहराते हैं) तो तुम लोग सुनो—

जो शङ्कर-चाप का भंगकर्ता है, जो अनुमति देने वाला है, जो दर्शक है, जो परीक्षक है, जो श्रोता है और जो वक्ता है—उन सभी के रक्त से प्रसन्न यह शङ्कर प्रदत्त फरसा कण्ठों को काटकर क्रीडा करेगा ।।५६।।

(सरभसं परिक्रम्य) भो विदेहेश्वरशुद्धान्तसंचारिणः कुब्जवामनकिरातवर्षवर-सौविदल्लाः ! क्व रामो दाशरथिः नन्वेष भार्गवोऽभ्युपैति ।

लूनक्षत्रियकण्ठमण्डलगलत्कीलालकुल्याभृत-
प्राग्भारेषु सरःसु यस्त्रिषु रुषा चक्रे निवापक्रियाम् ।
श्रुत्वा धूर्जटिचापदण्डदलनं नाम्नश्च सापत्नकं
रामो राममयं स्वयं गुहसहाध्यायी समन्विष्यति ।। ५७ ।।

रामः—वत्स लक्ष्मण ! दूरत्वादविभावितेनापि तारतरेण वचसा सरोषसंभ्रमो भार्गवो मुनिः प्रतिभाति ।

(जामदग्न्यस्तदेव पठति)

रामः—(सरभमुपसृत्य) भगवन् भार्गव ! सदयं प्रसीद सदाचार इति रामोऽभिवादयितुकामः ।

जामदग्न्यः—(विहस्य) नाभिवादनप्रसाद्यो रेणुकासूनुः गरीयान् हि गुरुधनुर्भङ्गापराधः । किं न श्रुतम् ।

अपि कालस्य यः कालः कण्ठे कालो महेश्वरः ।
भार्गवस्तस्य शिष्योऽहं निसर्गनिरवग्रहः ।। ५८ ।।

(वेग से घूमकर) हे विदेहेश्वरजनक के शुद्ध अन्तःपुर में रहने वाले कुब्ज, वामन, किरात (अश्वपाल या वामन) वर्षवर (स्त्री परिचारक) तथा सौविदल्लो ((स्त्री परिचारक) ! दशरथ-पुत्र राम कहाँ हैं ? यह भार्गव आ रहा है—

जिसने पहले काटे गये क्षत्रियों के कण्ठ से निकल रहे रक्त नालियों से बने तीन तालाबों में पितरों की निवाप-क्रिया की वही कार्तिकेय का सहपाठी परशुराम स्वयं शंकर के चाप का दमन सुनकर नाम के शत्रु राम को ढूंढ रहा है ।।५७।।

राम—वत्स लक्ष्मण ! दूर होने से अस्पष्ट उच्च वाणी से क्रुद्ध भार्गव मुनि प्रतीत हो रहे हैं ।

(जामदग्न्य वही पढ़ते हैं)

राम—(जल्दी से जाकर) भगवन् भार्गव ! दया कर प्रसन्न होइये । सदाचार समझकर राम प्रणाम करना चाहता है ।

जामदग्न्य—(हँसकर) रेणुका का पुत्र अभिवादन से प्रसन्न होने वाला नहीं है । गुरु के धनुष को तोड़ने का अपराध बड़ा है । क्या नहीं सुना है—

काले कण्ठ वाले जो महेश्वर काल के भी काल हैं प्रकृत्या आसक्तिहीन परशुराम उनका शिष्य हूँ ।।५८।।

ततश्च—

मध्येनरेश्वरसभं रभसेन येन मुक्तं धनुस्तडिति च त्रुटितं गुरोर्मे ।
रामेऽपि नाम भजतां भुजदण्डयुग्ममुद्दामधामनि तदेतदकाण्डचण्डम् ।। ५९ ।।

रामः—(सविनयं) केयमक्षान्तिर्भगवतो मुग्धबुद्धिषु मादृशेषु पुत्रभाण्डेषु। पश्यतु हि तपोराशिः ।

बाह्वोर्बलं न कलितं न च कार्मुकस्य त्र्यैम्बकस्य तनिमा तत एष दोषः ।
तच्चापलं परशुराम मम क्षमस्व डिम्भस्य दुर्विलसितानि मुदे गुरूणाम् ।। ६० ।।

जामदग्न्यः—किं नाम तपोराशिरहं न शौर्यराशिः ? किञ्च रे निर्दर्शितलाघव राघव ! स्ववर्णनापरं सगर्वमभिहितं तदाकर्णय यत्ते करोमि ।

त्रुटितनिबिडनाडीचक्रवालप्रणाल-
प्रसृतरुधिरधारार्चचितोच्चण्डरुण्डम् ।
मडमडितिमृडानीकान्तचापस्य भङ्क्तुः
परशुरमरवन्द्यः खण्डयत्यद्य मुण्डम् ।। ६१ ।।

रामः—

स्वायत्तेन कुठारेण स्वाधीने राममूर्द्धनि ।
यथेष्टं चेष्टतामार्यस्त्वदाज्ञां को निषेधति ।। ६२ ।।

तो—

जिस (भुज-युग्म से) राज-सभा में बलपूर्वक मेरे गुरु के धनुष को तुमने चढ़ाया तथा तड़तड़ाकर तोड़ दिया, वही अत्यन्त भीषण भुजदण्ड-युगल प्रचण्ड तेजस्वी राम के साथ भी युद्ध करे ।।५९।।

राम—(विनय से) मुझ जैसे मूढबुद्धि पुत्रकल्प लोगों पर यह आपकी अक्षमा कैसी ? तपस्वी आप देखें—

न तो बाहुबल का ख्याल किया और शङ्कर के धनुष की कमजोरी का इसलिये यह दोष हो गया । इस चंचलता को परशुराम क्षमा करें । बालक के दुर्विलास गुरुओं को प्रसन्न करते हैं ।।६०।।

जामदग्न्य—क्या मैं तपोराशि (तपस्वी) ही हूँ शौर्यराशि (पराक्रमी) नहीं ? अरे ! अपना वर्णन गर्व से करने वाले तथा (मेरी) लघुता दर्शाने वाले राघव ! जो मैं करता हूं उसे सुनो—

देवताओं द्वारा वन्दित फरसा आज मरमराते हुए शिव-धनुष को तोड़ने वाले (राम) के टूटे हुए सघन शिराओं के समूह से नालियों जैसी बहती हुई रुधिर-धाराओं से व्याप्त, भयङ्कर कवन्ध वाले शिर को काट डाले ।।६१।।

राम—कुठार आपके अधीन है और राम का शिर भी आपके अधीन है अतः जैसी आपकी इच्छा हो वैसा व्यवहार करिये । आपकी आज्ञा का निषेध कौन करता है ? ।।६२।।

जामदग्न्यः—यः प्रेतनाथस्यातिथ्यमनुभवितुकामः ।

रामः—(अञ्जलिं बद्ध्वा)

अनूचानं भवत्या भृगुभव भवन्तं प्रणमति
क्रुधः शान्त्यै रामस्तदिह सुकुमारं कुरु मनः ।
हठान्न्यस्यत्कण्ठे परशुमपि नोत्तेजयसि मां
रघूणां ब्रह्माणः किमपि यदमी गोत्रगुरवः ।। ६३ ।।

जामदग्न्यः—(विहस्य)

रुद्राणीधर्मसूनुर्विशिखविलिखनच्छिन्नक्रौञ्चाद्रिकुञ्जः
स्कन्दावस्कन्ददायी कृतरणरसिकक्षत्रियक्षोदकेलिः ।
दत्तोर्वीनव्यभिक्षः शरविधुतपयोराशिबद्धाश्रमोऽहं
श्रेष्ठः श्रीकण्ठशिष्यो धनुषि धृतरतिर्ब्राह्मणो रैणुकेयः ।। ६४ ।।

शतानन्दः—किमुच्यते वीरवर्गवरिष्ठः श्रीकण्ठशिष्यो । जामदग्न्यः यदिहापि राजन्यपोते भार्गवो धनुर्धारयति तदसावस्यैवापराधो यदुत्फुल्लफणं फणावन्तं न पश्यति । स तस्यैव दोषः । ततः—

पक्वकर्पूरनिष्पेषमयं निरपिषत् त्रयम् ।
मम व्रीडां च चण्डीशचापं च स्वं च जीवितम् ।। ६५ ।।

जामदग्न्य—जो यमराज का आतिथ्य अनुभव करना चाहता है ?

राम—(हाथ जोड़कर) हे भृगुवंशोत्पन्न ! आप श्रेष्ठ को क्रोध की शान्ति के लिये राम भक्ति से प्रणाम करता है । अतः इस विषय में मन को कोमल करिये । हठ से कण्ठ में फरसा चलाने हुये भी आप मुझे उत्तेजित नहीं कर रहे हैं क्योंकि रघुवंशियों के ब्राह्मण गोत्र (वंशपरम्परा से) गुरु हैं ।।६३।।

जामदग्न्य—(हँसकर) रुद्राणी का धर्मपुत्र, बाणों की चोट से क्रौञ्चपर्वत को भिन्न करने वाला, स्कन्द को भगाने वाला, संग्राम में क्षत्रियों के विनाश की लीला करने वाला, पृथ्वी की नवीन भिक्षा देने वाला, बाण से समुद्र को हटाकर आश्रम बनाने वाला, शिव का श्रेष्ठ शिष्य और धनुष से प्रेम करने वाला मैं रेणुका का पुत्र ब्राह्मण हूँ ।।६४।।

शतानन्द—क्या कहा जाय शिव-शिष्य परशुराम वीरसमूह में श्रेष्ठ हैं । यदि यहाँ इस राजकुमार पर भी परशुराम धनुष-धारण करते हैं तो यह उनका ही अपराध है जो फण निकाले हुये सांप को नहीं देख रहे हैं । यह उन्हीं का दोष है । तो—

इसने पके कपूर की भाँति तीन को पीस डाला—मेरी लज्जा को, शिव के धनुष को और अपने जीवन को ।।६५।।

जनकः—कथं संन्यस्तशस्त्रग्रहणस्यापि मम पुनरस्त्रग्रहणक्षणो वर्तते। (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) कः कोऽत्र भोः धनुर्धनुः।

(पुरुषः प्रविश्य धनुरुपनीय निष्क्रान्तः)

जनकः—(धनुरादाय)

चण्डीशचापमवमन्तरि राक्षसेन्द्रे
शस्त्रत्यजाऽपि धृतमेव मया त्वमासीः।
रामाय कार्मुक पुनः परिगृह्यसेऽद्य
वत्सेऽपि वाञ्छितवतेऽनुचितं चरित्रम्॥ ६६॥

(समाधाय)

प्रणमति जनकस्त्वां देवि दिव्यास्त्रविद्ये
मम धनुषि पुराणे सन्निकर्षं कुरुष्व।
परिभवति मदग्रे भार्गवो रामभद्रं
प्रहिणु तदिह बाणान् वार्द्धकं मां दुनोति॥ ६७॥

दशरथः—संबन्धिन् जनक! कृतं कृतं कार्मुकपरिग्रहेण। किमिति प्रादुर्भूत-साहसावतंसमपि जामातरमवजानासि। पश्य

जनक—शस्त्र-ग्रहण जिसने छोड़ दिया तथाभूत मेरे भी शस्त्र-ग्रहण का समय कैसे आ गया (नेपथ्य की ओर देखकर) कौन है यहाँ ? धनुष-धनुष।

(पुरुष आकर धनुष लाकर चला जाता है)

जनक—(धनुष लेकर) हे धनुष! शङ्कर के धनुष के अपमानकर्ता रावण के प्रति मैंने तुझे धारण किया था फिर अब राम के लिये तुम धारण किये जाते हो। अभीष्ट वत्स (राम) के प्रति अनुचित व्यवहार हो रहे हैं॥६६॥

(समाधान करके)

हे दिव्यास्त्रविद्ये। जनक तुम्हें प्रणाम करता है। मेरे प्राचीन धनुष पर सन्निकर्ष कर। मेरे सामने परशुराम राम का तिरस्कार कर रहे हैं अतः बाणों का प्रहार करो। वार्धक्य मुझे दुःखी कर रहा है॥६७॥

दशरथ—सम्बन्धी जनक! शस्त्र-ग्रहण करके ही आपने पर्याप्त कर दिया। साहस के अवतारभूत दामाद की क्यों अवहेलना कर रहे हो। देखो—

यस्योत्पत्तिर्दिनकरकुले यं महाभागधेयं
विश्वामित्रो धनुरुपनिषद्येकशिष्यं व्यधत्त।
श्रीकण्ठीये बलमविकलं यस्य चापे च दृष्टं
तस्यान्यस्माद्यदि परिभवः स्वस्ति वीरव्रताय॥ ६८॥

विश्वामित्रः—महाराजसीरध्वज ! यथाह संबन्धी ते दशरथः। (धनुरपनीय जामदग्न्यं प्रति)

रामः शिष्यो भृगुभव भवान् भागिनेयीसुतो मे
वामे बाहावुत तदितरे कार्यतः को विशेषः।
दिव्यास्त्राणां तव पशुपतेरस्य मत्तस्तु लाभ-
स्तत् त्वां याचे विरम कलहादार्यकर्मारभस्व॥ ६९॥

जामदग्न्यः—मातुर्मातुल ! न किञ्चिदन्तरं भवतो भवामीवल्लभस्य च न किंचिदन्तरं क्षत्रियबटोस्त्वदन्तेवासिनः क्षत्रियान्तकरस्य शङ्करशिष्यस्य वा ?

शतानन्दः—अतिनिरर्गलवाग्भार्गवो यद्गुरुष्वपि नानुरुध्यते।

जामदग्न्यः—किञ्च भोः स्वभुजोपार्जितब्रह्मभाव ! न शस्त्रग्रहणाधिकारः संबन्धमनुरुध्यते।

रामः—ब्रह्मर्षे जामदग्न्य ! कः पुनरयं शस्त्रग्रहणाधिकारो यद्गुरुष्वपि तिरष्कारः।

जिसकी सूर्य-वंश में उत्पत्ति है और जिसे विश्वामित्र ने धनुर्वेद सिखा कर एकमात्र शिष्य बनाया तथा जिसका अविकल बल शङ्कर-धनुष पर देखा गया। ऐसे की यदि दूसरे से पराजय हो तो वीरव्रत का भला हो ! ॥६८॥

विश्वामित्र—महाराज सीरध्वज ! जैसा आपके सम्बन्धी दशरथ ने कहा वह ठीक है। (धनुष हटाकर परशुराम से)

हे परशुराम ! राम मेरे शिष्य और आप मेरी बहन के नाती हैं—अतः आप दोनों बाँयें और दाहिने हाथ हैं—कार्य से कौन विशिष्ट कहा जाय ? आपने दिव्यास्त्रों को शंकर से और इसने मुझसे प्राप्त किया है अतः आपसे प्रार्थना करता हूँ कि कलह से रुकिये और सज्जन पुरुषों का आचरण करिये ॥६९॥

परशुराम—मेरी माता के मामा ! आप और शंकर में कोई अन्तर नहीं तथा आपके शिष्य क्षत्रिय बालक राम तथा क्षत्रियान्तक शंकर-शिष्य में कोई अन्तर नहीं ?

शतानन्द—परशुराम अत्यन्त निरर्गल बोल रहे हैं जो गुरुओं से भी नहीं रुकते।

परशुराम—हे अपने बल से ब्राह्मणत्व प्राप्तकर्ता ! शस्त्र-ग्रहण का अधिकार संबन्ध का ख्याल नहीं करता।

राम—ब्रह्मर्षे परशुराम ! यह कौन सा शस्त्र-ग्रहण का अधिकार है जो गुरुओं का भी तिरस्कार कर रहे हैं। —

जामदग्न्य—(सभ्रुकुटीभङ्गम्) आः क्षत्रियखेट बटो ! वाचाटोऽसि ।

भग्नरुद्रधनुः खण्डप्रोतेन शिरसा तव
मुण्डधारी व्रती चाहमुपस्थास्ये कपालिनम् ।। ७० ।।

रामः—भगवन् ! किं पुनरिमाः सर्वंकषा रोषवाचः ।

सर्वत्यागी परिणतवयाः सप्तमः पद्मयोनेः
शिष्यः शम्भोरिति च यदि वः प्रश्रयी रामभद्रः ।
तत् किं भीमा भ्रुकुटिघटना तामिमां नास्मि सोढा
वोढा वीरव्रतविधिमयं यद्गुरुर्व्रीडमेति ।। ७१ ।।

जामदग्न्यः—ततः किम् ?

रामः—ततश्चेदम् ।

यस्याचार्यकमिन्दुमौलिरकरोत् स ब्रह्मचारी चिरं
जातो यत्र गुहश्चकार च भुवं यद्गीतवीरव्रताम् ।
तत्कोदण्डरहस्यमद्य भगवन् द्रष्टैष रामः स ते
हेलोज्जृम्भितजृम्भकेण धनुषा क्षत्रं च नालं वयम् ।। ७२ ।।

जामदग्न्यः—साधु रे क्षत्रियडिम्भ ! साधु साधु मातुर्मातुलशिष्य ! साधु साधु ताडितताडकाकुटुम्बक ! साधु साधु भग्नभर्गबाणासन ! साधु साधु रैणुकेयरण-रसिक ! साधु, किन्तु ।

परशुराम—(भ्रुकुटी टेढ़ीकर) अरे क्षत्रियाधम बालक ! तुम वाचाट हो ।

टूटे शंकर के धनुष-खण्ड में तुम्हारे शिर को लगाकर मैं मुण्डधारी व्रती शंकर के पास जाऊँगा ।। ७० ।।

राम—भगवन् ! सबको दुःखी करने वाली ये रोषभरी वाणियाँ क्यों ?

आप सर्व त्यागी, वृद्ध, ब्रह्मा से सातवें तथा शंकर के शिष्य हैं । अतः राम आपके प्रति नत है । तो फिर भयंकर भ्रुकुटि क्यों बना रहे हैं । वीरव्रत-विधि को ढोनेवाला मैं यदि गुरु दुःखी न हो तो सहन नहीं कर सकता । ।। ७१ ।।

(परशुराम तो फिर)

राम—उसके बाद यह—

भगवान् शंकर जिसके गुरु रहे, जिसके सहपाठी चिरकाल तक कार्तिकेय थे, जो पृथ्वी को अपने वीरोचित आचरण के गुणगान से भर दिया उस धनुर्वेद की शिक्षा को यह राम आज उपेक्षापूर्वक जृम्भकास्त्रों को प्रकट करने वाले धनुष से देखेगा, क्षात्र-तेज का आश्रय नहीं लूगा ।। ७२ ।।

परशुराम—साधु रे क्षत्रिय बालक साधु ! माता के मामा के शिष्य ! तुम्हें धन्यवाद है । ताड़का के कुटुम्ब को मारनेवाले ! तुम्हें धन्यवाद है । परशुराम से युद्ध के रसिक ! तुम्हें धन्यवाद है । किन्तु—

चापं वृषाकपिनिरस्तसमस्तसारं द्वेधा विधाय रघुनन्दन मा स्म दृप्यः।
वैकुण्ठकार्मुकमकुण्ठकठोरभावमारोपयैतदिह चेत् तव शक्तिरस्ति ।। ७३ ।।

(इति धनुरर्पयति)

लक्ष्मणः—(पुरोभूयादाय च धनुः) आर्य ! आर्य ! आर्यालाभपणैकप्रणयिनि शकरकार्मुकारोपणे के नामान्ये दोर्दण्डचण्डिममात्रारोप्ये तु वैष्णवे धनुषि सति पदातिलवे लक्ष्मणे न प्रभुरार्यः।

सीता—(स्वगतम्) वच्छ लक्खण सुलक्खणोसि जो राहवकुलोचिदचरिदधुरं धारेसि [वत्स लक्ष्मण ! सुलक्षणोऽसि यो राघवकुलोचितचरितधुरं धारयसि ।]

विश्वामित्रः—रामभद्रे भग्नधूर्जटिधनुषि ज्यायसि कनीयसो भ्रातुरुचितमेव माधवीयं चापमारोपयितुं भङ्क्तुं वा ।

(लक्ष्मण आरोपयति)

शतानन्दः—

दोर्दण्डन्यासलीलानमदटनि तडत्कारि नारायणीयं
सद्यः सज्जीकृतज्यं विरचयति धनुर्लक्ष्मणे स्थामलक्ष्म।
रामस्याद्यस्य दत्तं मुखशशिनि पदं कालिकालाञ्छनेन
न्यस्तं नव्यस्य भव्ये कुमुदवनभुवा द्राविस्मतज्योत्स्नया च ।। ७४ ।।

समस्त सारों से निर्मित और शंकर द्वारा त्यक्त धनुष को दो टुकड़ा कर हे राम ! घमण्ड न करो। यदि तुममें शक्ति है तो नितान्त कठोर इस वैकुण्ठ (वैष्णव) धनुष का आरोपण करो ।। ७३ ।।

(ऐसा कहकर धनुष देते हैं)

लक्ष्मण—(आगे बढ़कर धनुष लेकर) आर्य ! आर्य ! आर्या जानकी के लाभ रूप एकमात्र पण वाले शंकर के धनुष के आरोपण कर लेने पर भुजदण्ड की भीषणता से ही चढ़ाने योग्य विष्णु के धनुष के लिए साधारण पदाति (पैदल सैनिक) लक्ष्मण के रहते हुए आर्य अधिकारी नहीं हैं।

सीता—(स्वगत) वत्स लक्ष्मण ! तुम सुलक्षण हो कि राघव-कुल के अनुरूप चरित्र की धुरा को धारण कर रहे हो।

विश्वामित्र—रामचन्द्र के द्वारा श्रेष्ठ शंकर के धनुष के टूट जानेपर छोटे भाई द्वारा माधव के धनुष का आरोपण या भङ्ग उचित ही है।

(लक्ष्मण आरोपित करते हैं)

शतानन्द—लक्ष्मण द्वारा बाहुदण्ड पर रखने की कला से झुकती हुई प्रत्यञ्चा वाले, तड़ाके का शब्द करने वाले खिंची हुई मौर्वी वाले, विष्णु के धनुष को आरोपित करने पर प्रथम राम (परशुराम) के मुख-चन्द्र पर काले चिह्न ने तथा दूसरे राम (रामचन्द्र) के भव्य मुखचन्द्र पर कुमुद वन में उत्पन्न होने वाली स्थित ज्योत्स्ना ने स्थान बनवाया ।। ७४ ।।

विश्वामित्रः—योगिन् जनक ! सखे दशरथ ! रामभद्रभ्रातृत्वमति हि निर्व्यूढमिक्ष्वाकुकुललक्ष्मणो लक्ष्मणस्य ।

हेमप्रभा—सहि जाणाइ पेक्ख देवरस्स दे भत्तुसरिसं परक्कमं ता सुभणिदं अज्जेण णिद्दलिदसङ्करसरासणे जेट्ठे कणिट्ठभादुणो समुचिदं जेव्व वैकुण्ठबाणासणविणासणम् । अण्णं कधेमि । [सखि जानकि प्रेक्षस्व देवरस्य ते भर्तृसदृशं पराक्रमं तत् सुभणितमार्येण निर्दलितशङ्करशरासने ज्येष्ठे कनिष्ठभ्रातुः समुचितमेव वैकुण्ठबाणासनविनाशनम् । अन्यत् कथयामि ।]

धणुविब्भमोमज्झणिविट्ठमुट्ठिणिबन्धरणन्तणिअदण्डम् ।
चलई जेइअणिवडन्तचडुलगुणघग्घरूसूसम् ।। ७५ ।।

[धनुर्विभ्रमो मध्यनिविष्टमुष्ठिनिवन्धरणन्निजदण्डम् ।
चलति जेप्यनिपतच्चटुलगुणघर्घरोच्छोषम् ।।]

बह्मण्डभण्डभिन्दणवाउलपडुरवगुणमिस्सो ।
सन्धिज्जदि पअडपओदमण्डणाडम्बरुड्डामरो ।। ७६ ।।

[ब्रह्माण्डभाण्डभेदनव्यापृतपटुरवगुणमिश्रः ।
सन्धीयते प्रकटपयोदमण्डनाडम्बरोड्डामरः ।।]

सवणन्तघडिअगुणलच्छिणीबिडकुडिलन्तकोडिकुण्डलिअम् ।
झणझणइ झत्ति पुणरुत्तिमञ्जुसिञ्जारव चावम् ।। ७७ ।।

विश्वामित्र—योगी जनक ! मित्र दशरथ ! इक्ष्वाकु-कुल के चिह्नभूत लक्ष्मण का राम का भ्रातृत्व अत्यन्त प्रकट है ।

हेमप्रभा—सखी जानकि ! अपने देवर का भाई के समान पराक्रम देखो । अतः आर्य ने ठीक ही कहा है कि जेठे भाई के द्वारा शिव का धनुष तोड़ देने पर छोटे भाई द्वारा वैष्णव धनुष का विनाश ठीक ही है और कहती हूँ—

लक्ष्मण द्वारा उपेक्षापूर्वक मध्य में मुष्टि से पकड़े जाने से शब्दायमान दण्ड वाला पराजित होने वाले भार्गव का धनुष चञ्चल मौर्वी से घर्घर शब्द करता हुआ काँप रहा है ।। ७५ ।।

ब्रह्माण्ड रूपी पात्र को फोड़ने के लिए उद्यत महान् नाद वाली प्रत्यञ्चा से बाँधा हुआ धनुष प्रचण्ड मेघमण्डल के गर्जन के समान भीषण स्वर करता हुआ आकृष्ट किया जा रहा है ।। ७६ ।।

कान तक खिंची हुई प्रत्यञ्चा से दृढ़ता के साथ टेढ़ी कोटि से चक्राकार धनुष अधिक टंकार करता हुआ वेग से झनझना रहा है ।। ७७ ।।

[श्रवणान्तघटितगुणयष्टिनिबिडकुटिलान्तकोटिकुण्डलितम् ।
झक्षझणायते झटिति पुनरुक्तिमञ्जुसिञ्जारवं चापम् ॥]

भुअजुअलदण्डमण्डालग्रचण्डकोअण्डदण्डभङ्गभवो ।
पिण्डिजुइ अह व बह्मण्डभण्डए कडु कडक्कारो ॥ ७८ ॥

[भुजयुगलदण्डमण्डलितचण्डकोदण्डदण्डभङ्गभवः ।
पिण्डचते अथ च ब्रह्माण्डभाण्डे कटु कटत्कारः ॥]

इअ वलइअसन्धिअकड्डिअस्स घणुहो णरेन्दसदणेषु ।
रहुउलविक्कममेक्कं कहईव विदलणटङ्कारो ॥ ७९ ॥

[इति वलयितसन्धि आकृष्टस्य धनुषो नरेन्द्रसदनेषु ।
रघुकुलविक्रममेकं कथयतीव विदलनटङ्कारः '।]

जनकः—

हरधनुषि हठाधिरोपणेन क्षितितनयापरिभाषितः पणोऽभूत् ।
विहितमपरिपरिभाषितं पणत्वं पुनरिदमूर्मिलया मुरारिचापे ॥ ८० ॥

(हस्तमुद्यम्य) भोः संबन्धिन् दशरथ ! साऽपि वत्सा ममोर्मिला पारितोषिकं लक्ष्मणस्यास्तु ।

दशरथः—अस्तु ।

विश्वामित्रः—ते अपि माण्डवी श्रुतिकीर्त्तिश्च कुशध्वजदुहितरौ भरतशत्रुघ्नोः स्ताम् ।

शतानन्दः—आं किमपि प्रियं नः ।

अभी-भी भुजयुगल से आकृष्ट प्रचण्ड धनुष के भङ्ग से उत्पन्न कठोर टंकार ब्रह्माण्ड-रूपी पात्र में व्याप्त की भाँति गूंज रहा है ॥ ७८ ॥

इस प्रकार राजप्रासादों में मण्डलाकार करके खींचे गये धनुष के टूटने की टंकार अद्वितीय रघु के वंश के पराक्रम को कह रही है ॥ ७९ ॥

जनक—शकर के धनुष का बलपूर्वक आरोपण करने से पृथ्वी-पुत्री सीता का पण लगा हुआ था और यह विष्णु के धनुष पर न कहा हुआ उर्मिला को पण लगाया गया ॥ ८० ॥

(हाथ उठाकर) हे सम्बन्धी दशरथ ! वह मेरी पुत्री उर्मिला लक्ष्मण के लिये पारितोषिक हो ।

दशरथ—ठीक है ।

विश्वामित्र—कुशाध्वज की वे दोनों लड़कियां माण्डवी और श्रुतकीर्ति भरत-शत्रुघ्न की (पत्नियाँ) होवें ।

शतानन्द—यह हम लोगों का प्रिय ही है ।

जामदग्न्यः—अति हि दशरथडिम्भौ प्रगल्भेते तदेतदपरं समरसंरम्भक्षमां मिथिलोपकण्ठक्षमामवतराम (इत्यवतरति ।)

(नेपथ्यं प्रति) अये माठर ! धनुर्धनुः । (प्रविश्य)

शिष्यः—इदं धनुः ।

जामदग्न्यः—(आदाय)

हर्षोन्मुक्तामृतार्द्रद्युसदनसुमनोदामसम्पर्कजीव-
न्मद्बाणक्षुण्णवीराण्यनणुरणमहारम्भनर्मायितानि ।
वर्तं तां नव्यपत्युत्सुकविबुधवधूवाञ्छितच्छेदखेद-
व्याधूताविद्धपाणिप्रविचलवलयास्फालकोलाहलानि ॥ ८१ ॥

ततश्च—

विधाय धरणीबन्धमरामममलक्ष्मणम् ।
अनृणो गुरुपादानां गन्ताऽस्मि निजमाश्रमम् ॥ ८२ ॥

रामः—भगवन् भार्गव !

करस्थे सति कोदण्डे तूणीरस्थेषु पत्रिषु ।
विधत्स्व स्वयशोवीर्यं किं वीरस्य विकत्थया ॥ ३ ॥

(इति परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति भार्गवभङ्गो नाम चतुर्थोऽङ्कः ॥

परशुराम—दशरथ के दोनों बालक अत्यन्त ढीठ हो रहे हैं अतः मिथिला के पास की समर के उपयुक्त जमीन में उतरें ।

(नेपथ्य की ओर) अरे माठर ! धनुष लाओ धनुष लाओ । (प्रविष्ट होकर)

शिष्य—यह धनुष है ।

परशुराम—(लेकर)

हर्ष से वर्षाये गये अमृत से सिक्त स्वर्गीय पुष्पों के माल्य के सम्पर्क से जी जाने वाले मेरे वाणों से मरे हुए वीरों के पास नवीन पति को प्राप्त करने के लिए उत्सुक अप्सराओं की अभिलाषा के विच्छिन्न होने से उत्पन्न खेद से चलाये गये हाथों से गिरने वाले कङ्कणों के शब्द महासमर के कर्म में नर्म वचन का कार्य करें ॥ ८१ ॥

और—

पृथ्वी को राम-लक्ष्मण से विहीनकर गुरु के प्रति उऋण होकर अपने आश्रम जाऊँगा ॥ ८२ ॥

राम—भगवन् भार्गव !

हाथ में धनुष और तरकस में तीर रहते अपने यश का पराक्रम दिखाइये । वीर की बक़वाद (आत्मश्लाघा) व्यर्थ है ॥ ८३ ॥

(अनन्तर घूमकर सभी चले जाते हैं)

॥ भार्गवभङ्ग नामक चतुर्थ अङ्क समाप्त ॥

अथ पञ्चमोऽङ्कः

अतः परमुन्मत्तदशाननो भविष्यति

मायामयः—(प्रविश्य परिक्रम्य च साक्षेपम्) हंहो निसर्गनिरर्गलचरितैकनिबन्धन विधे इदमुपालभ्यसे कः पुनः प्रकारस्तव यद्रत्नाकरेऽपि क्षारभावः सुधादीधितावपि लाञ्छनछाया पुलस्त्यापत्येऽपि मतिविपर्यासो यदादिष्टोऽस्मि राक्षसराजेन यदुत गच्छ त्वं रघुराजधानीमयोध्यां तत्र च चण्डीशकोदण्डनिर्दलनलब्धजानकीजनितगर्वगरिमा प्रथमदाशरथिर्वाच्यः ।

मैथिली यदि धनुर्ग्लहो भवेत्तद्गुणात् प्रथमतस्तदीशिनः ।
राम विद्धि तव मोहमित्यमुं विष्टपत्रयपतेर्ममास्तु सा ।। १ ।।

किञ्च रे राजन्यपोत न श्रवणगोचरं गता राक्षसराजप्रतिज्ञेयम् । कुर्वन्मौर्वीत्यादि पठति । भद्र मायामय स इत्यभिहितस्तामर्पयिष्यति सा तु तदर्पिता ।

अस्मद्विक्रमचेष्टितानि निखिलत्रैलोक्यहेलाजय-
प्रह्वीभूतसुरासुराणि भवतो भूमेः सुता शृण्वती ।
पत्यौ द्वेषकषायितेन मनसा स्निग्धा मयि स्थास्यति
स्त्रीणां प्रेम यदुत्तरोत्तरगुणग्रामस्पृहाचञ्चलम् ।। २ ।।

(इसके बाद उन्मत्त दशानन नामक अङ्क होगा)

(मायामय प्रवेश कर तथा घूमकर आक्षेप से) अहा ! स्वभावतः एकमात्र निरर्गल चरित की संघटना करनेवाले विधे ! तुम्हें यह उपालम्भ दिया जाता है कि यह तुम्हारा कौन प्रकार है कि समुद्र में भी लवणत्व, चन्द्रकिरण में कालिमा तथा पुलस्त्य के वंशज (रावण) में भी उलटी बुद्धि दी है कि राक्षसराज रावण ने मुझे आदेश दिया है कि "तुम रघु की राजधानी अयोध्या जाओ और वहाँ शंकर के धनुष को तोड़ने से प्राप्त जानकी से उत्पन्न गर्वगरिमा वाले दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र राम से कहना—

हे राम ! यदि सीता धनुष चढ़ाने की शर्त हो तो धनुष चढ़ाने से पहले उसके स्वामी तुम्हारा यह मोह ही है । वह तो तीनों भुवनों के पति मेरी होगी ।। १ ।।

तथा हे राजपुत्र ! तुमने राक्षसराज की यह प्रतिज्ञा नहीं सुनी है कि 'कुर्वन्, मौर्वी' इत्यादि पढ़ता है । भद्र मायामय ! ऐसा कहने पर वह सीता को दे देगा । उसके द्वारा दी गई वह सीता—

सम्पूर्ण त्रैलोक्य को लीलापूर्वक जीतकर सुरासुरों को वशवर्ती करने के मेरे चरित्र को तुमसे पृथ्वी-पुत्री जानकी सुनती हुई अपने पति राम पर द्वेषयुक्त मन वाली तथा मुझपर स्नेह युक्त रहेगी क्योंकि स्त्रियों का प्रेम उत्तरोत्तर गुण-समूहों की स्पृहा से चञ्चल होता है ।। २ ।।

(विचिन्त्य) तत्कथमसौ निसर्गनिशाचरशत्रुर्वसिष्ठविश्वामित्रसनाथ इत्थमभिधातव्यो भवति सोऽयं कालकूटकवलनग्रहस्तदिदं यमदंष्ट्राङ्कुरशलाकाकर्षणं (विभाव्य) भवतु तदिदमसमञ्जसं चेष्टितं देवस्य नयज्ञानवते माल्यवते निवेदयामि स खल्वस्माकं मतिनौविप्लवे कर्णधारः । (सपरिक्रममवलोक्य) कथमयममात्यो माल्यवान् किमपि चिन्तयन् लेखहस्त आस्ते । (विभाव्य) तन्महाराजरावणदुर्नीतिपरम्परायत्तचित्तेनानेन भवितव्यं न हि तरणिकिरणस्पर्शादन्यो व्याधिरिन्दीवरवनस्य ।

> सुखिनः परसौख्येन परदुःखेन दुःखिताः ।
> जायन्ते कवयः काव्ये नयतन्त्रे च मन्त्रिणः ।। ३ ।।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो माल्यवान्)

माल्यवान्—मिथिलापुरीनिवासिना स्पशेन लेखः प्रहितस्तदमुं निरूपयामि । (उन्मुच्य वाचयति) स्वस्ति लङ्कायां मतिमन्तं माल्यवन्तं विदेहनगरीतः कश्चित् सविनयमवोधयति श्रेयोऽन्यत् ।

> **सीतास्वयंवरविधौ धनुरीश्वरस्य चक्रीकृतं भुजबलेन बभञ्ज रामः ।**
> **श्रुत्वा च तन्मुनिवृषा वृषकेतुशिष्यो रोपाज्ज्वलन्निव पुरीं मिथिलामवाप ।। ४ ।।**

(सोचकर) तो स्वभावतः राक्षसों के शत्रु वसिष्ठ तथा विश्वामित्र से सनाथ राम से यह कैसे कहा जाय । यह तो कालकूट विष का ग्रास लेना है तथा यम की द्रंष्टा से शलाका को खींचना है (सोचकर) अच्छा तो स्वामी की यह असमीचीन चेष्टा नीतिज्ञ माल्यवान् से कहूँ । वह हम लोगों की मतिरूपी नौका के विप्लव में वे ही कर्णधार हैं (घूमते हुए देखकर) क्या ये अमात्य माल्यवान् कुछ सोचते हुए हाथ में लेख लिए हुए खड़े हैं (पहचान कर) ये महाराज रावण की दुर्नीतियों के बारे में सोच रहे होंगे । कमल-वन की सूर्य-किरणों के अतिरिक्त अन्य कोई व्याधि नहीं है—

काव्य में कविगण तथा नीति में मन्त्रीगण दूसरे के दुःख से दुःखी तथा दूसरे के सुख से सुखी होते हैं ।। ३ ।।

(तदन्तर यथानिर्दिष्ट माल्यवान् प्रवेश करते हैं)

माल्यवान्—मिथिलापुर निवासी चर ने लेख भेजा है तो इसे देखूँ (खोलकर पढ़ता है) स्वस्ति विदेह-नगरी से कोई चर लंका के मतिमान् माल्यवान् को सविनय अववुद्ध कर रहा है शेष कुशल है—

सीता के स्वयंवर में शंकर के टेढ़े धनुष को राम ने बाहुवल से तोड़ दिया । इसे सुन कर शंकर-शिष्य परशुराम क्रोध से जलते हुए मिथिलापुरी में आये ।। ४ ।।

तदेतद्वो विदितमेव। इदमिदं निवेद्यते तत्र च शरनिकरवर्षणे क्षितितलनिघर्षणे सुभटवर्षणे कातरमनोधर्षणे परस्परप्रतिहतिमर्षणे कीलालपकर्षणे लोमहर्षणे च महारम्भे समरसंरम्भे।

शम्भोः शिष्यं कुशिकमुनितः प्राप्तविद्योपविद्यः
क्षुण्णक्षत्रं दशरथभुवामग्रणीः क्षत्रियाणाम्।
वृद्धं बालश्च्यवनकुलजं भास्वतो वंशजन्मा
रामं रामो व्यजयत गतिच्छेदिना सायकेन॥ ५॥

(विचिन्त्य) महती वार्ता। (विभाव्य) तस्यापि कलत्रे राक्षसराजोऽनुरज्यत इति न सुखोदर्कं तर्कयामि।

मायामयः—(विलोक्य) कथमधीतलेखस्तद्यावदुपसर्पामि। (परिक्रम्य) कनिष्ठमातामह! मायामयोऽभिवादयते।

माल्यवान्—अपि सुखं भद्रस्य? महाराजरावणः किं कुरुते।

मायामयः—यदपंकजासनसंभवान्वयः कुरुते।

माल्यवान्—किमिव?

मायामयः—यदादिष्टोऽस्मि। (इति पठति)

यह तो आपको विदित ही है। अब निवेदन यह है कि बाण समूह के वर्षण वाले, पृथ्वी के निघर्षण वाले, वीरों की वर्षा वाले, कायरों के मन को घर्षित करनेवाले, परस्पर क्षमा से विरहित, रक्त को खींचने वाले, लोमहर्षण एवं महान् आरम्भ वाले युद्ध में—

क्षत्रियों के नाशकर्ता, च्यवन के वंशज, शम्भु के शिष्य एवं वृद्ध परशुराम को विश्वामित्र से प्राप्त विद्योपदेश, दशरथ से उत्पन्न क्षत्रियों में ज्येष्ठ, बालक सूर्यवंशीराम ने गतिभेदी बाण से जीत लिया॥ ५॥

(सोचकर) बड़ी बात है (देखकर) उसकी भी स्त्री में राक्षसराज रावण अनुरक्त हैं वह सुखद नहीं है—ऐसा सोचता हूँ।

मायामय—क्या पत्र पढ़ लिया? अब पास चलूं (घूमकर) छोटे नाना! मायामय प्रणाम कर रहा है।

माल्यवान्—क्या आप सुखी हैं? महाराज रावण क्या कर रहे हैं?

मायामय—जो ब्रह्मा से न उत्पन्न वंशवाला करता है।

माल्यवान्—क्या?

मायामय—जैसा आदेश दिया गया है (पढ़ता है)

माल्यवान्—(हसित्वा) वृद्धबुद्धिर्हि प्रथमं पश्यति चरमं कार्यदुर्योगोऽवतरति यन्मया धूर्जटिधनुरधिक्षेपणतः प्रभृति मतिचक्षुषा दृष्टमेव यदुत दशकन्धरोऽनुधास्यति सीताहरणम् ।

मायामयः—ततस्ततः ।

माल्यवान्—ततश्च मया मन्दोदरीपितुर्मायागुरोर्मयस्य प्रथमशिष्यो विशारदनामा यन्त्रकारः सबहुमानं नियुक्तः सीताप्रतिकृतिकरणाय विरचिता च सा तेन रावणोपच्छन्दनार्थमभिहितं च ।

सूत्रधारचलद्दारुगात्रेयं यन्त्रजानकी ।
वक्त्रस्थसारिकालापा लङ्केन्द्रं वञ्चयिष्यति ।। ६ ।।

मायामयः—(सकौतुकम्) दृष्टा मातामहेनासौ कीदृशो यन्त्रजानको ?

माल्यवान्—मायामय ! मया दृष्टा यादृशी सत्यजानकी । तस्मादेव च सीताधात्रेयिकाऽपि कारिता सिन्दूरिका नाम । (प्रतिशिरसि परामृश्य) तद्देवस्य मिथिलागमनं वीतविघ्नोपशमनं तद्वचनादुचितं तदुपवर्णनं तेन च कृतकसंविधानेन निरन्तरप्रेमोपार्जनं च सत्यापयितुमिदानीं निशाचरपतिर्वाच्यः । देव परपरिणीताऽपि सा ।

तव त्रिलोकीविजयैकजन्मभिर्गुणैरुदारैरनुरञ्जिताऽपि सा ।
अनभ्यनुज्ञाजनितं करग्रहं निषेधते हन्त नतेन मौलिना ।। ७ ।।

माल्यवान्—(हँसकर) बूढी बुद्धि वाला पहले देखता है तदन्तर कार्य का दुर्योग होता है । जैसा कि मैंने शंकर की धनुष के अधिक्षेप के समय से ही बुद्धि की आँख से देखा है कि रावण सीता का हरण करेगा ।

मायामय—तब ?

माल्यवान्—मैंने मन्दोदरी के पिता मायाचार्य मय के प्रथम शिष्य विशारद नामक यन्त्रकार को आदर से सीता की प्रतिकृति करने के लिए नियुक्त किया है और उसने उसे बना दिया है और रावण को वञ्चित करने के लिये उसने कहा है कि लकड़ी के शरीर वाली यह यन्त्र निर्जित जानकी सूत्रधार के द्वारा चलेगी और मुख में स्थित सारिका द्वारा बोलेगी—और इस प्रकार रावण की वञ्चना करेगी ।। ६ ।।

मायामय—(कौतुक से) क्या नाना जी ने देखा है कि यह यन्त्र जानकी कैसी है ?

माल्यवान्—मायामय ! मैंने देखा है । यह उसी प्रकार है जैसी सत्यभूत जानकी है । और इसी लिये सीता की धाय सिन्दूरिका भी बनाई गई है । (शिर का स्पर्श कर) तो महाराज से मिथिला-गमन, विघ्नों की समाप्ति, उसके (सीता) के वचन से उपयुक्त रावण की प्रशंसा और उस बनावटी उपाय से घने प्रेम की उत्पत्ति को सत्य करने के लिए इस समय रावण से यह कहना है—देव ! दूसरे को ब्याही गई भी वह सीता—

त्रैलोक्य के विजय से उत्पन्न आपके गुणों से अनुरक्त भी वह नत मस्तक होकर आज्ञा विहीन आपके कर-ग्रहण का निषेध करती है ।। ७ ।।

मायामयः—अप्येवं प्रतिपत्स्यते दशाननः ।

माल्यवान्—प्रतिपत्स्यते वचसा न मनसा । (उभौ हसतः)

माल्यवान्—तदितिप्रतिपन्नवते दर्शनीयम् ।

मायामयः—एवं कृते किं कृतं भवति ।

माल्यवान्—शृणु यत्कृतं भवति । सीताप्रतिकृतिदर्शनेन दशाननः प्रलोभितो भवति । प्रलोभनेन च काललाभः । काललाभो हि नयविदां प्रयोगग्रामं कन्दलयति । प्रयोगपरतन्त्रा च कार्यसिद्धिः ।

मायामयः—यथादिष्टमार्येण ।

माल्यवान्—प्रयोगक्षमश्च कालो विलम्बनीयः सत्यापनाय ।

मायामयः—यदादिशत्यार्यः ।

माल्यवान्—तद् गच्छ त्वं यथाभिमतसिद्धये । अहमपि मन्त्रिमण्डपिकामध्यासिष्ये (इति निष्क्रान्तौ ।)

(विष्कम्भकः)

(ततः प्रविशति रावणः प्रहस्तश्चामरधारिणी च ।)

मायामय—क्या इस प्रकार रावण समझ लेगा ।

माल्यवान्—जबान से तो समझ ही लेगा मन से नहीं (दोनों हँसते हैं) ।

माल्यवान्—तदनन्तर इस प्रकार विश्वस्त को दिखाया जायेगा ।

मायामय—यह करने से क्या होगा ?

माल्यवान्—जो होगा उसे सुनो । सीता की प्रतिकृति देखने से रावण प्रलोभित होगा । प्रलुब्ध होने से समय प्राप्त होगा । समय-लाभ नीतिज्ञों के प्रयोगों को स्फुटित करता है और कार्य-सिद्धि प्रयोग के आधीन है ।

मायामय—जैसा आपने आदेश दिया ।

माल्यवान्—प्रयोग के उपयुक्त काल सत्य विश्वास के लिये विलम्ब करने योग्य है ।

मायामय—जैसा आप आदेश करते हैं ।

माल्यवान्—तो तुम अभीष्ट सिद्धि के लिये जाओ । मैं भी मन्त्रियों के मण्डप में बैठूंगा । (दोनों निकल जाते हैं)

(विष्कम्भक)

(तदन्तर रावण, प्रहस्त और चामरधारिणी प्रविष्ट होते हैं)

रावणः—

न प्रीते परमेश्वरेऽपि शिरसां छेदेन होमेन वा
ज्यावल्लीनहनेन चामरपतौ द्वारार्गलासङ्गिनि।
संयत्यैलविलात्तथा न च हृते विश्वातिथौ पुष्पके
द्रष्टव्या जनकात्मजेत्यथ यथा लङ्केश्वरो मोदते ॥ ८ ॥

(विचिन्त्य) हंहो हृदय न प्रस्मर्त्तव्यं यदावेदितममृतमयाक्षरं मायामयेन यथा किल।

सौधादुद्विजते त्यजत्युपवनं द्वेष्टि प्रभामैन्दवीं
द्वारात्त्रस्यति चित्रकेलिसदसो वेषं विषं मन्यते।
आस्ते केवलमब्जिनी किसलयप्रस्तारशय्यातले
संकल्पोपनतत्वदाकृतिरसायत्तेन चित्तेन सा ॥ ९ ॥

तत्प्रहस्त ! शीघ्रं प्रवेशय जानकीं न कालहरणक्षमाः प्रियजनसमागम-महोत्सवाः।

प्रहस्तः—(निष्क्रम्य) सीतासिन्दूरिकामायामयैः सह प्रविष्टः।

मायामयः—इयं सा।

रावणः—इयं सा (विभाव्य)

रावण—शिरों के काटने या हवन करने से शंकर के प्रसन्न होने पर, ज्यावल्ली से बांधकर इन्द्र को द्वार की अर्गला पर रखने पर तथा युद्ध में कुबेर से विश्वातिथि पुष्पक को हरण करने पर रावण उतना प्रसन्न नहीं होता जितना जानकी देखनी है इसलिए प्रसन्न होता हूँ ॥ ८ ॥

(सोचकर)—हे हृदय ! यह स्मरण न करना कि मायामय ने अमृतमय इन अक्षरों को कहा था—

कि वह (सीता) संकल्प से गृहीत तुम्हारी आकृति पर आकृष्टमना होकर प्रासाद से उद्विग्न होती है, उपवन को छोड़ देती है, चन्द्रप्रभा से द्वेष करती है, चित्रकेलि सभा के द्वार से डरती, वेष-धारण को विष समझती है और केवल कमलिनी पत्रों की शैय्या बिछा कर पड़ी रहती है ॥ ९ ॥

प्रहस्त—(निकल कर) सीता, सिन्दूरिका और मायामय के साथ प्रविष्ट होता है।

मायामय—यह वह है।

रावण—यह वह है (देखकर)।

चक्षुः स्मेरमवारिजं कुवलयं वक्त्रस्य मित्रं विधुः
भ्रूलेखा स्मरतोरणं स्मितलवो लीलालतापल्लवः।
उच्छिष्टं कलकण्ठवाक् च वचसां शङ्के तदेणीदृशः
सर्वाङ्गीणमहो विधेः परिणतं विज्ञानचित्रं चिरात् ॥ १० ॥

सिन्दूरिका—देव दसाणण चावारोहणदिअहम्मि ईसि दिट्ठाइं जाणई तुज्झ वअणाइं कुणइ एह्लि दंसणपुणरुत्तपेआइं [देव दशानन ! चापारोपणदिवसे ईषद्दृष्टानि जानकी तव वदनानि करोति इदानीं दर्शनपुनरुक्तपेयानि ।]

रावणः—भद्रे जानासि मदनपराधीनं जनमवस्थापयितुम्।

सिन्दूरिका—अण्णधा वा रक्खसचक्कवत्तिणो विण्णवीअदि। [अन्यथा वा राक्षसचक्रवर्तिनो विज्ञाप्यते ।]

रावणः—(सोल्लासम्) तत्कथय येन युगपदनुभवामि विंशतिधा श्रोत्रामृतम्।

सिन्दूरिका—इदं विण्णवीअदि। [इदं विज्ञाप्यते ।] (संस्कृतमाश्रित्य ।)

यन्मुग्धामपि चन्द्रिकां गमयति प्रावृत्य चीनांशुकं
स्वस्मै कुप्यति पञ्चमं रचयते यत्कण्ठनालाय च।
यच्चान्यत्परिहृत्य पक्ष्मलदृशस्त्वत्संकथास्वादरो
लोकस्तत्र निरर्गलं प्रलपति त्वं ब्रूहि किं मन्यसे ॥ ११ ॥

मेरी समझ से उस मृगनयनी की बड़ी आँखे विना जल के उत्पन्न कमल हैं, मुख का मित्र चन्द्रमा है, भ्रूलेखा कामदेव का तोरण है, मुस्कराहट लीला लता का पल्लव है, कोकिला की वाणी वाणियों का जूठा है—अहा ब्रह्मा का विज्ञानमय यह चित्र बहुत समय के बाद परिणत हुआ है ॥ १० ॥

सिन्दूरिका—देव दशानन ! चापारोपण के दिन किञ्चिद् देखे गये आपके उन मुखों को जानकी पुनः देख रही हैं।

रावण—भद्रे ! कामदेव के वशवर्ती जन को स्थिर करना जानती हो।

सिन्दूरिका—अथवा राक्षसराज विज्ञापित किये जाते हैं।

रावण—(उल्लास से) तो कहो जिससे बीस प्रकार से श्रवणामृत का एक बार पान करूँ।

सिन्दूरिका—यह विज्ञापित करना है (संस्कृत का आश्रय लेकर)

जो चीनांशुक ओढ़कर रमणीय चन्द्रिका को भी बिताती है, स्वर की रचना करने वाले अपने ही कण्ठनाल पर कुपित होती है तथा उस घनी पलकों वाली (सीता) का सब कुछ छोड़कर तुम्हारी ही बातों में अधिक आसक्ति है उसमें लोग चाहे जो कहते हैं, आप कहिये क्या समझ रहे हैं ? ॥ ११ ॥

रावणः—(सहर्षम्) ततस्ततः ।

सिन्दूरिका—(भूयः संस्कृतमाश्रित्य)

एतस्याः स्मरसंज्वरः करतलस्पर्शैः परीक्ष्यो न यः
स्निग्धेनाऽपि जनेन दाहभयतः प्लोषप्रदः पाथसाम् ।
निर्वीर्यीकृतचन्दनौषधिविधौ तस्मिंस्तडत्कारिणो
लाजस्फोटममी स्फुटन्ति मणयो विश्वेऽपि हारस्रजाम् ।। ११ ।।

रावणः—अयि सीताधात्रेयिके ! तत्किमिति मैथिली मां प्रति साचीकृतवक्त्रमास्ते ।

धात्रेयी—णवाणुराओ एत्थ अवरज्झइ ण उण पिअसही जदो । [नवानुरागोऽत्रापराध्यति न पुन. प्रियसखी । यतः—-]

वक्कं च वत्तितंसं णिमेन्ति देहेण झत्ति वलिएण ।
पढमुएणअवल्लहसङ्गमेण णडिआओ मुद्धमहिलाओ ।। १२ ।।

[वक्त्रं च वर्तितासं नियमयन्ति देहेन झटिति वलितेन ।
प्रथमोपनतवल्लभसङ्गमेन नटिता मुग्धमहिलाः ।।]

रावणः—-किमुच्यते । सीतायाः प्रियसखी खल्वसि । केतकसम्पर्क्किसिचयमपि किमप्यामोदाय । (सीतां प्रति) अयि स्वागतं जनकराजजन्मनो जनस्य ।

सीता—(सख्याः कर्णे) एवमेवम् ।

रावण—-(हर्ष से) तब ?

सिन्दूरिका—-(पुनः संस्कृत में)

जल को जला देने वाला इसका कामज्वर अत्यन्त स्नेही जनों के द्वारा भी जलने के भय से हाथ से स्पर्श कर मापा नही जाता है तथा चन्दन तथा ओषधियों के प्रयोग-विधि को व्यर्थ करने वाले उस ज्वर में हार की लड़ीकी समस्त मोतियाँ तड़तड़ाकर लाजा (लावा) के समान फूट जाती है ।। ११ ।।

रावण—-ऐ सीता की धात्री ! तो मैथिली मेरी ओर उत्सुक मुख से रहती है ।

धात्रेयी—-इस विषय में तो नवीन अनुराग का अपराध है प्रिय सखीका नहीं क्योंकि—-

प्रथम प्राप्त प्रिय के संगम से भोली-भाली महिलायें सहसा शरीर को झुकाकर कंधा घुमाकर लज्जा से मुख फेर लेती है ।। १२ ।।

रावण—-क्या कहा जाय ? सीता की प्रिय सखी हो । केतकी से संपर्क वाला वस्त्र भी आमोदकारी होता है (सीता से) हे जनकराज की पुत्रि ! तुम्हारा स्वागत है ।

सीता—-(सखी के कान में) इस प्रकार-इस प्रकार ।

सिन्दूरिका—लङ्केसर सहीसञ्चारिदक्खरा जाणई विण्णवेदि अज्ज साअदं मन्दोदरीदइददंसणेण। [लङ्केश्वर ! सखीसंचारिताक्षरा जानकी विज्ञापयति अद्य स्वागतं मन्दोदरीदयितदर्शनेन ।]

रावणः—(स्वगतम्) बाढं स्निह्यति मयि वैदेही। ईर्ष्यायितं हि स्त्रीणां प्रकाशकं प्रेमभरस्य। (विहस्य प्रकाशम्) ननु जानकीदयितदर्शनेनेति संप्रति वक्तव्यं भवति सहर्षम्। हंहो हृदय ! मनोरथानामुपरि वर्तसे यतः—

प्रेमरम्यमुभयोः समं दिशोः कामिनां यदिह चाषपिच्छवत् ।
एकतस्तु न चकास्ति साध्वपि श्यामपृष्ठमिव बर्हिणश्छदम् ॥ १३ ॥

सीता—(सख्याः कर्णे) एवमेवं भण ।

सिन्दूरिका—विसज्जिअलज्जाकण्ठबन्धं अप्पणा भण जदो सअं दूदी दूदीणं वरिठ्ठा। [विसर्जितलज्जाकण्ठबन्धमात्मना भण यतः स्वयं दूती दूतीनां वरिष्ठा ।]

सीता--(सवाक्स्तम्भम्) जधा समत्थिदं लंकेसरेण ता एत्थ वत्थुणि मए विरइदाइँ कदिचि वअणाणि सुणीअदु। [यथा समर्थितं लङ्केश्वरेण । तदत्र वस्तुनि मया विरचितानि कतिचित् वचनानि श्रूयन्ताम् ।]

एक्कदिसारम्मेणवि ग्रलंसिणेहेण सिहिदलच्छविणा ।
थुणिमो समदोवासं पेच्छं अ पिच्छोवमं पेम्मम् ॥ १४ ॥

सिन्दूरिका--लंकेश्वर ! जानकी सखी के द्वारा कह रही है कि मन्दोदरी के प्रिय के दर्शन से आज (उसका) स्वागत है।

रावण--(स्वगत) निश्चय ही जानकी मुझसे प्रेम करती है। ईर्ष्या करना स्त्रियों के प्रेमभार का परिचायक है। (हँसकर प्रकट) इस समय कहना चाहिए कि जानकी के प्रिय के दर्शन से। (हर्ष से) हे हृदय ! मनोरथों के ऊपर हो क्योंकि--

प्रेमियों का दोनों ओर समान प्रेम नीलकण्ठ के पंख के समान रमणीय होता है और एक तरफ का भला भी प्रेम मोर पंख की काली पीठ की तरह शोभा नहीं देता है॥ १३॥

सीता--(सखी के कान में) इस प्रकार कहो।

सिन्दूरिका--मुख की लज्जा को छोड़कर स्वयं कहो क्योंकि जो (अपने विषय में) स्वयं दूती बनती है वह दूतियों में श्रेष्ठ होती है।

सीता--जैसा लंकेश्वर ने माना है। इस विषय में मेरे द्वारा रचे गये कुछ वचनों को सुनिये--

मयूर के पत्र के समान छवि वाला एक तरफा प्रेम पर्याप्त नहीं। दोनों तरफ समान नीलकण्ठ के पाँख के समान प्रेम प्रशंसनीय है॥ १४॥

[एकदिग्रम्येणापि अलं स्नेहेन शिखिदलच्छविना ।
स्तुमः समद्विपार्श्वं प्रेक्ष्यं च पिच्छोपमं प्रेम ॥]

रावणः— तर्हि घनप्रेमनिबिडप्रेमा दशकण्ठो विजयते ।

सीता सुदरं जअदि दसकण्ठो । [सुतरां जयति दशकण्ठः ।]

समपेम्मरसं समरूवजोव्वणं समविलासवेग्गट्ठम् ।
समसुहदुःखं च जणं समपुण्णेहिं जणो लहइ ॥ १५ ॥

[समप्रेमरसं समरूपयौवनं समविलासविशिष्टम् ।
समसुखदुःखं च जनं समपुण्यैर्जनो लभते ॥]

रावणः—अहो सूक्तिपाको जनकसुतायाः । यतः—

स्वादूनां प्रथमाय रूपविभवं मिथ्या मिथस्तन्वते
प्रेम्णे स्वस्ति मनोभवैकसुहृदे यस्य प्रसादादिह ।
दम्पत्योरनपेक्षितप्रियसखीचित्रप्रकारोक्तयो
जायन्ते प्रहरान्तरेऽपि शतशः कोपप्रसादोदयाः ॥ १६ ॥

सीरध्वजात्मजे देवि ! तदिदं विज्ञाप्यसे ।

दृग्लीलासु सकौतुकं यदि मनस्तन्मे दृशां विंशति-
र्निःसन्धौ परिरम्भणे रतिरथो दोर्मण्डली दृश्यताम् ।
प्रेमा चेत्परिचुम्बने दशमुखी वैदेहि सज्जा पुरः
पौलस्त्यस्य च राघवस्य च महत् पश्योपचारेऽन्तरम् ॥ १७ ॥

रावण—तो सघन प्रेमवाला रावण प्रशंस्य है ।

सीता—रावण की सुतरां जय हो ।

समान प्रेम रस वाले, समान विलास से युक्त, समान रूप-यौवन वाले तथा समान सुख दुःख वाले मनुष्य को समान पुण्य से ही मनुष्य प्राप्त करता है ॥ १५ ॥

रावण—जनक-सुता की सूक्ति-रचना धन्य है क्योंकि—

मधुर पदार्थों में सर्वश्रेष्ठ, परस्पर रूप की राशि को मिथ्या सिद्ध कर देने वाले, कामदेव के एकमात्र मित्र प्रेम का कल्याण हो । जिसके अनुग्रह से सखियों की विचित्र व्यंग्योक्तियों की उपेक्षा करते हुए दम्पतियों के मान और प्रसन्नतायें प्रहर में ही सैकड़ों बार हुआ करती हैं ॥ १६ ॥

सीरध्वज जनक की पुत्री देवि ! यह कहना है—

यदि दृष्टि-लीला में तुम्हारा मन कौतुकी है तो मेरी बीस आँखें हैं, यदि गाढ़ आलिङ्गन में रति है तो मेरी (बीस) बाहुओं की मण्डली को देखो और चुम्बन में प्रेम है तो सामने दश मुख तैयार हैं—रावण और राम के उपचार में यह महदन्तर देखो ॥ १७ ॥

अपि च—जानकि ! लङ्कास्वामित्वे सति ।

मदनघभुजदण्डग्रामचण्डप्रतापप्रतिहतदयितानां खेचरीणां शिरःसु ।
तव करपुटचेष्टासज्जसेवाञ्जलीनां चरणनखशिखाली शेखरीभावमेतु ॥१८॥

सीता—आं दसाणण आं पुरिसविसेसपरिसंकुक्करिसिणोओ जेव्व पुरन्धीओ होन्ति । [आं दशानन ! आं पुरुषविशेषपरिशङ्कोत्कर्षिण्य एव पुरन्ध्यो भवन्ति ।]

रावणः—(किञ्चिदुपसृत्य) सुन्दरि ! किमद्यापि संदिह्यते । तदेहि ।

लीलोद्याने यदि सुरपतेरस्ति वाञ्छा विहर्तुं
मेरोः शृङ्गे यदि च विसरत्तारकाचन्द्रदाम्नि ।
चण्डाभोगोड्डमरपुलकां देहि वैदेहि तन्मे
लङ्काभर्तुर्निबिडितकुचामादरादङ्कपालीम् ॥ १९ ॥

(इति धारयति । सचमत्कारम्) कथमयमस्त्रैणः संस्पर्शः ।

रूपसंपदमरीषु नेदृशी स्पर्श एष च दृषत्सहोदरः ।
तन्मतिर्मम विदेहजन्मनो मां परीक्षितुमियं विजानता ॥ २० ॥

(पुनर्निरूप्य) अये सारिकाधिष्ठितवक्त्रं सीताप्रतिकृतियन्त्रम् । अहो मतिमान् मायामयश्छलितोऽस्मि जनकराजपुत्र्याः प्रतिकृतिसमर्पणेन तद्गच्छ मद्विनोदार्थमिमां भवनस्थां कुरु ।

(इति सीतासिन्दूरिके मायामयश्च निष्क्रान्ताः ।)

और भी—हे जानकि ! लङ्का का स्वामित्व होने पर—

मेरी शुभ भुजाओं के समूह के प्रताप से पराजित प्रेमियों वाली अतएव करपुटों से चेष्टा पूर्वक सेवाञ्जलि बाँधे हुए देवियों के शिरों पर तुम्हारे पैरों के नखों का अग्रभाग शेखर बने ॥ १८ ॥

सीता—हाँ रावण ! हाँ । स्त्रियाँ पुरुष विशेष की परिशंकावाली होती हैं ।

रावण—(कुछ पास जाकर) सुन्दरी ! क्या अब भी सन्देह कर रही हो तो आओ—

वैदेहि ! यदि इन्द्र के लीलोद्यान में अथवा फैल रही चन्द्र-किरणों वाले मेरुशृंग पर विहार करने की इच्छा है तो मुझ लङ्केश्वर को प्रचण्ड आभोग से पुलकित एवं सघन कुचों वाला आलिङ्गन दो ।

(ऐसा कहकर पकड़ता है । आश्चर्य से)—यह स्पर्श तो स्त्रियों जैसा नहीं है—

देवाङ्गनाओं में ऐसी रूप सम्पत्ति नहीं और यह स्पर्श पत्थर जैसा है ? अतः मेरी परीक्षा के लिए जानकी की यह (सृष्टि) हुई है ॥ २० ॥

(पुनः देखकर) अरे ! यह तो मुख में सारिका बैठाया हुआ सीता की प्रतिकृति का यन्त्र है । अरे मायामय बुद्धिमान् है । जनकराज-पुत्री के प्रतिकृति-निर्माण से मैं छला गया । तो जाओ । मेरे मनोविनोद के लिए इसे भवन में रखो ।

(सीता, सिन्दूरिका और मायामय चले जाते हैं)

रावणः—(मदनाकूतमभिनीय) प्रभञ्जनिके ! लीलोद्यानमार्गमादिश येन युगपदुपस्थितरात्रिदिवे युगपदभ्युदितसूर्याचन्द्रमसि युगपद्विभक्तसर्वर्तुनि तत्र सीताविरहदुःखिनमात्मानं विनोदयामि। भोः प्रहस्त ! तदितो गत्वा सन्निधीयतां शिशिरः पदार्थसार्थो विप्रकृष्यतां तदितरः।

प्रहस्तः—(परिक्रामन्)

कस्त्वं चैत्र किमत्र पुष्पधनुषः का शक्तिरिन्दोरपि
व्यावर्तस्व वसन्तवात विरम त्वं काकलीपञ्चम।
देवेऽस्मिन् दशकन्धरे भवत मा संरम्भगर्भक्रमाः
प्रागल्भी भवतां हरौ विजयिनी तस्मिन्नहल्यापतौ ॥ २१ ॥

(निष्क्रान्तः)

(नेपथ्ये)

राहो तर्जय भास्करं वरुण हे निर्वाप्यतां पावकः
सर्वे वारिमुचः समेत्य कुरुत ग्रीष्मस्य दर्पच्छिदम्।
प्रालेयाचल चन्द्र दुग्धजलधे हेमन्त मन्दाकिनि
द्राग्देवस्य गृहानुपेत भवतां सेवाक्षणो वर्त्तते ॥ २२ ॥

प्रतीहारी—इदोइदो एदु देवो इमं लीलुज्जाणं। [इत इत एतु देवः। एतल्लीलोद्यानम्।]

(उभौ प्रविशतः)

रावण (कामाभिनय को प्रदर्शित करते हुये)—प्रभञ्जनिके ! लीलोद्यान के मार्ग को दिखाओ जिससे एक साथ जहाँ रातदिन दोनों है, एक साथ सूर्य-चन्द्रमा उदित है तथा एक साथ सभी ऋतुये हैं ऐसे उस स्थान में सीता के विरह से दुःखी अपना विनोद करूँ। ऐ प्रहस्त ! यहाँ से जाकर शीतल पदार्थों को रखो और तद्भिन्न को हटा दो।

प्रहस्त—(घूमते हुए) चैत्र ! तुम कौन हो ? यहाँ कामदेव कहाँ ? चन्द्रमा की क्या शक्ति ? वसन्त-वायु तुम लौट जाओ, कोयल की बाणी तू बन्द हो जा। इस महाराज रावण में अपना उद्योग आप न करें। आप लोगों की प्रगल्भता उस अहल्या के जार (इन्द्र) में ही सफल होगी।

(निकल जाता है)

(नेपथ्य में)

हे राहु ! सूर्य को डाँट दो, हे वरुण अग्नि को बुझा दो, हे समस्त बादलो ! तुम इकट्ठे होकर ग्रीष्म का दर्प भङ्ग कर दो, हे हिमालय, हे चन्द्र ! हे क्षीरसागर ! हे हेमन्त ! हे मन्दाकिनि ! आप सभी सद्यः महाराज रावण के घर आइये। सेवा का अवसर मिला है ॥ २२ ॥

प्रतीहारी—देव ! इधर-इधर आइये। यह लीला-उद्यान है।

(दोनों प्रवेश करते हैं।)

रावणः—भद्रे ! सकलर्तुसमलंकृतानुद्यानोद्देशान् द्रष्टुमिच्छामि ।

प्रतीहारी—ता इदोइदो एदु दसाणणदेवो । [तदित इत एतु दशाननदेवः ।]

रावणः—(परिक्रामति)

प्रतीहारी—एसो सलिलसोसदुरुद्दण्डिदपुण्डरीअमण्डलो जलद्दासंदाणिदसुन्दरीदेहकन्दलसलीलपरिरम्भपह्मलिदकामिअणअणुन्हो गिह्मो । [एष सलिलशोषदुरुदण्डितपुण्डरीकमण्डलो जलार्द्रासंदानितसुन्दरीदेहकन्दलसलीलपरिरम्भपक्ष्मलितकामिजनानुष्णो ग्रीष्मः ।]

रावणः—अये ग्रीष्मः । इह हि

> यावन्नालं कमलकलिकाः प्रातरेव स्फुटन्ति
> श्यामामध्ये विकचयति चेन्नीलमब्जं मृगाङ्कः ।
> ग्रीष्मेऽमुष्मिन् जरठितरवौ रागिणां गात्रदेयाः
> सद्यः शुष्कैरिव च सलिलैः संस्क्रियन्ते जलार्द्राः ॥ २३ ॥

अपि च—

> कर्णे स्मेरं शिरीषं शिरसि विचकिलस्रग्लताः पाटलिन्यः
> कण्ठे माला विशाला वपुषि च नलिनीमूलकाण्डाः कलापाः ।
> सामोदं चन्दनाम्भः स्तनभुवि नयने म्लानमाञ्जिष्ठपृष्ठे
> गात्रं लोलज्जलार्द्रं जयति मृगदृशां ग्रैष्मिको वेष एषः ॥ २४ ॥

(तापातिरेकमभिनीय)

रावण—भद्रे ! सकल ऋतुओं से अलंकृत उद्यान के प्रदेशों को देखना चाहता हूँ ।

प्रतीहारी—तो देव रावण इधर से आवें ।

रावण—(चलता है)

प्रतीहारी—यह जल के शोष रूप विपत्ति से दण्डित कमलवाला तथा जल की आर्द्रता से तर सुन्दरी के आलिंगन वाले कामियों के लिये अनुष्ण ग्रीष्म समय है ।

रावण—अरे ग्रीष्म ! इसमें—

जल पर्यन्त कमलकलिकायें प्रातः ही स्फुटित होती हैं और मध्य रात्रि में चन्द्रमा नीलकमल (कुमुदिनी) को विकसित करता है । इस वार्धक्य प्राप्त (अर्थात् प्रचण्ड) सूर्य वाले ग्रीष्म समय में प्रेमियों के शरीर पर लगने वाले (कमल इत्यादि) मानों शीघ्र ही सूख जाते हैं और जल से भिगोये जाते हैं ॥ २३ ॥

और भी—

इस ग्रीष्मकाल में मृगनयनियों का वेष यह है—कान में प्रसन्न शिरीषकुसुम, शिर में लालवर्ण की विचकिल की माला, कण्ठ में विशाल माला, शरीर में कमलिनी के मूल, स्तन प्रदेश में सुगन्ध पूर्ण जलकण, आँखों में माञ्जिष्ठ मलिन पीसा हुआ रूप तथा शरीर में चञ्चल जलार्द्रता ॥ २४ ॥

(तापाधिक्य का अभिनय कर)

अयि शिशिरतरोपचारयोग्ये द्वितयमिदं युगपन्न सह्यमेव ।
जरठितरविदीधितिश्च कालो दयितजनेन समं च विप्रयोगः ।। २५ ।।

तदग्रतो दर्शय ।

प्रतीहारी—(पदान्तरे स्थित्वा) एस णीसेसमिलिदबन्धवो भग्गपथिअमग्गो लङ्गलीकुसुमालिङ्गिदचङ्गत्तणो विआसजज्जरिज्जन्तजरठकेसरकुडुम्बडम्बरो कुसुमाउहविलासविक्कमेक्कारम्भो वरिसारम्भो । [एष निःशेषमिलितबान्धवो भग्नपथिकमार्गो लाङ्गलीकुसुमालिङ्गितसौन्दर्यो विकासजर्जरज्जरठकेसरकुटुम्बडम्बरः कुसुमायुधविलासविक्रमैकारम्भो वर्षारम्भः ।]

रावणः—अपि वर्षा ऋतुः ? इह हि

पञ्चेषोर्गुणघोषणाग्रगुणकस्त्रैलोक्यचिन्तातिथे-
स्तूर्यं ताण्डवसंविधासु शिखिनां हंसप्रवासानकः ।
सूतिस्वस्त्ययनं विदूरवसुधारत्नाङ्कुराणामयं
गम्भीरस्तनितध्वनिर्जलमुचां रोदोगृह गाहते ।। २६ ।।

अपि च ।

संपिण्डीकृतजीर्णजीरककणश्रेणीश्रियः केशरान्
संनद्धं परितो निरन्तरदलद्द्रोणीनिवेशैस्त्रिभिः ।
प्रान्तभ्रान्तमधुव्रतीवलयितं स्वस्ति प्रियासंकटे
गन्धग्राह्यमवाह्यवृति दलति क्रीडावने केतकम ।। २७ ।।

अरे अत्यन्त शिशिर उपचार योग्य दो (ग्रीष्म वस्तुएँ) एक साथ सह्य नहीं है— वार्धक्य प्राप्त (बढ़े हुये) सूर्यकिरणों वाला समय तथा साथ ही प्रियजन से वियोग ।

तो आगे मार्ग दिखाओ—

प्रतीहारी—(एक पग के बाद रुक कर)—सम्पूर्ण बान्धवों को मिलाने वाला, पथिकों के मार्ग को रोकने वाला, लाङ्गली फूलों से सुशोभित, केसर पुष्पों को वृद्ध करने वाला और कामदेव के विलासों का आरम्भकर्ता यह वर्षाकाल प्रारम्भ हो गया ।

रावण—यह वर्षा ऋतु है । इसमें—

त्रैलोक्य की चिन्ता के विषय कामदेव के गुणों के प्रचार का अग्रदूत, मयूरों की ताण्डव क्रिया में तूर्य (तुरही), हंसों के प्रवास के लिए पटह, वैदूर्य पर्वत के रत्नाङ्कुरों की उत्पत्ति का स्वस्त्ययन (शुभ सूचक) यह मेघों का गम्भीर गर्जन आकाश और पृथ्वी के अन्तराल में गूँज रहा है ।। २६ ।।

तथा—

और भी—

एकत्र स्थापित जीर्ण जीरा के कणों की पंक्ति के समान किञ्जल्कों के चारों तरफ द्रोणी (कठवत) सदृश तीन सघन पंखुड़ियों से व्याप्त आस-पास घूम रही भ्रमरियों से घिरा हुआ, गन्ध से जानने योग्य, बाहर से प्रतीत न होने वाला, प्रिय के वियोग में कल्याणकर, क्रीड़ा-उद्यान में केतकी का पुष्प खिल रहा है ।। २७ ।।

(सोत्कण्ठम्)

विरम जलदकाल स्वस्ति ते भद्र भूयादनुचितपरिवारस्त्वं तवैते तथा हि ।
विरहमविरहं वा नानुरुन्धन्ति मेघाः सुखिनमसुखिनं वा सर्वमुत्कण्ठयन्ति ।२८।

तदग्रतो दर्शय ।

प्रभञ्जनिका—(पदान्तरे स्थित्वा) एस करन्दिओदारसुन्दरो दलिदनीलेन्दीवरवणो वन्धूअविच्छाइदमहिन्दकोअण्डो विरलीकदकेअईकुसुमवासप्पसरो मनोहरीकदणीसेससरओ सरओ । [एषा करन्दिकावतारसुन्दरी दलितनीलेन्दीवरवना बन्धूकविच्छायितमहेन्द्रकोदण्डा विरलीकृतकेतकीकुसुमवासप्रसरा मनोहरीकृतनिःशेषसराः शरत् ।]

रावणः—अये शरत् ।

अवतरति घनात्ययः किमन्यद्विकसितकुङ्कुमकेसरावतंसः ।
परिसरपुलिनेषु निम्नगानां सपदि समागतराजहंसयूथः ।। २९ ।।

अपि च ।

कुर्वाणाः कैरवाणां मधुकणहरणं कूजितं रञ्जयन्तो
हंसालीकण्ठनालीष्वविकलकलमामोदमैत्रीपवित्राः ।
शेफालीफुल्लपालीपरिमलमिलनाश्चुम्बिताश्चञ्चरीकैः
कह्लाराह्लादकाराः कुवलयसुहृदः शारदा वान्ति वाताः ।। ३० ।।

(उत्कण्ठा से)

हे वर्षाकाल ! रुको । हे भद्र ! तुम्हारा भला हो । तुम अनुचित परिवार वाले हो तथा तुम्हारे ये मेघ वियोग और संयोग का ध्यान नहीं रखते—सुखी और दुःखी दोनों को उत्कण्ठित कर देते हैं ।। २८ ।।

अब आगे दिखाओ

प्रभंजनिका (एक पग चलने के बाद रुक कर)—करन्दिका के आने से सुन्दर, नीलकमलवनों को दलित करने वाली, वन्धूक पुष्पों से इन्द्र धनुष का रंग उत्पन्न करने वाली—केतकी की सुगन्ध को विरल बनाने वाली तथा समस्त तालाबों को मनोहर बनाने वाली यह शरद् ऋतु आ गयी ।

रावण—अहा । शरद्—

विकसित कुङ्कुम के केसर के अवतंस वाली तथा नदियों के पुलिन पर सद्यः समागत राजहंसों के यूथवाली शरद् ऋतु आ रही है ।। २९ ।।

और भी—

कैरवों (कुमुदों) के मधुकण का हरण करते हुए, हंसों के कण्ठकूजन का रञ्जन करते हुए, पूर्ण आमोद के समन्वय से पवित्र, फुल्ल शेफाली-समूह के परिमल से सम्मिलित, भ्रमरों से चुम्बित, कह्लारों को आह्लादित करने वाले तथा कुमुदों के मित्र शारदीय वायु प्रवाहित हो रहे हैं ।। ३० ।।

(साभिलाषम्)

कुवलयमप्सु दिवीन्दुः सिन्धुषु पुलिनानि वाक्च हंसीषु ।
इत्यवयवैर्विभक्तां सीतां दर्शयति शरदेषा ॥ ३१ ॥

(तापमभिनीय) सोऽयमपरः शरन्नामा ग्रीष्मः । तदग्रतो दर्शय ।

प्रतीहारी—(पदान्तरे स्थित्वा) एस अणहिणन्दिदलीलामज्जणुम्मज्जणो पसरिदणीरन्धलोद्धरअपुञ्जपिञ्जरिददिम्मुहो अणियन्तिदकोञ्चीकुलकोलाहलाडम्बरकरविदसीमन्तो हेमन्तो । [एष अभिनन्दितलीलामज्जनोन्मज्जनः प्रसारितनीरन्ध्रलोध्ररजःपुञ्जपिञ्जरितदिङ्मुखोऽनियन्त्रितक्रौञ्चीकुलकोलाहलाडम्बरकरम्बितसीमान्तो हेमन्तः ।]

रावणः—अये हेमन्तः ।

इह हि वहति कामं कामकोदण्डयष्टि-
द्रविडयुवतिगण्डश्यामिकां कोशकारः ।
चिरविरहितहंसीकण्ठकाण्डावपाण्डुः
स्फुरति च रुचिमत्ता पर्वणां पुण्ड्रकस्य ॥ ३२ ॥

अपि च—

लम्पाकीनां किरन्तश्चिकुरविरचना रल्लकाञ्छ्वासयन्त-
श्चुम्बन्तश्चन्द्रभागासलिलमविकलं भूर्जकाषैकचण्डाः ।
एते कस्तूरिकैणप्रणयसुरभयो वल्लभा बाह्लीनां
कौन्तालीकेलिकाराः परिचयितहिमं हैमना वान्ति वाताः ॥ ३३ ॥

(अभिलाषा से)

जलों में कमल, आकाश में चन्द्र, नदियों में पुलिन, तथा हंसियों में वाणी—इन विभक्त अवयवों से यह शरद् सीता को प्रदर्शित कर रही है ।

(ताप का अभिनय करके) तो यह शरद् नाम का दूसरा ग्रीष्म है । अतः आगे दिखाओ ।

प्रतीहारी—(एक पग आगे रुक कर) लीला पूर्वक डूबने-निकलने से अभिनन्दित, सघन लोध्र पुष्प के रज से दिशाओं को पिञ्जरित करने वाला, अनियन्त्रित क्रौञ्चों के कोलाहल से सीमाओं को मुखरित किये हुए यह हेमन्त है ।

रावण—अहा ! हेमन्त—

इसमें कामदेवकी धनुषयष्टिभूत कोशकार (सिल्क का कीड़ा) द्रविड़ युवतियों की कपोलकालिमा को धारण करता है तथा कमल के पर्वों की रोचकता वियुक्त हंसी की कण्ठ पाण्डुता के समान श्वेत है ॥ ३२ ॥

तथा—

लम्पाकदेशीय स्त्रियों की केशरचना को फैलाते हुए, मृगों को उच्छ्वसित करते हुए, चन्द्रभागा के सलिल का पूर्णतः चुम्बन करते हुए, भूर्जों को रगड़ने में प्रचण्ड, कस्तूरी मृगों के प्रेम से सुरभित, बाह्लवदेशीय ललनाओं के प्रिय, कुन्तलदेशीय स्त्रियों से केलिकर्ता तथा हिम से सिक्त हेमन्तकालीन वायु बह रहे हैं ॥ ३३ ॥

(तापमभिनीय)

सर्वाङ्गमदनोद्दाहः स कोऽपि मम वर्तते ।
अप्येष हन्त हेमन्तो यत्रोष्णसमयायते ।। ३४ ।।

तदग्रतो दर्शय ।

प्रतीहारी—(पदान्तरे स्थित्वा) एस हिमुल्लसिदतरुणदमणअकन्दलो णिबिड-पडन्ततुहिणकणुक्केरणिव्विग्घमहग्घिदपरिरम्भो अवदंसीकदतरुणतरणिकिरणुक्केरो पुराणदप्पणविच्छाअमअलञ्च्छणो णिज्जिदणीसेससिरी सिसिरो । [एष हिमोल्लसिततरुणदमनककन्दलो निविडनिपतत्तुहिनकणोत्करनिर्विघ्नमहर्घितपरिरम्भोऽवतंसीकृततरणिकिरणोत्करः पुराणदर्पणविच्छायमृगलाञ्छनो निर्जितनिःशेषश्रीः शिशिरः ।]

रावणः—अये शिशिरः । इह हि ।

वह्नेः शक्तिर्जलमिव गता दर्शनाद्दाहवृत्ते-
र्नित्योत्संधौ नवमरुबके वर्तते पुष्पकार्यम् ।
शीतात्त्रासं दधदिव रविर्याति चाशां कृशानो-
र्नीहारार्त्तिरिव च दिवसाः सांप्रतं संकुचन्ति ।। ३५ ।।

अपि च ।

चूडागर्भनिवेशि दामविकलं मुक्ताफलैर्भूषणं
स्त्रीणां कुङ्कुमपिच्छिलः स्तनभरोगूढोदरं मन्दिरम् ।
द्वित्राः स्थूलपटाः प्रसर्पदगुरुग्रामश्च धूमोद्गमः
संभोगाय भवन्ति चात्र कृतिनां दीप्रा विलासाप्तयः ।। ३६ ।।

(ताप का अभिनय कर)

मेरे सम्पूर्ण शरीर में काम-दाह है जिससे हाय ! यह हेमन्त उष्ण समय बन रहा है । अतः आगे दिखाओ ।।३४।।

प्रतीहारी—(एक पग आगे खड़ी होकर)

समस्त शोभा कर हरण करने वाला यह शिशिर है । इसमें तरुण दमनक वृक्ष के पेड़ शीत से प्रसन्न हैं । इसमें निर्विघ्न गिरनेवाले शीत कणों के कारण परिरम्भ बहुमूल्य है । सूर्य किरणें तिरछी पड़ रही हैं तथा चन्द्रमा पुराने दर्पण के समान हो गया है ।

रावण—शिशिर ! इस समय—

दाहवृत्ति के दर्शन से मानों वह्नि की शक्ति जल में चली गयी तथा नित्य विकसित होनेवाले मरुवक में पुष्प कार्य चला गया । सूर्य शीत से मानों त्रस्त होकर दक्षिण-पश्चिम की ओर जा रहा है और मानों कुहरे के भीत हुए दिवस संकुचित हो रहे हैं ।। ३५ ।।

तथा—

इस समय स्त्रियों का चूड़ामें गुँथा हुआ, माला से निकाला गया मोती आभूषण तथा कुङ्कुम से लिप्त स्तन आच्छादित घर हैं, दो-तीन मोटे-मोटे वस्त्र और अगर की राशि फैलाने वाला धूम ये विलासिता की वस्तुएँ पुण्यवानों के उपभोग के लिए होती हैं ।

(सखेदम्)

नगरपरिघदीर्घा बाहुदण्डा ममैते
विजितकलभकुम्भा सा च तस्याः कुचश्रीः।
तव शिशिर समीरश्चैष नीहारसार-
स्त्रयमिति हि समेतं दुर्लभं रावणेन ।। ३७ ।।

तदग्रतो दर्शय ।

प्रतीहारी—(पदान्तरे स्थित्वा) एस फलितफलिणीवणन्तरो णिरन्तरपल्लाविदकङ्केलिलदादण्डो णिबिडुग्गीदकलकण्ठिकण्ठो कुडजगण्ठिजडिलपुणाअणिवहो भग्गकुसुमिदसोहञ्जणसाही मरणसंदेहारोविदसअलपविसन्तो वसन्तो। [एष फलितफलिनीवनान्तरो निरन्तरपल्लवितकङ्केलिलतादण्डो निबिडोद्गीतकलकण्ठीकण्ठः कुटजग्रन्थिजटिलपुन्नागनिवहो भग्नकुसुमितसोभाञ्जनशाखी मरणसंदेहारोपितसकलप्रवसन् वसन्तः ।]

रावणः—अये वसन्तः। इह हि

सूते संप्रति दुग्धमुग्धसुभगं पुष्पोद्गमं मल्लिका
बाह्लीकीदशनव्रणारुणदलैः पत्रैरशोकोऽर्चितः।
भृङ्गीलङ्घितकोटि किंशुकमिदं किञ्चिद्द्विवृन्तायते
माञ्जिष्ठैर्मुकुलैश्च पाटलितरोरन्यैव काचिल्लिपिः ।। ३८ ।।

(खेद से)

नगर के परिघ की भाँति मेरे ये लम्बे बाहुदण्ड, और उसकी हाथी के बच्चे के गण्डस्थल को पराजित करने वाली कुचशोभा तथा शिशर ! तुहिनयुक्त तुम्हारा यह वायु—ये तीनों एक साथ रावण के लिये दुर्लभ हैं ।। ३७ ।।

अतः आगे दिखाओ

प्रतीहारी—(कुछ आगे रुक कर) फैली हुई प्रियङ्गु लताओं के समूह वाला, सघन पल्लवों से युक्त अशोकलता वाला, उच्च स्वर में कोकिल के कण्ठ से मुखरित, कुटजों की ग्रन्थिओं पर लिपटी ताम्बूल की लता के समूहों वाला तथा टूट रहे पुष्पित शोभाञ्जन (सोहँजना) के वृक्षों से युक्त समस्त विरहियों की मरण के संशय में डालने वाला यह वसन्त है।

रावण—अरे ! वसन्त ! इस समय तो—

मल्लिका दुग्ध के समान मनोहर पुष्पों को उत्पन्न करती है, अशोक वृक्ष वाह्लीकनारियों के दशनक्षत के द्वारा उत्पन्न अरुणिमा के समान लाल दलों वाले पत्रों से अर्चित है, यह किंशुक भौरों से पोरों (कोटि) के व्याप्त होने से कुछ विशेष डाली वाला है तथा माञ्जिष्ठ रंग के मुकुलों से गुलाब की कुछ दूसरी ही शोभा है ।। ३८ ।।

किञ्च ।

सपदि सखीभिर्निभृतं विरहवतीस्त्रातुमत्र भज्यन्ते ।
सहकारमञ्जरीणां शिखोद्गमग्रन्थयः प्रथमे ॥ ३९ ॥

(सम्यङ्निरूप्य सोत्कण्ठम्) सीतावयवशोभासंवादात्तद्द्विगुणप्रणयिनी मे मधुलक्ष्मीः । तथा हि ।

लावण्यार्द्धं मधूकान्यनुवदति दृशावुत्पलानां सनाभी
दत्तश्रीर्मल्लिकाभिः सह चरति सुहृत्सौरभं केसरस्य ।
वैदेह्याः पाटलानां सुजनयति रुचिं किञ्च बिम्बाधरोष्ठः
क्रीडाभिश्चित्र चैत्र त्वमसि तदिह मे वल्लभो दुर्लभश्च ॥ ४० ॥

प्रभञ्जनिका—अलं इमिणा । उक्कण्ठाकरीणं धुरन्धरो एसो । [अलमनेन । उत्कण्ठाकारिणां धुरन्धर एषः ।]

रावणः—(उत्कण्ठामभिनीय)

घर्मर्तो दमय वसन्तमुत्कवन्तं

(संतापमभिनीय)

द्राग्ग्रीष्मं स्थगयतु वार्मुचामनेहाः ।

(उत्कण्ठामभिनीय)

त्वं वर्षाः शमय घनान्त

(भूयः संतापमभिनीय)

वारिदान्तं
हेमन्तः सह शिशिरेण हन्त हन्तु ॥ ४१ ॥

और—इस वसन्त में वियोगिनियों की रक्षा के लिए सखियाँ निःशङ्क होकर आम्र-मञ्जरी की पहली निकल रही शिखाओं की ग्रन्थियों को तोड़ देती हैं ॥ ३९ ॥

(अच्छी प्रकार देखकर उत्कण्ठा से) सीता के अवयवों की शोभा से साम्य रखने के कारण वसन्त-लक्ष्मी मुझे दुगुनी प्रिय है। क्योंकि—

सीता के लावण्य के आधे के समान मधूक के पुष्प हैं, और नेत्र नीलोत्पल के समान हैं, दाँतों की सुन्दरता मल्लिका का साथ दे रही है, और शरीर की सुगन्ध केसर की साथी (समान) है तथा बिम्बाधरोष्ठ गुलाब की शोभा धारण करता है । अतः हे विचित्र मधुमास ! इन खेल की वस्तुओं से तुम मेरे प्रिय भी हो और दुर्लभ भी हो ॥ ४० ॥

प्रभञ्जनिका—इससे रुकिये । उत्कण्ठित करने वालों में यह धुरन्धर है ।

रावण—(उत्कण्ठा का अभिनय करके)

हे ग्रीष्म ! तुम उत्कण्ठा वाले वसन्त का दमन करो (संताप का अभिनय कर) वर्षा ऋतु ग्रीष्म को सद्यः रोक दे (उत्कण्ठा का अभिनय करके) हे घनान्त (शरद् !) तुम वर्षा का शमन करो (पुनः संताप का अभिनय करके) हाय ! हेमन्त शिशिर के साथ शरद् का शमन करे ॥ ४१ ॥

प्रभञ्जनिका—देव दिट्ठं सअलं रिदुचक्कवालं ता किम्पि मअरन्तमुच्चन्त-बहलसीअरासारं सअं परिब्भमन्तजन्ततालविन्तं णिग्गण्ठिदगण्ठिरकणअकेरिआ-कवललुद्धगन्धहरिणणाहिकोससुअन्धदसदिसं जाणइविरहवेदणाविणोदत्थाणत्थर-अणसिलाचउक्किअं अलङ्करदु देओ। [देव दृष्टं सकलमृतुचक्रवालं तत्किमपि मकरन्द-मुच्चद्बहलसीकरासारां स्वयं परिभ्रमद्यन्त्रतालवृन्तां निर्ग्रन्थितग्रन्थिलकनककदलिकाकवल-लुब्धगन्धहरिणनाभिकोशसुगन्धदशदिशां जानकीविरहवेदनाविनोदस्थानस्थरत्नशिलाचतु-ष्किकामलङ्करोतु देवः ।]

रावणः—यदभिरुचितं भवत्यै (परिक्रामितकेन सखेदम्)

आर्त्तं श्रान्तमिदं विषण्णममुना नीचैरनेन स्थितं
कम्पोऽस्मिन्निह जृम्भिना प्रलपितं चैतेन तूष्णीमदः ।
एतद्ध्यानपरं घनोऽत्र पुलकः स्रस्तं च बाष्पैरितः
सीतादुर्विनयेन मे दशमुखी हा धिक्कथं वर्ततताम् ।। ४२ ।।

प्रभञ्जनिका—(स्वगतं) जधा मअणो आणवेदि । (प्रवेशनाटितकेन) अअं रअणचउक्किआकेलिपल्लङ्को ता उअविसदु देवो । [यथा मदन आज्ञापयति । अयं रत्नचतुष्किकाकेलिपल्यङ्कस्तदुपविशतु देवः ।]

रावणः—(उपविश्य सकोपम्)

प्रभञ्जनिका—देव ! समस्त ऋतुओं को देख लिया गया अतः आप मकरन्द-युक्त चन्दन-विन्दुओं से तर किये, स्वयं भ्रमित तालवृन्तों वाले, कनक कदली को खाने के लिये लुब्ध गन्ध मृग के नाभिकोश की सुगन्ध से दश दिशाओं को सुगन्धित कर रहे तथा सीता के विरहजन्य वेदना के विनोदोपयुक्त रत्नशिलाओं वाले चत्वर पर बैठें ।

रावण—जैसा आपको अच्छा लगे (घूमने से खिन्न होकर)—

यह श्रान्त हो गया, यह विषण्ण हो गया, यह नीचे लटक गया, इसमें कम्प है, इस जंभाई लेने वाले ने प्रलाप किया, यह चुप हो गया. यह ध्यानमग्न है, इसमें सघन पुलक है, इसमें से आँसू लुढ़क गये—हाय सीता के दुर्विनय से मेरे दशों मुख कैसे रहें ।। ४२ ।।

प्रभञ्जनिका—(स्वगत) जैसे कामदेव आज्ञा दे । (प्रवेश का नाटक कर) देव ! यह रत्न चबूतरे के लिए मंच है इस पर बैठें ।

रावण—(बैठकर क्रोध से)

तां गाढं प्रहरस्व मां परिहरन् (सावज्ञम्) तां मां च मा वा वधीः
(सानुकम्पम्)
तां हन्तुं परिकल्पितैरपि शरैर्मामेव वा ताडय ।
(सानुरागम्)
यद्वा मन्मथ तां च मां च युगपद्विध्येः समग्रायुधो
येनाहं जनकात्मजा च सदृशं प्रेम प्रपद्यावहे ।। ४३ ।।

तद् भद्रे ! सन्निधापय शिशिरोपचारसामग्रीः ।

प्रभञ्जनिका—देव देवदाओ आआदाओ तन्निवेदिदा दाव सिसिरोवआरसामग्गी सव्वा सण्णिहिदा ता किं णाम ण चिन्तिदोवणदं लङ्केसरस्स । [देव देवता आगताः । तन्निवेदिता तावत् शिशिरोपचारसामग्री सर्वा संनिहिता तत् किं नाम न चिन्तितोपनतं लङ्केश्वरस्य ।]

रावणः—(पुरोऽवलोक्य)

सलिलकलशपाणिर्जायतां मन्दरस्त्री
तुहिनगिरिकुटुम्बिन्यस्तु नीहारहस्ता ।
सपदि मलयजाया चन्दनाम्भो निधत्तां
व्यजतु चमरदण्डैः किञ्च नेपालपाली ।। ४४ ।।

(किञ्चित्तापमभिनीय) अलमलं भवतोभिः । पर्वतकलत्राणि यूयम् । युष्मदङ्गसङ्गः सुतरां तापाय । (अन्यतोऽवलोक्य)

मुझे छोड़ कर उसे जोर से मारो (अवज्ञा से) अथवा उसे या मुझे किसी को मत मारो । (अनुकम्पा से) अथवा उसको मारने के लिये तैयार किये बाणों से मुझे ही मारो (अनुराग से) अथवा हे कामदेव ! उसको और मुझे दोनों को पूर्ण आयुध होकर एक साथ मारो जिससे मैं और जानकी समान प्रेम प्राप्त करें ।। ४३ ।।

अतः भद्रे ! शिशिरोपचार की सामग्री प्रस्तुत करो ।

प्रभञ्जनिका—देव ! देवता आये हैं । उन्होंने बताया है कि शिशिरोपचार की सामग्री आयी है । आपको कौन अभीष्ट है ?

रावण—सामने देखकर

मन्दर की स्त्री हाथ में जल का घड़ा ले, हिमालय की कुटुम्बिनी नीहार हाथ में ले, मलयजाया के चन्दन मिश्रित जल को रखो और नेपालरक्षिका चमरदण्डों से हवा करे ।। ४४ ।।

(कुछ ताप का अभिनय करके) आप लोग बस करें । आप सब पर्वत की स्त्रियाँ हैं । आपके अङ्ग का सामीप्य निश्चित रूप से तापकारक है (दूसरी ओर देखकर) ।

यासां जन्म विवस्वतो भगवतश्चण्डाच्च मार्तण्डत-
श्चण्डीशेक्षणतश्च मन्मथमथस्ताः सन्तु हर्म्याद्बहिः ।
याः सार्द्धं सुधया समं कमलया साकं मृगाङ्केण च
क्षीराब्धेरमराङ्गनाः समभवस्तास्त्वन्तिके सन्तु मे ।। ४५ ।।

ततश्च ।

रम्भा रम्भादलाग्रैर्व्यजतु विहरतां दावदानेन हारा
तारा ताराधिपश्रीरधितनु तनुतां चन्दनस्यन्दमेकम् ।
प्रम्लोचा मोचपाकच्छविरवतु बिसन्यासभङ्ग्या ममाङ्गा-
न्यञ्जुद्राद्राग्दलार्द्रामुरसि च दधती मेनका मेनका च ।। ४६ ।।

(पुनः संतापितकेन) यासां मद्विजितवल्लभविरहिणीनां भवतीनां सन्निधिरपि संतापाय किं पुनरुपचारः । (अन्यतोऽवलोक्य)

पार्श्वं मुञ्चतु वेत्त्यनङ्गगृहिणी नाङ्गोपचारक्रियां
चण्डी चामरभूषणैर्व्यजतु मां द्वात्रिंशता पाणिभिः ।
भास्वत्पत्नि सरोरुहैरलमलं घर्मा यदेषां प्रियः
स्वान्दारानय सन्निधिं जलनिधे नद्यस्तवान्तःपुरम् ।। ४७ ।।

(सहर्षमवलोक्य)

जिनका जन्म प्रचण्ड मार्तण्ड भगवान् सूर्यदेव तथा मन्मथमाथी शंकर के देखने से हुआ है वे दूर रहें, और जो अमृत, लक्ष्मी, चन्द्रमा के साथ क्षीराब्धि से निकली हैं वे देवाङ्गनायें मेरे पास रहें ।। ४५ ।।

रम्भा केले के पत्ते से पंखा झले, हारा ताप शान्ति का उपाय करे, चन्द्र के सदृश सुन्दर तारा मेरे शरीर पर केवल चन्दन का लेपन करे, पके हुई केले जैसी सुन्दर कान्ति वाली प्रम्लोचा कमल-तन्तुओं से आच्छादित कर मेरे अंगों की रक्षा करे, अञ्जुद्रा तालवृन्त धारण कर तथा मेनका मेरे वक्षःस्थल पर स्थित हो, और कोई नहीं ।। ४६ ।।

(पुनः संतप्त होकर) मेरे द्वारा जीते गये प्रियतमों से विरहिणी बनाई गई आप लोगों का सामीप्य भी संतापजनक है फिर आप लोगों के उपचार की क्या बात ? (दूसरी ओर देखकर)

अनङ्गपत्नी (रति) पार्श्व से हट जाय वह अङ्गोपचार क्रिया को नहीं जानती, चण्डी बत्तीस बाहों के द्वारा चामरों से मेरे ऊपर हवा करें, सूर्यपत्नि ! इन कमलों को हटा दो क्यों कि इन्हें घाम प्रिय है तथा हे समुद्र अपनी पत्नियों नदियों को पास लाओ ।

(हर्ष से देखकर)

पादौ पीडय ताम्रपर्णि मुरले हस्तौ हृदि स्थाप्यतां
भोः कावेरि मृणालदाम वितर द्राङ्नर्मदे वीजय ।
त्वं गोदावरि देहि चन्दनरसं हे तापि तापोष्मणः
शान्त्यर्थं सृज यन्त्रवारि विरही लङ्केश्वरः सीदति ।। ४८ ।।

(भूयः संतापमभिनीय) एता अपि मदनाङ्कुरितमदङ्गसङ्गात्परिक्वथन्ति । (सक्रोधम्) प्रभञ्जनिके ! मत्प्रसाददुर्ललिताः खल्वेते ममाप्याज्ञां न गणयन्ति तदादिश्यन्तां किङ्करा यदुत ।

कम्पाघातैः सुरभिरभितः सत्वरं ताडनीयो
गाढाक्रान्तं मलयमरुतः शृङ्खलादाम दत्त ।
कारागारे क्षिपत तरसा पञ्चमं रागराजं
चन्द्रं चूर्णीकुरुत च शिलापट्टके पिष्टबिम्बम् ।। ४९ ।।

(द्वाराभिमुखमवलोक्य) काः पुनरिमा द्वारि ।

प्रभञ्जनिका—वारुणी लच्छी सरस्सई । [वारुणी लक्ष्मी सरस्वती ।]

रावणः—(सावज्ञम्)

दूरे तिष्ठतु वारुणी विरहिणां का नाम रत्नस्पृहा
लक्ष्मीः क्षीरमहोदधेरपि सुता स्वाहेव दाहे पटुः ।
वाचालाऽसि सरस्वति व्रज गृहान्कः सूक्तिगोष्ठीक्षणो
यत्सत्यं न ममाद्य किञ्च न मुदे सीताप्रसादं विना ।। ५० ।।

हे ताम्रपर्णि ! पैरों को दबाओ । हे मुरले ! अपने हाथ को मेरे हृदय पर रखो, हे कावेरि ! मृणालकी माला को फैलाओ, चन्दन रस दो, हे तापि ! ताप की गर्मी की शान्ति के लिये मन्त्र जल को रचो—विरही लंकेश्वर दुःख उठा रहा है ।

(पुनः सताप का अभिनय कर) काम जिसमें अंकुरित है ऐसे मेरे शरीर से ये भी दग्ध हो रही हैं (क्रोध से) प्रभञ्जनिके ! मेरी कृपा से दुर्ललित ये मेरी आज्ञा को भी नहीं गिनते अतः नौकरों को आज्ञा दो कि—

सुरभि को जोर से आघात देकर चारों ओर से पीटा जाय, मलयवायु को जोर से रस्सी में बांध दिया जाय, रागराज पञ्चम को कारागार में डाल दिया जाय, और शिलापट्टक पर चन्द्र को कूट कर चूर्ण बना दिया जाय ।। ४९ ।।

(द्वार की ओर देखकर) द्वार पर ये कौन हैं ?

प्रभञ्जनिका—वारुणी, लक्ष्मी और सरस्वती है ।

रावण—(अवज्ञा से)

वारुणी दूर रहे विरहियों को रत्न की क्या इच्छा !, क्षीर सागर की पुत्री होकर भी लक्ष्मी स्वाहा के समान दग्ध करने में कुशल है और हे सरस्वति ! तुम वाचाल हो । घर को जाओ सूक्तिगोष्ठी का अवसर कहाँ है ? सत्य ही मुझे सीता के प्रसाद के बिना आज कुछ भी आनन्द दायक नहीं है ।। ५० ।।

(ऊर्ध्वमवलोक्य स्वगतं) तथाप्येवं तावत् । (प्रकाशम्) हंहो विबुधापसदाः ! किमिदं येन शिशिरोपचारं कर्तुमुद्दिष्टा उष्णोपचारं रचयथ तर्हि विस्मृतो वः प्रकृत्यमर्षणो दशकण्ठः (विचिन्त्य) यद्वा प्रसादचिन्तकाः खल्वेते मम तन्न तेषु परुषमभिधास्ये (जलार्द्रामभिनीय)

चन्द्र ज्योत्स्नाजलार्द्रामपनय यदिदं दह्यते देहदाहैः
(सेकमभिनीय)
क्षीराब्धे दुग्धसेको मदनहुतभुजा पिण्डभावं बिभर्ति ।
(नलिनोपचारमभिनीय)
हेमाम्भोज स्रजस्ते विशदसुमहते प्लोषपोषाय निष्ठाः
(हिमतापानुभवमभिनीय)
प्रालेयाद्रे दवीयांस्तव हिमदवथुर्दृष्ट एवाम्बुजेषु ॥ ५१ ॥

प्रभञ्जनिका– अहो मम्महवामदा अहो देवपडिउलदा जं दाणिं रमणिज्जं वि उव्वेअणिज्जं सिसिरं वि उह्णं पडिहाअदि [अहो मन्मथवामता अहो दैवप्रतिकूलता यदिदानीं रमणीयमप्युद्वेजनीयं शिशिरमप्युष्णं प्रतिभाति ।]

रावणः (साभ्यर्थनावज्ञम्)

(ऊपर देखकर स्वगत) फिर भी ऐसा है (प्रकट) हे नीच देवो ! क्यों शिशिरोपचार के लिये आदेश दिये जाने पर भी उष्णोपचार की रचना कर रहे हो ? क्या स्वभावतः क्रोधी रावण को भूल गये हो ? (सोचकर) अथवा ये मेरे प्रसाद की कामना करने वाले हैं अतः परुष नहीं कहूँगा (जलार्द्रता का अभिनय कर)

चन्द्र ! ज्योत्स्ना की जलार्द्रा को हटाओ क्योंकि मैं देहदाह से जल रहा हूँ । (स्नान का अभिनय कर)

क्षीरसागर ! मदनाग्नि से दुग्ध-स्नान पिण्डीकृत हो रहा है । (कमलोपचार का अभिनय कर)

स्वर्णकमल ! महान् गर्मी को हटाने के लिये बनायी गयी तुम्हारी माला नष्ट हो गयी (हिमतापानुभव का अभिनय कर) हे हिमालय ! तुम्हारा श्रेष्ठ हिमताप कमलों पर देखा ही गया है ॥ ५१ ॥

प्रभञ्जनिका—अहा ! कामदेव की वामता, वाह रे दैव की प्रतिकूलता ! कि इस समय सुन्दर पदार्थ भी उद्विग्न करने वाला हो गया है और शिशिर भी उष्ण मालूम पड़ता है ।

रावण—(अभ्यर्थना और अवज्ञा से)

शेषाहे त्वत्फणानां पिबतु दशशती मारुतं चैत्रमित्रं
राहो जिह्वालता ते शशधरवपुषश्चन्द्रिकामेव लेढु।
संकोचं पुष्पवन्तौ सपदि वितरतं पङ्कजेन्दीवराणां
त्वां याचे पञ्चबाणः पुरदहन पुनर्दह्यतामर्द्धदग्धः ॥ ५२ ॥

(विचिन्त्य) कथममी तापोत्कर्षेऽपि मम प्रत्यनीकप्रोत्साहनेनापि न विरमन्ति तदेवं तावत् (साक्षेपम्)

मा स्म श्वाससटाः समीर चिरतः का कैतवी रावणे
धाराश्रूणि कृशीकुरुष्व वरुण त्वत्केलयः खल्विदम्।
हंहो पावक तापमल्पय तनौ त्वत्तो जगद्दाहिका
व्यावर्तस्व वसन्त हन्त मदनः स्याद्येन वीतायुधः ॥ ५३ ॥

(स्वगतम्) तत्कः पुनरत्र प्रकारस्तापोपशमने। (विचिन्त्य) भवत्वेवं तावत्। (प्रकाशम्)

हे संवर्ताः कुरुत करकावृष्टिभिर्मां विकीर्णं
द्राक्संभूय व्यजनचरितं धत्त कल्पान्तवाताः।
क्रीडावापी भव हिमगिरे बुध्नबन्धाद्विलीनो
लङ्काभर्तुर्मनसिजशिखी नान्यथा शंशमीति ॥ ५४ ॥

हे शेषनाग ! तुम्हारे एक सहस्र मुख चैत्र की वायु का पान करें। हे राहु ! तुम्हारी जीभ चन्द्रमा के मुख की चन्द्रिका को ही चाटे। हे शंकर ! आपसे याचना कर रहा हूँ कि आप अर्धदग्ध कामदेव को पुनः जला दें।

(सोचकर) मेरे तापोत्कर्ष के होने पर भी ये मेरे प्रति (अपनी) सेना को प्रोत्साहित करने से नहीं रुकते। तो इस प्रकार हो (आक्षेप से)

हे वायु ! श्वास की पंक्ति रुके, तुम विलम्ब न करो, रावण पर कैसी कुटिलता। हे वरुण ! आँसुओं की धारा को कम करो तुम्हारी ही ये क्रीड़ायें हैं। हे अग्नि ! शरीर में ताप को कम करो–तुम्हीं से जगत् की दाहिका शक्ति है। हे वसन्त ! तुम लौट जाओ जिससे कामदेव अस्त्रविहीन हो जाय ॥ ५३ ॥

(स्वगत) तो ताप शान्ति के लिये यहाँ कौन उपाय है (सोचकर) तो इस प्रकार हो (प्रकट)—

हे संवर्तक मेघो ! करकावृष्टि से मुझे अस्त-व्यस्त कर दो। हे कल्पान्तकालिक वायुदेवो ! सद्यः एकत्र होकर पंखे का काम करो। हे हिमालय ! नीचे का हिस्सा (पेंदी) विहीन होकर क्रीड़ावापी का काम करो। रावण की कामाग्नि दूसरे प्रकार से शमित नहीं हो सकता ॥ ५४ ॥

(सविशेषतापमूर्ध्वमवलोक्य) किञ्च—

सूत्रीकृतासु तरुणेन्दुकरच्छटासु नक्षत्रबिम्बमयमौक्तिकगुम्फनाभिः ।
सीतावियोगविधुरस्य नवीनमार्गः संपाद्यतां दशमुखस्य विलासहारः ॥ ५५ ॥

अथवा किमेभिः क्षुद्रनक्षत्रमणिभिः । ततश्च ।

हस्तद्वयीनिबिडपीडितपार्वणेन्दुनिस्यन्दितामृतरसेन निषिञ्च किञ्चित् ।
अङ्गानि मे स्मरमहाज्वरतापभाञ्जि स्वस्मै स्वयं ननु भिषज्यति राक्षसेन्द्रः ॥ ५६ ॥

प्रभञ्जनिका—देवस्स देवेण वेज्जत्तणं पडिवण्णं मअलञ्छणस्स उण का वत्ता ।
[देवस्य देवेन वैद्यत्वं प्रतिपन्नं मृगलाञ्छनस्य पुनः का वार्ता ।]

रावणः—यद्वा किमनेनापि सीतावदनबन्धुना विधुरीकृतेन (चन्द्रं प्रति सकरुणम्)

हंहो चन्द्र विमुच्यतां चरणयोः पर्यन्तसेवाक्रम-
स्त्वं पीयूषरसस्य रागशशिनः पात्रं तु लङ्केश्वरः ।
तन्मे वक्त्रपरम्परापरिचिताः प्लोषं करिष्यन्त्यमी
मा कच्चिद्भवतोऽपि बिम्बवलये श्वासाश्चमत्कारिणः ॥ ५७ ॥

(मदनवेदनामभिनीय)

(विशेष ताप से ऊपर देखकर)

और—

सीता के वियोग संतप्त रावण की ताप शान्ति के लिए सूत्र बनायी गई तरुण चन्द्रमा की किरणों की कान्ति में नक्षत्रों के बिम्ब रूपी मोतियों को गूँथ कर नवीन प्रकार की विलास-माला तैयार करो ॥ ५५ ॥

अथवा इन क्षुद्र नक्षत्रमणियों से क्या ? तो—

दोनों हाथों से पूर्णिमा के चन्द्र को अत्यन्त निचोड़ कर उसमें से निकले अमृत रस से मेरे काम-ज्वर से तप्त अङ्गों को कुछ सींचो । रावण अपनी अपने ही चिकित्सा कर रहा है ॥ ५६ ॥

प्रभञ्जनिका—आपका तो आप देव से ही वैद्यत्व उचित है । फिर चन्द्रमा की क्या बात ?

रावण—अथवा सीता के मुख के अनुकारी इस विमुक्त चन्द्रमा से क्या ? (चन्द्र की ओर सकरुण होकर)

हे चन्द्र ! चरणों तक सेवा के प्रकार को छोड़ दो । तुम अमृत रस के पात्र हो परन्तु प्रेम रूपी सुधांशु का पात्र तो लङ्केश्वर ही है । अतः मेरे मुखों की पंक्ति से संस्पृष्ट ये साँसे तुम्हारे चमकीले प्रतिविम्ब को भी कहीं संतप्त न कर दें ॥ ५७ ॥

(कामवेदना का अभिनय कर)

आः काम मय्यपि विमुञ्चसि नाम बाणान्
किं रावणो न विदितः शमितामरो यः।
यद्वा स एष तव राघवपक्षपात-
स्तत्त्वामसौ प्रतिकरिष्यति चन्द्रहासः ॥ ५८ ॥

प्रभंजनिका—विडजणमाणसणिवासिणं विब्भमच्छग्गुणगारविअं मणहरीकद-कादम्बरीमदुम्माणं पञ्चबाणं विणासअन्तेण देवेण दिज्जदु णिहुअणविण्णाणविसेसाणं जलञ्जली [विटजनमानसनिवासिनं विभ्रमषाड्गुण्यगौरवितं मनोहरीकृतकादम्बरी-मदोन्मानं पञ्चबाणं विनाशयता देवेन दीयतां निधुवनविज्ञानविशेषाणां जलाञ्जलिः।]

रावणः—(विरसं विहस्य) मकरध्वज ! यन्निवारितोऽपि मां प्रहरसि तदवगत-स्तवार्थः। यत्किल।

किं करिष्यति कोपेन देवो मे दशकन्धरः।
यदनङ्गतया नास्मि चन्द्रहासासिगोचरः ॥ ५९ ॥

तत्किं न जानासि रावणः सर्वङ्कषप्रभाव इति (विचिन्त्य) यद्वा मत्प्रसाद-दुर्ललितोऽयं सर्वदा तपस्वी तदेकवारमपराधमस्य क्षमे (ऊर्ध्वमवलोक्य सहसो-त्थाय च)

हे पाकशासन विसर्जय वारिवाहांस्त्वं कार्तिकेय कुरु दूरतरं मयूरम्।
हे शक्र संवृणु निजानि तडिन्महांसि लङ्केश्वरो विरहितः सहते न वर्षाः ॥ ६० ॥

अरे कामदेव ! मुझ पर भी बाण छोड़ रहे हो ? देवताओं के शमनकर्ता रावण को क्या तुम नहीं जानते ? अथवा यह तुम्हारा राम के प्रति पक्षपात है। यह चन्द्रहास असि तुम्हारा प्रतिकार करेगी ॥ ५८ ॥

प्रभञ्जनिका—विटजनों के मानस के निवासी, विभ्रम के षाड्गुण्य गौरव से युक्त, तथा सुरा के उन्माद को मनोहर बनाने वाले कामदेव का नाश कर आप सुरत विज्ञान को जलाञ्जलि दे दें।

रावण (वैरस्य से हँसकर) हे काम ! रोके जाने पर भी जो मुझ पर प्रहार कर रहे हो तो तुम्हारा अभिप्राय ज्ञात हो गया। क्योंकि—

(तुम समझ रहे हो) राजा रावण क्रोध से मेरा क्या बिगाड़ लेगा क्योंकि अशरीरी होने से चन्द्रहास तलवार को दृश्य मैं नहीं हूँ ॥ ५९ ॥

तो क्या नहीं जानते कि रावण सबको दमन करने वाले प्रभाव से युक्त हैं ! (सोचकर) अथवा मेरी कृपा से यह तपस्वी सदा दुर्ललित रहा है अतः इसके अपराध को एक बार क्षमा कर दूँ (ऊपर देखकर और सहसा उठकर)

हे इन्द्र ! बादलों को हटाओ, हे कार्तिकेय ! तुम मयूर को दूर हटाओ, हे शक्र ! तुम अपनी बड़ी-बड़ी विद्युतों को बन्द कर दो वियोगी रावण वर्षा को सहन नहीं कर रहा है।

(अग्रतोऽवलोक्य) के पुनरमी ।

प्रभञ्जनिका—देव सेवागदा भुअङ्गमा अत्ताणं दंसअन्ति [देव ! सेवागता भुजङ्गमा आत्मानं दर्शयन्ति ।]

रावणः—

हे पन्नगाः किमपि रोषविषस्वरूपं
रूपं तु वेणिमनुचाञ्चति वल्लभायाः ।
तेनैष दुर्द्धरतरस्त्वरते कृपाणो
युष्मानियं नमति तेन च मौलिमाला ॥ ६१ ॥

(परिक्रामन्नग्रतोऽवलोक्य) कथमियं केलिकमलिनी । (सहर्षम्)

नवमरकतपात्रीरोचिषः पत्रपङ्क्ती-
स्तव कमलिनि वन्दे चक्षुषोश्चार्पयामि ।
यदिह नयनलेह्यं दोर्लतामध्यरोध-
स्तनतटपरिणाहं सूत्रयन्ति प्रियायाः ॥ ६२ ॥

(अन्यतोऽवलोक्य) अये कथममी ब्रह्मविमानहंसाः सीताविभ्रमगमनमवहृत्य परिक्रामन्तो मह्यमात्मानं रोचयन्ते । (साक्षेपम्) आः क्षीरजलपृथक्करणपाण्डित्यसंगृहीताः सितशकुनयः केयं लुण्ठाकता । (विचिन्त्य) भवतु नलिनासनमेव तावदभिदधे । (अञ्जलिं बद्ध्वा)

(आगे देखकर) और ये कौन हैं ?

प्रभंजनिका—देव ! सेवा के लिये आये सर्प अपने को प्रदर्शित कर रहे हैं ।

रावण—हे सर्पो ! तुम लोगों का रोषविषस्वरूप रूपप्रिया की वेणी का अनुगमन कर रहा है अतः (विषरूप के कारण) यह दुर्धर कृपाण शीघ्रता कर रहा है तथा (वेणी का अनुकारी होने से) ये मस्तक झुक रहे हैं ॥ ६१ ॥

(घूमते हुये आगे देखकर) क्या यह केलि-कमलिनी है (प्रसन्नता से)

हे कमलिनि ! नव मरकत मणि के पात्र के समान कान्ति वाली तुम्हारी पत्र पंक्तियों की मैं वन्दना करता हूँ और उन्हें आँखों में लगाता हूँ क्योंकि ये शरीरलता के मध्य में रुकावट रूप स्तन तटों के विस्तार को सूत्रित करते हैं ॥ ६२ ॥

(दूसरी ओर देखकर) अरे ! सीता के विभ्रमपूर्वक गमन को चुराकर घूमते हुये ये ब्रह्मा के विमान के हंस मुझे रुचिकर लग रहे हैं (आक्षेप से) अरे क्षीर और जल को पृथक् करने में पण्डित श्वेत पक्षियो ! तुम्हारी यह लुण्ठकता कैसी ? (सोचकर) ठीक है कमलासन ब्रह्मा जी का ही ध्यान करूँ (अञ्जलि बाँधकर)

हंहो पितामह निषेध विमानहंसान् लीलागतं मृगदृशस्त इमे हरन्ति।
नोचेन्ममोपदिश तेषु यदाचरामि त्वं येन दण्डनविधेः प्रथमप्रणेता ॥ ६३ ॥

(विलोक्य) कथं सत्वरं मामवलोक्य स्थितास्तन्मन्ये मद्भयाद् गतिस्तेयं परित्यक्तमेतैः। तत्र प्रत्यादिशामि। यदित्थं कथयन्ति सकृद्विहितदोषं दोषेभ्यो विनिवर्त्तमानं साधुवद्वीक्षेत। (अन्यतोऽवलोक्य) रे पुरन्दर! मम पुरतः सीतामालिङ्गसि तन्नेयमहल्या मुनिपत्नी। चन्द्रहास! इत इत एष बिडौजसि समादिश्यते।

प्रभञ्जनिका— (पुरतः स्थित्वा) देव कहिं इह महेन्दो कहिं वा सीदा [देव! क्वेह महेन्द्रः क्व वा सीता।]

रावणः—(निपुणं निरूप्य) हन्त हन्त सादृश्याद्विप्रलब्धोऽस्मि। इन्दीवराकरोऽयं न विकस्वरलोचनः शचीरमणः। जलचन्द्रप्रतिमैषा तरङ्गदीर्घा न वैदेही।

प्रभञ्जनिका—(स्वगतम्) अण्णदो दंसिअ अवक्खिवामि से हिअआवक्खेवम्। (प्रकाशम्) इदोइदो पेक्खदु दसाणणो देवो। [अन्यतो दर्शयित्वावक्षिपाम्यस्य हृदयावक्षेपम्। इत इतः प्रेक्षतां दशाननो देवः।]

हे पितामह! इन विमान हंसों को रोकिये। ये मृगनयनी (सीता) के लीला गमन को चुरा रहे हैं। नहीं तो मैं इनके साथ जो व्यवहार करूँ उसका उपदेश करिये क्योंकि आप दण्ड-विधि के प्रथम निर्माता हैं ॥ ६३ ॥

(देखकर) क्यों मुझे देखकर शीघ्रता से रुक गये। तो समझता हूँ कि मेरे भय से इन्होंने वह गमन छोड़ दिया तो इस विषय को छोड़ देता हूँ। क्योंकि कहा जाता है कि एक बार दोष करने के बाद दोष से हट जाने वाले व्यक्ति को साधु के समान ही समझना चाहिये (दूसरी ओर देखकर) रे पुरन्दर! मेरे सामने सीता को आलिङ्गत कर रहे हो? तो यह मुनि-पत्नी अहल्या नहीं है। चन्द्रहास! इधर आओ इधर आओ इन्द्र के प्रति तुम्हें आदेश है।

प्रभञ्जनिका—देव! यहाँ कहाँ इन्द्र और कहाँ सीता है?

रावण—(अच्छी तरह देखकर) हाय! सादृश्य से ठगा गया। इन्दीवर (कमल) का यह आकर (अर्थात् तालाब) है विकसित नेत्रों वाले इन्द्र नहीं और यह तरङ्गों के कारण बड़ी प्रतीत होने वाली जल में चन्द्र की प्रतिच्छाया है सीता नहीं।

प्रभञ्जनिका—(स्वगत) दूसरी ओर दिखाकर इसके हृदय को लगाऊँ। (प्रकट) देव दशानन! इधर देखें, इधर देखें।

रावणः—(साक्षेपम्) आः पन्नगाः प्रियतमामादाय पातालं प्रविशथ। वैनतेय वैनतेय! निवारयैतान् यद्वा ममापि रावणस्य सहायापेक्षा। तदेषोऽहमेव परिसर्पामि। (इति संरम्भते)

प्रभञ्जनिका—(पादयोर्निपत्य) कहिं एत्थ पण्णआ कहिं एत्थ जाणई। [क्वात्र पन्नगाः क्वात्र जानकी।]

रावणः—(निरूप्य) यथाह भवती।

अयं तोयावर्तो बत न वितलं नागवसते-
रयं वीचीच्छेदो न खलु फणिनामेष निवहः।
इयं भृङ्गश्रेणी न पुनरलकानां विरचना
इदं हेमाम्भोजं विकसति न सीतामुखमिदम्॥ ६४॥

(विचिन्त्य) तदितः स्थलकमलिनीमतो विलासकरिमृगपक्षिजातांश्च नीलोद्यानैकदेशान्निरूपयामि (परिक्रामितकेनावलोक्य)

सारङ्ग दृष्टिलसिते कलभाषिते च पुंस्कोकिल स्मितसरोरुह सौरभे च।
दिव्येभ विभ्रमगतौ च सदैव यस्याः शिष्याःस्थ तां कथयत स्वगुरुं प्रियां मे॥६५॥

(विलोक्य) कथममी मद्भयात्सर्वेऽप्यप्रतिपत्तिमुखास्तिष्ठन्ति केवलमैरावतो मदवशात्कण्ठगर्जं करोति जाने प्रेयस्या यावदपहृतमनेन भवत्वेनमेव तावदाभाषे।

रावण—(आक्षेप से) अरे सर्पो! सीता को लेकर पाताल में प्रवेश कर रहे हो। गरुड! गरुड! इन्हें रोको अथवा मुझ रावण के लिए भी सहायता की आवश्यकता है। तो यह मैं ही चल रहा हूँ। (उद्योग करता है)

प्रभञ्जनिका—(पैरों पर गिरकर) पन्नग कहाँ और जानकी कहाँ?

रावण—(देखकर) जैसा आपने कहा—

खेद है यह जल का आवर्त है नागों का निवास वितल नहीं यह तरङ्गो का भङ्ग है सर्पों का समूह नहीं, यह भ्रमरों की श्रेणी है बालों की रचना नहीं तथा यह स्वर्ण कमल है सीता का मुख नहीं॥ ६४॥

(सोचकर) तो इधर से स्थल कमलिनी है और यहाँ से क्रीडा कर रहे हाथी, मृग, तथा पक्षियों से युक्त नीलोद्यान के भागों को देखूं (घूमते हुए देखकर)

हे सारङ्ग! कोकिल! प्रफुल्ल कमल! तथा दिव्य गज (ऐरावत)! तुम लोग क्रमशः दृष्टि-विलास, मधुर भाषण सुगन्ध तथा विभ्रमपूर्वक गमन में जिसके शिष्य हो उस अपने गुरु तथा मेरी प्रिया को बताओ (कि वह कहाँ है)॥ ६५॥

(देखकर) क्यों सभी मेरे भय से स्वकार्य से विरत हो गये केवल ऐरावत मदवश कण्ठ से चिल्ला रहा है मानों इसने प्रिया का अपहरण कर लिया है। ठीक है तो इससे ही बोलूं—

कुम्भाभ्यां कुचसंपदूरुविभवो हस्तेन लीलागत
केलीचङ्क्रमितेन गण्डतलयोः कान्तिश्च दन्तद्युता।
स्वःस्तम्बेरमनाथ पक्ष्मलदृशो यस्यास्त्वयेदं हृतं
तां मे दर्शय येन संमदवता स्तेयं मया क्षम्यते ॥ ६६ ॥

(विलोक्य) कथं मामनादृत्य निजप्रियामभ्रमुं प्रति प्रवृत्तः। (साक्षेपम्) रे रे कात्यायनीकेसरिकिशोर शिक्षयैनम्। (विचिन्त्य) अथवा शिक्षितचर एवायम्।

कण्ठार्पितमहापाशश्चरणार्पितशृङ्खलः।
बध्यते द्युकरी द्वारि कोऽस्त्यन्यो दण्डडम्बरः ॥ ६७ ॥

(अन्यतोऽवलोक्य) कथमद्यापर्वणि चन्द्रग्रहणं वसुमतीवर्ति तदेतदद्भुतम्।

प्रभञ्जनिका· देव किसणपक्खदिअसेसु चन्दग्गहणंत्ति झति जुत्तं ण पडिहाअदि। [देव कृष्णपक्षदिवसेषु चन्द्रग्रहणमिति झटिति युक्तं न प्रतिभाति।]

रावणः—प्रभञ्जनिके ! यथात्थ (सम्यग्विलोक्य किञ्चिद्विहस्य)

जितनवनवनीतं धाम नो चन्द्रिकेयं
स्मितकुवलयनीले चक्षुषी नो कलङ्कः।
सरलभुजगभङ्गिर्वेणिरेषा न राहु-
र्मुखमिदमिह तस्या नैष राकामृगाङ्कः ॥ ६८ ॥

हे स्वर्ग गजों के स्वामी ! सुन्दर भ्रुवों वाली (सीता) को जो तुमने अपने कुम्भों से कुच संपत्ति, सूंड से ऊरु-सौन्दर्य केलिभ्रमणों से लीला-गमन और दन्तद्युति से कपोलों की कान्ति का हरण कर लिया है उसे मुझे दिखाओ क्योंकि मदपूर्ण होने से तुम्हारा यह चौर्य क्षमा कर रहा हूँ ॥ ६६ ॥

(देखकर) क्या मेरा अनादर कर अपनी प्रिया अभ्रमु (ऐरावत की पत्नी का नाम) की ओर प्रवृत्त हो गया (आक्षेप से) रे रे कात्यायनी के सिंह ! इसे शिक्षा दो (सोचकर) अथवा यह शिक्षित हो चुका है।

कण्ठ में महापाश लगा-हुआ तथा पैर में बेड़ी लगा हुआ स्वर्ग का हाथी द्वार पर बांधा जाता है इसे दूसरा दण्ड क्या दिया जाय ॥ ६७ ॥

(दूसरी ओर देखकर) क्या आज विना पर्व के पृथ्वी पर चन्द्र-ग्रहण लग गया। यह तो अद्भुत बात है।

प्रभञ्जनिका—देव ! कृष्ण पक्ष के दिनों में चन्द्रग्रहण यह सहसा युक्त नहीं प्रतीत होता।

रावण—प्रभञ्जनिके ! ठीक कहती हो (अच्छी तरह देखकर और कुछ हँसकर)

यह नवीन मक्खन को पराजित करने वाला तेज है चन्द्रिका नहीं, फुल कुवलय के समान नील ये आँखे हैं चन्द्रमा का कलङ्क नहीं, सीधे भुगङ्ग की भङ्गी वाली यह वेणी है राहु नहीं और यह उसका मुख है पूर्णिमा की रात्रि का चन्द्र नहीं ॥ ६८ ॥

(विचिन्त्य) क पुनरत्र सीतावदनेन्दुरपि (विमृश्य) ज्ञातं ध्यानानीतया सीतया मुहुर्मुहुर्विप्रलभ्यामहे । (अन्यतोऽवलोक्य) अयं विलासकुरङ्गाग्रणीः समीरणसारङ्गः । (विचिन्त्य) कथं जानकीनयनलीलामलिम्लुचः । (साक्षेपम्)

शास्योऽसि मारुत हृते त्वन्मृगेण तदीक्षणे ।
स्वामी भृत्यापराधेन दण्डनीय इति स्थितिः ॥ ६९ ॥

(पुरतोऽवलोक्य) सरीसृपचक्रवर्तिन् वासुके ! गण्डूषयैनं यद्वा समानपरिग्रहदोषं चन्द्रमपि तावदाक्षिपामि ।

रजनीश विमुञ्च लाञ्छनैणं दयितालोकनहृन्ममैष वध्यः ।
यदि चास्य परिग्रहं दधीथास्तदितो मूढ दशाननं न पश्येः ॥ ७० ॥

सैंहिकेय सैंहिकेय ! कवलीकुरु कुरङ्गलाञ्छनम् ।

प्रभञ्जनिका—केलीकन्दोद्दवणविसदृवण्णं परिपिक्कप्पूरपिण्डपण्डुरअं मअलत्सणमुच्छिन्दाणेण देवेण माणंसिणीमाणमुद्दाविद्दावणे किं कादव्वम् । [केलीकमलवनविकसितवर्णं परिपक्वकर्पूरपिण्डपाण्डुरं मृगलाञ्छनमुच्छिन्दता देवेन मनस्विनीमानमुद्राविद्रावणे किं कर्त्तव्यम् ।]

(सोचकर) पुनः यहाँ सीता का मुखचन्द्र ही कहाँ (विचार कर) समझ लिया । ध्यान में आयी सीता के द्वारा बार-बार ठगा जा रहा हूँ । (दूसरी ओर देखकर) यह विलास-मृगों में श्रेष्ठ वायुरूपी मृग है ।

(सोचकर) यह जानकी की नयन-लीला का चोर कैसे हो गया !

(आक्षेप से)

हे वायु ! तुम शासित करने लायक हो । तुम्हारे मृग ने उसके विलोकनों का हरण कर लिया है । नियम यह है कि नौकर के अपराध से स्वामी दण्ड्य होता है ॥ ६९ ॥

(सामने देखकर) सरीसृपों के स्वामी वासुकि नाग ! इसका आचमन करो अथवा समान ग्रहण में दोषी चन्द्रमा का भी तिरस्कार करता हूँ ।

हे चन्द्र ! अपने मृगलाञ्छन को छोड़ो । मेरी प्रिया के अवलोकनों को चुराने वाला यह मेरा वध्य है । और यदि हे मूर्ख ! इसको धारण किये रहोगे तो अब से रावण को न देखना ॥ ७० ॥

हे राहु ! हे राहु ! मृगालाञ्छन चन्द्रमा को ग्रास बनाओ ।

केलि कमल वन के समान विकसित वर्ण वाले तथा परिपक्व कपूर के समान शुभ्र वर्ण के चन्द्रमा को नष्ट कर स्वामी मनस्विनी नायिका के मान मुद्रा को हटाने में क्या करेंगे ।

रावणः—भवति प्रभञ्जनिके ! सर्वदैव प्रसादपात्रं ममैषः । तदेकवारं तावच्छिक्षयामि ।

हे चन्द्रमस्त्यज मृगं कुरु रावणाज्ञां तत्कारिणस्तव गुणद्वितयेन योगः ।
तन्मैथिलीनयनकान्त्यपहारदोषो लुप्तश्च ते भवति बिम्बमलाञ्छनं च ॥७१॥

(पुरतोऽवलोक्य) जानकि जानकि ! किमिव मयाऽपकृतं यदवगुण्ठ्य स्थिताऽसि । यद्वा प्रसादरसोन्मुखमनसोऽपि विलासहेतोः कामिन्यः कुप्यन्ते तत्प्रसादयामीति (प्रणमति ।)

प्रभञ्जनिका—का पुण एत्थ जाणई [का पुनरत्र जानकी ।]

रावणः—इयमियम् ।

प्रभञ्जनिका—कहिं सा [क्व सा ।]

रावणः—(हस्तं व्यापारयन्) हा हतोऽस्मि मन्दभाग्यः ।

इयं लता कापि निरन्तरच्छदा प्रसूनगन्धाहृतषट्पदावलिः ।
अधो दधाना हरितं नवांशुकं न मैथिली नीलदुकूलगुण्ठना ॥ ७२ ॥

(अन्यतोऽग्रेऽवलोक्य) कथममी चकोराः शकुन्तयः । अहो चारुचरितं चित्रमेतेषामन्यविहङ्गमवर्गासाधारणं यत्किल चन्द्रिकाचान्तिचातुर्यम् । (तान् प्रति)

रावण—ठीक है प्रभञ्जनिके ! यह मेरा सदैव ही प्रसाद का पात्र है । तो एक बार इसे शिक्षा दे दूं !

हे चन्द्रमस् ! मृग को छोड़ दो । रावण की आज्ञा का पालन करो । ऐसा करने से तुम्हें दो गुण हो जायेंगे । एक तो जानकी के नयन-कान्ति के हरण का दोष चला जायेगा और दूसरे तुम्हारा विम्ब कलंक रहित हो जायेगा ॥ ७१ ॥

(सामने देखकर) जानकि ! जानकि ! मैंने क्या अपकार किया है कि घूंघट किये हो । अथवा प्रसाद रस की ओर उन्मुख भी कामिनियाँ विलास के लिये कुपित होती हैं तो प्रसन्न करता हूँ (प्रणाम करता है)

प्रभञ्जनिका—यहाँ जानकी कहाँ है ?

रावण—यह है यह है ।

प्रभञ्जनिका—वह कहाँ है ?

रावण—(हाथ हिलाते हुए) मन्दभाग्य मैं मारा गया ।

निरन्तर आवरण वाली यह कोई लता है जो अपने पुष्पों के गन्धों से भ्रमर की कतारों को खींच रही है और नीचे हरे-हरे नवीन पत्तों को धारण कर रही है । नीलवस्त्रों के अवगुण्ठन वाली जानकी यह नहीं है ॥ ७२ ॥

(दूसरी ओर आगे से देखकर) क्या ये चकोर पक्षी हैं । और अहा ! इनका अन्य पक्षी समूहों से असाधारण विचित्र सुन्दर आचरण है कि इनमें चन्द्रिका को पीने की चतुरता है । (उनसे)—

अयि पिबत चकोराः कृत्स्नमुन्नामिकण्ठक्रमकवलनचञ्चच्चन्द्रकान्तीरमिश्राः ।
विरहविधुरितानां जीवितत्राणहेतोर्भवति हरिणलक्ष्मा येन तेजोदरिद्रः ॥ ७३ ॥

किञ्च रे हतशकुनयः ।

चेतोभुवश्चरितविभ्रमसंविधानं नूनं न गोचरमभूद्दयिताननं वः ।
तत्कान्तिसम्पदमवाप्स्यथ चेच्चकोराः पानोत्सवं किमकरिष्यत चन्द्रिकासु ॥ ७४ ॥

(प्रविश्य पटाक्षेपेण छिन्ननासा कृतावगुण्ठना शूर्पणखा साक्रन्दं पादयोर्निपत्य) अज्ज एक्कदादुक पेक्ख तक्खअचूडामणी उप्पाडिदो वडवाणलजालाकलप्पअं घुल्ललिदं दसकण्ठकणिट्ठबहिणीए अच्चाहिदम् । [आर्यैकमातृक ! प्रेक्षस्व तक्षकचूडामणिरुत्पाटितो वडवानलज्वालाकलापकं चूर्णितं दशकण्ठकनिष्ठभगिन्या अत्याहितम् ।]

(इति शिर उद्घाट्य)

रावणः—(सक्रोधम्)

पौलोम्याप्यत्र वीरे समरभुवि भयाद्याचिते भर्तृभिक्षां
वैदेहीदत्तशौर्यव्रतमदनजिते यद्यभून्मय्यवज्ञा ।
तत्किं कस्यापि तस्य त्वयि विधुरमिदं कुर्वतः कर्म भग्न-
स्वर्गेभोद्दामदानस्रुतिरयमपि मे विस्मृतश्चन्द्रहासः ॥ ७५ ॥

हे चकोरो ! मुख ऊँचा कर क्रमशः कवलित करते हुए चन्द्रमा की स्वच्छ निर्मुक्त कान्ति का पान करो जिससे विरह विदग्धों की प्राण-रक्षा के लिये मृगलाञ्छन चन्द्रमा तेजहीन हो जाय ॥ ७३ ॥

और हे दरिद्र पक्षियों !

कामदेव के चरित्र के विभ्रमों का विधान भूत प्रिया (जानकी) का मुख निश्चय ही तुम लोगों ने नहीं देखा है । हे चकोरों ! यदि उसकी कान्ति-सम्पत्ति को पा लोगे तो चन्द्रिका के पान का हर्ष क्या करेगा ? ॥ ७४ ॥

(पटाक्षेप से प्रवेशकर कटी नाक वाली तथा अवगुण्ठन वाली सूर्पणखा पैरों पर गिर कर)—एक मातावाले आर्य ! (अर्थात् सगे भाई) ! देखो तक्षक का चूड़ामणि उखाड़ लिया गया, वड़वानल का ज्वाला-समूह चूर्णित कर दिया गया—रावण की बहन का अत्यन्त अहित हो गया ।

रावण—(क्रोध से) जिस वीर से युद्ध में पौलोमी (शची) ने अपने पति की भीख मांगी थी उसी को वैदेही द्वारा दी गयी शौर्य की शिक्षा वाले कामदेव द्वारा पराजित होने पर मेरे प्रति जो अवज्ञा हुई तो क्या तुम्हारे प्रति इस क्रूर कर्म को करने वाले को ऐरावत के उत्कट मदजल के स्राव को विदीर्ण करने वाली मेरी यह चन्द्रहास भी भूल गयी है ? ॥७५॥

तद्वत्से ! कथय ।

परस्परविघट्टनामुखरदन्तपत्रान्तर-
प्रवृत्तरसनं महाकहकहारवैर्भैरवैः ।
इदं मम महोद्भटं सभयशेषवक्त्रेक्षितं
प्रचण्डकुटिलोत्कटभ्रुकुटि भुग्नभालं मुखम् ॥ ७६ ॥

शूर्पणखा—(स्वगतम्) रहुउलराअहाणीपरिट्ठिदे रामलक्खवणे अहिसारअन्ती अणिच्छन्तेहिं तेहिं बलक्कारक्कमेण एत्थावत्था कदत्ति कधं जेठ्ठभादुणो कधइस्सं ता एव्वं दाव (प्रकाशम्) देव अओज्झाणअरीए रामेत्ति खत्तिअकुमारो अत्थि । [(स्वगतम्) रघुकुलराजधानीपरिस्थितौ रामलक्ष्मणावभिसरन्ती अनिच्छद्भ्यां ताभ्यां बलात्कारक्रमेणेदृशावस्था कृतेति कथं ज्येष्ठभ्रातुः कथयिष्यामि । तदेवं तावत् (प्रकाशम्) देव अयोध्यानगर्यां राम इति क्षत्रियकुमारोऽस्ति ।]

रावणः—(स्वगतम्) अस्ति यः सीतायाः पतिः । (प्रकाशम्) किं तस्य ।

शूर्पणखा—तस्स भरिआ भुवणेक्कसुन्दरी सीदा णाम । [तस्य भार्या भुवनैकसुन्दरी सीता नाम ।]

रावणः—(सावज्ञमात्मगतम्) त्रिभुवनसुन्दरीति वक्तव्ये भुवनसुन्दरीत्याह । (प्रकाशम्) ततः किं तस्याः ।

शूर्पणखा—लङ्केसरस्स समुचिदत्ति अपहरन्ती तेहिं कवालघट्टजोग्गा कदह्मि । [लङ्केश्वरस्य समुचितेति अपहरन्ती ताभ्यां कापालिकव्रतयोग्या कृताऽस्मि ।]

तो वत्से ! कहो—

परस्पर रगड़ से मुखरित दन्त पत्रों के भीतर चल रही जिह्वा वाला भयङ्कर महान् कट-कट ध्वनि से भीषण तथा शेष (नव) मुखों से इस समय देखा गया प्रचण्ड कुटिल तथा भयानक भौहों तथा टेढ़े ललाट वाला यह मेरा मुख है ॥ ७६ ॥

सूर्पणखा—(स्वगत) रघुकुल की राजधानी के समीप राम-लक्ष्मण के पास अभिसार के लिए जाती हुई न चाहते हुये उन दोनों के द्वारा बलात्कार क्रम से मेरी यह अवस्था की गई यह जेठे भाई से कैसे कहूँ ? तो इस प्रकार कहूँ । (प्रकट) देव ! अयोध्यानगरी में राम नाम का क्षत्रियकुमार है ।

रावण—(स्वगत) सीता का पति वह है (प्रकट) तो उसका क्या ?

सूर्पणखा—उसकी लोक में एकमात्र सुन्दरी सीता नाम की भार्या है ।

रावण—(अवज्ञा से मन में) त्रैलोक्य सुन्दरी कहने के स्थान पर लोकसुन्दरी कहा (प्रकट) तो उसका क्या ?

सूर्पणखा—यह लंकेस्वर रावण के योग्य ऐसा है सोचकर हरण करती हुई कापालिक व्रत के योग्य बना दी गई हूँ ।

रावणः—(स्वगतम्) अये दाशरथिविनाशाय कारणद्वयी संपन्ना सीता शूर्पणखा च। (प्रकाशम्) वत्से ! मा विषीद निर्जितजामदग्न्यशस्त्रव्यापार एवासौ ततश्च ।

त्रुट्यद्दोर्दण्डखण्डोड्डमरपुरुपतत्कण्ठकोष्ठप्रकोष्ठं
स्फारस्फिक्पृष्ठपीठीहठदलितशिराकन्धराकाण्डखण्डम् ।
सस्तम्भं क्षत्रडिम्भं चटदितिविचटन्मुण्डपिण्डं प्रचण्ड-
श्चण्डीशोच्चण्डदंष्ट्राक्रकच इव दृढं चन्द्रहासस्तृणेढु ॥ ७७ ॥

(इति परिक्रम्य निष्क्रान्तः ।)

॥ उन्मत्तदशाननो नाम पञ्चमोऽङ्कः ॥

रावण—(स्वगत) अरे राम के विनाश के लिये दो कारण हो गये—सीता और सूर्पणखा (प्रकट) वत्से ! विषाद न करो ! परशुराम के शस्त्र-व्यापार को जीतने वाला वह है तो—

भगवान् शंकर के प्रचण्ड दाँत रूपी आरे के समान यह मेरी चन्द्रहास टूट रहे भुजदण्डों वाली तीव्रता तथा भयानकता से ग्रीवा, उदर एवं कलाई को गिराती हुई, बलपूर्वक शिराओं एवं ग्रीवा तथा कन्धे के टुकड़ों को काटती हुई, मुण्ड के पिण्ड को चट-चट चटकाती हुई, विशाल नितम्ब एवं पृष्ठ वाले, विषाद से निश्चल क्षत्रिय बालक (राम) को मार डाले ॥ ७९ ॥

(ऐसा कह कर घूमकर चला गया)

॥ उन्मत्त दशानन नामक पञ्चम अङ्क समाप्त हुआ ॥

अथ षष्ठोऽङ्कः

अतः परं निर्दोषदशरथो भविष्यति

(ततः प्रविशतः शूर्पणखामायामयौ ।)

शूर्पणखा—अज्ज अहिण्णादं तए मादामहस्स तक्कालमन्तिदं जधा किल रामे सुबुद्धवेरा सुप्पणहा कुलउत्तओ माआमओ ता दुवेवि एदे कज्जसिद्धीए कारणेत्ति णिउत्ता । [आर्य अभिज्ञातं त्वया मातामहस्य तत्कालमन्त्रितं यथा किल रामे सुबद्धवैरा शूर्पणखा कुलपुत्रको मायामयस्तौ द्वावप्येतौ कार्यसिद्धेः कारणे इति नियुक्तौ ।]

मायामयः—बुद्धिप्रकर्षं प्रति किमुपवर्ण्यते तत्रभवतो माल्यवतः । किमभीष्टं चन्द्रमसः कुमुद्वतीवल्लभस्येति ।

नीतितन्त्रे द्वयं दृष्टं सिद्धये कृत्यवस्तुनः ।
समानः कार्ययोगश्च प्रभुशक्तिश्च निश्चला ॥ १ ॥

तदेहि दशाननमातामहमेवोपतिष्ठावहे ।

शूर्पणखा—एवं करह्म [एवं कुर्मः ।] (परिक्रम्यावलोकितकेन)

मायामयः—

नैर्ऋताधिपकार्याणामुपायोपायकर्मणि ।
आर्यो यन्माल्यवानास्तेऽभ्यस्तलक्षेण चक्षुषा ॥ २ ॥

इसके बाद निर्दोष दशरथ नामक छठां अङ्क है—

(शूर्पणखा और मायामय प्रवेश करते हैं)

शूर्पणखा—आर्य ! तुमने मातामह की उस समय की मंत्रणा जान ली कि राम के प्रतिवैरवाली सूर्पणखा तथा कुलपुत्र मायामय ये दोनों कार्यसिद्धि में कारण हैं ।

मायामय—श्रीमान् काल्यवान् की बुद्धि की श्रेष्ठता के विषय में क्या कहा जाय कुमुदनीनाथ चन्द्रमा का क्या अभीष्ट है ।

कृत्यवस्तु के सिद्धि के लिये नीतिशास्त्र में दो बातें कही गयी हैं—समान कार्ययोग और निश्चल सामर्थ्य ॥ १ ॥

तो आओ दशानन के नाना के पास चलें ।

शूर्पणखा—यही करें ।

(घूमते हुए देखकर)

मायामय—राक्षसराज रावण के उपाय (अपाद पाठ होने पर विपत्ति या विघ्न) और उपायकर्मों में आर्य माल्यवान् अभ्यस्त लक्ष्य वाली आँख से संलग्न है ॥ २ ॥

(ततः प्रविशति माल्यवान्)

माल्यवान्—(स्मृतिमभिनीय) शूर्पणखानिकारदर्शनसमुत्तेजितोऽपि दशकण्ठो रघुराजधानीयात्रातो निवर्तितस्तावदिदमुपदिश्य चारकैर्यदुत देवस्य वैदेह्या संदिष्टं यथा ।

स्वयं मया प्रेमपरीक्षणाय प्रवर्तितः स्वाकृतियन्त्रयोगः ।
अथाहमेवागणितैरहोभिर्दशाननान्तं नियतं प्रवत्स्ये ॥ ३ ॥

(विचिन्त्य)

इत्थं मिथ्या विप्रलब्धोऽपि देवस्त्यक्त्वावेशं सोदरीवैकृतेऽपि ।
जातः सीतासङ्गमायत्तचित्तो न्यक्कृत्यान्यज्जृम्भते मन्मथाज्ञा ॥ ४ ॥

(स्मृतिनाटितकेन) न जाने किं वृत्तं वा कैकेयीदशरथयोः ।

(उपसर्पितकेन)

मायामयः—जयति जयत्यार्यः ।

शूर्पणखा—जयदु जअदु कणिठ्ठमादामहो [जयतु जयतु कनिष्ठमातामहः ।

माल्यवान्—अथ तत्र किं वृत्तम् ।

मायामयः—यथादिष्टमार्येण ।

माल्यवान् (सहर्षं) तद्विस्तारतः कथ्यताम् ।

(तदन्तर माल्यवान् प्रवेश करता है)

मल्यवान्—(स्मरण का अभिनय करते हुये) शूर्पणखा के तिरस्कार को देखने से समुत्तेजित भी रावण रघुराजधानी (अयोध्या) की यात्रा से चरों के द्वारा सीता ने रावण के प्रति ऐसा कहा है यह कह कर लौटा दिया गया कि—

स्वयं मैंने प्रेमपरीक्षा के लिए अपनी आकृति का यन्त्र बनवाया था और कुछ ही दिनों में मैं रावण के पास निश्चित रूप से रहूँगी ॥ ३ ॥

(सोचकर)

इसप्रकार मिथ्या वंचित होकर भी अपनी बहन के विकृत होने से उत्पन्न आवेश को छोड़कर रावण सीता के संगम के अधीन चित्तवाला हो गया । कामदेव की आज्ञा अन्यों का तिरस्कार कर उद्भासित होती है ॥ ४ ॥

(स्मृति का अभिनय कर) न जाने दशरथ-कैकेयी का क्या हुआ ?

(पास जाकर)

मायामय—आर्य की जय हो ।

शूर्पणखा—छोटे नाना की जय हो ।

माल्यवान्—वहाँ क्या हुआ ?

मायामय—जैसा आपने कहा था ।

माल्यवान्—(हर्ष से) तो विस्तार से कहो ।

मायामयः—अथैकदा दयितस्नेहमय्या तया सममसुरानीकविजयाय परित-सुहृन्मनोरथे दशरथे त्रिविष्टपतिलकभूतं पुरुहूतं प्रभाववति समुपस्थितवति तद्रूपधारिणौ कुवलयदलाभिरामं रामं सपदि छलयितुमयोध्यां शूर्पणखाऽहं च प्राप्तवन्तौ। विहितजनरञ्जनेन वृन्दारकवन्दिव्यञ्जनेन गीतसंस्मृतसहचरेण निशाचरेण।

दैत्यग्रामं रणपरिगमे कुर्वता नामशेषं
येन न्यस्ता दिशि दिशि यशःकन्दलीनां प्ररोहाः।
हासज्योत्स्नां सुरपतिवधूवक्त्रचन्द्राय दत्त्वा
सार्द्धं दारैर्दशरथनृपः स्वां पुरीं सोऽयमेति ॥ ५ ॥

माल्यवान्—ततस्ततः।

शूर्पणखा—तदो तस्स वअणप्पसरणमाअण्णिअ सव्वदो वज्जन्तणिरवज्जतुरं गाअन्तगन्धव्वजणचुम्बिअणच्चन्तणटीसत्थं उब्भिज्जन्तविअडद्धअवडाआयुगं तोरणणिवज्झन्तचित्तवन्दणमालअं सच्छरत्थाचत्तरचउप्पहपइण्णपिट्ठातअचुण्णं तं पुरं चउद्दिसं आसि [ततस्तस्य वचनप्रसरणमाकर्ण्य सर्वतो वाद्यन्निरवद्यतूर्यं गायद्गन्धर्वजनं चुम्बितनृत्यन्नटीसार्थं उद्भिद्यमानविकटध्वजपताकायुगं तोरणनिबध्यमानचित्रवन्दनमालकं स्वच्छरथ्याचत्वरचतुष्पथप्रकीर्णपिष्टातकचूर्णं तत् पुरं चतुर्दिशमासीत्।]

माल्यवान्—ततस्ततः।

मायामय—एक दिन राक्षससेना के विजय के लिये प्रिय के स्नेह से युक्त ठरू के द्वारा मित्र के मनोरथ को पूरा करनेवाले प्रभावशाली राजा दशरथ के इन्द्र के पास जानेपर उन दोनों (दशरथ कैकेयी) के रूप को धारण करने वाले हम दोनों शूर्पणखा और मैं कमलदल के समान अभिराम रामको छलने के लिए अयोध्या में गये। जन-रञ्जनकारी देव-वन्दियों के व्याज से निशाचर ने यह गीत गाया—

युद्ध में दैत्यसमूह को नाश करते हुये जिन्होंने यश-अङ्कुर को दिशाओं में बढ़या वे राजा दशरथ इन्द्र की स्त्री के मुखचन्द्र में हास्यज्योत्स्ना फैलाकर अपनी स्त्रियों के साथ आ रहे हैं ॥ ५ ॥

माल्यवान्—तब क्या हुआ ?

शूर्पणखा—तो उसके वचन-प्रसार को सुनकर नगर में निरन्तर तूर्य बजाने लगे तो, गाते हुए गन्धर्वों से चुम्बित नृत्यकारी नटियों के समूह नृत्य करने लगा ध्वजा लटकाये गाड़ी जाने लगीं, दरवाजे पर चित्रवन्दनमालायें टांगी जाने लगी, मैदान एवं चौराहों पर स्वच्छ पिष्टातकचूर्ण बिछाया जाने लगा।

माल्यवान्—तब क्या हुआ ?

मायामयः—ततश्च यावन् मायाकैकेयी शूर्पणखा मायादशरथो मायामयश्च यथास्थानमुपविष्टौ तावत्कैकेय्याः प्रियसखी मन्थरा नाम तद्रूपधारिणी शूर्पणखा-परिचारिकैव तदा मामुपेत्योक्तवती ।

माल्यवान्—किम् ?

मायामयः इदम् ।

यत्त्वयाऽस्या महाराज प्रतिपन्नं वरद्वयम् ।
व्योमयात्रासहचरी कैकेयी याचतेऽद्य तत् ॥ ६ ॥

यथाभिहितं किं तत् । उक्तं च मन्थरया ।

वरेणैकेन लभतां रघुराज्यं सुतो मम ।
चतुर्दश समा रामो वने वन्येन तिष्ठतु ॥ ७ ॥

माल्यवान्—(सहर्षम्) ततस्ततः ।

शूर्पणखा—(विहस्य) सुदसच्चदसरहेण वि माआमएण तधा करुणं विरोइदुं प्रउत्तं जधा जदि णाम तरुणो परं ण रोवदिदा गावगण्ठीणं परं जदि ण द्रलइ हिअअम् [श्रुतसत्यदशरथेनापि मायामयेन तथा करुणं प्ररोदितुं प्रवृत्तं यथा यदि नाम तरवः परं न रोदिताः । ग्रावग्रन्थीनां परं यदि न दलति हृदयम् ।]

माल्यवान्—(विहस्य) भद्र मायामय ! त्वमेव शेषं कथय । कविमुखादेव शृणुमः ।

मायामय—जब माया से कैकेयी बनी शूर्पणखा और मायासे दशरथ बना मायामय यथास्थान बैठ गये तो शूर्पणखा की सेविका जिसका नाम मन्थरा है कैकेयी की प्रिय सखी मन्थरा बनकर मेरे पास आकर कहने लगी ।

माल्यवान्—क्या ?

मायामय—यह—

हे महाराज ! जो आपने इसे दो वर दिये हैं उन दोनों वरों को आपके आकाशयात्रा की सहचारिणी कैकेयी मांग रही है ॥ ६ ॥

यह पूछने पर कि वे वर क्या हैं ? मन्थरा ने कहा—

एक वर से मेरा पुत्र रघुवंश का राज्य पावे तथा दूसरे वर से राम चौदह वर्षों तक वन्य-वृत्ति से वन में रहें ॥ ७ ॥

माल्यवान्—(हर्ष से) तो क्या हुआ ?

शूर्पणखा—(हँसकर) सत्यप्रतिज्ञ जाने गये दशरथ बना हुआ मायामय इसप्रकार करुण विलाप करने लगा कि वृक्ष को छोड़कर सभी रो पड़े और जो हृदय पिघला नहीं वह पत्थर का था ।

माल्यवान्—(हँसकर) भद्र ! मायामय तुम्हीं शेष बातें बताओ । कवि के मुख से ही सुनें ।

मायामयः—(विहस्य)

तथा मया प्रस्तुतमार्यं रोदितुं निबद्धधाराप्रसरेण चक्षुषा ।
स्थिता यथा स्वर्गनदीव दक्षिणे यथा च वामे यमुनेव चक्षुषि ॥ ८ ॥

माल्यवान्—किं हि दुष्करं स्वामिभक्ते किमसाध्यं वैदग्ध्यस्य ततस्ततः ।

मायामयः—तदिति प्रतिपन्नवता मया निर्वासितो राजपुत्रः प्रवृत्तश्च गन्तुं वनाय ।

शूर्पणखा—लक्खणजाणईमेत्तपरिवारस्स से किदा जत्ता [लक्ष्मणजानकीमात्रपरिवारस्यास्य कृता यात्रा ।]

मायामयः—आर्य ! किमपि द्विषतामुदात्तजनचरितमावर्जकं पश्य ।

क्रूरक्रमं किमपि राक्षसजातिरेका तत्रापि कार्यपरतेति मयि प्रकर्षः ।
रामेण तु प्रवसता पितुराज्ञयैव वाष्पाम्भसामहमपीह कृतो रसज्ञः ॥ ९ ॥

अपि च । दशकण्ठमातामह !

अप्युज्झतो निजगृहान् सुखसारबन्धून्
कान्तारवासमनसः पितृशासनेन ।
रामस्य सा स्थितवती मुखमेत्य लक्ष्मीः
पद्मस्य या शरदि या च निशाकरस्य ॥ १० ॥

मायामय—(हंसकर)

हे आर्य ! आँखों से लगातार धारा बहाते हुये मैं ऐसा रोना प्रारम्भ किया कि मानो दाहिनी आँख में गंगा और बाँयी आँख में यमुना स्थित हों ॥ ८ ॥

माल्यवान्—स्वामिभक्त के लिये दुष्कर क्या है और चतुर के लिये असाध्य क्या है ? तब क्या हुआ ?

मायामय—बुद्धिमान् मैंने राजपुत्र को निर्वासित कर दिया और वह वन जाने के लिये तैयार हो गया ।

शूर्पणखा—लक्ष्मण और जानकी मात्र को साथ लेकर यात्रा की ।

मायामय—आर्य ! शत्रु का श्रेष्ठ पुरुषों के योग्य चरित्र कितना हृदयहारी है ! देखिये—

एक तो राक्षस जाति ही क्रूर है उसमें भी कार्याधीनतावश उसका मुझमें प्रकर्ष है पर पिता की आज्ञा से प्रवास कर रहे राम ने मुझे भी आँसुओं का रसज्ञ बना दिया ॥ ९ ॥

तथा हे रावण के मातामह !

सुख के सारभूत अपने घरों को छोड़ते हुये पिता की आज्ञा से वनवास का निश्चय किये हुये राम के मुख में आकर वह लक्ष्मी स्थित रही जो शरद् ऋतु में कमल की है या चन्द्रमा की है ॥ १० ॥

शूर्पणखा—तदो अह्मे तं पविसाविअ सच्चदसरहागमणसङ्किणो दडिदि जणरूआ भविअ किं हुविस्सदित्ति जाणिदुं तक्खणं तहिं जेव्व ठ्ठिआ अह तत्थ पउत्ता पोरलोअस्स हुलहुवुल्लावा जधा केहिं वि किरकेकईदसरहरूवधारीहिं छलिदो रामभद्दोत्ति [ततो वयं प्रवास्य सत्यदशरथागमनशङ्किनो झटिति जनरूपा भूत्वा किं भविष्यतीति ज्ञातुं तत्क्षणं तत्रैव स्थिताः। अथ तत्र प्रवृत्ताः पौरजनस्य मन्दोल्लापा यत् काभ्यामपि कृतकैकेयीदशरथरूपधारिभ्यां छलितो रामभद्र इति।]

माल्यवान्—ततस्ततः।

मायामयः—ततश्च वामदेवप्रभृतिभिर्यथावृत्तमभिधाय सपदोपग्रहं वारितोऽपि तदिदमभिधाय स्थितः।

मया मूर्ध्नि प्रह्वे पितुरिति धृतं शासनमिदं
स यक्षो रक्षो वा भवतु भगवान् वा रघुपतिः।
निर्वर्तिष्ये सोऽहं भरतकृतरक्षां निजपुरीं
समाः सम्यङ्नीत्वा वनभुवि चतस्रश्च दश च॥ ११॥

कार्यशेषनिष्पत्तये यथोचितं मातामह एव जानातीति (निष्क्रान्ताः)।

(विष्कम्भकः)

(ततः प्रविशति मातलिसारथिना रथेन कैकेय्या सह दशरथः।)

दशरथः—आर्य मातले ! कियद्दूरमद्यापि रघुराजधानी।

शूर्पणखा—तब हमलोग उन्हें प्रवासित कर वास्तविक दशरथ के आगमन की आशंका करते हुये तुरत सामान्य मनुष्य बनकर क्या होगा यह जानने के लिये तत्क्षण वहीं स्थित हो गये। तदनन्तर वहाँ नागरिकों की काना-फूंसी होने लगी कि किन्हीं दो व्यक्तियों ने दशरथ और कैकेयी का रूप धारण कर रामभद्र को छल लिया।

माल्यवान्—तब क्या हुआ ?

मायामय—तदनन्तर वामदेव आदि के द्वारा यथावत् बात को बताकर पैर पकड़कर रोके जाने पर वह भी यह कह-कह कर (अपने निश्चय पर) स्थित रहा।

मैंने शिर नवाकर पिता का यह है यह समझ कर यह आज्ञा ग्रहण की है। चाहे वह यक्ष हो या राक्षस या भगवान् या रघुपति दशरथ। भरत के द्वारा रक्षित अपनी पुरी में वह मैं वन में चौदह वर्ष सम्यक् विता कर लौटूंगा॥ ११॥

यथोचित शेष कार्य मातामह आप जानते हैं (ऐसा कह कर चला गया)

(विष्कम्भक)

(तदनन्तर मातलि के द्वारा हाँके जा रहे रथ से कैकेयी के साथ दशरथ प्रवेश करते हैं)

दशरथ—आर्य मातले ! रघुराजधानी अयोध्या कितनी दूर है ?

मातलिः—य एष दृश्यते सरयूसरितः स्रोतसा परिक्षिप्तप्राकारो धरणितलैकदेशः सा त्वियमयोध्या । (रथवेगनाटितकेन)

कैकेयी—पणमामि भअवदिं सरऊं जा पुव्वं दीसमाणा णअणपेऊसगण्डूसकवलं करेन्ती आसि सा संपदं हलाहलकवडपडिरूआ पडिहाअदि किं पुण मे अओज्झादंसणे वि अकारणपज्जाउलं हिअअं ता जदि वच्छाणं रामभद्दभरदलक्खणसत्तुग्घाणं वधूणं च सीदामण्डवीउम्मिलासुदकित्तीणं दंसणेण णिव्वासइस्सदि [प्रणमामि भवतीं सरयूं या पूर्वं दृश्यमाना नयनपीयूषगण्डूषकवलं कुर्वन्ती आसीत् सा साम्प्रतं हालाहलकवलप्रतिरूपा प्रतिभाति । किं पुनर्मेऽयोध्यादर्शनेऽप्यकारणपर्याकुलं हृदयं तद् यदि वत्सानां रामभद्रभरतलक्ष्मणशत्रुघ्नानां वधूनां च सीतामाण्डव्यूर्मिलाश्रुतकीर्तीनां दर्शनेन निर्वासयिष्यति ।]

दशरथः—अयि कैकेयि ।

एतच्छ्रान्तविचित्रचत्वरपथं विश्रान्तवैतालिक-
श्लाघाश्लोकमगुञ्जिमञ्जुमुरजं विध्वस्तगीतध्वनि ।
व्यावृत्ताध्ययनं निवृत्तसुकविक्रीडासमस्यं नमद्-
विद्वद्वादकथं कथं पुनरिदं मौनव्रते वर्त्तते ।। १२ ।।

(अवतरणनाटितकेन)

मातलिः—मर्त्यमहाराज ! सम्भावयस्व सदनमहमपि निबिडौजसं विडौजसमुपतिष्ठामीति । (निष्क्रान्तः)

(परिक्रामितकेन)

मातलि—सरयू नदी की धार से घिरी हुई खाई वाला जो यह पृथ्वी प्रदेश दिखाई पड़ता है वही अयोध्या है (रथ का वेग प्रदर्शित करते हुये)

कैकेयी—आप सरयू को प्रणाम करती हूँ । जो सरयू पहले नयनामृत का ग्रास थी वही अब हलाहल विष का ग्रास रूप प्रतीत होती है । क्यों अयोध्या के दर्शन से भी मेरा हृदय अकारण व्याकुल होता है । यह व्याकुलता राम, भरत, लक्ष्मण, और शत्रुघ्न इन पुत्रों तथा सीता, माण्डवी, उर्मिला एवं श्रुतकीर्ति इन पुत्रवधुओं के दर्शन से जायेगी ।

दशरथ—हे कैकेयि !

यह चौराहा विचित्र रूप से थका हुआ है, यहाँ वैतालिकों का प्रशंसा स्वर बन्द, मुरज बाजा बन्द, गीतध्वनि समाप्त, अध्ययन बन्द, सुकवियों की समस्या पूर्तियाँ बन्द, विद्वानों का वाद-विवाद बन्दप्राय है तथा यह मौनता क्यों है ? ।।१२।।

(उतरने का नाटक करते हुए)

मातलि—पार्थिव नरेश ! घर में जाइये । मैं भी बलशाली इन्द्र के पास जाता हूँ । (निकल जाता है)

(परिक्रमा करते हुए)

दशरथः—कः कोऽत्र भोः ।

(नेपथ्ये) अयमहं काम्पिल्लः सौविदल्लः ।

दशरथः—आह्वय सुमन्त्रवामदेवौ ।

(प्रविश्य)

वामदेवः—स्वस्ति महाराजदशरथाय । देव ! सन्निहितोऽत्र सुमन्त्रः ।

दशरथः—(अनाकर्णितकेन) एतच्छ्रान्तमित्यादि पठति ।

वामदेवः—(सास्रं स्वगतं च ।)

हे मद्वाणि निजां विमुञ्च वसतिं द्राग् देहि यात्रां बहिः

(राजानं प्रति)

देव स्तम्भय चेतनावचनयोरप्येति शुष्काशनिः ।

(दम्पती आकुलं नाटयतः)

वामदेवः—

त्वद्रूपाद्द्विपिनाय चीवरधरो धन्वी जटी शासनं
रामः प्राप्य गतः कुतश्चन वनं सौमित्रिसीतासखः ॥ १३ ॥

(उभौ मूर्च्छतः)

वामदेवः—देव ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि । देवि कैकेयि ! समाश्वसिहि समाश्वसिहि ।

दशरथ—यहाँ कौन है ?

(नेपथ्य में) मैं काम्पिल्ल सौविदल्ल हूँ ।

दशरथ—सुमन्त्र तथा वामदेव को बुलाओ ।

(प्रवेश कर)

वामदेव—महाराज दशरथ का मंगल हो । सुमन्त्र यहीं हैं ।

दशरथ—(न सुनते हुये) 'थका हुआ' इत्यादि (६.१२) पढ़ते हैं ।

वामदेव—(अश्रुपूर्ण होकर स्वगत)

हे मेरी वाणि ! अपने निवास को छोड़ो । सद्यः बाहर निकलो । (राजा से) देव ! चेतना तथा वचन को स्तम्भित करिये सूखा (अनभ्र) वज्रपात हो रहा है !

(दशरथ और कैकेयी आकुलता प्रदर्शित करते हैं)

वामदेव—तुम्हारे रूपधारी से आज्ञा पाकर लक्ष्मण और सीता के साथ राम चीवर, धनुष और जटाधारण कर कहीं वन में चले गये ॥ १३ ॥

(दोनों मूच्छित हो जाते हैं)

वामदेव—महाराज ! आश्वस्त होइये, आश्वस्त होइये । देवि कैकेयि ! आप भी आश्वस्त हों, आश्वस्त हों ।

दशरथः—केन पुनः कारणेन ।

वामदेवः—येन केकयकुलस्योपरि दुर्यशःपांशुपातः ।

कैकेयी—ण हु जादभरदस्स दुच्चरिदं किंपि अथवा दसरहणरिन्दो से पिदा [न खलु जातभरतस्य दुश्चरितं किमपि । अथवा दशरथनरेन्द्रोऽस्य पिता ।]

वामदेवः—शान्तं क्व पुनः सुधादोधितिरातपस्यन्दी ।

दशरथः—स्फुटं कथय पर्याकुलोऽस्मि ।

वामदेवः—

केकयस्य सुतया वरयुग्मं याचितोऽसि भवता च वितीर्णम् ।

दशरथः—किं तत् ।

वामदेवः—

यत्किलास्तु भरतो युवराजः

कैकेयी—हा हदह्मि मन्दभाइणी [हा हतास्मि मन्दभागिनी ।]

दशरथः—किम् ।

वामदेवः

स प्रयातु वनमद्य च रामः ॥ १४ ॥

दशरथः—हा हा धिक्कष्टम् ।

नरेन्द्रो वृद्धः स्त्रीवश इति मयि न्यस्तमयशो
निषण्णा दौरात्म्येष्विति मलिनिता केकयसुता ।
मतं तस्याप्यस्मिन्निति च भरते लक्ष्म लिखितं
न जाने वा कोऽस्मिन् रघुकुलकलङ्के कविरभूत् ॥ १५ ॥

दशरथ—किस कारण से ?

वामदेव—जिससे केकय-कुल के ऊपर अपयश की धूल बरसी ।

कैकेयी—क्या पुत्र भरत का कुछ दुश्चरित्र तो नहीं है ? अथवा दशरथ राजा उसके पिता हैं (उसका दुश्चरित्र कैसे हो सकता है ?)

वामदेव—चुप रहिये । कहीं चन्द्रकला से आतप निकल सकता है ।

दशरथ—स्पष्ट कहो, व्याकुल हो गया हूँ ।

वामदेव—केकय की कुमारी ने दो वर माँगा और आपने उसे दे दिया—

दशरथ—वह क्या ?

वामदेव—कि भरत युवराज हों ।

कैकेयी—हा मन्दभागिनी मैं मारी गयी ।

दशरथ—क्या ?

वामदेव—और राम आज ही वन जाँय ॥१४॥

दशरथ—मुझपर अयश रख दिया गया कि बूढ़ा राजा स्त्री के वश में है, दुष्टों की मलिनता कैकेयी पर पड़ी और भरत को भी इसमें राय है—यह कलङ्क भरत पर पड़ा—मालूम नहीं रघुकुल के इस कलङ्क का कवि (कर्ता) कौन बना ॥ १५ ॥

क्व पुनस्तौ कैकेयीदशरथौ।

वामदेवः– रामभद्रं प्रवास्यापसृतौ।

कैकेयी– ता किंत्ति ण वारिदो वच्छो मे रामभद्दो [तत् किमिति न वारितो वत्सो मे रामभद्रः।]

वामदेवः—निवेदितवृत्तान्तः सपादोपग्रहं वारितोऽपि तदिदमभिधाय स्थितः।

मया मूर्ध्नि प्रह्वे पितुरिति धृतं शासनमिदं
स यक्षो रक्षो वा भवतु भगवान् वा रघुपतिः।
निर्वर्तिष्ये सोऽहं भरतकृतरक्षां निजपुरीं
समाः सम्यङ्नीत्वा वनभुवि चतस्रश्च दश च॥ १६॥

दशरथः—हाहा वत्स रामभद्र! अति हि नामासाम्प्रतिकता यत्तवापि गुरुजनाज्ञातिक्रमः। कैकेयि! हा हताऽसि। तीए दुज्जसदाई सुठ्ठु चउत्थीचन्दो दिट्ठोत्ति। [त्वया दुर्यशोदायी सुष्ठु चतुर्थीचन्द्रो दृष्ट इति।]

कैकेयी—(सकरुणं) भअवदि रामभद्दसासुए सीदाजणणि वसुन्धरे रन्धं देहि अअं पणइजणो मागादि रहुउलवधूसमागमे पडिक्खिदा ण जीविदुं परिस्सं। हा जाद भरद अलिअदुज्जसकलङ्किदा कधं दे मुहं दंसइस्सं हा ताद संभाविदोऽसि दुक्खेण। हा अम्ब विडम्बिदाऽसि। हा कोसल्ले सल्लिदाऽसि। हा सुमित्ते सरीरमेत्तो

वे कैकेयी और दशरथ कहाँ हैं?

वामदेव—रामभद्र को प्रवासित कर भाग गये।

कैकेयी—तो क्या मेरे वत्स रामभद्र रोका नहीं गया।

वामदेव—समाचार बताकर तथा पैर पकड़कर मना करने पर भी यह कहकर वे अपने निश्चय पर स्थित रहे—

मैंने शिर नवाकर पिता का शासन है ऐसा समझकर धारण किया—अब चाहे वह यक्ष, राक्षस या रघुपति दशरथ ही क्यों न हों। मैं वन में चौदह वर्ष अच्छी तरह बिताकर भरत से रक्षित अपनी पुरी को लौटूंगा॥ १६॥

दशरथ—हा हा वत्स रामभद्र! अत्यन्त ही यह असाम्प्रतिक था कि तुमने गुरुजनों की आज्ञा का अतिक्रमण किया। हा कैकेयि! तुम मारी गई। तुमने अवश्य ही अपयश प्रदाता चतुर्थी का चन्द्रमा देखा है।

कैकेयी—(करुणा के साथ) रामभद्र की सास और सीता की माता भगवति वसुन्धरे! छिद्र दो। यह प्रेमीजन याचना कर रहा है। रघुकुल की वधुओं के समागम में तिरस्कृत मैं जीवन-धारण नहीं कर सकती। हा पुत्र भरत! लोक में असामान्य अपयश से कलङ्कित मैं तुम्हारा मुख कैसे देखूंगी? हा पितः! आप दुःख से अभिभूत

कदाऽसि [भगवति रामभद्रश्वश्रु सीताजननि वसुन्धरे ! रन्ध्रं देहि । अयं प्रणयिजनो याचते । रघुकुलवधूसमागमे प्रतिक्षिप्ता न जीवितुं पारयिष्ये । हा जात भरत ! अलोकदुर्यशःकलङ्किता कथं ते मुखं दर्शयिष्यामि । हा तात संभावितोऽसि दुःखेन । हा अम्ब ! विडम्बितासि । हा कौशल्ये ! शल्यितासि । हा सुमित्रे ! शरीरमात्रीकृतासि ।] (इति रोदिति)

(ततः प्रविशतः कौशल्यासुमित्रे)

कौशल्या—सहि सुमित्ते अलं संतप्पिदेण संपदं सो जादरामभद्दो दिणणाहस्स उले उप्पण्णो जेण मायागुरुअणस्स वि सासणणिव्वाहणेण बालराहवेण भविअ जरापरिणदाराहवाणं पच्छाकदं चरिदम् [सखि सुमित्रे ! अलं संतापितेन । साम्प्रतं स जातरामभद्रो दिननाथस्य कुले उत्पन्नो येन मायागुरुजनस्यापि शासननिर्वाहणेन बालराघवेण भूत्वा जरापरिणतराघवाणां पश्चात् कृतं चरितम् ।]

सुमित्रा—अइ अलिकावट्ठम्हसुत्थिदे किदं वाआवित्थरेण एहि पढमपलत्तद्दसहमहादुक्खं महाराअं संभावेह्म [अयि अलोकावष्टम्भसुस्थिते ! कृतं वाचाविस्तरेण । एहि प्रथमपतद्दुःसहमहादुःखं महाराजं संभावयामः ।] (इति परिक्रामतः)

दशरथः—(अवस्थोचितं परिक्रम्य) अयि हृदय ! साक्षविलायं विलीयस्व कौशल्यासुमित्रे दृश्येते ।

कैकेयी—(संमुखमुत्थाय) अइ हिअणिहितदूसहदुःखसल्ले कोसल्ले अइ रामाणुसरणसलक्खणलक्खणपवित्ते सुमित्ते एसा रामणिव्वासिणी भरदद्रुज्जससंपादिणी कैकेई सीददु [अयि हृदयनिहितदुःखशल्ये कौशल्ये ! अयि रामानुसरणसलक्षणलक्ष्मणपवित्रे सुमित्रे ! एषा रामनिर्वासिनी भरतदुर्यशःसंपादिनी कैकेयी सीदतु ।] (इति सर्वा रुदन्ति)

हुए । हा मातः ! तू वञ्चित हुई । हा कौशल्ये ! तुम्हें दुःख की कील धसी । हा सुमित्रे ! तुम शरीर मात्र बना दी गई ।

(तदनन्तर कौशल्या और सुमित्रा प्रवेश करती हैं)

कौशल्या—सखि सुमित्रे ! अब दुःख न करो । वे रामभद्र सूर्यवंश से उत्पन्न हैं जिन्होंने नकली गुरुजनों के आदेश का भी पालन कर बाल राघव होते हुये भी वृद्ध राघवों के आचरण को भी पीछे कर दिया ।

सुमित्रा—हे असामान्य धैर्यशालिनि ! आप चुप रहें । आइये जिन पर प्रथम दुःसह दुःख पड़ रहा है ऐसे महाराज को सान्त्वना दें (घूमती है ।)

दशरथ—(अवस्था के अनुरूप परिक्रमा कर) हे हृदय ! आँख के सामने ओझल हो जाओ कौशल्या और सुमित्रा दिखाई पड़ रही हैं ।

कैकेयी—ऐ हृदय में दुःखद दुःख की कीलवाली कौशल्ये ! और हे राम के अनुसरण से गुणवान् लक्ष्मण से पवित्र सुमित्रे ! भरत को अपयश देने वाली कैकेयी दुःख पावे । (सभी रोने लगती हैं)

दशरथ—सखे वामदेव ! उसे सुनकर वत्स लक्ष्मण ने क्या कहा ।

दशरथः—सखे वामदेव ! अथ तदाकर्ण्य किमभिहितं वत्सलक्ष्मणेन ।

वामदेवः—हृदयकरीषंकषं कथमपि लक्ष्मणवचनं देवादेश इति निवेद्यते ।

तातः प्रेम यतः करोत्यनुचितं त्याज्यः स पूज्योऽपि सन्
कैकेय्याः कुचरित्रमित्थमथ चेत्तत्राऽस्मि कुण्ठक्रमः ।
आर्यश्चेद्भरतो विकर्त्तनकुले कर्त्तुं कलङ्कं स्थितो
गुञ्जज्ज्यामुखरं धनुर्ननु मयाप्यद्यैव संभाव्यते ॥ १७ ॥

सुमित्रा—किं पुण अविदिदवुत्तन्तो माआमअसुप्पणहाणं वच्छलक्खणो [किं पुनरविदितवृत्तान्तो मायामयशूर्पणखानां वत्सलक्ष्मणः ।]

दशरथः—रामभद्रेण किं प्रतिपन्नम् ।

वामदेवः—इदं कथ्यते—

तातादेशात् कियदिदमहो यद्वनान्ते निवासो
यस्मिन् सेव्याः प्रशमनिधयो धाम निःश्रेयसानाम् ।
अप्येकाकी किमु पितृगिरा गाढगूढाचलेन्द्रै-
र्बद्ध्वा सेतुं लवणजलधौ हेलया संचरामि ॥ १८ ॥

दशरथः—प्रकृतिसुकुमारया तु जानक्या किमभिहितम् ।

वामदेव—स्वामी का आदेश है अतः किसी प्रकार लक्ष्मण के उस हृदय को जलाने वाले वचन को कहता हूँ ।

यदि पिता अनुचित प्रेम को कर रहें हैं तो वे पूज्य होकर भी त्याज्य हैं और यदि इस प्रकार कैकेयी का कुचरित्र है तो वहाँ मेरी गति बन्द है और यदि आर्य भरत सूर्य-वंश में कलङ्क कर रहे हैं तो प्रत्यञ्चा को मुखरित कर रही धनुष मेरे द्वारा उठायी जायेगी ॥ १७ ॥

सुमित्रा—मायामय और शूर्पणखा के वृत्तान्त का ज्ञान क्या लक्ष्मण को नहीं था ?

दशरथ—रामभद्र ने क्या कहा ?

वामदेव—उसे बता रहा हूँ—

पिता जी की आज्ञा से वन में यह निवास क्या जहाँ परमश्रेय के आस्पद शान्ति की निधि मुनियों की सेवा करनी है । पिता जी के वचन से तो अकेले बड़े-बड़े पर्वतों से लवणसागर में सेतु बाँधकर लीलापूर्वक चलूँ ॥ १८ ॥

दशरथ—प्रकृत्या सुकुमारी सीता ने क्या कहा ?

वामदेवः—वत्से जानकि ! पितृश्वशुरसंपादितस्वस्थस्थितिरिहस्थैव त्वं रामभद्रागमनं प्रतिपालय गर्भेश्वरीभिर्भवादृशोभिर्दुरतिक्रमणीया विन्ध्यमहीधरभुव इत्युभयक्रममहत्तरिकाभिरभिहिता यदुक्तवती सीता तदिह पत्रिकायामास्ते । सा दृश्यताम् । कण्ठावरोधादवाचनीयान्यक्षराणि (इति पत्रिकां क्षिपति) ।

सुमित्रा—(गृहीत्वा वाचयति) ।

किं तादेण णरेन्दसेहरसिहालीढग्गपादेण मे
किं वा मे ससुरेण वासवसहासींहासणद्धासिणा ।
उद्देसा गिरिणो अ ते वणमही सा चेअ मे वल्लहा
कोसल्लातणअस्स जत्थ चलणे वन्दामि णन्दामिअ ॥ १९ ॥

[किं तातेन नरेन्द्रशेखरशिखालीढाग्रपादेन मे
किं वा मे श्वशुरेण वासवसभासिंहासनार्द्धासिना ।
उद्देशा गिरयश्च ते वनमही सा चैव मे वल्लभा
कौशल्यातनयस्य यत्र चरणौ वन्दे च नन्दामि च ॥]

कौशल्या—(संस्तभ्यात्मानम्) ।

रामे वणाअ चलिदे पिदुसासणेण तं लक्खणे अणुगदे सह जाणईए ।
आणन्दबाहसमए विहुरासुपूरमुज्झन्तएहिं णअणेहिं विडम्बिदह्मि ॥ २० ॥
[रामे वनाय चलिते पितृशासनेन तं लक्ष्मणेऽनुगते सह जानक्या ।
आनन्दबाष्पसमये विधुराश्रुपूरमुज्झद्भ्यां नयनाभ्यां विडम्बितास्मि ॥]

वामदेव—जब नगर की वृद्धा स्त्रियों ने कहा कि वत्से जानकि ! पिता तथा श्वसुर के द्वारा स्थापित स्वस्थ परम्परा में यहीं स्थित रहते हुये तुम रामभद्र के आगमन की प्रतीक्षा करो क्योंकि आप जैसी अन्तःपुरचारियों द्वारा विन्ध्याचल के प्रदेश अलङ्घ्य हैं तो सीता ने जो कहा वह कण्ठावरोध से वचन नहीं बोले जाते अतः वे वचन इस पत्रिका में हैं (पत्रिका देते हैं) ।

सुमित्रा—(लेकर पढ़ती हैं)

राजाओं के शिरों से जिनके पैर चूमें जाते हैं उन पिताजी से मेरा क्या और इन्द्र-सभा के सिंहासन के अर्धभाग में बैठने वाले श्वसुर से क्या ? वे ही पर्वत मेरे देश हैं और वनभूमि ही मेरी प्रिय हैं जहाँ कौशल्या के पुत्र राम के चरणों की वन्दना करूँ और प्रसन्न होऊँ ॥ १९ ॥

कौशल्या—(अपने को रोककर)

लक्ष्मण तथा जानकी से अनुगत होकर पिता के आदेश से राम के वन जाते समय आनन्दाश्रुओं के समय दुःख के आसुओं से पूर्ण नयनों के द्वारा मैं वञ्चित की गई ॥ २० ॥

(विचिन्त्य सकरुणप्रमोदम्)

किं अण्णेण सुएण णाम जणणीतारुण्णणिव्वासिणा
एक्कं मण्णध जादमत्थ विमले रामं रहूणं कुले।
रज्जं वज्जिअ तादसासणपरो को पत्थिदो काणणं
किं बुड्ढेण वि राहवेण चरिदं एदं किदं केण वि॥ २१॥

[किमन्येन सुतेन नाम जननीतारुण्यनिर्वासिना
एकं मन्यध्व जातमत्र विमले रामं रघूणां कुले।
राज्यं वर्जयित्वा तातशासनपरः कः प्रस्थितः काननं
किं वृद्धेनापि राघवेण चरितमिदं कृतं केनापि॥]

दशरथः— क्व पुनस्तापसगृहस्थवेषयोर्विनिमयः कृतो वत्सेन।

वामदेवः—

क्षिप्त्वा दाम जटाकृतास्तव सुतस्यास्मिन्घनाः कुन्तलाः

दशरथः—हंहो हृदय! किमद्यापि श्रोष्यसि।

वामदेवः—

क्षिप्त्वा चात्र दुकूलमत्र वसितं रामेण तद्वल्कलम्।

कैकेयी—एस पोम्मराअमणिणो कंचणवन्धविद्धंसणेण वारिआक्खेवणपरिक्खेवो

[एष पद्मरागमणेः काञ्चनबन्धविध्वंसनेन वारिजाक्षेपणपरिक्षेपः।]

वामदेवः—

भ्रातृस्वीकृतमत्र चानुविहितं सौमित्रिणाऽपि व्रतं

(सोचकर करुणापूर्ण आनन्द से)

पवित्र रघुवंश में जननी के तारुण्य के निर्वासकर्ता अन्य के नाम सुनने से क्या लाभ? इस वंश में एकमात्र राम को ही पुत्र मानना चाहिये। पिता के आदेश से राज्य छोड़ कौन वन गया? क्या कोई वृद्ध रघुवंशी ने भी ऐसा आचरण किया था?॥ २१॥

दशरथ—वत्स राम ने तापस और गृहस्थ वेश का विनिमय कहाँ किया?

वामदेव—माला फेंककर यहाँ घने बालों से आपके पुत्र ने जटा बनाई।

दशरथ—हाय हृदय! क्या और भी सुनेगा?

वामदेव—और यह! वस्त्र फेंककर राम ने यहाँ वल्कल धारण किया।

कैकेयी—यह पद्मरागमणि का सोने के वेष्टन के विध्वंस से घोंघा (शम्बूक) से आवेष्टित कर रक्षण करना है।

वामदेव—और यहाँ लक्ष्मण ने भी बड़े भाई के द्वारा स्वीकृत व्रत का अनुसरण किया।

दशरथः—वत्स लक्ष्मण ! त्वच्चरितेनामुना विषीदति प्रसीदति च मे मनः ।

वामदेवः—

भर्तुश्चानुगताविह क्षितिभुवा श्वश्रूजनो वन्दितः ॥ २२ ॥

कैकेयी—सासूणं परं अहं मन्दभाइणी जा पवसन्तरामभद्दवहूपादवन्दणेण वञ्चिदा [श्वश्रूणां परमहं मन्दभागिनी या प्रवस्यद्रामभद्रवधूपादवन्दनेन वञ्चिता ।]

वामदेवः—इयमपरा विषादहर्षयोरुत्कर्षसीमा ।

याः स्नेहाज्जनकेन वेणिरचनां नीताः स्वयं विभ्रमान्–
मैत्रेय्या परिचुम्बिताः प्रणमने या याज्ञवल्क्येन च ।

कैकेयी—(सोत्कम्पम्) ता किं ताणम् [तत् किं तासाम् ।]

वामदेवः—

ताः सीताप्यतिकान्तकुन्तलसटाः कर्तुं जटाः प्रस्तुता
पादौ मूर्ध्नि निधाय संभ्रमवशात् सौमित्रिणाऽस्मिन् धृताः ॥ २३ ॥

कैकेयी—अम्मो पच्चुज्जोविदम्हि अज्ज वामएव वक्कलणिएसणवसारिदहत्थे रामभद्दे वहूए किं पडिवण्णं आसि [अहो प्रत्युज्जीवितास्मि आर्य वामदेव ! वल्कल-निवेशनप्रसारितहस्ते रामभद्रे वध्वा किं प्रतिपन्नमासीत् ।]

वामदेवः—देवि ! जनकजाता यत् प्रतिपद्यते । पश्य ।

सीताप्युपाहिततरुत्वचि रामभद्रे वल्कांशुकं हृदयसीम्नि समर्पयन्ती ।
कौशल्यया चरणयोः प्रणिपत्य शीघ्रमाघ्राय मूर्ध्नि विधृता शपथैश्च तैस्तैः ॥२४॥

दशरथ—वत्स लक्ष्मण ! तुम्हारे इस चरित्र से मेरा मन दुःखी और प्रसन्न है ।

वामदेव—और पति के अनुसरण में यहाँ सीता ने सासों की वन्दना की ॥ २२ ॥

कैकेयी—सासों में मैं अत्यन्त मन्दभागिनी हूँ जो वनवास के लिये जा रहे रामभद्र की वधू के द्वारा पादवन्दना से वञ्चित रही ।

वामदेव—विषाद और हर्ष की यह दूसरी उत्कर्ष सीमा है—

जो बालों के समूह स्वयं जनक के द्वारा स्नेह वश वेणी बनाये गये और प्रणाम करते समय जिन्हें मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य ने चूमा था ।

कैकेयी—(कम्प से) तो उनका क्या हुआ ?

वामदेव—उन्हीं अत्यन्त रमणीय बालों को सीता जटा बनाने के लिए प्रस्तुत हुई और लक्ष्मण ने संभ्रम वश पैरों को सिर पर रखकर पकड़ा (रोका) ॥ २३ ॥

कैकेयी—आर्य वामदेव ! अहा ! पुनः जीवित हो गई । वल्कल पहनाने के लिये रामभद्र के हाथ फैलाने पर वधू के क्या किया ?

वामदेव—देवि ! जनक की पुत्री जो करती (वही उन्होंने किया) देखो—

रामभद्र के वल्कल-धारण करने पर सीता के भी हृदय पर वल्कल वस्त्र धारण करते ही कौशल्या ने पैरपर पड़कर तथा उनका शिर सूँघकर नाना शपथों देकर रोका ॥२४॥

दशरथः—रामजननि ! महदुपकृतं यद् द्विधाभवद्धारितं हृदयं दशरथस्य ।

वामदेवः— किं नाम धारितं हृदयमद्यापि बहु श्रोतव्यमस्ति । पश्य ।

दयितमनुसरन्तीं मैथिलीमीक्षमाणा गृहिणमनुयियासुर्जानकी सा कनिष्ठा ।
गुरुगुरुजनलज्जानम्रवक्त्राम्बुजेन भ्रुकुटिपुटनिबन्धाद्वारिता लक्ष्मणेन ।। २५ ।।

दशरथः—किमुच्यते सच्चरितेषु रामभद्रस्यान्तेवासी लक्ष्मणः । ततस्ततः ।

वामदेवः—

निष्कर्णिकाऽस्तवलयोज्झितहारयष्टिर्निर्नूपुराप्यपहृताङ्गदमेखला च ।
त्वत्कः प्रसाद इति केवलमेव वेणौ चूडामणिं निदधती चलिता वधूस्ते ।। २६ ।।

ततश्च—

स्मर्तव्यासि चिरं चकोरदयिते दात्यूहि तुभ्यं नमो
दृष्टस्त्वं शितिकण्ठ संहर गिरो गच्छाम्यहं सारिके ।
हे लीलाशुक विस्मरिष्यसि न मामेकैकमत्यादरा-
दित्यामन्त्र्य तया विलासवयसां विश्वे वयं रोदिताः ।। २७ ।।

कैकेयी—पिअकेलिसउन्ता ज्जेव्व मे वच्छा [प्रियकेलिशकुन्तैव मे वत्सा ।]

दशरथ—राम की माता ! तूने बहुत उपकार किया जो ऐसे समय दशरथ का हृदय धारण किया ।

वामदेव—क्या हृदय धारण किया ? अभी बहुत सुनना है देखो—

प्रिय का अनुसरण करती हुई मैथिली को देखती हुई छोटी जानकी (उर्मिला) प्रिय के साथ जाने की इच्छा वाली हुई । उसे बड़े गुरुजनों की लज्जा के कारण नतमस्तक वाले लक्ष्मण ने भ्रुकुटि से मना कर दिया ।। २५ ।।

दशरथ—क्या कहा जाय सच्चारित्र्य में लक्ष्मण राम का शिष्य है । तदनन्तर क्या हुआ ?

वामदेव—आपकी वधू ने कानों का आभूषण, कङ्कण, हार, नुपुर, बाजूबंद, और मेखला उतार दिया । केवल आपका प्रसाद समझकर वेणी में चूडामणि धारण किया और चल दी ।। २६ ।।

तदनन्तर—

चकोर-पत्नि ! देर तक स्मरण की जाओगी । चातकि ! तुम्हें नमस्कार है । नील-कण्ठ ! तुम देखे गये । सारिके ! चुप रहो मैं जा रहा हूँ । हे लीला शुक ! मुझे न भूलना—इस प्रकार क्रीडा-पक्षियों से एक-एक कर विदा लेते हुये उसने हम सबको रुला दिया ।। २७ ।।

कैकेयी—मेरी बच्ची को पक्षियों से क्रीडा प्रिय थी ।

वामदेवः—

केलीहंसो गतिमनुसरन् कारितः पञ्जरे यत्
पश्चाल्लग्ना प्रमदहरिणी वारितः यत् सखीभिः।
यद्वैदेह्या गृहशुकगिरो नादृताश्च व्रजन्त्या
तत्केनास्यां पुरि न रुदितं नोदितः साधुवादः॥ २८॥

(विचिन्त्य) देव! अयमपरः क्षते क्षारावसेको यदिदमपि राजपुत्रीवचनं निवेद्यते।

तुभ्यं स्वस्ति विलासवापि भवतीं प्रेक्षे पुनर्दर्शनं
क्रीडाक्रीड विमुच्यसेऽद्य कथितं हे केलिदोले तव।
वासागार नमोऽस्तु ते गुणनिकाः सर्वाः सुखं स्थीयता-
मेषा वः परिचारिका वनभुवं रामानुगा गच्छति॥ २९॥

दशरथः—हा रघुकुलचन्द्र रामचन्द्र! कोऽयं दिलीपकुले चरितविपर्यासः।

वृद्धो दशरथः सोऽयमुपास्ते गृहमेधिताम्।
त्वया तु क्षीरकण्ठेन वनवासो निषेव्यते॥ ३०॥

वामदेवः—सखे भूकाश्यप! रामभद्रप्रवसनव्यसने तु पौराणां कथं कथ्यतां विक्लवता।

वामदेव—क्रीडा हंस पीछा करते हुये जो पिंजड़े में कर दिया गया, पीछे चला रही हरिणी जो सखियों द्वारा हटा दी गई और जाते समय वैदेही ने जो गृह-शुक की बोली का ध्यान नहीं दिया—इससे कौन रो नहीं उठा और साधुवाद नहीं दिया॥ २८॥

(सोचकर) देव! यह दूसरा जल पर नमक छिड़कने के समान है जो राजपुत्री का वचन कह रहा हूँ—

हे विलासवापि! आपका भला हो आपका पुनः दर्शन करूँगा। हे क्रीडाक्रीड! तुम आज मेरे द्वारा छोड़े जा रहे हो। हे केलि के झूला! तुमसे विदा है। वस्त्रागार! तुम्हें नमस्कार है, हे समस्त हार! आप लोग सुख से रहें—आप लोगों की यह दासी राम के पीछे पीछे वन जा रही है॥ २९॥

दशरथ—हा रघुकुल के चन्द्र रामचन्द्र! दिलीप के कुल में चरित्र का यह वैपरीत्य कैसे हुआ?

यह वृद्ध दशरथ गार्हस्थ्य की उपासना कर रहा है और तू दुधमुहा वनवास का सेवन कर रहा है॥ ३०॥

वामदेव—सखे भूकाश्यप! रामभद्र के प्रवास के समय नागरिकों की विकलता कैसे कही जाय—

गाढोरःस्थलताडनत्रुटिधृतैर्हारावलीमौक्तिकैः
संदिग्धीकृतबाष्पबिन्दु रुदितं पौराङ्गनाभिस्तथा।
आमूलश्लथपक्षतिस्थितिनतग्रीवाग्रतुण्डं यथा
वीथीपञ्जरवर्तिभिः शुककुलैरप्युत्कमुत्कूजितम् ॥ ३१ ॥

दशरथः—

हे प्राणाः स गतो रामस्तदनु व्रजत द्रुतम्।
जरसा जर्जरैरङ्गैः शक्तिर्दशरथस्य का ॥ ३२ ॥

(संतापमभिनीय) अयि रामजननि कौशल्ये !

शशिकान्तः कथं ग्रावा भजते वह्निरत्नताम्।
रामस्तु चन्दनं भूत्वा जातो मे द्रावपावकः ॥ ३३ ॥

(वामदेवं प्रति) सखे ! ततस्ततः।

वामदेवः—ततश्च कृतानुगमनाग्रहग्रन्थिमपि भरतं निजपादुकाराधनाय नन्दिग्रामे निवेश्य पितृरहितराज्यरक्षणक्षणे शत्रुघ्नं स्वशपथैः संस्थाप्य मां च तच्चिन्तने नियुज्य सुमन्त्रमात्रपरिकरः प्रस्थितस्ते पुत्रः।

(ततः प्रविशति सुमन्त्रः)

जोर से वक्षःस्थल पर आघात करने से टूट कर गिर रही हार की मोतियों से आँसू की बूंदों को संशय में डालते हुए पुर की स्त्रियों ने इस प्रकार रोना प्रारम्भ किया कि मूल से पंखों को शिथिल कर एवं ग्रीवा तथा चोंच की नोंक झुकाकर रास्ते पर पिजड़ों में रहने वाले शुक भी उत्कण्ठित होकर चिल्लाने लगे ॥ ३१ ॥

दशरथ—हे प्राण ! वह राम तो चला गया उसके पीछे तुम भी शीघ्र जाओ। वृद्धावस्था से जीर्ण अङ्गों से दशरथ की शक्ति ही क्या है ? ॥ ३२ ॥

(संताप का अभिनय कर) हे राममातः कौशल्ये !

चन्द्रकान्त पत्थर वह्निरत्न (सूर्यकान्त) कैसे हो सकता है। चन्दन (शीतल) होकर भी राम मुझे पिघलाने वाला अग्नि कैसे हो गया ? ॥ ३३ ॥

(वामदेव से) मित्र ! तब क्या हुआ ?

वामदेव—तदनन्तर पीछे चलने का आग्रह करने वाले भी भरत को अपनी पादुका की आराधना के लिये नन्दिग्राम में स्थापित कर और पिता विहीन राज्य-रक्षा के कार्य में शत्रुघ्न को अपनी शपथ के द्वारा स्थित कर और मुझे उसी चिन्ता में छोड़कर आपका पुत्र सुमन्त्र के साथ चला गया।

(तदनन्तर सुमन्त्र प्रवेश करता है)

सुमन्त्रः—आर्यावर्तमतिक्रम्य दक्षिणां दिशं प्रवसता कुमाररामभद्रेण निर्वर्तितोऽस्मि। द्राघीयसीं च तीर्थयात्रां कृत्वा पुनरयोध्यां प्राप्तस्तत्र जाने महाराजदशरथः स्वर्गनगरीतो निर्वर्तितो न वेति। (राजप्रवेशितनाटितकेनावलोक्य) कथमागत एव भगवतो मघोनः सखा। (उपसृत्य) स्वस्ति महाराजदशरथाय। देव! सुमन्त्रसंचारिताक्षरो दुस्तरकान्तारपथिको रामभद्रोऽभिवादयते।

दशरथः—(सवाक्स्तम्भम्) पूर्णवनवासव्रतो भवतु मे वत्सः।

राज्यः—अवि कुसलं तस्स सकलत्तस्स रामभद्दस्स लक्खणस्स अ [अपि कुशलं तस्य सकलत्रस्य रामभद्रस्य सलक्ष्मणस्य च।]

सुमन्त्रः—कथं न नाम कुशलं येषां चरितानि जनानामाशिषो भवन्ति।

दशरथः—सखे सुमन्त्र! निवेदय वैदेशिकत्वं गर्भरूपाणाम्।

सुमन्त्रः—देव! रघुराजधानीत इदं निवेद्यते।

सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी गत्वा जवात्त्रिचतुराणि पदानि सीता।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद्ब्रुवाणा रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥ ३४ ॥

राज्यः—(सास्रम्) वच्छे जाणइ लीलाभवणमणिकुट्टिमकेलिपरिक्कमणदुल्ललिआ भविअ पामरीजणजोग्गे णिवडिदासि [वत्से जानकि! लीलाभवनमणिकुट्टिमकेलिपरिक्रमणदुर्ललिता भूत्वा पामरीजनयोग्ये निपतितासि।]

सुमन्त्र—आर्यावर्त को पारकर दक्षिण दिशा में प्रवास करते हुये रामभद्र के द्वारा लौटा दिया गया हूँ और लम्बी तीर्थ-यात्रा कर पुनः अयोध्या में आया हूँ अतः यह नहीं जानता कि महाराज दशरथ स्वर्ग नगरी से लौटे हैं या नहीं (राजा के प्रवेश के नाटक से देखकर) क्या महाराज इन्द्रसखा आ गये (पास जाकर) महाराज दशरथ का मंगल हो। देव! दुर्गम वन के पथिक रामभद्र सुमन्त्र के द्वारा प्रेषित शब्दों से अभिवादन कर रहे हैं।

दशरथ—(आँसुओं को रोककर) मेरे वत्स का वनवास व्रत पूरा हो।

रानियाँ—स्त्री-सहित रामभद्र का और लक्ष्मण का कुशल तो है।

सुमन्त्र—जिनके आचरण ही लोगों के आशीर्वाद हैं उनका कुशल क्यों नहीं होगा?

दशरथ—सखे सुमन्त्र! उन बच्चों की विदेश में क्या अवस्था हुई कहो।

सुमन्त्र—देव! रघुराजधानी (अयोध्या) से आरम्भ कर कहता हूँ—

नगरी के पास ही वेग से तीन-चार पग जाकर शिरीष कोमला सीता ने तुरत कई बार 'कितनी दूर जाना है' यह पूछा तो पहली बार राम को आँसू आ गये ॥ ३४ ॥

रानियाँ—(अश्रुपूर्ण होकर) वत्से सीते! क्रीडाभूमि के मणिनिर्मित चबूतरे पर चलने से लाड़ली हुई तुम नीच स्त्रियों के उपयुक्त स्थान में चली गई।

दशरथः—अहह निष्करुणो विधिः। मालतीमुकुलैर्न कूलं कल्पयति। ततस्ततः।

सुमन्त्रः—पुरीपरिसरत्यागे तु।

रूढोपलस्तृतवतीषु वसुन्धरासु दाक्षिण्यतः प्रचलितामवलोक्य सीताम्।
रामाशयेऽपि परिपन्थिनि यत्तदुक्त्या सौमित्रिणाऽर्द्धपथ एव कृतो निवासः॥ ३५॥

कैकेयी—सोम्ममुह जाद लक्खण अवसरमन्तणअ किं भणामि [सौम्यमुख जात लक्ष्मण ! अवसरमन्त्रणक किं भणामि।]

सुमन्त्रः—तत्र च कुशशयने निशामतिवाह्य प्रत्यूष एव पुनः प्रवृत्ता गन्तुं तत्र च।

मसृणचरणपातं गम्यतां भूः सदर्भा विरचय सिचयान्तं मूर्ध्नि घर्मः कठोरः।
तदिति जनकपुत्री लोचनैरश्रुगर्भैः पथि पथिकवधूभिर्वीक्षिता शिक्षिता च॥ ३६॥

कतितिथेऽपि च प्रयाणे भागीरथ्याः परं पारं निश्चित्य प्रचलिताः। संतताध्वपरिश्रान्तया च सीतया कलमगोपीजनः स्त्रीस्वभावसुलभेन विश्रम्भेण मार्गं पृष्टः। निवेदितं च तेन।

पुरो भूः शालेयी कलमपरिपाकोत्सुकशुका
पुरः फुल्लाम्भोजा तिलकयति वो वर्त्म सरसी।
अथाग्रे सीमानो हलदलितमुस्तासुरभय-
स्ततोऽदूराद्दिव्या नयनविषयं यास्यति सरित्॥ ३७॥

दशरथ—अहा ! विधि कितना अकरुण है। मालती के मुकुलों से कूल नहीं बनाता। तब क्या हुआ—

सुमन्त्र—नगरी की सीमा के त्याग के समय—

कठोर पत्थरों से बिछी पृथ्वी पर सीता को चतुरता से चलती देखकर राम की इच्छा के विपरीत होने पर भी लक्ष्मण ने उनके कहने से मध्य मार्ग में ही निवास किया॥३५॥

कैकेयी—सुन्दरमुख पुत्र लक्ष्मण ! तुम अवसर के अनुकूल मन्त्रणा देने वाले हो। क्या कहूँ ?

सुमन्त्र—वहाँ कुशशय्या पर रात बिताकर भोर में ही वे चलने को प्रस्तुत हो गये वहाँ—

मार्ग में पथिकों की वधुओं ने सीता को अश्रुपूर्ण नयनों से देखा और उन्हें शिक्षा दी कि धीरे-धीरे कोमल पैर को रखो क्यों कि भूमि कुश-कण्टकों वाली है और सिर पर वस्त्रों की छाँह कर लो क्योंकि घाम कड़ा है॥३६॥

कुछ ही आगे जाने पर गंगा के उस किनारे पर जाने का निश्चय कर चले। लगातार मार्ग चलने से थकी सीता ने धान की रखवालिनी स्त्रियों से स्त्री-स्वभाव-सुलभ विश्वास से मार्ग पूछा और उन्होंने बताया—

धान के पकने से उत्सुक सुग्गे वाली आगे धान की भूमि है और (उससे) आगे प्रफुल्ल कमलों वाली बावली है जो आपके मार्ग को अलंकृत कर रही है। उसके आगे सीमा भूमियाँ हैं जिनके मोथे हलों से मथ दिये गये हैं और उनकी सुगन्ध आती है उसके पास ही दिव्य नदी दिखाई पड़ेगी॥ ३७॥

१३

राज्यः—कधं जा सा अह्माणं पुराणससुरस्स भअवदो भगीरधस्स जसवडाआ गङ्गादेवी विद्धमहेसिमुहादो सुवन्ती आसि तस्सिं दाव संपत्तं राहवकुडुम्बं तदोतदो [कथं या साऽस्माकं पुराणश्वशुरस्य भगवतो भगीरथस्य जयपताका गङ्गा देवी वृद्धमहर्षिमुखात् श्रूयमाणा आसीत् तस्यां तावत् सांप्रतं राघवकुटुम्बम् । ततस्ततः ।]

सुमन्त्रः—ततश्च त्रियामासमये समासाद्य त्रिस्रोतसं नावमारूढाः ।

कैकेयी—(साकूतम्) भअवदि भाईरधि भईरधाराहणं सुमरिअ सुहुतारा होइ [भगवति भागीरथि ! भगीरथाराधनं स्मृत्वा सुखोत्तारा भव ।)

दशरथः—(ससंभ्रमम्) अयि सुमन्त्र ! प्रस्थितकर्णधारा नौः ?

सुमन्त्रः—किमुच्यते लक्ष्मणमित्रं निषादाधिपतिर्गुहः कर्णधारः ।

कौशल्या—तदोतदो [ततस्ततः ।]

सुमन्त्रः—

शम्भोर्मौलौ शशितिलकिते क्लृप्तकेलिप्रचारा
स्रोतःसूत्रैः कृतविरचनां भूर्भुवःस्वस्त्रयस्य ।
तामुत्तीर्य त्रिदशसरितं लोचनैरश्रुगर्भै-
रन्तर्वेदीप्रवचनविदां ते पदं प्राप्तवन्तः ॥ ३८ ॥

रानियाँ—क्या जो गंगा नदी हमारे प्राचीन श्वसुर राजा भगीरथ की जय पताका के रूप में बूढ़े महर्षियों के मुख से सुनी जाती थी । तो उसके पास राघव का परिवार पहुँच गया । तब क्या हुआ ।

सुमन्त्र—तब रात्रि के समय नदी पर जाकर नाव पर चढ़े ।

कैकेयी—(अर्थकामिनी होकर) भगवति गङ्गे ! सुख से पार करने वाली हो जा ।

दशरथ—(संभ्रम से) हे सुमन्त्र ! नाव पर नाविक तो था ?

सुमन्त्र—और क्या ? लक्ष्मण का मित्र निषादाधिपति गुह नाविक था ।

कौशल्या—तब क्या हुआ ?

सुमन्त्र—चन्द्र के तिलक वाले शंभु-शिर पर केलि करने वाली तथा अपने स्रोतों के सूत्रों से भू, भुवः, स्वः त्रैलोक्य की रचना करने वाली देवनदी गंगा को पार कर वे अश्रुपूर्ण होकर अन्तर्वेदी (गंगा-यमुना की मध्यवर्ती भूमि) के निवासियों के स्थान को पहुँच गये ॥३८॥

राज्ञ्यः—अम्मो सुट्टाणे ठिदा ते जणा तदोतदो [अहो सुस्थाने स्थितास्ते जनाः । ततस्ततः]

सुमन्त्रः—ततश्च पश्चिमेन प्रयागं रात्रिमेकामतिवाह्य समुत्तीर्य कलिन्द-नन्दिनीं नानाधातुविचित्रं चित्रकूटाचलं गताः ।

दशरथः—देवि दक्षिणकोशलाधिपतिपुत्रि ! सुकुमारा राजपुत्री दुःसञ्चारा चित्रकूटगिरेररण्यानो ।

सुमन्त्रः—तत्र च ।

आर्द्रोपलाकल्पनवोटजानां सौमित्रिणा नीतफलोदकानाम् ।
कथाप्रसङ्गस्मृतबान्धवानां तेषामभूत्तत्र चिरं प्रवासः ॥ ३९ ॥

किञ्च ।

त्वक्तारवी निवसनं मृगचर्म शय्या गेहं गुहा विपुलपत्रपुटा घनाश्च ।
मूलं दलं च कुसुमं च फलं च भोज्यं पुत्रस्य जातमटवीगृहमेधिनस्ते ॥ ४० ॥

कौशल्या—अज्ज कधेसु कीदिसं पुण्णं वणवासिणोए सीदाए घरिणित्तणं [आर्य ! कथयं कीदृशं पुण्यं वनवासिन्याः सीताया गृहिणीत्वम् ।]

सुमन्त्रः—इदं निवेद्यते ।

रानियां—अहा ! सुन्दर स्थान में वे पहुँच गये ।

सुमन्त्र—तो प्रयाग के पश्चिम में एक रात बिताकर सूर्यतनया यमुना को पार कर वे नाना धातुओं से चित्रित चित्रकूट पर्वत पर गये ।

दशरथ—दक्षिण कोशल नरेश की पुत्रि देवि ! राजकुमारी सीता सुकुमारी है और चित्रकूट पर्वत का जंगल चलने में बीहड़ है ।

सुमन्त्र—और वहाँ—

उन्होंने नवीन पत्थरों से कुटी का निर्माण किया, लक्ष्मण ने फल और जल ला दिया तथा कथा-प्रसङ्ग से आत्मीय जनों का स्मरण करते हुये उन्होंने चिरकाल तक वहाँ निवास किया ॥३९॥

और—

आपके वन गये गृहस्थ पुत्र की पेड़ों की छालें ही वस्त्र थे, मृगचर्म शय्या थी, सघन पत्रों वाली गुहा में ही गृह थे तथा मूल, दल, फूल और फल ही खाद्य थे ॥४०॥

कौशल्या—आर्य ! बताइये वनवासिनी सीता का गृहणीत्व कितना पवित्र है ।

सुमन्त्र—यह निवेदन है—

यदास्वाद्यं सीता वितरति तदग्रे स्वगृहिणे
सुमित्रापुत्राय प्रणिहितमशेषं च तदनु ।
यदामं वा नामं यदनतिरसं यच्च विरसं
फलं वा मूलं वा रचयति तु तेन स्वमशनम् ।। ४१ ।।

कौशल्या—पुत्ति सीदे कहिं पुण महाराजराजजादाए भविअ णिसग्गदरिद्द-घरिणित्तणं तए सिक्खिदम् [पुत्रि सीते ! कुत्र पुनर्महाराजराजजातया भूत्वा निसर्गदरिद्रगृहिणीत्वं त्वया शिक्षितम् ।]

दशरथः— देवि ! दैवं शिक्षयति ।

सुमन्त्रः—इदमपरमावेद्यते हृदयकरीषं वचो यदुताध्वखेदजनकेषु प्रयाणकेषु ।

उत्थाय संभ्रमवशस्खलितोत्तरीया
कृत्वा धनुर्निचुलुके मृगयानिवृत्तौ ।
सीताऽञ्चलेन तरलेन समुल्लसन्ती
रामाननान्नमितपक्ष्मरजः प्रमार्ष्टि ।। ४२ ।।

दशरथः—ततस्ततः ।

सुमन्त्रः— ततश्च जानकीहरणकृतोद्यमविराधविध्वंसनेन सीतागात्रनिवेशितनखरोल्लेखस्य च धाराधरवायसस्य काणीकरणेन सुस्थान्याश्रमपदानि विधाय दक्षिणं महाकान्तारमधिकृत्य प्रस्थितास्ते ।

जो आस्वाद्य है उसे सीता पहले अपने पति को देती है और उसके बाद समग्र सुमित्रा पुत्र लक्ष्मण को और उसके बाद जो कच्चा या पका अत्यन्त रस से रहित और रसहीन फल वा मूल बचता है उससे अपना आहार करती है ।।४१।।

कौशल्या—पुत्रि सीते ! महाराजों के राजा की पुत्री होकर तूने प्रकृत्या दरिद्र के स्त्रीधर्म की कहाँ शिक्षा पायी ?

दशरथ—देवि ! दैव शिक्षा देता है ।

सुमन्त्र—हृदयदाहक यह दूसरा वचन निवेदन कर रहा हूँ कि मार्ग के दुःखजनक यात्राओं में—

राम के शिकार से लौटने पर सीता संभ्रम वश सहसा उठ जाती थी और उनका ऊपरी वस्त्र खिसक जाता था, वे धनुष को (स्तनों का आवरण कर लेती थी) नाचोल के वृक्ष में लटकाकर प्रसन्न मन से आँचल से राम के मुख पर से आँखों की पलकों को झुका देने वाली धूलों को पोंछती थी ।।४२।।

सुमन्त्र—तदनन्तर जानकी-हरण के लिए उद्यम करनेवाले विराध के विनाश करने से तथा धाराधर (मेघ = इन्द्र के पुत्र) काक (जयन्त) को काण बनाने के कारण आश्रमों को सुखद निवास वाला बनाकर वे दक्षिण के महान् वन को गये ।

दशरथः—अयि सुमन्त्र ! नववधूटीलक्ष्मणयोः प्रथमपथिकता विक्लवयति ।

सुमन्त्रः—किं नाम विक्लवयति न पुनरानन्दयति ।

धरणितलनिषण्णं वत्सविश्रान्तिहेतो-
र्व्यजति जनकपुत्री वाससः पल्लवेन ।
अगणितनिजखेदः पादसंवाहनाभिः
परिचरति च हृष्यं लक्ष्मणो रामभद्रम् ।। ४३ ।।

राज्यः—हा देव कहिं उण गब्भेसरेहिं भविअ जाणईलक्खणेहिं पहिअजणजोग्गं गुरुसुस्सूसणं सिक्खिदम् [हा देव ! क्व पुनर्गर्भेश्वराभ्यां भूत्वा जानकीलक्ष्मणाभ्यां पथिकजनयोग्यं गुरुशुश्रूषणं शिक्षितम् ।]

सुमित्रा—उचिदकारित्तणे अस्सुदसिक्खिदाइं महाभाअजणचरित्ताइं [उचितकारित्वेऽश्रुतशिक्षितानि महाभागजनचरित्राणि ।]

दशरथः—जाने जानकीतोऽपि प्रसादवान् वत्सलक्ष्मणे रामभद्रः ।

सुमन्त्रः—यथादिष्टं देवेन ।

ताराप्रेङ्खणपीतवाष्पपयसो यत्नेन संचारिताः
सीतायाः सविधस्थितेषु च मृगद्वन्द्वेषु वीरुत्सु च ।
बाले वर्त्मकृते प्रवासिनि जवादुल्लङ्घ्य गम्भीरतां
सौमित्रौ निपतन्ति वत्सलतया पुत्रस्य ते दृष्टयः ।। ४४ ।।

दशरथ—हे सुमन्त्र ! नववधू तथा लक्ष्मण प्रथम बार पथिक हुये हैं जिससे उन्हें दुःख हो रहा है ।

सुमन्त्र—क्या दुःखी करती है ? आनन्दित नहीं करती ?

वत्स (लक्ष्मण) के विश्राम के लिये पृथ्वी पर बैठे रामचन्द्र पर जनक-पुत्री वस्त्रों से हवा करती हैं और अपने दुःखों की गणना न करते हुये प्रसन्न मन लक्ष्मण पैर दबाकर राम की सेवा करते हैं ।।४३।।

रानियाँ—हा दैव ! लक्ष्मण और जानकी जन्म से ही स्वामी होकर पथिक जनों के योग्य गुरु-शुश्रूषा कर रहे हैं ।

सुमित्रा—उचित कार्य में महापुरुष विना शिक्षा पाये ही वैसा आचरण करते हैं ।

दशरथ—मालूम पड़ता है कि रामचन्द्र लक्ष्मण पर जानकी से भी अधिक प्रसन्न हैं ।

सुमन्त्र—आपने ठीक कहा—

प्रयत्न-पूर्वक चलायी गयी अतएव पुतलियों की चञ्चलता से अश्रुबिन्दुओं को सुखाने वाली आपके पुत्र (राम की) दृष्टियाँ सीता के पास के हरिण-मिथुनों तथा लताओं और मार्ग के लिये प्रवास करनेवाले अनुगामी बालक लक्ष्मण पर शीघ्रता से गम्भीरता का परित्याग कर वात्सल्य से पड़ती है ।।४४।।

दशरथः—अपि शिवाः पन्थानो वत्सानां सुशकुनया सीतया।

सुमन्त्रः—देव रामचन्द्रदर्शनमेव सर्वेषामपि सुशकुनम्। करुणाकौतुकाभ्यामागताभिर्वैखानसवधूभिर्हस्तचिबुकेन चिबुके चुम्बन्तीभिरभिहिता सीता-पुत्रि पतिव्रते वैदेहि! अप्रमत्तजनसंचारणीयानि गिरिकान्ताराणि तत्पादवेदनावत्यप्यनुरामभद्रं संचर। किं न पश्यसि।

वप्रे यूथं चरति करिणां कन्दरास्वच्छभल्लाः
कुञ्जे सिंहैः स्थितिरुपहिता द्वीपिभिर्मेखलासु।
गोलाङ्गूलास्तरुषु सरणौ भ्रान्तिमन्तः पुलिन्दै-
र्विन्ध्ये सत्त्वं तदिह कतरद् यन्न हिंस्रं न रौद्रम्॥ ४५॥

अपि च। सीरध्वजसुवासिनि!

ग्रावग्रन्थिं परिहर पुरः कण्टकिन्यत्र वीरु-
द्वस्त्रप्रान्तं दवदहनतः किञ्चिदुच्चैः कुरुस्व।
शाखास्तिर्यग्विनमय शिरः पश्य वल्मीकरन्ध्रं
वंशस्तम्बे चरति च करी तत्स्थिरा तावदास्स्व॥ ४६॥

सुमित्रा—अहह कधं णु क्खु कक्करोक्केरवक्कलणिविलासु गिरिवसुन्धरासु वसुन्धरापुत्ती णिसग्गसुकुमारा संचरदि। [अहह! कथं नु खलु कर्करोत्केरवल्कलनिबिडासु गिरिवसुन्धरासु वसुन्धरापुत्री निसर्गसुकुमारा संचरति।]

दशरथ—शुभ शकुनवाली सीता से मेरे पुत्रों के मार्ग शुभ तो हैं।

सुमन्त्र—देव! रामचन्द्र का दर्शन ही सभी के लिये शुभ शकुन है। करुणा तथा कौतुक से आयी वनवासी ऋषियों की स्त्रियों ने हाथों से सीता की ठुड्डी चूमते हुये कहा कि पुत्रि! पतिव्रते वैदेहि! वनों में सावधानी से चलना चाहिये अतः पैरों में पीड़ा होने पर भी सदैव रामचन्द्र के पीछे-पीछे चलो। क्या नहीं देखती—

पर्वतों पर हाथियों का मण्डल घूमता है, कन्दराओं में स्वच्छ भालू टहलते हैं, कुञ्जों में सिंहों ने निवास बनाया है और नदियों की तलहटियों में गजों का वास है, वृक्षों पर लंगूरों का निवास है और मार्ग में पुलिन्द (वन्यमनुष्य-जाति) घूमते हैं अतः विन्ध्य में कौन ऐसा प्राणी है जो हिंस्र या रौद्र न हो? ॥४५॥

तथा हे सीरध्वज की पुत्रि!

सामने के पत्थर को बचाकर चलो, यहाँ की लतायें काँटों से भरी है अतः दावाग्नि से बचाने के लिये वस्त्रों को कुछ ऊँचा कर लो, शाखायें टेढी हैं शिर बचा लो. नीचे चीटियों की बाँबियों को देखो और बाँसों के गुल्म में हाथी है अतः कुछ देर रुक जाओ ॥४६॥

सुमित्रा—अहा! कठोर वृक्षों की रगड़वाली वन्य भूमियों में प्रकृति सुकुमारी सीता कैसे चलती है?

सुमन्त्रः—इदं कथ्यते यथा संचरति ।

मुञ्चत्यग्रे किसलयचयं लक्ष्मणो याति सीतां
पादाम्भोजे विसृजदसृजी तत्र संचारयन्ती ।
रामो मार्गं दिशति च ततस्तेऽखिलेनाऽपि चाह्ना
शैलोत्सङ्गप्रणयिनि पथि क्रोशमेकं वहन्ति ॥ ४७ ॥

ततश्च—

जरदजगरश्वासत्रासप्रनष्टमृगाङ्गनं
हरिनखमुखन्यासादस्तद्विपोज्झितचीत्कृतम् ।
शबरवनितोत्खातैः कन्दैः स्फुटस्थपुटान्तरं
तदनु सरितां बन्धुं विन्ध्यं गतास्त इमे गिरिम् ॥ ४८ ॥

कौशल्या—जा कविञ्जलकेलिजुज्झे वि बिब्भन्ती आसि सा कधं पुण वाणरमुक्कवुक्कारवसङ्किअपहिअं किराअजालभल्लाहअवेल्लमाणअच्छभल्लकीकीलालकवलणकेलिकोदूहलिल्लकेसरिकिसोरदीहजीहालिहिज्जन्तपोम्पराअखाणि विंज्झगिरिं पेक्खन्ती सुणा मे पदाइं धारइस्सदि हा हददेव्व सांतं केलिकदलीकन्दली मत्तकरिसुण्डावेढं सहावीअदि हंहो दिलीपकुलदेवदाओ सुरक्खिदं कुणध वणे राहवकुडुम्बम् । [या कपिञ्जलकेलियुद्धेऽपि बिभ्यत्यासीत् सा कथं पुनर्वानरमुक्तबुक्कारवशङ्कितपथिकं किरातजालभल्लाहतवेल्लदच्छभल्लकीलालकवलनकेलिकौतूहलितकेसरिकिशोरदीर्घजिह्वालिह्यमानपद्मरागखनिं विन्ध्यगिरिं प्रेक्षमाणा स्नुषा मे पदानि धारयिष्यति । हा हत दैव ! शान्तं केलिकदलीकन्दली मत्तकरिशुण्डावेष्टनं साह्यते । हंहो दिलीपकुलदेवताः ! सुरक्षितं कुरुत वने राघवकुटुम्बम् ।]

सुमन्त्र—जैसे चलती है उसे बता रहा हूँ—

सीता के आगे लक्ष्मण किसलयों को बिछाते जाते हैं और सीता उनपर अपने चरण-कमलों को जिनसे रक्त चू रहा है डालती हुई चलती हैं । राम मार्ग दिखाते हैं और इस प्रकार पहाड़ी मार्ग को वे दिन भर में एक कोश पार करते हैं ॥ ४७ ॥

और उसके बाद—

उन्होंने वृद्ध अजगरों के श्वास भय से जिसे मृगों ने छोड़ दिया है, सिंह के मुख तथा नख के रखने से (चिन्ह) जिसमें हाथियों का चिग्घाड़ नहीं होता तथाशबर-स्त्रियों के खनने से जिसका मध्यभाग स्पष्ट हो गया है ऐसे नदियों के बन्धु विन्ध्य पर्वत को छोड़ा ॥ ४८ ॥

कौशल्या—जो मेरी पुत्र-वधू कपिञ्जलों के क्रीड़ायुद्ध को देखकर भी डरती थी वह कैसे वानरों के शब्दों से भयभीत पथिकों वाले, किरातों से मारे गये भालुओं के रक्तों के क्रीडा वाले तथा सिंह शावकों की जिह्वा से चाटे जाते पद्मरागमणि की खानों वाले विन्ध्य की भूमि को देखते हुये चलती होगी । हा दुर्दैव ! केलि कदली का मत्त हाथी सूंड से उखाड़ना हो रहा हो । दिलीप के कुल-देवता ! वन में राघव कुटुम्ब की रक्षा करें ।

दशरथः—किं करोतु वराकी ? क्व पुनर्मालतीकलिका दर्भगुणग्रथनाकदर्थनां क्षमते ।

सुमन्त्रः—शृणु यथा क्षमते ।

मूले मूले पथि विटपिनां खेदिनी दीर्घमास्ते
शुष्यत्कण्ठी पिबति सलिलं निर्झरे निर्झरे च ।
जातत्रासा निमिषति दृशं कन्दरे कन्दरे च
स्थाने स्थाने वहति च मतिं बद्धवासाभिलाषा ।। ४९ ।।

(निःश्वस्य) देव ! इदं पुनरतिकष्टतरं श्रावयामि ।

विन्ध्याध्वानो विरलसलिलास्तर्षिणी तत्र सीता
यावन्मूर्छां कलयति किल व्याकुले रामभद्रे ।
द्रावत्सौमित्रिः पुटककलशीं मालुधानीदलानां
तावत्प्राप्तो दधदतिभृतां वारिणा नैर्झरेण ।। ५० ।।

(सर्वे समुच्छ्वसन्ति)

कौशल्या—लक्खणलक्खण उवणेहि चलणकमलाइं सीसेण ते धारइस्सं । [लक्ष्मण लक्ष्मण ! उपनय चरणकमले शीर्षेण ते धारयिष्यामि ।]

कैकेयी—सहि कोसल्ले उट्ठेहि उट्ठेहि कहिं एत्थ रामो लक्खणो वा अदिक्कन्तं क्खु भणीअदि । [सखि कौशल्ये ! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ क्वात्र रामो लक्ष्मणो वा । अतिक्रान्तं खलु भण्यते ।]

दशरथ—विचारी क्या करे ? क्या मालती की कली कुश की रस्सी से बेधने की कदर्थना (तिरस्कार) को सह सकती है ।

सुमन्त्र—जैसे सहती है उसे सुनिये—

रास्ते में वृक्षों के नीचे थककर देर तक बैठती है तथा झरनों में कण्ठ सूखने पर जल पीती है और कन्दराओं में भय होने से आँखें मूद लेती है और स्थान-स्थान पर निवास करने की इच्छा करती है ।। ४९ ।।

(निःश्वास लेकर) देव ! फिर इस अत्यन्त कष्टकारी बात को सुनाता हूँ—

विन्ध्य के मार्गों में कहीं-कहीं जल होता है अतः प्यासी सीता जब मूर्छित हो गयी और रामभद्र व्याकुल हो गये तभी मालुधानी के पत्रों के दोने में जल्दी ही लक्ष्मण झरने का जल लेकर पहुँच गये ।। ५० ।।

(सभी प्रसन्न होते हैं)

कौशल्या—लक्ष्मण लक्ष्मण ! लाओ-लाओ तेरे चरणकमलों को शिरपर रख लूँ ।

कैकेयी—सखि कौशल्ये ! उठो-उठो । यहाँ राम या लक्ष्मण कहाँ हैं ? बीती हुई बात कही जा रही हैं ।

दशरथः—एष विषादहर्षयोरन्तरे वर्ते।

कौशल्या—हा रामभद्द केण उण दिणअरकुलकुमारएण भविअ विंझगिरिवास-दुःखं अणुभूदम्। [हा रामभद्र! केन पुनर्दिनकरकुलकुमारकेण भूत्वा विन्ध्यगिरिवास-दुःखमनुभूतम्।]

सुमित्रा—सहि कोसल्ले ण सव्वो रामभद्दो। [सखि कौशल्ये! न सर्वो रामभद्रः।]

कैकेयी—णअरे णअरे कैकेयी। [नगरे नगरे कैकेयी।]

कौशल्या तदोतदो [ततस्ततः।]

सुमन्त्रः—ततश्च।

विहितशयनोऽनेकन्यासैरनोकहपल्लवैः
कलितकलशीपाणिः कुम्भीदलैश्च पुटीकृतैः।
अथ विरचितः किंचित्तालप्रभेऽह्नि सुतेन ते
परिसरसरिज्जम्बूकुञ्जे निकेतपरिग्रहः॥ ५१॥

दशरथः—(सविशेषकरुणम्) ततस्ततः।

सुमन्त्रः—तदित्थं कतितिथे च प्रयाणे।

गिरिषु जयपताका विन्ध्यशैलस्य पाणि-
र्द्विपकुलनिचिताम्भाः प्रेयसी पश्चिमाब्धेः।
नयनपथमथागान्नर्मदा देव तेषां
शिशिरितजलमिन्दोश्चन्द्रिकेव प्रसूता॥ ५२॥

दशरथ—यह विषाद और हर्ष के बीच में हूँ।

कौशल्या—हा रामभद्र! किसने सूर्यवंशी कुमार होकर विन्ध्य पर्वत पर निवास का दुःख अनुभव किया?

सुमित्रा—सखि कौशल्ये! सभी रामभद्र नहीं हैं।

कैकेयी—नगर-नगर में कैकेयी हैं।

कौशल्या—तब क्या हुआ?

सुमन्त्र—तदनन्तर—

आपके पुत्र ने जब सूर्य की किरणें कुछ-कुछ ताल-वृक्ष के ऊपर दिखायी दे रहीं थीं उस समय वृक्षों के पत्तों को कई तह करके शय्या तैय्यार कर तथा कुम्भीलता के पल्लवों को दोना कर घड़ा बनाकर पास की नदी के जम्बू के कुञ्ज में कुटी बनायी॥ ५१॥

दशरथ—(विशेष करुणा से) तब क्या हुआ—

सुमन्त्र—तो इस प्रकार कुछ यात्रा करने पर—

हे देव! पर्वतों में जयपताकाभूत, विन्ध्य पर्वत की भुजारूप, हाथियों से पिये गये जलवाली, पश्चिम सागर की प्रेयसी नर्मदा नदी दिखायी पड़ी मानों चन्द्रमा की चन्द्रिका ही शीतल जल होकर पैदा हुई है॥ ५२॥

दशरथः—या किल भगवत्यार्यावर्त्तदक्षिणापथयोर्विभागरेखा।

सुमन्त्रः—ततश्चाहमनुगमनकृताग्रहग्रन्थिरपि देवद्रोहं निगदता रामभद्रेण विनिवृत्तये स्थापितः। किञ्च देव।

कृत्वा पाणी शिरसि जटिले पद्मकोशायमानौ
रामेण प्राक्प्रणतिविनयो देव विज्ञापितस्ते।
बाष्पस्तारातरलनयनस्तम्भितोप्युज्जिहानः
पश्चान् मुक्तः श्वसितविधुतो वन्दितेनाननेन॥ ५३॥

कौशल्या—अज्ज तए विमुक्को रामभद्दो। [आर्य! त्वया विमुक्तो रामभद्रः।]

सुमन्त्रः—देवि! सर्वे वयं रामभद्रेण परित्यक्ताः।

कौशल्या—तदोतदो [ततस्ततः।]

सुमन्त्रः—ततश्च।

नीत्वा कालं तरुणतरणिं स्निग्धजम्बूनिकुञ्जे
धारादत्तोन्नमितसिकतासद्मनां क्रीडनेन।
रेवां देव स्खलितचरणा पिच्छिलाभिः शिलाभि-
स्तामुत्तीर्णा पथिकतरलन्यस्तहाहा वधूस्ते॥ ५४॥

सुमित्रा--तदोतदो [ततस्ततः।]

दशरथ—जो भगवती नर्मदा आयावर्त और दक्षिणा पथकी विभाग रेखा है।

सुमन्त्र—तदनन्तर मैं पीछे-पीछे साथ चलने का आग्रह करने पर यह आपसे विद्रोह होगा यह कह राम द्वारा लौटा दिया गया और हे महाराज!

हे देव! जटा वाले शिर पर कमलकोश के तुल्य दोनों हाथों को करके पहले विनय-पूर्वक आपसे राम ने प्रणाम कहा। उन्होंने आँसू भरे आखों से युक्त होते हुये भी नम्र शिर से श्वास छोड़ा॥ ५३॥

कौशल्या—आर्य! तुमने रामभद्र को छोड़ दिया।

सुमन्त्र—देवि! हम सभी रामभद्र के द्वारा छोड़ दिये गये।

कौशल्या—तब क्या हुआ?

सुमन्त्र—तदनन्तर—

हे देव! शीतल जम्बूवृक्ष के कुन्ज में मध्याह्न का समय धाराओं से बने बालू के घरों की क्रीड़ा करते हुये बिता कर आपकी वधू ने छलकने वाली, शिलाओं से बिछलते हुये हाय! पथिकों के समान चंचल हारों वाली अथवा पथिकों के 'हा हा' करते समय आपकी पुत्रवधू ने उस रेवा को पार किया॥ ५४॥

सुमित्रा—तदनन्तर क्या हुआ?

सुमन्त्रः—ततोऽहं तानवलोकयन्नर्वाक्कूल एव तां रजनीमुषितस्ते तु परपारे। अथान्येद्युः।

जित्वा बाष्पं किमपि कलया स्फारितैर्नेत्रपात्रै-
रर्वाक्कूले विहितवसतिं वीक्षमाणाः क्षणं माम्।
ते दिग्भागं स्तिमितवचसो नर्मदायाः परस्ता-
ल्लोपामुद्रापतितिलकितं देव गन्तुं प्रवृत्ताः ॥ ५५ ॥

दशरथः—वत्स रामभद्र! मन्ये ममेव मलयाचलवासिनः प्रियवयस्यस्य जटायोरपि सर्वङ्कषो भविष्यसि।

(ततः प्रविशति गगनार्धवितरणनाटितकेन सप्रहारव्यथो रत्नशिखण्डः। स्वगतम्)

चन्द्रहासप्रहारोत्थां जयन् मूर्च्छां नभोनिलैः।
अयोध्यामवतीर्णोऽस्मि कथंचित् क्षतपक्षतिः ॥ ५६ ॥

(विचिन्त्य) एवं स्थितोऽपि।

एषोऽहं जलमयरत्नकामधेनुं पक्षाभ्यां सपदि विघूर्ण्य ताम्रपर्णीम्।
द्राक्कृत्वा मलयतरून् द्रुताहिपाशानादेशाद्दशरथमागतो जटायोः ॥ ५७ ॥

तद्यावत्तत्रभवन्तं भूकाश्यपं पश्यामि (गगनार्द्धक्रमेणावलोक्य) एष महाराज-दशरथः। (प्रकाशम्) कः कोऽत्र भोः। निवेद्यतामजनन्दनाय नरेन्द्राय।

सुमन्त्र—तब मैं उन्हें देखते हुए इसी पार उस रात को रहा और वे उस पार रहे। दूसरे दिन—

हे देव! किसी प्रकार आसुओं को रोक कर इस पार निवास कर रहे मुझे क्षण भर देखते हुये चुप रहते हुये वे नर्मदा के उस पार लोपा-मुद्रा के पति (अगस्त्य) से शोभित दिशा (दक्षिण) को जाने लगे ॥ ५५ ॥

दशरथ—वत्स रामभद्र! मालूम पड़ता है मलयाचल निवासी मेरे प्रिय मित्र जटायु के भी स्वामी (या विनाशक) होओगे।

(तदनन्तर बीच आकाश से उतरने का प्रदर्शन करता हुआ तथा चोट खाया हुआ चित्रशिखण्ड प्रवेश करता है।)

चन्द्रहास तलवार के प्रहार से उत्पन्न मूर्च्छा को आकाश वायु से जीतते हुये काटा गया पंखवाला मैं किसी प्रकार अयोध्या में उतरा हूँ ॥ ५६ ॥

(सोचकर) इस प्रकार स्थित भी—

यह मैं जलमय रत्नों की कामधेनु अर्थात् जल में रत्नों को उत्पन्न करने वाली ताम्रपर्णी को पक्षों से आलोडित कर तथा मलयतरु से सर्परूपी बन्धनों को चलायमान कर जटायु की आज्ञा से दशरथ के पास आया हूँ ॥ ५७ ॥

तो श्रीमान् नरेश को देखूं। (आधे आकाश के आक्रमण से देखकर) ये महाराज दशरथ हैं। यहाँ कौन है? अज-पुत्र राजा से कहिये कि—

जटायोर्गृध्रराजस्य सुहृदस्तव शैशवात् ।
दूतो रत्नशिखण्डोऽस्मि तन्निदेशादुपागतः ॥ ५८ ॥

सुमन्त्रः—इत इतः ।

रत्नशिखण्डः—(अवतरणनाटितकेन) स्वस्ति महाराजदशरथाय ।

दशरथः—अपि कुशलं जटायोर्वयस्यस्य ।

रत्नशिखण्डः—प्रियसुहृदुपयोगेन न पुनः शरीरेण ।

दशरथः—भद्र ! समुपविश्य कथ्यतां व्याकुलोऽस्मि ।

रत्नशिखण्डः—(उपविश्य) अद्य प्रगेतनप्रचारविनिर्गतैरन्वयशकुन्तिभिर्वान्त-धाराश्रुविसरैरागत्य करुणं क्रन्दद्भिरावेदितं शकुन्तराजाय जटायवे यद्गुतोपासित-प्रथमसन्ध्ये साकं जानक्या लक्ष्मणलक्ष्मण्युटजाङ्गणमधितिष्ठति सप्रमदमुद्रे रामभद्रे तत्प्रदेशवर्तिभिरुदघोषि ।

संचारी रोहणाद्रिः किमयमविकलः केलिसंप्राप्तमूर्त्तिः
कोदण्डः पिण्डिताङ्गः किमुत सुरपतेर्जङ्गमत्वं गतोऽसौ ।
चित्रं वा भूतधात्र्याः प्रकृतिबलमिदं कल्पयद्वाग्वितर्का-
नित्थं वैखानसीनां तिलकितभुवनं भूतमभ्येति किञ्चित् ॥ ५९ ॥

अभिहितं च रामभद्रेण जानकि ! कारय चक्षुषी पारणां पश्य पश्य—

आपके बचपन के मित्र गृध्रराज जटायु का मैं रत्नशिखण्ड नामक दूत उनकी आज्ञा से आपके पास आया हूँ ॥ ५८ ॥

सुमन्त्र—इधर आइये, इधर आइये ।

रत्नशिखण्ड—(अवतरण प्रदर्शित करते हुए) महाराज दशरथ का मंगल हो ।

दशरथ—मित्र जटायु की कुशल तो है ?

रत्नशिखण्ड—प्रिय मित्र आपका उपकार करने से उनका कुशल है, शरीर से कुशल नहीं है ।

दशरथ—भद्र ! बैठकर कहो । मैं व्याकुल हूँ ।

रत्नशिखण्ड—(बैठकर) परिवार के छोटे पक्षियों ने जो प्रातः भ्रमण के लिये गये हुए थे अश्रु गिराकर रोते हुए पक्षिराज जटायु से आकर कहा कि—रामभद्र के अपनी पत्नी सीता तथा शुभ लक्षण लक्ष्मण के साथ कुटी में प्रथम संध्या बिताने पर

कोई प्राणी ऐसा आ गया है जिसके विषय में तपस्वियों की स्त्रियों की यह बात चलती है कि क्या यह संपूर्ण रूप से केलि के निमित्त घूमने वाला रत्नगिरि है अथवा इन्द्र का धनुष ही शरीर धारण कर चल रहा है या भूतधात्री पृथिवी का विचित्र प्रकृतिबल है ॥ ५९ ॥

रामभद्र ने सीता से कहा कि जानकि ! आँखों की पारणा करो देखो-देखो—

श्रेणीपर्युप्तरत्नव्यतिकरकलनाचित्रिताङ्गः कुरङ्गः
कान्त्या दूरस्थितानामपि सलिलमुचां संदधच्चापचिह्नम् ।
वेगेनान्वीतमार्गो मुनिबटुभिरलं कौतुकोत्तानिताक्षै-
र्भूयो भूसन्निवेशे चरति रचयति व्योम्नि किञ्चित्प्लुतानि ।। ६० ।।

तदवलोकनकुतूहलिना चाभिहितं लक्ष्मणेन—आर्ये ! दृश्यतां द्रष्टव्यम्—

अपुच्छादाचतुण्डान्मरकतरचितां पृष्ठपीठीं दधानो
नीरन्ध्रासक्तमुक्ताफलपटलचयापाण्डुरां क्रोडपालीम् ।
पादैर्बालप्रवालच्छदपुटघटितैरच्छवैदूर्यमय्या
दृष्ट्याऽयं दण्डकायां भुवि वनहरिणोऽभ्येति विस्मापयन्नः ।। ६१ ।।

कौशल्या—तदोतदो । [ततस्ततः ।]

रत्नशिखण्डः—ततश्च विचित्ररचनाकर्मणि तच्चर्मणि सीताकौतूहलिकतामवगत्य तद्रक्षणार्थं लक्ष्मणमवस्थाप्य तमनुपृष्ठसृतो रामभद्रः । कियतीषु च कालकलासु गतासु किं तत्राद्भुतभूते भविष्यत्यार्यस्येति जाताशङ्कां वैखानसपत्नीनां समर्प्य जानकीं सौमित्रिरपि राममनुसृतः ।

कौशल्या—(किञ्चिदुत्थाय) जाद लक्खण अलमलं माणिक्ककुरङ्गेण माक्खु माक्खु एदाणिं जाणईं अटईकन्तारे परित्तअसु [जात लक्ष्मण ! अलमलं

यह मृग यथास्थान संनिहित रत्नों की रचना से विचित्र है। कान्ति से दूरस्थ बादलों के धनुष चिन्ह को भी धारण कर रहा है। कुतूहल से आँखें ऊपर किये मुनि बालक वेग से इसके मार्ग का अनुधावन कर रहे हैं। यह बार-बार पृथ्वी पर घूमता है और कुछ आकाश में कूद जाता है ।। ६० ।।

उसके देखने से उत्पन्न कुतूहल वाले लक्ष्मण ने कहा—आर्ये ! दर्शनीय को देखो—

यह हरिण पूँछ से लेकर मुख तक ऊपर मरकत मणि रचित है और निचले भाग में सघन मुक्ताफल के समूहों की कान्ति से युक्त है, पैर इसके नवीन प्रवाल समूहों से निर्मित हैं तथा आखें स्वच्छ वैदूर्य मणि से बनी हैं—ऐसा यह वनहरिण दण्डकारण्य की भूमि में हम लोगों को विस्मयाविष्ट करते हुये आ रहा है ।। ६१ ।।

कौशल्या—तब क्या हुआ ?

रत्नशिखण्ड—तब उस मृग के विचित्र रचनावाले चर्म में सीता के कुतूहल को जानकर उस (सीता) के रक्षण में लक्ष्मण को नियुक्तकर रामभद्र उस मृग के पीछे चले गये। कुछ समय बीतने पर उस अद्भुत जीव के साथ रामभद्र का क्या हुआ इस प्रकार शंकित होकर मुनियों की स्त्रियों के पास जानकी को सौंपकर लक्ष्मण भी राम के पास गये।

कौशल्या—(कुछ उठकर) पुत्र लक्ष्मण ! माणिक्य मृग को छोड़ो, छोड़ो। इस समय जानकी को जङ्गल के एकान्त में मत छोड़ो।

माणिक्यकुरङ्गेण । मा खलु मा खल्विदानीं जानकीमटवीकान्तारे परित्यज ।] (इति धारयितुमिच्छति ।)

सुमन्त्रः—देवि ! अतिक्रान्तवर्णनायामलमलमतिसंमोहेन ।

दशरथः—ततस्ततः ।

रत्नशिखण्डः—

आकर्णाकृष्टचापार्पितविशिखभृतानुद्रुतश्चाणीयान्
माणिक्याङ्गः कुरङ्गः सपदि धृतजवो जानकीवल्लभेन ।
सीतां चाधाय मध्ये मणिवलभि बली रावणः पुष्पकेण
स्वां गन्तुं राजधानीं सकलसुरवधूचण्डवृतः प्रवृत्तः ।। ६२ ।।

दशरथः—धनुर्धनुः ।

सुरेन्द्रवैरिशिरसां छेदविद्यापरीक्षिताः ।
दशवक्त्रस्य वक्त्राणि लुनन्तु मम सायकाः ।। ६३ ।।

(इत्युत्थातुमिच्छति)

सुमन्त्रः—देव ! तदिदमपक्रान्तोपवर्णनं कोयमायुधग्रहणकालः ।

दशरथः—(उपविश्य) हाहा धिक्कष्टमयमपूर्वो रघुराजकुलकलङ्कावतारः । (विचिन्त्य) तर्हि मायामयः ।

मायामृगेण रामोऽपि हृत इत्यद्भुतं महत् ।
मतिर्वा खर्वभाग्यानां पश्यन्त्यपि न पश्यति ।। ६४ ।।

सुमन्त्र—देवि ! बीती हुई बात में अधिक मोह न करो ।

दशरथ—तब क्या हुआ ?

रत्नशिखण्ड—

कान तक खींचे धनुष पर बाण धारण करते हुए रामभद्र ने विशालकाय तथा वेगवान् माणिक्यमृग का पीछा किया और इधर सकल सुराङ्गनाओं का हरणकर्ता रावण सीता को पुष्पक रथ के मणि प्राकार में रखकर अपनी राजधानी को जाने लगा ।। ६२ ।।

दशरथ—धनुष-धनुष ।

इन्द्र के शत्रुओं को काटने की विद्या में जिनकी परीक्षा हो चुकी है । ऐसे मेरे बाण रावण के मस्तकों को काटें ।। ६३ ।।

(ऐसा कहकर उठना चाहता है)

सुमन्त्र—यह वर्णन बीत चुका । यह अस्त्र-ग्रहण का कहाँ समय है ?

दशरथ—(बैठकर) हा धिक्कार है । कष्ट है । रघुकुल में यह नया कलङ्क लगा । (सोचकर) तो यह मायामय की लीला है—

मायामृग के द्वारा राम का हरण हुआ यह महदाश्चर्य है अथवा तुच्छ भाग्यवालों की बुद्धि देखते हुये भी नहीं देखती ।। ६४ ।।

सुमित्रा—पुत्ति सोदे कवलितहालाहलस्स जणस्स एस संपदं सोओ। जा देसन्तरे वि रक्खसेण हीरसि [पुत्रि सीते ! कवलितहालाहलस्य जनस्य एष साम्प्रतं शोको या त्वं देशान्तरेऽपि राक्षसेन ह्रियसे ।]

कैकेयी—कैकेईदुज्जसमहाकन्दस्स एस दुदीओ कन्दलुब्भेओ [कैकेयीदुर्यशोमहाकन्दस्य एष द्वितीयो कन्दलोद्भेदः ।]

दशरथः—(उपविश्य सवैलक्ष्यम्) ततस्ततः ।

रत्नशिखण्डः—एतद्व्यतिकरमन्वयवयोवदनेभ्यः श्रुत्वा स ते सखा गृध्रकपोतैः परिवृतो दुःसहस्नुषापहारतिरस्कारो मलयाचलादुच्चलितः । अत्रान्तरे त्रिदशवक्त्रविमुच्यमानदृग्गोचरस्य रजनीचरभर्तुरग्रे मार्गं निरुध्य कृतवान् गगनावगाहमामूलविस्तृतपतत्रपुटो जटायुः ।

दशरथः—साधु वयस्य ! साधु । ततस्ततः ।

रत्नशिखण्डः—

यत्संवर्ते दिनमणिरयं वासरस्यैककर्ता
यद्विस्तारे भवति रजनीरञ्जितो जीवलोकः ।
ताभ्यां रुन्धन्नरुणतनयो रोदसी पक्षतिभ्यां
जातो योद्धुं त्रिभुवनरिपोरग्रतो रावणस्य ।। ६५ ।।

सुमित्रा—पुत्रि ! सीते । हालामूल विष का भक्षण करने वाले पर यह शोक आ पड़ा कि तुम देशान्तर में भी राक्षस के द्वारा चुरायी गयी ।

कैकेयी—कैकेयी के अपयश रूपी महामूल में यह दूसरा अंकुर लगा ।

दशरथ—(बैठकर दुःख से) तब क्या हुआ ?

रत्नशिखण्ड—यह दुःख अपने वंश के (बच्चे) पक्षियों से सुनकर वह आपका मित्र गृध्रों के बच्चों के साथ पुत्रवधू के हरणरूप असहनीय तिरस्कार से तिरस्कृत हो मलयाचल से चल दिया । इस बीच देवता लोग जिसके सामने से हट जाते हैं उस निशाचरपति रावण के आगे पंख फैलाकर जटायु ने मार्ग रोक दिया ।

दशरथ—मित्र तूने अति भला किया । तब क्या हुआ ?

रत्नशिखण्ड—जिन पांखों के समेट लेने पर ये सूर्यदेव दिवस करते हैं तथा जिन पांखों के विस्तार करने पर संसार रात्रि का अनुभव करता है उन पांखों से आकाश तथा पृथ्वी को रोकते हुये अरुण-पुत्र जटायु त्रैलोक्य-शत्रु रावण से युद्ध करने के लिये उद्यत हुए ।। ६५ ।।

दशरथः—किमुच्यते संपातिसहोदरो मन्मित्रमारुणिरसि । ततस्ततः ।

रत्नशिखण्डः—ततश्चाभिहितमभिमानोद्धुरं गृध्रराजेन ।

संप्राप्तोऽहं जटायुर्मलयगिरिगुहाकन्दरक्रोडनीड-
स्तद्भोः सीतापहारिन् बिभृहि करचये केनचिच्चन्द्रहासम् ।
येन त्वत्कृत्स्नचूडारुणमणिनिकरं मत्कचण्डोग्रतुण्ड-
व्यापारैः स्त्रंसमानं सपदि शकुनयो मांसगर्धा ग्रसन्ताम् ।। ६६ ।।

दशरथः—अहो ! निरुपममोजायितं वेगविजितवायोर्जटायोः ।

कौशल्या—भअवदि सङ्गामसिरि जई भोदु तत्तभवं जडाऊ। तदोतदो
[भगवति संग्रामश्रीर्जयो भवतु जटायुः । ततस्ततः ।]

रत्नशिखण्डः—तत्सर्वैरेवास्माभिररुणगरुडान्वयप्रसवैः शकुन्तिभिरन्तरित-
स्तातजटायुर्योद्धुं चारब्धं ततश्च ।

कर्णाभ्यर्णेष्वलिकफलकेष्वायते नेत्रतन्त्रे
नासावंशेष्वधरपुटकेष्वंसवक्षःस्थलीषु ।
यो यो भागः सुरपतिरिपोः स्वामिनः स्पृष्ट आसीत्
तं तं गृध्राः कवलकलितं लूनवन्तो नखाग्रैः ।। ६७ ।।

दशरथ—क्यों न हो। मेरा मित्र अरुण का पुत्र तथा संपाति का सहोदर है। तब क्या हुआ ?

रत्नशिखण्ड—तब गृध्रराज ने गर्व से कहा—

मलयगिरि की गुहा की कन्दरा में नीड वाला मैं जटायु आ गया हूँ। अतः हे सीता के चुराने वाले ! अपने किसी हाथ में चन्द्रहास धारण कर लो जिससे मेरे प्रचण्ड चोंच के प्रहार से तुम्हारे समस्त मस्तकों से गिरी लाल मणियों को मांस लोलुप पक्षी खायें ।। ६६ ।।

दशरथ—अहा ! वेग से वायु को जीतने वाले जटायु का बल अनुपम है।

कौशल्या—भगवति युद्धलक्ष्मी ! जटायु की जय हो। तब क्या हुआ ?

रत्नशिखण्ड—तब अरुण तथा गरुड के वंशज हम सभी पक्षियों ने जटायु को घेर लिया तथा तब युद्ध आरंभ हो गया—और तब—

इन्द्र-शत्रु रावण के कानों के समीप का, ललाट का, विस्तृत नेत्र-भागों के प्रदेश का, नाक का, कन्धे का, वक्षःस्थल का जो-जो भाग स्वामी जटायु के द्वारा स्पर्श किया गया उस-उस भाग को गृध्रों ने नखाग्र से ग्रास बना डाला ।। ६७ ।।

ततश्च सकलैरेव शकुन्तिवीरैराकुलितेन राक्षसराजेन चन्द्रहासव्यापारेणास्याभिमुखं प्रवृत्तं हन्यमानेषु च महापतत्रिभटेषु जटायुना पुनः सर्वे वयमन्तरिताः। ततश्च ।

चित्रे तत्र पतत्रिशाचररणे नाङ्गं जटायोरभू-
न्नो कृत्तं दशकन्धरेण कणशो यच्चन्द्रहासासिना।
लङ्काभर्तुरपि प्रचण्डकुलिशव्यापारनीराजितं
यत्तुण्डेन न खण्डितं खगपतेर्यद्वा न लूनं नखैः॥ ६८॥

कौशल्या—भअवदि सङ्गामसिरि मुच्चदु सीदां वन्दिग्गहादो [भगवति संग्रामश्रीः मुञ्चतु सीतां बन्दिगृहात् ।]

दशरथः—ततस्ततः।

रत्नशिखण्डः—

तदनु दिवि जटायुश्चञ्चुसंदंशमुद्राकवलनविधिवेगप्रस्खलच्चन्द्रहासः ।
दशभिरपि नखाग्रैर्दिग्गजेन्द्राङ्कुशाभैः सपदि दशमुखानि प्राद्रवद्रावणस्य।६९।

दशरथः—साधु गरुडाग्रज ! साधु साधु दिनमणिसारथे! साधु जटायुना पुत्रेण।

कौशल्या · तं कदं अज्ज जटाउणा जं सहिसुसाहरणे कीरदि तदोतदो [तत् कृतं जटायुना यत् सखीस्नुषाहरणे कीर्त्यते । ततस्ततः ।]

तब सभी पक्षियों से व्याकुल किये जाने पर रावण ने चन्द्रहास तलवार से पक्षिवीरों को जटायु के सामने मारना प्रारम्भ किया तब जटायु ने हम सभी को पीछे कर दिया। और तब—

उस पक्षी तथा रावण के विचित्र युद्ध में जटायु का कोई अंग ऐसा न था जो रावण ने चन्द्रहास से कण-कण न काट डाला हो और लंकापति (रावण) का भी (इन्द्र के) प्रचण्ड वज्र के प्रहार से अलङ्कृत कोई अङ्ग ऐसा न था जो पक्षिराज की चोंच से खण्डित न हुआ हो या नखों से काट न डाला गया हो॥ ६८॥

कौशल्या—भगवति युद्धलक्ष्मि ! सीता बन्दिगृह से छूट जाय।

दशरथ—तब क्या हुआ ?

रत्नशिखण्ड—

तदनन्तर आकाश में जटायु ने चोंच से काटने की पद्धति ही जिसकी ग्रास विधि है उससे चन्द्रहास असि को गिराते हुये से दिग्गजों के अंकुश के समान अपने दशों नखों से रावण के दशमुखों को खण्डित कर डाला॥ ६९॥

दशरथ—गरुडाग्रज ! सूर्यसारथे (अरुण) ! जटायुपुत्र के द्वारा तुम धन्य हो।

कौशल्या—मित्र के पुत्रवधू के हरण में जटायु ने वह कार्य किया जिसकी कीर्ति गायी जा रही है।

रत्नशिखण्डः—ततश्च ।

द्राक्चन्द्रहासपरिखण्डितचञ्चुकोटि-
श्चञ्चुप्रहारपरिखण्डितचन्द्रहासः ।
नाडिन्धमे तडिति कण्ठतटे स तेन
कुन्तेन कुन्तनखरः प्रहतः शकुन्तः ॥ ७० ॥

ततश्च तदिदमपश्चिमं तव कण्ठगतप्राणेन जटायुना संदिष्टम् ।

यत्संपातिसहोदरस्य सदृशं यच्चारुणेः साम्प्रतं
यच्चाधीननखायुधस्य च समं युक्तं च यद्रावणे ।
तन्मैत्रीमनुरुन्धता तव मया तत्सङ्गराग्रे कृतं
न व्रीडां गमितोऽसि येन न पुनः स्यां संभवे येन च ॥ ७१ ॥

दशरथः—हा अरुणकुलालङ्करण ! हा संपातिवल्लभ ! हा गरुडप्रसादवित्त ! कामवस्थां नीतोऽसि प्रियसुहृदा दशरथेन ।

कौशल्या—हा देव्व तए कदविलम्बं समत्थअं वणगदं राहवकुडुम्बम् [हा देव त्वया कृतविडम्बं समस्तं वनगतराघवकुटुम्बम् ।]

सुमित्रा—ण केवलं वणगदं भुवणगदं वि [न केवलं वनगतं भुवनगतमपि ।]

रत्नशिखण्डः—तत्प्रहिणोतु मां महाराजो निजकुलकुलायगमनाय ।

रत्नशिखण्ड—और तव—

रावण ने सद्यः चन्द्रहास से जिसकी चोंच काट दी गई है तथा चोंच से जिसने चन्द्रहास को काट दिया है ऐसे नखरूपी अस्त्रवाले पक्षी जटायु के कण्ठ को अस्त्र से काट दिया ॥ ७० ॥

फिर कण्ठ में जिसके प्राण आ गये थे ऐसे जटायु ने आपसे यह अन्तिम बात कही है ।

संपाति के सहोदर के लिए जो उचित था, जो अरुण की सन्तान के लिये उचित था, जो आपके वशवर्ती तथा नखरूपी आयुधधारी के लिये उचित था तथा जो (लोकभयंकर) रावण के साथ उचित था वह सब मैंने आपकी मित्रता का अनुगमन करते हुए किया जिससे आप लज्जित न हों । अब मैं न रहा ॥ ७१ ॥

दशरथ—हा अरुणवंश के अलङ्कार ! हा ? सम्पाति के प्रिय ! हा गरुड की प्रसन्नता के धन वाले ! प्रिय मित्र दशरथ के द्वारा किस अवस्था को भेजे गये ।

कौशल्या—हा दैव ! तूने समस्त वनवासी राघव कुटुम्ब को दुर्दशाग्रस्त कर दिया ।

सुमित्रा—केवल वनगामी को ही नहीं अपितु घर में रहने वाले मात्र को भी ।

रत्नशिखण्ड—तो महाराज ! मुझे अपने कुल के नीड में जाने की आज्ञा दें ।

दशरथः—साधु एतु भवान् ।

(रत्नशिखण्डः परिक्रम्य निष्क्रान्तः)

कैकेयी—उत्तरकोसलणरिन्द किमवसिदं रहुवंसस्स [उत्तरकोशलनरेन्द्र ! किमवसितं रघुवशस्य] ।

दशरथः—अत एवाऽहम् ।

यस्मिन्नापः सह परिणता सूर्यपुत्रीपयोभि-
र्मन्दाकिन्याः कुमुदरुचयो मेचकेन्दीवराभैः ।
तीर्थे तस्मिन् मम विशदितं देवताभूयभूयः
स्वाङ्गत्यागात् स्पृहयति मनो वासवार्धासनाय ।। ७२ ।।

(इति परिक्रम्य सर्वे निष्क्रान्ताः)

।। निर्दोषदशरथो नाम षष्ठोऽङ्कः ।।

दशरथ—ठीक है आप जाँय ।

(रत्नशिखण्ड परिक्रमा कर चला जाता है)

कैकेयी—उत्तर कोशल के स्वामिन् ! रघुवंश का क्या हुआ ?

दशरथ—तो मैं ।

जिस तीर्थ में सूर्यपुत्री यमुना के नीलोत्पल के समान जलों में मन्दाकिनी के कुमुद को कान्तिवाले अति स्वच्छ जल मिल गये हैं उस तीर्थ में अर्थात् प्रयाग में अपने अङ्ग के त्याग से देवता होकर इन्द्र के अर्द्धासन प्राप्ति के लिये मेरा निर्मल मन स्पृहा करता है ।। ७२ ।।

(घूमकर सभी निकल जाते हैं)

निर्दोष दशरथ नामक छठाँ अङ्क समाप्त हुआ ।

सप्तमोऽङ्कः

अतः परमसमपराक्रमो भविष्यति

(ततः प्रविश्य वैतालिकः समन्तादवलोक्य नेपथ्यं प्रति) भद्र चन्दनचण्ड ! परित्यज निद्रामुद्रां विमुञ्च निजोटजाभ्यन्तरं प्रभातप्राया रजनी । तथा हि ।

तारणां तगरत्विषां परिकरः संख्येयशेषः स्थितः
स्पर्धन्तेऽस्तरुचः प्रदीपकशिखाः सार्धं हरिद्राङ्कुरैः ।
मन्त्रस्तम्भितपारदद्रवजडो जातः प्रगे चन्द्रमाः
पौरस्त्यं च पुराणशीधुमधुरच्छायं नभो वर्तते ।। १ ।।

(नेपथ्ये) अज्ज कप्पूरचण्ड एसा मिठ्ठा पभादनिद्दा ता सुविस्सं दाव [आर्य कर्पूरचण्ड ! एषा मिष्टा प्रभातनिद्रा तत् स्वप्स्यामि तावत् ।]

कर्पूरचण्डः—अहो उत्साहशक्तिर्भवतोऽमन्त्रशीलो महीपतिरनपरप्रबन्धदर्शी कविरपाठरुचिश्च बन्दी न चिरं नन्दति ।

(नेपथ्ये) ता एत्थ सत्थरत्थिदो णिमीलिदणअणो जेव्व सुप्पभादं पढिस्सं [तदत्र संस्तरस्थितो निमीलितनयन एव सुप्रभातं पठिष्यामि ।]

कर्पूरचण्डः—एतदपि भवतो भूरि ।

अत्र परमसम पराक्रम नामक अङ्क प्रारम्भ होता है ।

(तदनन्तर वैतालिक प्रवेश कर तथा चारों ओर देखकर नेपथ्य की ओर) भद्र ! चन्दन चण्ड ! निद्रा को छोड़ो । अपनी कुटी से बाहर आओ । रात बीत चली । क्योंकि—

प्रभात में तगर (पौदा विशेष) की कान्तिवाले ताराओं का समूह अब गिनने भर की संख्या वाला हो गयीं; फीकी कान्ति वाले दीपकों की शिखायें हल्दी के अंकुरों के समान हो गये, चन्द्रमा मन्त्र से स्तम्भित पारदद्रव के समान जड़ हो गया है और पूर्व दिशा में आकाश पुराने सीधु (रिप्परिट) के समान मधुर हो गया है ।। १ ।।

(नेपथ्य में) आर्य कर्पूरचण्ड ! यह प्रभातनिद्रा मधुर है अतः सो रहा हूँ ।

कर्पूरचण्ड—आपकी उत्साह शक्ति धन्य है । मन्त्रणा-विहीन राजा, दूसरे का प्रबन्ध (काव्य) देखनेवाला कवि तथा पाठ में अरुचि रखने वाला बन्दी (भाट) चिरकाल तक प्रसन्न नहीं रह सकते ।

(नेपथ्य में) तो यह मैं विस्तर पर पड़ा हुआ और आखें बन्द किये हुये ही सुप्रभात पढूंगा ।

कर्पूरचण्ड—यह भी आपके लिये पर्याप्त है ।

(नेपथ्ये) सच्चं पच्चक्खीकदसरस्सईपरिमलो बम्हो मुहुत्तो वट्टदि तधा अ।
[सत्यं प्रत्यक्षीकृतसरस्वतीपरिमलो ब्राह्मो मुहूर्तो वर्तते तथा च ।]

जा गब्भे वि घरस्स दीवअसिहा सा वि च्छविच्छुड्डिआ
जं दण्डाहिं वि खण्डिदं कुवलयं संमीलिदं तं वि अ।
जं गोट्ठीचरिदं वि तं वि सहसा भासाए सव्वङ्गिदं
ता मण्णे ण चिरा भविस्सदि रई पुव्वादिसो मण्डणम् ।। २ ।।

[या गर्भेऽपि गृहस्य दीपकशिखा साऽपि छविमुक्ता
यद् दण्डादपि खण्डितं कुवलयं संमीलितं तदपि च ।
यद् गोष्ठीचरितमपि तदपि सहसा भाषया सर्वाङ्गितं
तन्मन्ये न चिराद् भविष्यति रविः पूर्वदिशो मण्डनम् ।।]

कर्पूरचण्डः—तावदुपश्लोकयामो रामभद्रं परपरितोषोपपाद्यफलं हि वैतालिकव्रतं (किञ्चिदुच्चैः)

मार्तण्डैककुलप्रकाण्डतिलकस्त्रैलोक्यरक्षामणि-
र्विश्वामित्रमहामुनेर्निरुपधिः शिष्यो रघुग्रामणीः ।
रामस्ताडितताडकः किमपरं प्रत्यक्षनारायणः
कौशल्यानयनोत्सवो विजयतां भूकश्यपस्यात्मजः ।। ३ ।।

(नेपथ्ये)

(नेपथ्य में) सचमुच सरस्वती के सौरभ को प्रत्यक्ष करने वाला ब्राह्म मूहूर्त है। और—

जो घर के अन्दर भी दीपक शिखा है वह भी कान्तिहीन हो गयी है, जो कमल अपने नाल से अलग हो गया है वह भी विकसित हो गया है जो गोष्ठी का आचरण है वह भी भाषा के द्वारा सर्वाङ्गपूर्ण हो गया है अतः मालूम पड़ता है कि सूर्य शीघ्र ही पूर्व दिशा को शोभित करेगा ।। २ ।।

कर्पूरचण्ड—तो रामभद्र का गुणगान करूँ क्योंकि वैतालिक का व्रत ही दूसरे के सन्तोष से उत्पन्न फल को प्राप्त करना है। (कुछ जोर से)

कौशल्यानन्दन भूकाश्यप (दशरथ) के पुत्र राम की जय हो जो सूर्यवंश के महान् तिलक है, त्रैलोक्य की रक्षा के लिये मणिसदृश हैं, महामुनि विश्वामित्र के निष्कपट शिष्य हैं, रघुवंश में श्रेष्ठ हैं, ताडका को मारने वाले हैं और अधिक क्या साक्षात् नारायण हैं ।। ३ ।।

कन्दप्पुद्दामदप्पप्पसमणगुरुणो बह्मणो कालदण्डे
पाणिं देन्तस्स गङ्गातरलिदससिणो पव्वदीवल्लभस्स ।
चावं चण्डाहिसिञ्जारवभरिअणहं कड्ढणारुद्धमज्झं
जं भग्गं तस्स सद्दो णिसुणि तिहुयणे वित्थरन्तो न माइ ।। ४ ।।

[कन्दर्पोद्दामदर्पप्रशमनगुरोर्ब्रह्मणः कालदण्डे
पाणिं दातुर्गङ्गातरलितशशिनः पार्वतीवल्लभस्य ।
चापं चण्डाहिसिञ्जारवभरितनभः कर्षणारुद्धमध्यं
यद् भग्नं तस्य शब्दो निश्रूयते त्रिभुवने विस्तरन् न माति]

कर्पूरचण्डः—

यो जम्भं जितवान् स येन विजितो देवः सुरग्रामणी-
र्ज्याबद्धं विदधे निशाचरपतिं तं कार्तवीर्यार्जुनः ।
तद्दोःखण्डदवानलो भृगुपतिर्निर्जित्य तं च त्वया
मालेयं जयसंपदो विरचिता स्वस्मादनग्रेसरी ।। ५ ।।

(नेपथ्ये)

हेलासिञ्जिदसिञ्जिणीझणझणारावेण वीणाइदं
कोदण्डं तुह पाणिपीडनणदं जुज्झे णिअं तक्खणम् ।
ते सव्वे खरदूसणप्पभुदिणो जीवेहिं मुक्का पुरो
पच्छा मल्लपवेल्लिएहिं सहसा देहेहिं भूमिं गदा ।। ६ ।।

(नेपथ्य में)—कामदेव के उत्कट अहंकार को भ्रष्ट करने के आचार्य, ब्रह्मा के कालदण्ड में हाथ देनेवाले (अर्थात् ब्रह्मा के शिरश्छेदक), शिरःस्थ गंगा से चञ्चल चन्द्रमा वाले पार्वतीवल्लभ के प्रञ्चण्ड वासुकि की प्रत्यञ्चा के शब्दवाले धनुष को खींचते हुये (राम ने जो) बीच से तोड़ डाला उसका शब्द त्रैलोक्य में सुना जा रहा है और वह फैलता हुआ त्रैलोक्य में समाता नहीं ।। ४ ।।

कर्पूरचण्ड—जिस देवश्रेष्ठ इन्द्र ने जम्भासुर को जीत डाला था उन्हें जिस राक्षस-राज रावण ने जीता था उस राक्षसराज रावण को कार्तवीर्यार्जुन ने प्रत्यञ्चा में बाँध लिया । उनके भुजदण्डों के दावाग्नि परशुराम को आपने जीत लिया और इस प्रकार जय संपत्ति की यह माला रची जो आपसे आगे नहीं जाती ।। ५ ।।

(नेपथ्य में)

युद्ध में तत्क्षण ही हाथ से खींची गई प्रत्यञ्चा की झनकार से आपकी धनुष ने वीणा के समान ध्वनि की और सामने वे खरदूषण आदि राक्षस प्राण-त्याग कर दिये और तदनन्तर मल्ल अस्त्रों से कटे देहों के द्वारा पृथ्वी पर गिर पड़े ।। ६ ।।

[हेलासिञ्जितसिञ्जिनीझणझणारावेण वीणायितं
कोदण्डं तव पाणिपीडननतं युद्धे निजं तत्क्षणम् ।
ते सर्वे खरदूषणप्रभृतयो जीवैर्विमुक्ताः पुरः
पश्चात् भल्लप्रवेल्लितैः सहसा देहैर्भूमिं गताः ॥]

कर्पूरचण्डः—

जात्यन्धत्वमधिष्ठितं सपदि तैर्दत्तं जलं तैर्दृशे
दृष्टिं सृष्टवतो विधेर्भगवतः क्लेशश्च तैर्भावितः ।
येषां ताडयितुं स्थिते त्वधिजवान्मारीचमायामृगं
द्रागदैवादनुपेयुषां दिविपदां जाते वृथा चक्षुषी ॥ ७ ॥

अपि च—

नाद्याप्यस्ति तदीययोर्नयनयोः संकोचदुःस्थं वपु-
स्तेषां गण्डतटे स्फुटत्पुलकता नाद्यापि विश्राम्यति ।
ते नाद्यापि वहन्ति हर्षणतया रिक्तं च चेतो निजं
दृष्टं देव कबन्धदैत्यनिधनं यैस्त्वत्कृतं कौतुकात् ॥ ८ ॥

(नेपथ्ये)

पुञ्जीभूदहरट्टहासजइणा रूवेण रुद्धं वरं
क्खीणं वालिजसं व दुन्दुभिमहाकङ्कालसेसं जहा ।
पेल्लन्ता चलणेण विज्झगिरिणो हेलायिदं तं तुए
अह्मे एव्व दुवे परं ण हु गदा वेरी वि बन्दित्तणम् ॥ ९ ॥

कर्पूरचण्ड—अत्यन्त वेगपूर्वक मारीचरूपी मायामृग को मारते समय जो देवता दैववशात् अनुपस्थित रहे उन्होंने सद्यः जात्यन्धता प्राप्त कर ली, आखों को जलदान कर दिया, दृष्टि की रचना करने वाले ब्रह्मा को उन्होंने क्लेश दिया और उनकी आँखें व्यर्थ गईं ॥ ७ ॥

और भी—

हे देव ! आपने जो कौतुकपूर्वक कबन्ध राक्षस का वध किया उसे जिन्होंने देखा उनका शरीर आखों के बन्द करने से आज भी अस्वस्थ है, आज भी उनके कपोलों पर रोमाञ्च होता है और आज भी उनका चित्त प्रसन्न हो रहा है ॥ ८ ॥

(नेपथ्य में)

एकत्रित शंकर के अट्टहास को जीतने वाले रूप से आपने बालि के क्षीण यश को ढक लिया क्योंकि आपने दुन्दुभि के अस्थिसंचय को पैरों से दूर फेंक दिया और (उस कंकाल के विन्ध्यगिरि तुल्य होने से आपने) विन्ध्य गिरि का तिरस्कार कर दिया किन्तु केवल हम भी दोनों (पैर) बन्दी शत्रु की भाँति बन्दी नहीं हुये (अर्थात् स्वभावतः हम सबके वन्द्य हैं) ॥ ९ ॥

[पुञ्जीभूतहराट्टहासजयिना रूपेण रुद्धं परं
क्षीणं वालियशश्च दुन्दुभिमहाकङ्कालशेषं यथा ।
प्रक्षिपता चरणेन विन्ध्यगिरेर्हेलायितं तत् त्वया
आवामेव द्वौ परं न खलु गतौ वैरिणाविव बन्दित्वम् ।।]

अवि अ—

लीलामुक्केक्कबाणव्वणविवरगुहामज्झमुच्छन्तवाआ
जाआ जे सत्त ताला तिहुअणजइणो चावचारेण तुज्झ ।
णिच्चं गाअन्ति हेलाभरिदणहअलब्भन्तरं ताररावा
सत्तेहिं तेण तेहिं तुह जसपसरं सत्तलोअट्ठिदव्व ।। १० ।।

[अपि च—
लीलामुक्तैकबाणव्रणविवरगुहामध्यमूर्च्छद्वाता
जातास्ते सप्त तालास्त्रिभुवनजयिनश्चापचारेण तव ।
नित्यं गायन्ति हेलाभरितनभस्तलाभ्यन्तरं तारराव:
सप्तभिस्तेन तैस्तव यश: प्रसरं शप्तलोकस्थितमिव ।।]

कर्पूरचण्ड:—

पौलस्त्यस्यावमन्ता त्रिदशपतिसुतश्चक्रवर्ती कपीनां
कर्ता संध्यासमाधेर्जलनिधिषु चतुर्दिङ्निकुञ्जाश्रितेषु ।
किष्किन्धां राजधानीं भुजपरिघबलात्त्रायमाणस्त्वयाऽसौ
वाली हेमाब्जमाली गुणनिधिरिषुणा निर्मितो दक्षिणेर्मा ।। ११ ।।

(नेपथ्ये)

और—

त्रैलोक्य जयी आपके धनुर्व्यापार से वे प्रसिद्ध सात तालवृक्ष लीलापूर्वक छोड़े गये आपके एक बाण से निर्मित गुफा वाले हो गये और उसमें वायु प्रविष्ट हो गयी। उस वायु से उत्पन्न महान् शब्द से नित्य आकाश मण्डल को भरते हुये वे सातों तालवृक्ष आपके सातों लोक में स्थित यश:प्रसार को नित्य गाते हैं ।। १० ।।

कर्पूरचण्ड—पौलस्त्य (रावण) को अपमानित करने वाला, देवराज इन्द्र का पुत्र कपिराज बाली जो स्वर्णकमल की माला धारण करता था, चारों दिशाओं के निकुञ्ज में स्थित चारों समुद्रों में सन्ध्या-समाधि को संपन्न करता था और किष्किन्धा की राजधानी की अपने भुजबल से रक्षा करता था एवं गुणों का आकर था उसे आपने बाण से दक्षिण अङ्ग में व्रण वाला बनाया (अर्थात् मार डाला) ।। ११ ।।

(नेपथ्य में)

जे केलासे कलिन्दे मलअमहिहरे मन्दरे मेरुसेले
सह्ये विंझे महेन्दे तह अ हिमवहे पव्वदे वाणरेन्दा ।
सव्वे सुग्गीवपादप्पणदिपणइणो ते वि जं स प्पसादो
सेवातुट्ठस्स सच्चं तुह जसजलधेब्भूलदावेल्लिदाणम् ।। १२ ।।

[ये कैलासे कलिन्दे मलयमहीधरे मन्दरे मेरुशैले
सह्ये विन्ध्ये महेन्द्रे तथा च हिमवहे पर्वते वानरेन्द्राः ।
सर्वे सुग्रीवपादप्रणतिप्रणयिनस्तेऽपि यत् स प्रसादः
सेवातुष्टस्य सत्यं तव यशोजलधेर्भ्रूलतावेल्लितानाम् ।।]

कर्पूरचण्डः—

भीमं यज्जलधिं जवेन हनुमानुल्लङ्घ्य लङ्कां गतो
यच्चाशोकमहावनं दलितवानक्षं च यत्क्षुण्णवान् ।
सीतोपायनमौलिरत्नसहितः प्राप्तश्च यत् त्वामसौ
तत्राप्येष भवत्प्रभावमहिमा निर्यन्त्रणः कारणम् ।। १३ ।।

(नेपथ्ये)

किं अण्णेहिं विराधप्पहुदिविदरणादंबरुग्घट्टणेहिं
एदं ते वण्णआमो जलनिधिसविधावासिदे जं तुमम्मि ।
वट्टन्ते रक्खसीणं तरलकरदलप्फारतुट्टन्तहारा
हारावक्कन्तकण्ठा णवणअणजलुप्पीलिणो विप्पलावा ।। १४ ।।

कैलास, कलिन्द, मलय, मन्दर, मेरु, सह्य, विन्ध्य, महेन्द्र, हिमवान् पर्वतों के निवासी वानर जो सुग्रीव के पैरों पर प्रणाम के प्रेमी बने वह सेवा से तुष्ट आप कीर्तिसागर के भ्रूभङ्गों का सचमुच प्रसाद है ।। १२ ।।

कर्पूरचण्ड—पार्थिव सागर को पार कर हनुमान् जो लङ्का में गये, और जो अशोक वन को विध्वंश किया तथा अक्ष को मारा और सीता के उपायनरूप मुकुट रत्न (चूडामणि) के साथ जो आपके पास आये इसमें भी आपके प्रभाव की महिमा ही अबाध-कारण है ।। १३ ।।

(नेपथ्य में)

विराध-प्रभृति राक्षसों के मारने आदि आपके उद्योगों के वर्णन से क्या लाभ ? आपके समुद्र के समीप निवास करते समय चञ्चल करतलों के छाती पर प्रहार से युक्त तथा हा हा ध्वनि से आक्रान्त कण्ठवाली राक्षसियाँ विलाप करने लगीं ।। १४ ।।

[किमन्यैर्विराधप्रभृतिविदरणाडम्बरोद्घाटनै-
रेतत्ते वर्णयामो जलनिधिसविधावासिते यत् त्वयि ।
वर्तन्ते राक्षसीनां तरलकरतलस्फारत्रुट्यद्धारा
हारावाक्रान्तकण्ठा नवनयनजलोत्पीडिनो विप्रलापाः ॥]

कर्पूरचण्डः—

नानानिर्व्याजवीर्यस्तुतिशतसदृशं कुम्भकर्णानुजो य-
द्रामदेवेनाभिषिक्तो रजनिचरमहाराज्यलाभाय तेन ।
लङ्केन्द्रस्यापि जातान्यतिनिभृतसृतश्वासबन्धावधूत-
श्मश्रुश्रेणीनि चिन्तामुकुलितनयनस्रञ्जि सर्वाननानि ॥ १५ ॥

(प्रविश्य । पटीक्षेपेण)

प्रतीहारः—रे रे अलीकवैतालिक कोऽयं कलकलः ।

कर्पूरचण्डः—आर्य ! रामदेवस्य शौर्यगुणभोगावली गीयते ।

प्रतीहारः—ननु रामदेवेन निषिद्धमात्मोपवर्णनमादशरथस्वर्गारोहणश्रुतेरा-दशकण्ठबन्धम् ।

कर्पूरचण्डः—विभीषणवैतालिको वैदेशिकोऽस्मि । तदेकवारं मर्षय ! एष त्यक्तो भोगावलीपाठः । (सप्रश्रयम्) कथं पुनरधिगतपितृमरणशोकशङ्कुस्तत्रभवान् रामदेव एवंविधे समुद्योगकर्मणि प्रवर्तते ।

प्रतीहारः—(विहस्य) अय्यनभिज्ञोऽसि सच्चरितानाम् ।

कर्पूरचण्ड—नाना निश्छल स्तुतियों के अनुरूप देव राम ने जो कुम्भकर्ण के अनुज विभीषण का राक्षसों के महाराज पद की प्राप्ति के लिये अभिषेक किया उसे सुनकर लङ्केश्वर रावण के भी सभी मुख एकान्त में निकले श्वासों से हिले हुये दाढ़ी वाले तथा चिन्ता से निमीलित आँखों की मालाओं वाले हो गये ॥ १५ ॥

(प्रवेश कर । पटाक्षेप के द्वारा)

प्रतीहार—हे असामान्य वैतालिक ! यह कल-कल क्या हो रहा है ।

कर्पूरचण्ड—आर्य ! भगवान् राम के वीरता के गुणों के विस्तार का गान हो रहा है ।

प्रतीहार—रामचन्द्र ने अपनी स्तुति को दशरथ के स्वर्गारोहण को सुनने से लेकर रावण के निधन तक बन्द कर दिया है ।

कर्पूरचण्ड—मैं विभीषण का वैतालिक विदेशी हूँ । अतः एक बार माफ करें । अब स्तुतिपाठ मैंने बन्द कर दिया (नम्रता से) भगवान् राम पिता के मरण के शोकरूप कील को प्राप्त कर ऐसे उद्योग में कैसे प्रवृत्त हो रहे हैं ।

प्रतीहार—(हँसकर) अरे ! सज्जनों से आप अपरिचित हैं—

वहन्ति शोकशङ्कुं च कुर्वन्ति च यथोचितम् ।
कोऽप्येष महतां हन्त गाम्भीर्यानुगुणो गुणः ।। १६ ।।

बन्दी—आर्य कोपेनान्तरितोऽसि । कथय किं पुनः कुरुते रामभद्रः ।

प्रतीहारः—पुलिनोपरि रचितकुशप्रस्तरोपविष्ट उपोषितश्च भगवन्तं भागीरथीवल्लभमुपास्ते । तत्र च—

सुग्रीवे प्रणयोल्लसाः शशधरे बद्धाभ्यसूयाश्चिरं
साश्चर्याः पवनात्मजे धृतरुषः पौलस्त्यवत्यां दिशि ।
सोत्साहाश्च शरासने जलनिधौ क्षुब्धाश्च कृत्स्नां निशां
रामस्याद्य नियन्तुमेव न गता नानारसा दृष्टयः ।। १७ ।।

बन्दी—आर्य ! एवमपि समुद्रो न किञ्चित्प्रतिपद्यते ।

प्रतीहारो—जडराशिरसौ ।

बन्दी—तथाविधे उदन्वति किमाह रामदेवः ।

प्रतीहारः—इदं कथ्यते ।

रामे तटान्तवसतौ कुशतल्पशायि-
न्येवं तु नाम भवतो भगवन्ननास्था ।
स्मृत्वा तदेहि सगरं च भगीरथं च
दृष्ट्वाऽथ वा मम धनुश्च शिलीमुखांश्च ।। १८ ।।

वे शोकशङ्कु का वहन करते हैं और यथोचित कार्य करते है। अहा ! महज्जनों का यह गाम्भीर्यानुरूप कोई गुण है ।। १६ ।।

बन्दी— आर्य ! आप क्रोधाविष्ट हैं । कहिये फिर रामभद्र क्या कर रहें हैं ?

प्रतीहार—किनारे कुश का आसन बनाकर तथा उपवास कर गंगावल्लभ (समुद्र) की उपासना कर रहे हैं और वहाँ राम की नाना रसों से पूर्ण दृष्टियाँ सुग्रीव पर प्रेमोल्लसित, चन्द्र पर देर तक ईर्ष्या रखनेवाली, पवनपुत्र हनूमान् पर आश्चर्ययुक्त, रावण युक्त दिशा पर क्रुद्ध, धनुष पर उत्साह से युक्त और समुद्र पर. क्षुब्ध होकर सारी रात निर्णय पर न पहुँच सकीं ।। १७ ।।

बन्दी—आर्य ! इतने पर भी समुद्र कुछ नहीं करता ।

प्रतीहार—यह जड़-राशि है ।

बन्दी—इस प्रकार के समुद्र पर राम ने क्या कहा ?

प्रतीहार—यह बताता हूँ—

हे भगवन् ! कुशशय्या पर सोने वाले राम के तटान्त में निवास करते समय आपकी ऐसी अनास्था है ? तो (मेरे पूर्व पुरुषों) सगर और भगीरथ का स्मरण कर अथवा मेरे धनुष और बाणों को देखकर आप मेरे पास आवें ।। १८ ।।

बन्दी—तर्हि लङ्घितो गोष्पदवत्समुद्रः।

प्रतीहारः—(समंतादवलोक्य) भो भोः सकलप्लवङ्गमयूथप्रतयः समस्तगोलाङ्गूलसेना निःशेषाच्छभल्लचमूपरिवृढाश्च किमिदमवीरजनोचितमाचरितं यद्दूरात् परिहृतवेलावनालीनिवासकेलिभिः पराङ्मुखं पदात्पदमपक्रम्यते।

कर्पूरचण्डः–(विलोक्य) कथमगणितनिजकुलक्रमाचारास्त्वद्वचनमप्यवधीरयन्तो मकराकरं दुस्तरमवलोक्य यथागतं प्रस्थिता एव।

प्रतीहारः—भवतु संस्थापयामि।

पीतोऽयं कलशोद्भवेन चुलुकं कृत्वैकमम्भोनिधि-
र्नो वेलामपि लङ्घते नियमितग्रासादयं वाडवात्।
कल्पान्तेषु वहत्ययं च विपुलं श्वभ्रावशेषं वपु-
स्तत्पूर्वाकलितेऽप्यमुत्र भवतां कोऽयं विषादोदयः॥ १९॥

किञ्च—

अप्येकैके पिबत चुलुकं यद्यपां सैन्धवीनां
यद्येकैकं क्षिपत जलधौ गण्डशैलोपलं वा।
तेन श्वभ्रं भवति सकलोऽप्यम्बुराशिः स्थलं वा
तत्किं मिथ्या भजत विधुरं व्यस्ततन्द्राः कपीन्द्राः॥ २०॥

बन्दी—तो समुद्र गो-पद के समान लाँघ दिया गया ?

प्रतीहार—(चारों ओर देखकर) हे समस्त वानर-यूथपो। समस्त गोलाङ्गूल (वानर) सेनापतियो! समस्त ऋक्षों के स्वामियो! यह कायरों जैसा आचरण कैसे शुरू किया कि दूर से किनारे के वन में क्रीड़ा से पराङ्मुख हो लौट रहे हो।

कर्पूरचण्ड—(देखकर) क्या अपने कुलागत आचार का ध्यान न कर तथा तुम्हारे वचनों को भी तिरस्कृत कर समुद्र को दुस्तर देखकर ये जिस रास्ते से आये थे उसी रास्ते लौट चले ?

प्रतीहारी—ठीक है। उन्हें स्थिर करता हूँ।

इस सागर को महर्षि अगस्त्य ने एक चुल्लू में पी डाला, वड़वानल के निश्चित ग्रास होने से यह तट का भी अतिक्रमण नहीं करता और कल्पान्त में यह अपने विपुल शरीर को गर्तमात्र का धारण करता है अतः पूर्व में सीमित किये गये इस समुद्र में आप लोगों को विषाद क्यों हो रहा है॥ १९॥

और—

अतः हे कपीन्द्रो! यदि आलस्य छोड़कर आप लोग एक-एक चुल्लू कर समुद्र का पानी पी डालें या पर्वत से एक-एक पत्थर भी फेंके तो यह सम्पूर्ण सागर या तो गड्ढा बन जाय या स्थल हो जाय अतः व्यर्थ में विकल क्यों हो रहे हैं ?॥ २०॥

बन्दी—हंहो सुग्रीवप्रतिहार ! भवद्वचनमाकर्णयन्तः सर्वेऽप्येते यूथपतयो जलनिधिवेलावनालीषु विहितोत्साहं व्यवस्थिताः।

प्रतीहारः—(समन्तादवलोक्य)

नीलेन सैन्यपतिना भुजताडनान्ते
मुक्तस्तथा किलकिलाध्वनिरेष रौद्रः।
अष्टापि वाञ्छति विरिञ्चिरसौ श्रवांसि
शङ्के यथा करयुगेन मुधा पिधातुम् ॥ २१ ॥

धूम्रो विजृम्भणविदारितसृक्कदृष्ट-
दंष्ट्राङ्कुरक्रकचसंपुटवक्त्रयन्त्रम्।
लाङ्गूलवेष्टितमयं मलयं महाद्रि-
मुत्पाट्य वाञ्छति निधौ पयसां निधातुम् ॥ २२ ॥

यावत्त्रिविक्रमतनुं न हरिर्जहाति
तावत्प्रदक्षिणपरिभ्रमणस्य कर्ता।
आकर्ण्य संक्रमविधिक्रममम्बुराशा-
वृक्षाधिपः किमपि कुप्यति वार्धकाय ॥ २३ ॥

अप्यङ्गदः स्वनखदारितपाकपाण्डु-
कर्पूरगर्भरजसां पटलेन सद्यः।
उद्धूलनं निजयशः परिपाण्डुरेण
प्रस्वेदवारिशमनं कुरुते कुमारः ॥ २४ ॥

बन्दी—अहा ! हे सुग्रीव के प्रतीहार ! सभी ये यूथपाल आपके वचन को सुनते ही समुद्र तट के वनों में उत्साहित होकर स्थित हो गये।

प्रतीहार—(चारों ओर देखकर)

सेनापति नील ने भुजायें ठोंककर ऐसी भयानक किल-किला ध्वनि की मानों ब्रह्मा चारों हाथों से व्यर्थ ही आठों कानों को मूंदना चाहते हैं।

इस धूम्र नामक बानर ने पूंछ में लपेट कर महान् पर्वत मलय को उखाड़ लिया है और उसे समुद्र में फेंकना चाहता है। उसका मुंह फैला हुआ है जिसमें आरों के तुल्य तीव्र दाँतों का संपुट दिखाई पड़ रहा है ॥ २२ ॥

जब तक भगवान् विष्णु विराट् वपु का संवरण न कर लें तभी तक प्रदक्षिणा भ्रमण के करने वाले ऋक्षराज जाम्बवान् समुद्र में (पुल बनाने के) उद्योग को सुनकर अपनी वृद्धता पर कुछ क्रुद्ध हो रहे हैं ॥ २३ ॥

कुमार अङ्गद भी अपने नखों के द्वारा निकाले गये अपने यश के समान स्वच्छ कपूरों के अन्तःपरागसमूह से शान्तिकारक अङ्गावलेप कर रहे हैं ॥ २४ ॥

आमोदभाजि वनशालिनि केसराढ्ये
तारापतिस्फुरणतः प्रविजृम्भमाणे ।
लाङ्गूललम्बतरनालविशेषहृद्ये
दृष्टं न केन कुमुदे कुमुदस्य रूपम् ।। २५ ।।

मैन्दः समुद्रपुलिनादयमश्विसूनु-
र्दृष्टो मनाङ्मुकुलया द्विविदेन दृष्ट्या ।
आदाय दन्तिमकरद्वितयं कराभ्यां
युद्धाय योजयति सान्द्रमदार्द्रगण्डम् ।। २६ ।।

वक्तीव वानरबलानि हसन् हनूमान्
मद्रोमवल्लिषु दृढं कुरुतावलम्बम् ।
येनैष सागरमहं लघु लङ्घयामि
श्यामाचरैश्च समरं सह योजयामि ।। २७ ।।

तारास्तनत्रुटितचन्दनपङ्कलेप-
माबद्धकाञ्चनसरोजसहस्रमालम् ।
वक्षः प्लवङ्गपतिना विपुलं विलोक्य
संभावितश्चुलुकपेयपयाः पयोधिः ।। २८ ।।

हर्षयुक्त, वनस्थ (पक्षान्तर में जलस्थ) केसर नामक वानर से युक्त (पक्षान्तर में केसर युक्त), तारा पति (सुग्रीव) के उत्साहवर्धन से विकसित होते हुये (पक्षान्तर में चन्द्रोदय से विकसित होते हुये), लाङ्गूलरूपी नाल से अतिरमणीय कुमद नामक वानर में किसने कुमुद (पुष्प) का रूप नहीं देखा ।। २५ ।।

द्विविद के द्वारा ईषद् बन्द की गई अखों से देखा गया यह अश्विनी कुमार पुत्र मैन्द एक हाथ से मदयुक्त गण्डस्थलवाले हाथी तथा दूसरे हाथ से घड़ियाल को पकड़ कर लड़ा रहा है ।। २६ ।।

हँसते हुये हनूमान् वानरों की सेना से मानों कह रहे हैं कि मेरे रोमावली का आप लोग दृढ़ता से अवलम्ब ग्रहण कर लें जिससे मैं शीघ्र समुद्र को पार कर राक्षसों से युद्ध करूँ ।। २७ ।।

तारा के वक्षःस्थल पर लगा चन्दन लेप जिसके वक्षःस्थल पर लग गया है एवं जिसके वक्षःस्थल पर सहस्र स्वर्ण कमलों की माला है ऐसे अपने विपुल वक्षःस्थल को देखकर सुग्रीव ने समुद्र को चुल्लू से पीने भर माना ।। २८ ।।

कर्पूरचण्डः—एवमेवैतत् । (सचमत्कारं पुरोऽवलोक्य) पश्य शबलीयमानजल-मानुषमिथुनमत्यर्थकदर्थ्यमानशङ्खिनीयूथमितस्ततः पुनरुक्तायमानवाडवदहन-डम्बरमम्बरोन्मुखतरङ्गताड्यमानमार्तण्डमण्डलमुच्चण्डतापविवशमुक्ताशुक्तिसंपुट-प्रकटमुक्तमौक्तिकप्रकरमुच्छलदनच्छकच्छपमत्स्यं लोठमानपाठीनपृष्ठममन्दाक्रन्दित-मकरमपसृतनक्रचक्रमुड्डीयमानसपक्षशिलोच्चयसंचयं तटावटप्रविष्टनष्टपन्नगं क्रन्द-त्करिविमुच्यमानमदप्रवाहावगाहमम्भस्तम्भनिविष्टमहामुनिविधीयमानपावकप्रशमं विबुधसाध्यसिद्धविद्याधरजनविमुक्तोपरिगमनं नभसि समारुह्यावलोकितं तीरतरु-कुलायललितैः शकुनिभिरपसृत्य दृष्टं कपिकुटुम्बकैर्निर्गत्य निरीक्षितं गर्भवासदुर्ल-लिताभिरसुरसुन्दरीभिरुत्थाय निभालितं मथनोद्गतशेषाभिरप्सरोभिः स्तुतचिर-परित्यागं मृगलाञ्छनैरावतपारिजातकौस्तुभप्रभृतिभिरुदन्वन्तं तत्किमयमेवंविधः । किञ्च—

> **गूढस्फारस्फुलिङ्गोऽरुणमणिषु घनं लब्धधूमप्रबन्धो**
> **नीलास्वश्मस्थलीषु स्फुटपिहितरुचिर्वैद्रुमेषु द्रुमेषु ।**
> **यत्सत्यं छन्नभस्मा गिरिपतिदलिते मण्डले मौक्तिकानां**
> **दुःखेनोन्नीयतेऽग्निः सलिलवसतिभिः प्रज्वलन्नम्बुराशौ ।। २९ ।।**

कर्पूरचण्ड—ऐसी ही बात है (आश्चर्यसहित सामने देखकर) चितकबरे जल मानुष की जोड़ीवाले, अत्यन्त कदर्थित शंखिनीसमूह वाले, इतस्ततः फैल रहे बड़े नाल वाले, आकाश की ओर उछलती लहरों से सूर्य का ताड़न करने वाले, प्रचण्ड ताप से सीपियों से युक्त मोती वाले, उछल रहे मलिन कछुए तथा मछलियों से युक्त, उछल रहे पाठीन (मत्स्य विशेष) वाले, जोर से चिग्घाड़ रहे मकर वाले, भाग रहे नक्र समूह वाले, उड़ रहे पंखों से युक्त शिला समूह वाले, तटवर्ती किनारों में घुसे सर्पोंवाले, जिग्घाड़-चिग्घाड़ कर स्नान कर रहे मतवाले हाथी, जलस्तम्भन विद्या का आश्रय कर समाधिस्थ मुनिगण जिसमें अग्नि का प्रशमन कर रहे हैं, देव, साध्य, सिद्ध एवं विद्याधरों ने जिसके ऊपर से जाना छोड़ दिया है, तीरस्थ वृक्षों पर घोसला बनाये पक्षी ऊपर उड़-उड़ कर जिसे देखते हैं, वानर पीछे हट कर जिसे देखते हैं, अन्तःपुर में रहनेवाली राक्षस पत्नियाँ बाहर निकलकर जिसे देखती हैं, मन्थन से निकली अप्सराओं से अवशिष्ट अप्सरायें जिसे उचक-उचक कर देखती है, तथा चन्द्रमा, ऐरावत, पारिजात, कौस्तुभ आदि के द्वारा जिसका परित्याग बहुत समय से प्रसिद्ध है—ऐसे समुद्र को देखो । तो क्या यह ऐसा है—और

समुद्र में प्रज्वलित वडवाग्नि को जलचर प्राणी दुःख से पार करते हैं—वह अग्नि लाल रत्नों में गुप्त तथा प्रकट अङ्गारों के रूप में प्रतीत है, नीलकान्त मणियों की पंक्ति में धूमरेखा बन गई विद्रुमद्रुमों में स्पष्ट निबद्ध कान्ति वाली है, तथा मन्दराचल से रगड़े गये मुक्ता समूह में प्रच्छन्न भस्म के रूप में अवस्थित है ।। २९ ।।

प्रतीहारः—(सवितर्कम्)

त्रैयक्षात्किंस्विदक्ष्णः क्षयसमयशिखी निर्गतश्चञ्चदर्चिः
किंस्विद्भित्त्वार्णवार्णांस्युपरि परिणतः सर्वतोऽप्यौर्ववह्निः ।
किंस्वित्कालाग्निरुद्रः स्थगयति जगतीमेष पातालमूला-
दाज्ञातं धाम्नि वारां रघुपतिविशिखाः प्रज्वलन्तः पतन्ति ।। ३० ।।

तदेह्युपस्थितमहासंरम्भं सुग्रीवविभीषणसहितं रामदेवमनुवर्तावहे । (इति परिक्रम्य निष्क्रान्तौ ।)

(विष्कम्भकः)

(ततः प्रविशतो रामलक्ष्मणौ सुग्रीवविभीषणौ हनूमांश्च)

रामः—(सशरसन्धान एवाकाशे शिरसा प्रणम्य ।)

यत्खातः सगरेण मर्त्यसरितं मन्दाकिनीं कुर्वता
पूर्णो यच्च भगीरथेन तदयं नः कीर्तनं सागरः ।
अप्यस्मिन् प्रतिकूलवर्तिनि मया कीर्णाः शरश्रेणयो
हे वृद्धाः प्रणतोऽस्मि मुञ्चत रुषं रामस्य कान्या गतिः ।। ३१ ।।

विभीषणः—सखे सुग्रीव ! अतिशशाङ्कशेखरमिदं चेष्टितं रामदेवस्य यदनेन ।

प्रतीहार—(सोचते हुये)

क्या यह शंकर की (तीसरी) आँख से प्रलय कालिक अग्नि अपनी लपटों को फैलाती हुई निकली है, अथवा क्या यह समुद्र के जलों को छेद कर सब तरफ से और्व अग्नि ऊपर निकल आयी है अथवा क्या यह भयंकर कालाग्नि पाताल मूल से संसार को शिथिल कर रहा है—हाँ समझ लिया समुद्र में राम के जलते हुए बाण गिर रहे हैं ।। ३० ।।

तो आओ—सुग्रीव तथा विभिषण से युक्त एवं महान् उद्योगशील राम के पास चलें (अनन्तर घूमकर दोनों चले जाते हैं)

(विष्कम्भक)

(तदनन्त राम, लक्ष्मण, सुग्रीव-विभीषण एवं हनुमान् प्रवेश करते हैं)

राम—(वाण-सन्धान किये हुये शिर से प्रणाम कर आकाश में——)

जिसे सगर ने खोदा था, सुर नदी मन्दाकिनी को मर्त्यभूमि पर लाते हुये भगीरथ ने जिसे भरा था और जो हम लोगों का कीर्तिभूत सागर है उस प्रतिकूलाचारी सागर में मैंने बाणों की पंक्ति बिछा दी है, हे मेरे कुलपूर्वजो ! आपको प्रणाम है, आप लोग क्रोध न करें ——मेरे लिये दूसरा चारा ही क्या था ।। ३१ ।।

विभीषण—मित्र सुग्रीव ! राम का यह कार्य शिव से भी बढ़ कर है जो इन्होंने—

निर्वाणं जलपानपीडितजलैर्यस्मिन् युगान्तानलै-
र्यस्याभाति कुकूलमुर्मुरमृदुः क्रोडे शिखी वाडवः।
तस्याप्यस्य कृशानुसंक्रमकृतज्योतिः शिखण्डैः शरै-
र्दत्तश्चण्डदवाग्निडम्बरविधिर्देवस्य वारांनिधेः ॥ ३२ ॥

सुग्रीवः—सखे विभीषण ! अदृष्टपूर्वमश्रुतचरं च रामभद्रचरितं कं न विस्मापयति। यज्जलान्यपि ज्वलन्ति। ततश्च—

अन्योन्याश्लेषरक्षाविधिवलितवपुर्येष्टितुष्टं भुजङ्ग-
द्वन्द्वैरुद्दामदाहस्रुतसलिलमहागर्भमभ्रैर्व्यलायि ।
सर्वत्रावर्तमुद्रां विदधति जलधौ सायकैः पावकीयै-
रुत्तापाद्यादसां च त्रिजगदभिभवन्निःसृतो विस्रगन्धः ॥ ३३ ॥

हनुमान्—(साश्चर्यं पुरोऽवलोक्य प्रणम्य च ?)

सेयं देव भ्रुकुटिरचना मुञ्चतु त्वल्ललाटं
ज्योतिश्चक्रस्तबकितशिखश्चापदण्डं च बाणः।
वारां मध्यादयमुदयते पन्नगीगीतकीर्तिः
सार्धं दारैर्नदपरिवृतः साञ्जलिर्यत्समुद्रः ॥ ३४ ॥

(सर्वे सकौतुकमवलोकयन्ति)

जिस सागर में जलपान से पीड़ित बलवाले प्रलय कालिक अग्नियाँ शमित हो गयी हैं और जिस सागर की गोद में बडवानल तुषानल के समान मृदु हो गया है उस समुद्र को भी राम के वाणों ने, जिनमें अग्नि के संक्रमण से ज्योति किरणें निकल रही हैं दावानल का स्वरूप दे दिया है ॥ ३२ ॥

सुग्रीव—मित्र विभीषण ! पहले न देखा गया और न सुना गया रामभद्र का चरित्र किसे विस्मित नहीं करता क्योंकि जल भी जलने लगे हैं। और—

अग्निमय वाणों के द्वारा समुद्र में सर्वत्र आवर्त (चक्कर) का रूप खड़ा कर देने पर सर्पों के जोड़ों ने परस्पर आलिङ्गन को ही रक्षा विधि बनाकर शरीर को परस्पर आलिङ्गित कर लिया और उत्कट दाह से जिनके महत्काय में से जल गिर पड़ा है ऐसे मेघ नष्ट हो गये और ताप के कारण जल-जन्तुओं का दुर्गन्ध त्रैलोक्य को अभिभूत करती हुई फैल गयी ॥ ३३ ॥

हनुमान्—(आश्चर्य से आगे देखकर तथा प्रणाम कर)

हे देव ! आप का ललाट भ्रुकुटि की वक्रता को छोड़े और आपका धनुष प्रकाश पुञ्ज से शिखायुक्त वाण का त्याग करे। क्योंकि नदी से घिरा हुआ तथा भुजङ्गियों से कीर्ति गाया जाता हुआ यह समुद्र हाथ जोड़कर स्त्रियों के साथ जल के बीच से निकल रहा है ॥ ३४ ॥

(सभी कुतूहल से देखते हैं)

रामः—तर्हि संहृतं चैत्रभानवमिदमस्त्रम् ।

लक्ष्मणः—आर्य ! एष संधानसंहाररहस्यवेदी ।

(ततः प्रविशति सौषधिनिषेको बद्धव्रणपट्टश्च समुद्रो गङ्गायमुने च ।)

गङ्गा—सखि सावित्रि ! न स्वैरं संचरणविधिपरिक्रमणक्षमस्तरङ्गिणीनाथः । पश्य—

न क्षुण्णानि मुरारिशूकरखुरैर्यानि क्षमाकर्षणे
मन्थानाद्रिविघट्टनैरपि चिरं भग्ना न येषां त्वचः ।
शान्तं यत्र च वासुकेर्विषशिखाज्योतिर्भिरस्याम्बुधे-
स्तान्यङ्गानि रघूद्वहस्य विशिखैर्विद्धानि दग्धानि च ।। ३५ ।।

(सर्वे यथोचितं परिक्रामन्ति)

समुद्रः—(सखेदम्) देवि हैमवति ! प्रिये कालिन्दि ! कथमपराधी रामभद्रं द्रक्ष्यामि ।

गङ्गा—रत्नाकर ! स एव रामभद्रोऽपराधी येन सगरभगीरथयशोराशौ त्वय्यपकृतम् ।

यमुना—भाईरहीणाह किं णाम अवराहित्तणं जहिं तक्खणमणुवत्तणम् । [भागीरथीनाथ ! किं नामापराधित्वं यदि तत्क्षणमनुवर्तनम् ।]

राम—तो इस अग्न्यस्त्र को मैं उपसंहृत कर लेता हूँ ।

लक्ष्मण—आर्य ! यह (आप) संधान और उपसंहार के रहस्य के ज्ञाता हैं ।

(तदनन्तर घाव पर पट्टी बाँधे तथा औषधि लगाये समुद्र तथा गंगा एवं यमुना प्रवेश करती हैं)

गंगा - सखि यमुने !

समुद्र के जो अङ्ग वाराह भगवान् के खुरों से दलित नहीं हुये और जिन अङ्गों की त्वचायें मन्दराचल की चिरकाल तक रगड़ों से भी नहीं टूटी और जिस पर वासुकि नाग के विष की ज्वाला भी शान्त हो गयी इस समुद्र के वे ही अंग राम के बाणों से विद्ध और दग्ध हो गये ।। ३५ ।।

(सभी यथायोग्य परिक्रमा करते हैं)

समुद्र—(खेद से) देवि हैमवति ! प्रिये कालिन्दि ! मैं अपराधी होकर राम को कैसे देखूं ?

गंगा—रत्नाकर ! वे राम ही अपराधी हैं जिन्होंने सगर और भगीरथ के यश के राशिभूत आपका अपकार किया है ।

यमुना—गंगापते ? जब तत्काल ही मिलने जा रहे है तो आप अपराधी कहाँ हैं ?

समुद्रः—तर्हि बालनारायणं रामदेवमुपसर्पामः। न हि राकामृगाङ्कमण्डलमन्तरेण चन्द्रमणेरानन्दजलस्यन्दः (इति सर्वे परिक्रामन्ति।)

यमुना—(उपसृत्य) दसरहणन्दण रामचन्द सअरभगीरहसरिसगोरवो दे समुद्दो संमुहो एस [दशरथनन्दन रामचन्द्र! सगरभगीरथसदृशगोरवस्ते समुद्रः संमुख एषः।]

समुद्रः—(साभ्यर्हणम्)

इन्दुर्लक्ष्मीरमृतमदिरे कौस्तुभः पारिजातः
स्वर्मातङ्गः सुरयुवतयो देव धन्वन्तरिश्च।
मन्थात्त्रोडैः स्मरसि तदिदं पूर्वमेव त्वयात्तं
संप्रत्यब्धिः शृणु जलधनस्त्वां प्रपन्नः प्रशाधि॥ ३६॥

रामः—(सगौरवं) भगवन्! रत्नाकर! नमस्ते नन्वहं प्रशास्यो भगवतः सागरस्य तदेकवारमविनयो नयो वा क्षम्यतां रामस्य।

विभीषणः—किमुच्यते। ननु निसर्गनिरर्गलः पक्षपातो भवति भागीरथीनाथस्य।

पीयूषाकर एष नित्यममुना धन्वन्तरिः सान्वयो
गङ्गावल्लभमस्य चेष्टितमयं शोभासुधादीधितिः।
इत्यस्त्येव सतां मनःसु लिखिता सिन्धोः प्रशंसावलि-
र्जामात्रा भवतैव किं पुनरसौ लक्ष्मीगुरुः श्लाघ्यते॥ ३७॥

समुद्र—तो बालकभूत नारायण राम के पास चले। पूर्णिमा के चन्द्रमण्डल के बिना चन्द्रकान्त मणि में आनन्द द्रव नहीं होता। (सभी घूमते हैं)

यमुना—(पास जाकर) दशरथ पुत्र रामचन्द्र! सगर और भगीरथ के सदृश गौरव वाला यह सागर आप के सम्मुख है।

समुद्र—(पूजा के सहित)

हे देव! क्या आपको याद है कि आपने पहले ही मथकर चन्द्रमा, लक्ष्मी, अमृत, मदिरा, कौस्तुभ, पारिजात, ऐरावत, अप्सरायें तथा धन्वन्तरि को ले लिया था। अब तो समुद्र में मात्र जल ही है। मैं आपकी शरण आया हूँ। आज्ञा दीजिये॥ ३६॥

राम—(सम्मानपूर्वक) भगवन् समुद्र! आपको नमस्कार है। मैं राम आपका प्रशास्य (आज्ञाकारी) हूँ तो एक बार मुझ राम की नीति या दुर्नीति को क्षमा करें।

विभीषण—समुद्र का प्रेम स्वभावतः निःसीम होता है।

यह सदैव अमृत का आगार है, धन्वन्तरि इसी से उत्पन्न है, इसकी चेष्टायें गंगा को प्रिय हैं, यह शोभा रूपी अमृत का किरण है—इस प्रकार से समुद्र की प्रशंसा सज्जनों के मन में बैठी है फिर आप दामाद के द्वारा लक्ष्मी के पिता ये क्यों न प्रशंसित हों॥ ३७॥

(रामसमुद्रौ सलज्जमासाते ।)

विभीषणः—देव ! का पुनरसौ वर्णनावर्णिका यथा रत्नाकरचरित्रमावेद्यते ।

पश्य—

धत्ते यत्किलकिञ्चितैकगुरुतामेणीदृशां वारुणी
वैधुर्यं विदधाति दम्पतिरुषा यच्चन्द्रिकार्द्रं नभः ।
यत्पीयूषभुजां च मन्मथसुहृन्नित्यं वयःसम्पदां
यल्लक्ष्मीरधिदैवतं च जलधिस्तच्चित्रमाचेष्टितम् ।। ३८ ।।

सुग्रीवः—ईदृश एव महिमा भगवतः सागरस्य । यतः ।

या स्त्रीणामधिदैवतं गिरिसुता तत्सोदरः सानुमान्
मेनाको रजताकरः सुतनयः शैलेश्वरो येन सः ।
पक्षच्छेदसमुद्यतेन्द्रकुलिशत्रासान्निलीय स्थितः
सोप्येतस्य करालकुक्षिकुहरे पातालजम्बालिनि ।। ३९ ।।

अपि च—

वहति भुवनश्रेणीं शेषः फणाफलकस्थितां
कमठपतिना मध्येपृष्ठं सदा स च धार्यते ।
तमपि कुरुते क्रोडाधीनं पयोधिरनादरा-
दहह महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः ।। ४० ।।

(राम और समुद्र लज्जित होकर जाते हैं)

विभीषण—देव ! वे शब्द कैसे हैं । जिनसे रत्नाकर समुद्र का चरित्र वर्णित किये जाँय—

जो वारुणी मृगनयनियों में हाव-भाव के गौरव को धारण करती है और जो चन्द्रिका से तरल आकाश दम्पत्ति (स्त्री-पुरुष) के क्रोध को शान्त करता है और अमृतभोजी देवों में जो कामोपभोग योग्य यौवन रहता है तथा सम्पत्तियों की अधिदेवता जो लक्ष्मी हैं—यह सभी समुद्र का विचित्र कार्य है ।। ३८ ।।

सुग्रीव—भगवान् समुद्र की ऐसी ही महिमा है क्योकि स्त्रियों की अधिष्ठात्री देवी जो गिरिसुता पार्वती है उनका सहोदर रजत की खानि वाला मैनाक है और उस मैनाक से गिरिराज हिमालय सुपुत्रवान् है वह मैनाक भी इस समुद्र के पाताल रूप कीचड़ वाले विकराल कोख को गुहा में पर्वतों की पाँख काटने के लिए उद्यत इन्द्र के वज्र से डरकर छिप गया ।। ३९ ।।

और—

जो शेषनाग समस्त भुवनों को फणों के पट्ट पर धारण करते हैं उन्हें कच्छपराज अपनी पीठ के मध्य में सदा धारण करते हैं उस कच्छपराज को भी सागर अनादर से अपनी गोद में ले लेते हैं । अहा ! महान्‌जनों की चरित्र सम्पत्ति निःसीम होती है।।४०।।[1]

---

१. यह पद्य नीतिशतक में इसी रूप में उपलब्ध है ।

समुद्रः—(सप्रणयासूयम्)

मुञ्चद्भिरुग्रमनलं विशिखप्रकाण्डैर्मद्दाहडम्बरसमर्पणकेलिकाले ।
देव स्मृतं न कथमित्यपि यत्किलाहं लक्ष्मीसखः क्व नु युगान्तशयः शयिष्ये ।४१।

रामः—(अञ्जलिं बद्ध्वा) मा पुनरविनयोद्धट्टनेन मां लज्जयतु नदीनाथः ।

समुद्रः—(गङ्गायमुने प्रति)

कमण्डलोर्ब्रह्मकराग्रभूषणादियं प्रसूता भवमौलिभूषणम् ।
इयं च देव द्युमणेस्तरङ्गिणी त्वदन्वयस्य प्रथमा सुवासिनी ।। ४२ ।।

रामः—देवि अम्बिकापतिधृते मन्दाकिनि ! मातर्मार्तण्डनन्दिनि यमुने ! एष रामोऽभिवादयते ।

उभे—रविकुलालङ्करण राम ! अविरलं समरसंभारं वह ।

समुद्रः—(रामं प्रति) नियुज्यतामयं जनः ।

रामः—नन्वहं नियोज्यो भगवतः । किं पुनः प्रकृते कर्मणि सहायमिच्छति रामः ।

समुद्रः—विशेषं श्रोतुमिच्छामि ।

गङ्गा—कृतं वाग्विस्तरेण ।

समुद्र—(प्रेम और ईर्ष्या से)

हे देव ! आग उगल रहे बड़े-बड़े बाणों के द्वारा मुझे जलाते समय आपने यह क्यों नहीं सोचा कि युगान्तकाल में सोने वाले आप लक्ष्मी के साथ कहाँ सोयेंगे ।। ४१ ।।

राम—(हाथ जोड़कर) समुद्र मेरी अविनय को कहकर पुनः लज्जित न करें ।

समुद्र—(गङ्गा और यमुना के प्रति)

हे देव ! यह ब्रह्मा के हस्ताग्र को भूषित करने वाले कमण्डलु से उत्पन्न तथा शंकर के मौलि का आभूषण गंगा हैं और यह आपके वंश के (मूलपुरुष) सूर्यदेव से प्रसूत प्रथम सुरभि (यमुना) है ।। ४२ ।।

राम—भगवान् शंकर से धारण की जाने वाली देवि मन्दाकिनि ! सूर्यपुत्रि मातः यमुने ! यह राम प्रणाम करता है ।

दोनों—सूर्यकुल के आभूषण राम ! सतत संग्राम-भार को वहन करो ।

समुद्र—(राम से) इस जन को आदेश दें ।

राम—मैं स्वयं आपका नियोज्य (आज्ञाकारी) हूँ किन्तु वर्तमान कार्य में आपकी सहायता चाहता हूँ ।

समुद्र—स्पष्ट रूप से सुनना चाहता हूँ ।

गंगा—बहुत कहने से रुकें—

इहार्णवमहार्णस्सु पोतपात्रमिव स्थिरम् ।
द्रुतमारभ्यतां सेतुरखर्वैः पर्वतोत्तमैः ॥ ४३ ॥

(सर्वे विस्मयन्ते ।)

समुद्रः—यथाऽऽवेदितं त्रिस्रोतसा मणिमच्चक्रवालाचलमध्यमध्यासीनं वाडवदहनमुत्तरेणानन्तनागाङ्कपर्य्यङ्कशायिनं भगवन्तं दक्षिणेन योऽयं द्रुतेन्द्रनीलश्यामलः सलिलस्कन्धः स प्रदेशो निर्विवन्धः सेतुबन्धस्येति ।

रामः—(विहस्य) भगवन् ! किल ग्रावाणः कथं प्लवन्ते ।

समुद्रः—महामुनिवितीर्णवरस्य विश्वकर्मसूनोररातिवनदावानलस्य नलस्य करतलस्पर्शप्रभावेन ।

सर्वे—महदाश्चर्यम् ।

(नेपथ्ये महान् कलकलः)

हनुमान्—(समाकर्णितकेन) तदिदमत्रभगवतो मकरालयस्य वचनमुपश्रुत्य हृष्यतां कपिबलानामेष हराट्टहासमांसलः कलकलः ।

समुद्रः—रामभद्र ! किमपि वाच्छन्तु वानरवीराः सकलकपिकुलानुग्राही पुनरयं मार्गो न सर्वे हनूमन्तस्तदमुं मलयतटीविटङ्कमधिरुह्य पश्यतु सेतुबन्धप्रदेशं रामः ।

यहाँ समुद्र के महान् जलों में बड़े-बड़े पर्वतों से बड़ा पुल बनाना प्रारम्भ करें जो स्थिर पोत का कार्य करे ॥ ४३ ॥

(सभी विस्मित होते हैं)

समुद्र—जैसा कि गंगा ने कहा है मणिमान् चक्रवालाल के मध्य में स्थित, वाडवाग्नि के उत्तर तथा शेषशायी भगवान् नारायण के दक्षिण जो सद्यः गलित इन्द्रनील के समान श्यामल जलराशि है वह निर्विघ्न है ।

राम—(हँसकर) भगवान् ! पत्थर कैसे तैरेंगे ।

समुद्र—महामुनि से प्राप्त बर वाले तथा शत्रुवन के लिये दावाग्निभूत विश्वकर्मा-पुत्र नल के करतल के स्पर्श के प्रभाव से ।

सभी—यह तो महान् आश्चर्य हैं ।

(नेपथ्य में महान् कल-कल होता है)

हनुमान्—(सुनते हुये से) तो यह भगवान् समुद्र के वचन को सुनकर प्रसन्न हो रही कपिसेना का भगवान् शंकर के अट्टहास के समान पुष्ट कलकल शब्द सुनायी पड़ रहा है ।

समुद्र—रामभद्र ! वानर वीर कुछ भी चाहें । यह मार्ग समस्त वानरों के अनुकूल है । क्योंकि सभी हनुमान् नहीं हैं । तो आप इस मलय तट की चोटी पर चढ़कर सेतु बँधने के स्थान का अवलोकन करें ।

रामः—यथाह धन्वन्तरेः प्रसविता। (सप्रश्रयम्) अपार भगवन्नकूपार! रामदुर्विनयसव्रणान्यङ्गानि। तत्साधयतु निजं पातालनिलयं परमनुगृहीतोऽस्मि।

समुद्रः—यथाह सप्तमो वैकुण्ठावतारः! इदं गम्यते (गङ्गायमुनाभ्यां सह निष्क्रान्तः। सर्वे समारोहणं नाटयन्त्युपविशन्ति च।)

(नेपथ्ये)

भो नागनाथ हरिकच्छप दिव्यमत्स्य स्वस्त्यस्तु वः क्षणमितः कुरुतापसर्पम्।
अब्धावयं ननु रघूद्वहकीर्तिहेतुः सेतुः प्रसर्पति दशाननधूमकेतुः॥ ४४॥

अपि च—

यादांसि हे चरत सङ्गतगोत्रतन्त्रं वामेन चन्दनगिरेरुत दक्षिणेन।
नोचेन्निरन्तरधराधरसेतुसूतिराकल्पमेव न विरंस्यति वो वियोगः॥ ४५॥

सुग्रीवः—हनूमन्! आदिश्यन्तां सेनापतयः पर्वतानयनाय।

हनूमान्—यदादिशति स्वामी। (सर्वतो निरूप्य)

दृप्यद्विक्रमकेलयः कपिभटाः शृण्वन्तु सुग्रीवजा-
माज्ञां मौलिनिवेशिताञ्जलिपुटाः सेतोरिह व्यूहने।
दोर्दण्डद्वयताडनश्लथधराबन्धोद्धुतान् भूधरा-
नानेतुं सकलाः प्रयात ककुभः किं नाम वो दुष्करम्॥ ४६॥

राम—धन्वन्तरि को उत्पन्न करने वाले ने जैसा कहा है वैसा ही हो (नम्रता से) भगवान् अपार सागर! राम की उदण्डता से आपके अङ्ग घायल हो गये हैं। अतः आप अपने पातालगृह में जांय। मैं परम अनुगृहीत हूँ।

समुद्र—विष्णु के सांतवे अवतार की जो आज्ञा। मैं जा रहा हूँ। (गंगा-यमुना के साथ चले जाते हैं। सभी चढ़ना प्रदर्शित करते हैं और बैठ जाते हैं।)

(नेपथ्य में)

हे नागराज! हे विष्णु कच्छप! हे मत्स्य भगवन्! आप लोगों का भला हो। आप लोग क्षण भर के लिये यहाँ से हटा जाँय। यहाँ समुद्र में राम का कीर्तिकारक तथा रावण का उत्पातभूत पुल बन रहा है॥ ४४॥

और भी—

हे जलजन्तुओ! अपने मित्र परिवारों के साथ मलय गिरि के उत्तर या दक्षिण आप लोग हो जाँय नहीं तो नीरन्ध्र पर्वतों से निर्मित सेतु के कारण तुम लोगों का वियोग कल्प-पर्यन्त नहीं रुकेगा॥ ४५॥

सुग्रीव—हे हनुमन्! पर्वतों को लाने के निमित्त सेनापतियों को आदेश हो।

हनुमान्—स्वामी का जो आदेश हो (चारों ओर देखकर)

अहङ्कार युक्त पराक्रम क्रीडावाले वानरो! शिरपर हाथ जोड़कर सेतुबन्धन के कार्य में सुग्रीव की आज्ञा सुनो—हाथों के प्रहार से जिनके पृथ्वी के बन्धन टूट गये हैं ऐसे पर्वतों को लाने के लिये आप लोग दिशाओं में जावें। आपके लिये दुष्कर क्या है?॥४६॥

सुग्रीवः—
आनयन्तु कपयो महागिरीनङ्गदस्तु सपदि प्रतीच्छतु।
त्वं नलः प्रबलबाहुविक्रमः सेतुबन्धविषये नियोजय ॥ ४७ ॥

(सर्वे समाकर्णितकेन)

हनूमान्—(विहस्य) आपद्वित्रीतः किमपि वर्तते वारिराशिः। यत्सेतुबन्ध-विहितये निजप्रतीहारशोणमुखेन शिक्षति जलचरमहासत्त्वानि।

सुग्रीवः—सखे हनूमन् ! गच्छ आह्वय वानरद्वयं यन्निवेदयति सेतुबन्धविधिं रामदेवाय।

(हनूमान् निःसृत्य वानराभ्यां सह प्रविश्यैतौ कपित्थदधित्थौ निवेदयतः।)

कपित्थः—देव पेक्ख एसा वेलावणुम्मूलिदसरा णिवेसिदपव्वदपब्भाराणं वाणराणं णिरन्तरा रिञ्छोली चदुद्दिसं गयणङ्गणे सेउबन्धविधिमासुत्तयन्ती विअरदि। [देव ! प्रेक्षस्व एषा वेलावनोन्मूलितशरा निवेशितपर्वतप्राग्भाराणां वानराणां निरन्तरा पङ्क्तिश्चतुर्दिशं गगनाङ्गणे सेतुबन्धविधिमासूत्रयन्ती विचरति।]

रामः—अहो पराक्रमातिशयः शाखामृगाणामहो महिमा महार्णवस्य यदेतेऽपि वसुन्धराधरा उद्ध्रियन्ते यच्चानेनाप्येवंविधे भूयसि भारे दत्तः स्वहस्तः।

सुग्रीव—वानरगण बड़े-बड़े पर्वतों को लावें और अङ्गद सद्यः उन्हें ग्रहण करें और प्रबल बाहु के बलवाले तुम नल उन्हें सेतुबन्धन के निमित्त लगाओ।

(सभी सुनते हुये)

हनुमान्—(हँसकर; समुद्र (रामजन्य) आपत्ति से कुछ विनीत हो गया है क्योंकि पुल बाघने के निमित्त अपने दौवारिक शोण (नदविशेष) के द्वारा महान् जलचरों को कुछ शिक्षा दे रहा है।

सुग्रीव—मित्र हनुमन् ! जाओ दोनों वानरों को बुला लाओ कि राम से सेतु बांधने की विधि को बतावें।

(हनुमान् जाकर दोनों वानरों कपित्थ और दधित्थ के साथ प्रवेशकर उन्हें (सुग्रीव से) बताते हैं।)

कपित्थ—तट के सरकण्डों को उखाड़ने वाली तथा बड़े पर्वतों को लाने वाली वानरों की निरन्तर पंक्ति को देखे। यह चारों ओर आकाश के आँगन में सेतुबन्धन के विघान को संपन्न करती हुई विचर रही है।

राम—अहा ! वानरों का श्रेष्ठ पराक्रम धन्य है और महासागर की महिमा भी धन्य है कि ये तो पहाड़ उखाड़ रहे हैं और यह भी ऐसे महान् भार में अपना हाथ दे रखा है।

दधित्थः—एष सेतुकन्दलैककन्दो भवत्पराक्रममहीरुहमहाकुसुमं सीताविरह-विच्छेदसमारम्भस्वस्त्ययनं रत्नाकरलाञ्छनप्रथमावतारो निवेशितः शिलोच्च-योच्चयो नलेन ।

कपित्थः—णिव्वाविददावदहणडम्बरा णिद्धोददुद्धोत्तमदप्पहा पअट्टिदपञ्च-वण्णधातुद्दवा खणपडिचिअसअलकविकुला णिठ्ठाविददुठ्ठमइन्दविन्दा गयणङ्ग-णगदपवङ्गमपुङ्गवाणं पक्खेवणरएण णिव्वुदवुव्वुडा णलकरयलग्गतुलणतारिदा सञ्चरन्ति सेउसीमन्तम्मि धरणोधरा । [निर्वापितदावदहनडम्बरा निर्धौतदुग्धोत्तम-दर्पाः प्रकटितपञ्चवर्णधातुद्रवाः क्षणपरिचितसकलकपिकुला निस्तापितदुष्टमृगेन्द्रवृन्दा गगनाङ्गणगतप्लवङ्गमपुङ्गवानां प्रक्षेपणरयेण निर्वृत्तबुद्बुदा नलकरतलाग्रतुलनतारिताः संचरन्ति सेतुसीमन्ते धरणीधराः ।]

दधित्थः—एवमेवैतत् । यथा निवेदितं कपित्थेन ।

> और्वस्यात्यशनं विधाय शिखिनः कृत्वा च वारांनिधे-
> र्मर्यादास्खलनं नलप्रणिहिताः प्राप्तास्तलं रंहसा ।
> उन्मज्जन्ति महावराहमलिनात् पातालजम्बालतो
> वेगोद्गारितिमिङ्गिलैकवसतेर्द्राक्सर्वतः पर्वताः ॥ ४ ॥

(विमृश्य)

दधित्थ—नल ने यह सेतुरूपी मूल का एकमात्र कन्द, आपके पराक्रमरूप वृक्ष का महान् पुष्प, सीता के विरह-वियोग के कार्य का स्वस्त्ययन और सागर के कलङ्क का प्रथम अवतार शिला समूह रखा ।

कपित्थ—जिनमें दावाग्नि के प्रपञ्च शान्त हो गये हैं, दुग्ध तुल्य उत्तम दर्प जिनके धुल गये हैं, पाँच रंगों के धातुद्रव जिनके प्रकट हो गये है, जो कपिकुलों से क्षणमात्र में परिचित हैं, तप्त किये गये दुष्ट सिंहों वाले, आकाश में स्थित वानरों के फेंकने के शब्द से जिनसे बुद्बुद उत्पन्न हो रहे हैं ऐसे पर्वत नल के कराग्र में उठाने से सीमन्तरूप सेतु में तैर रहे हैं ।

दधित्थ—ऐसी ही बात है जैसा कि कपित्य ने कहा है ।

नल से फेंके गये पर्वत वडवाग्नि का अत्यन्त भोजन कर तथा समुद्र की मर्यादा का स्खलन कर पाताल में पहुँच गये । वहाँ वेग से उठने वाले तिमिङ्गों के एकमात्र निवास भूत एवं वहाँ रहने वाले महावराह से पंकिल पाताल से सद्यः बाहर उठ गये ॥ ४८ ॥

(विचार कर)

उत्खातः कपिभिर्गिरिर्नभसि यः संभाव्यते विस्तरा-
देकोप्येष करोति सेतुघटनं नीरन्ध्रमब्धाविति ।
सोऽपि व्यञ्जितयोगनिद्रकपिलव्यापारपूतात्मसु
प्रक्षिप्तोऽप्सु सहस्रभागभरणेऽप्यस्य क्व नाम क्षमः ।। ४९ ।।

कपित्थः— गुरुगुहाकुहरपइट्टदुट्ठमअरा तरुक्खन्धणिसण्णसंखिणिलक्खका विसमसिलाअलप्फडिदसिप्पिसंपुटमुक्कमोत्तियकरम्बिदणिअम्बा तलप्परूढसेवाल-जडिलबन्धा जलनिविडपक्खपालिमन्दसंचरणा चिरवीसम्भपसविअकमलणाहमच्छ-कुलतिमिङ्गिलरुद्धकन्दरद्धन्ता उवरि णिवडन्तमहिहरपब्भारुल्लिडणभएण किंकि ण कुणन्ति सिलुच्चयसंचया । [गुरुगुहाकुहरप्रविष्टदुष्टमकरास्तरुस्कन्धनिषण्णशङ्-खनीलक्षका विषमशिलातलोञ्झितस्फुटितशुक्तिसंपुटमुक्तमौक्तिककरम्बितनितम्बास्तल-प्ररूढशैवालजटिलबन्धा जलनिबिडपक्षपालिमन्दसंचरणाश्चिरविश्रम्भप्रसूतकमलनाभ-मत्स्यकुलतिमिङ्गिलारब्धकन्दरध्वान्ता उपरिनिपतन् महीधरप्राग्भारोल्लोडनभयेन किंकि न कुर्वन्ति शिलोच्चयसचयाः ।]

दधित्थः—सखे साधु निवेदितं रामदेवाय । (रामं प्रति)

यस्मिन्नयं किलिकिलामुखरो विमर्द-
स्तत्र ध्रुवं धृतमहीधरपातशङ्काः ।
दम्भोलिपातभयतः खमनुत्पतन्तः
सर्पन्त्यधो निभृतमद्रिमहाशकुन्ताः ।। ५० ।।

जो पहाड़ वानरों से उखाड़े जाने पर आकाश में अपने विस्तार के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि यह अकेले ही समुद्र में बिना छेद का पूरा पुल बना देगा वही योगनिद्रा का आश्रय लेने वाले कपिल के व्यापार से पवित्र शरीर वाले जल में फेंके जाने पर इसके सौंवे भाग के भरने में भी कहाँ समर्थ है ।। ४९ ।।

कपित्थ—जिनकी बड़ी-बड़ी गुफाओं के अन्दर दुष्ट मकर बैठे हैं, वृक्षों के स्कन्धों पर लाखों शंखिनियाँ (चुडैलें) स्थित हैं, जो नतोन्नत शिलाओं के तल से निकले फूटे हुए सीपियों के सम्पुट से बिखरे मोतियों से व्याप्त हैं, जिनके नीचे बढ़ी हुई शेवार का जाल है तथा जिनके पार्श्व जल से आर्द्र रहने के कारण धीरे-धीरे चलने योग्य हैं, ऐसी शिलायें ऊपर से गिरने वाले पर्वत के अत्यधिक भार से दबने के कारण भय से क्या-क्या नहीं कर रही है ?

दधित्थ—सखे ! भगवान् राम से ठीक ही कहा गया (राम से) जिस ओर यह किलकिला शब्द हो रहा है उस ओर निश्चित रूप से पर्वत के गिरने की आशङ्का वाले पर्वतीय पक्षी वज्र के गिरने के डर से आकाश में न उड़ते हुए निःशब्द रूप से नीचे आ रहे हैं ।। ५० ।।

हनूमान्—

यं यं गिरिं क्षिपति वानरवर्ग एष
वारां निधौ निपतता ननु तेन तेन।
द्राङ् मन्दराहतसुधाकवलामराणां
संस्थाप्यते मथनधीर्जलमानुषाणाम् ॥ ५१ ॥

लक्ष्मणः—(साश्चर्यम्) आर्य ! कथापरम्परोपश्रुतानि प्रत्यक्षय समुद्रयादांसि।

क्षिप्तो गिरिः कच्छपपृष्ठपीठात् संघट्टवेगोच्छलितोऽनुपाती।
ग्रासीकृतोऽयं तिमिना किमन्यत् स चापि लोलेन तिमिङ्गिलेन ॥ ५२ ॥

रामः—वत्स लक्ष्मण ! अत्यल्पमिदमुच्यते।

अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम तथा चास्ति तिमिङ्गिलः।
तिमिङ्गिलगिलोऽप्यस्ति तद्गिलोऽप्यस्ति राघवः ॥ ५३ ॥

अपि च—

क्षिप्तो गिरिर्जलधिबन्धविधौ नलेन यात्येकतः शकुलशावविवर्तनाभिः।
अप्यन्यतः कमठडिम्भनिशुम्भनेन सेतुः कथञ्चिदिति सर्पति मध्यमब्धेः ॥ ५४ ॥

हनूमान्—

जिस-जिस पर्वत को वानरों का समूह समुद्र में फेंकता है वह-वह पर्वत गिरते हुए मन्दर की चोट से गिरे अमृत-विन्दुओं के भक्षण से अमर हुये जलमानुषों में मन्थन की बुद्धि स्थापित करता है ॥ ५१ ॥

लक्ष्मण—(आश्चर्य से) आर्य ! कथा में सुने जलचर प्रत्यक्ष हो रहे हैं।

फेंका गया पर्वत कच्छप की पीठ से टकराने के कारण ऊपर उठ गया और तिमि ने भक्षण कर लिया और फिर उस तिमि को भी चंचल तिमिङ्गिल जलचर ने खा लिया ॥ ५२ ॥

राम—वत्स लक्ष्मण ! यह तो अत्यन्त कम ही कहा—

तिमि नामक मत्स्य है, उसका भक्षक तिमिङ्गिल है और तिमिङ्गिल का भक्षणकारी तिमिङ्गिलगिल भी है और उसका भी भक्षक राघव है ॥ ५३ ॥

और—

समुद्र-बन्धन-क्रिया में नल द्वारा फेंका गया पर्वत शकुल के बच्चों के घूमने से एक ओर खिसक जाता है और फिर कच्छप के बच्चों के द्वारा धक्का पाकर दूसरी ओर चला जाता है अतः पुल ज्यों-त्यों बीच-बीच में बढ़ रहा है ॥ ५४ ॥

दधित्थः—

यद्ग्रावाणः प्लवन्ते यदपि च जलधिर्बध्यते लोष्ठलीलां
बिभ्राणा यत्कपीन्द्रैः करतलतुलनादाह्रियन्ते महीन्द्राः ।
यन्नष्टं दिव्ययोर्द्राक्कमठशकुलयोः पुत्रपौत्रप्रपौत्रै-
र्मार्गात्तद्देव सिन्धौ रजनिचरपतेर्नाशहेतुः स सेतुः ॥ ५५ ॥

सुग्रीवः—इदमपरमुपस्थितं सेतुबन्धे विघ्नान्तरम् ।

तावत्क्व नाम गिरयः श्रितसेतुबन्धा
रुन्धन्ति पाथसि समुत्थितपाञ्चजन्ये ।
यावत्तदुच्छलितदिव्यनदीसहस्रै-
रापूर्य दुस्तरतरः क्रियते समुद्रः ॥ ५६ ॥

विभीषणः—इदं चाद्भुततरम् ।

यावन्निपातरयकीर्णमशेषवर्णो
व्यावृत्य संलगति नो ककुभां मुखेभ्यः ।
तावत्स्वमुक्तमपि चित्रमपां निधाना-
दाकृष्य शैलमयमुत्पतितः प्लवङ्गः ॥ ५७ ॥

अपि च—

और्वः शिखी वसति यत्र हरिश्च यत्र
यत्रासुराः शिखरिणश्च पतत्त्रभाजः ।
आमूलतोऽम्बुधिरयं प्रकटीकरोति
तत्तन्महाकपिविमुक्तमहीध्रकर्णः ॥ ५८ ॥

दधित्थ—

जो पत्थर तैर रहे है, जो समुद्र बाँधा जा रहा है, जो बानरों द्वारा हाथ से ढेले के समान उठाये जाकर पर्वत लाये जा रहे हैं और जो दिव्य कच्छप तथा मत्स्य के पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र मार्ग से खिसक रहे हैं इससे हे देव ! समुद्र का सेतु राक्षसराज के नाश का हेतु हो रहा है ॥५५॥

सुग्रीव—पुल बाँधने में यह दूसरा विघ्न उपस्थित हो गया—

पाञ्चजन्य के उत्पत्तिभूत समुद्र के जल में सेतुबन्ध के आश्रयभूत पर्वत कितने जल को घेरेंगे क्योंकि सहस्रों नदियों के जल से भरा समुद्र दुस्तर हो रहा है ॥५६॥

विभीषण—यह और अद्भुत है—

जब तक गिराने के वेग से उठा समग्र जल दिशाओं को छूता है तभी तक अपने द्वारा फेंके गये पर्वत को यथास्थान रखकर यह वानर समुद्र से उड़ गया ॥ ५७ ॥

और भी—

जहाँ वडवाग्नि, नारायण, असुर और पांखवाले पर्वत रहते हैं ऐसा समुद्र तत्तत् कपियों से फेंके गये पर्वतों वाले जल को रसातल से प्रकट कर रहा है ॥ ५८ ॥

सुग्रीवः—

ये गोत्रे सुरवारणस्य करिणो यः कौस्तुभीये कुले
कान्तो रत्नचयः श्रियश्च निभृता ये केचन ज्ञातयः।
ये चन्द्रस्य च बान्धवाः किमपरं तानप्ययं दर्शयेद्
यद्युद्धृत्य हनूमताऽमरगिरिर्वेगादिहाऽऽक्षिप्यते ॥ ५९ ॥

रामः—सखे सुग्रीव! मामैवं त्रयस्त्रिंशतो देवकोटीनां वासः स खल्वसौ।

कपित्थः—एदे विन्दारअविन्दविलासवासा कुङ्कुमपङ्ककल्लविअहूणतरुणीगण्डपासच्छविणो मेरुमहीहरस्स एदे अद्धणारीसरविसमसंणिवेसचरणपडिबिम्बचुम्बिअसिलाअलद्धन्ताणीहारणिवहणिविडणिवडवित्तपण्डुरत्तणा गोरीगुरुणो गिरिचक्कवट्टिस्स एदे मुराहूदसुधारसोक्करिसगिच्चतरुणतरुणो कोत्थुहमिअङ्कमइरासुरद्दुमसिरिसमुप्पत्तिसक्खिणो मन्दरगिरिन्दस्स एदे कुबेरमित्तत्तणकिअणिवासकित्तिवासणिव्विग्घमहग्घिअगुणा णित्थलिअजरठप्रियङ्कमण्डलच्छाआ केलाससेल्लस्स एदे कंचणकमलघट्टचङ्गोठ्ठिअमाणसा गन्धहरिणणाहिसुगन्धिणो गन्धमादणस्स एते हणुमन्तवालभावचावलविलुत्तलवलीकन्दलकडप्पा तक्कालपक्खालिअकेरलीकवोलकालकन्तिणो अज्जणधरित्तोहरस्स एदे मत्तण्डमण्डलमग्ग-

---

सुग्रीव—यदि हनूमान् वेग से सुमेरु पर्वत को उखाड़ कर यहाँ फेंके तो ऐरावत के कुल के जो हाथी हैं, जो कौस्तुभमणि के कुल में रमणीय रत्नसमूह हैं, लक्ष्मी के अवशिष्ट जो सम्बन्धी हैं और अधिक क्या जो चन्द्रमा के बान्धव हैं उन्हें भी यह (समुद्र) प्रदर्शित कर दे ॥ ५९ ॥

राम—मित्र सुग्रीव! ऐसी बात न कहो यह (सुमेरु पर्वत) तैंतीस करोड़ देवताओं का निवास-स्थान है।

कपित्थ—ये मेरुपर्वत की चोटियाँ हैं जिनपर देववृन्द निवास करते हैं और जो कुंकुम पङ्क से हूण-तरुणी के गण्डस्थल के समान कान्तिवाली हैं, ये गिरिराज हिमालय की चोटियाँ है जिनपर अर्धनारीश्वर के विषम चरण पात के प्रतिविम्ब से आधे शिलातल संपृक्त हैं और कुहरों के सघन समूह वाले हैं, ये देवताओं द्वारा अनुभूत अमृतरस से नित्यतरुण वृक्षवाले तथा कौस्तुभ, चन्द्रमा, मदिरा, कल्पद्रुम, लक्ष्मी की उत्पत्ति के साक्षी मन्दरगिरि की चोटियाँ हैं, ये कुबेर की मित्रतावश निवास करने वाले शंकर से वृद्धिगत गुण वाले तथा वृद्ध चन्द्रमण्डल की छाया को जीतने वाले कैलास पर्वत के शिखर हैं, ये स्वर्णकमल-पत्र से शोभित मानससर वाले तथा गन्धमृग की नाभि से सुगन्धित गन्धमादन के शिखर हैं, ये अञ्जन पर्वत के शिखर हैं जिनपर के लवलीकन्दों को हनूमान् ने बालचापल्यवश विलुप्त कर दिया था तथा जो केरलीय स्त्रियों की कपोल कालिमा को तत्काल धुल देते हैं, ये विन्ध्यपर्वत के शिखर हैं जो सूर्यमण्डल की गति को

भङ्गेक्कदायिणो णम्मदाणईसोत्तसित्तसिहरसिहण्डिमण्डणा विंझधराहरस्स एदे विविहवण्णमणहरमणिप्पभाप्पसरविरइआखण्डलकोअण्डदण्डमण्डला अगत्थिमुणिसीमन्तिणोमज्जणपवित्तिअतित्थवित्थारा रोहणाअलस्स एव्वमण्णस्स वि भुवणगब्भसंभवस्स गिरिणो साणुसंघारा पवङ्गमपुङ्गवेहिं समोद्धरिआ सेउबन्धं विरअयन्ति। [एते वृन्दारकवृन्दविलासवासाः कुङ्कुमपङ्कचर्चितहूणतरुणीगण्डपार्श्वच्छवयो मेरुमहीधरस्य। एतेऽर्द्धनारीश्वरविषमनिवेशचरणप्रतिबिम्बचुम्बितशिलातलार्द्धान्ता नीहारनिवहनिबद्धनिपतनविसपाण्डुरत्वा गौरीगुरोर्गिरिचक्रवर्तिनः। एते सुरानुभूतसुधारसोत्कर्षनित्यतरुणतरोः कौस्तुभमृगाङ्कमंदरासुरद्रुमश्रीसमुत्पत्तिसाक्षिणो मन्दरगिरीन्द्रस्य। एते कुबेरमित्रत्वकृतनिवासकृत्तिवासनिर्विघ्नमहर्घितगुणा निर्जितजरठमृगाङ्कमण्डलच्छायाः कैलासशैलस्य। एते काञ्चनकमलपत्रशोभितमानसा गन्धहरिणनाभिसुगन्धिनो गन्धमादनस्य। एते हनूमद्बालभावचापलविलुप्तलवलीकन्दलसमूहास्तस्काल प्रक्षालितकेरलीकपोलकालकान्तेरञ्जनधरित्रीधरस्य। एते मार्तण्डमण्डलमार्गैकभङ्गदायिनो नर्मदानदीस्रोतःसिक्तशिखरशिखण्डिमण्डना विन्ध्यधराधरस्य। एते विविधवर्णमनोहरमणिप्रभाप्रसरविरचिताखण्डलकोदण्डदण्डमण्डला अगस्त्यमुनिसीमन्तिनीमज्जनपवित्रिततीर्थविस्तारा रोहणाचलस्य। एवमन्यस्यापि भुवनगर्भसम्भवस्य गिरेः सानुसंघाताः प्लवङ्गमपुङ्गवैः समुद्धृताः सेतुबन्धं विरचयन्ति।]

दधित्थः—(सहसा विलोक्य)

पादोनवर्तिनि महोदधिसेतुबन्धे पारे परे कपिबलैरवलोक्य लङ्काम्।
अत्युल्लसत्किलिकिलारवमुत्प्लुतं च यातं च सौधशिखरेषु निशाचरीभिः॥ ६०॥

(नेपथ्ये महान् कलकलः। सर्वे समाकर्णितकेन।)

रामः—किं पुनरयं प्रलयकालोत्तालवैकुण्ठकालकण्ठकोलाहलकालः कलकलः।

वक्र कर देते हैं तथा नर्मदा नदी के जल में स्नात मयूरों से जिनके शिखर सुशोभित हैं, ये रोहण गिरि के शिखर हैं जो अगस्त्य ऋषि की पत्नी के स्नान से पवित्र हैं तथा विभिन्न रङ्गों की मणियों की प्रभाओं से इन्द्रधनुष की कान्ति को विकीर्ण करते हैं—इसी प्रकार अन्य पार्थिव पर्वतों के शिखर भी वानरवीरों के द्वारा उखाड़े जाकर सेतु बाँधने में प्रयुक्त हो रहे हैं।

दधित्थ—(सहसा देखकर)

महासागर के सेतुबन्धन में चतुर्थांश शेष रह जाने पर दूसरे पार लङ्का को देखकर कपि-सेना अत्यन्त उल्लसित होकर किलकिला शब्द करने लगी तथा उछलने लगी और लंका की राक्षसियाँ प्रासादों के शिखरों पर चढ़ गयीं॥ ६०॥

(नेपथ्य में महान् कलकल होता है। सभी सुनते हुये)

राम—प्रलयकाल में मायातीत नीलकण्ठ के कोलाहल के समान यह भयंकर कलरव कहाँ हो रहा है?

कपित्थः—(पुरतोऽवलोक्य) देव सेउवन्धपडिबन्धणिमित्तंकीरन्तरअण-रोहणमाणिक्कपाइक्कस्स वित्थरन्तवाहिणीतरङ्गतुरङ्गमसंघट्टस्स ओत्थरन्तजङ्गम-दुग्गमहामयंगअस्स पसरन्तजलहिजलवत्तरहवरस्स दोलन्तगअणकेलिकाणणध-अवडाआडम्वरस्स कढ्ढिज्जन्तजिम्भायमाणकयन्तवयणवाणासणस्स पडन्तसेणा-विलासिणीकडक्खलक्खस्स समुज्जन्तरणलच्छिकङ्कणचक्कचक्कचक्कवालस्स उब्भि-ज्जन्तजयसिरिवेधिदण्डचण्डासिणो उवट्ठिदस्स चउरङ्गणस्स वि पढमक्खणप्पहावि-दस्स रक्खसलोअस्स सुग्गीवसासणसमासादिदविचित्तहुंकारेहिं णिसग्गसंगअगिरि-सिहरतरुप्पहरणपाणिजुअलेहिं वाणरेहिं पडिक्खलिज्जन्तस्स रक्खसाणीअस्स एस एस हलबोलो। [सेतुबन्धप्रतिबन्धनिमित्तं कीर्यदवरोहणमाणिक्यपदातिकस्य विस्तीर्य-द्वाहिनीतरङ्गतुरङ्गमसंघस्योद्यमानजङ्गमदुर्गमहामतङ्गजस्य प्रसरज्जलधिजलवद्रथ-वरस्य दोलायमानगगनकेलिकाननध्वजपताकाडम्बरस्य कृष्यमाणजृम्भायमाणकृतान्तवदन-बाणासनस्य पतत्सेनाविलासिनीकटाक्षलक्षस्य समुद्यद्रणलक्ष्मीकङ्कणचक्रचक्रचक्रवालस्यो-पद्यमानजयश्रीवेणिदण्डचण्डासेरुपस्थितस्य चतुरङ्गस्यापि प्रथमक्षणप्रधावितस्य राक्षस-लोकस्य सुग्रीवशासनसमासादितविचित्रहुंकारैर्निसर्गसंगतगिरिशिखरतरुप्रहरणपाणियुग-लैर्वानरैः प्रतिक्रियमाणस्य राक्षसानीकस्यैष कलकलः।]

लक्ष्मणः—साधु लङ्केश्वर साधु षाड्गुण्योचितमुपक्रान्तं न पुनर्निरुपमाननिज-साहसोचितम्।

सुग्रीवबिभीषणौ—तदग्रतः किंचिदुपसृत्योपविशतु देवः।

(रामस्तथा करोति)

कपित्थ—(सामने देखकर) सेतु-बन्धन में बाधा देने के लिये—रत्नरोहण पर्वत के माणिक्यों को विकीर्ण कर रहे पैदल सेना वाले, घोड़ों से जिनकी सेना विस्तार को पा रही है ऐसे, जिसमें चलते हुये दुर्गों के समान हाथी ताडित हो रहे हैं ऐसे, जिसमें फैलते हुये समुद्र जल की भाँति रथ हैं ऐसे, जिसमें आकाशरूपी क्रीडाङ्गण में ध्वजा-पताकायें फहर रही हैं ऐसे, जिसमें खींचे जाते हुए धनुष जँभाई ले रहे काल के मुख जैसे हैं ऐसे, जिसमें चढ़ाई कर रही सेना का कटाक्षलक्ष विलासिनियों के कटाक्ष जैसे हैं, जिसमें चक्र (अस्त्रविशेष) का समूह रणलक्ष्मी के करुण-सा है, जय-श्री के उदय हो रहे वेणिदण्ड के समान जिसमें तीव्र तलवारें हैं, ऐसे राक्षसों की चतुरङ्ग-सेना जो पहले ही दौड़ी है तथा सुग्रीव की आज्ञा से हुंकार कर रहे और प्रकृत्या जिनको पर्वतों के शिखर तथा पेड़ों के अस्त्र मिले हैं ऐसे वानरों से जिनका प्रतीकार हो रहा है ऐसी राक्षस-सेना का यह कलकल है।

लक्ष्मण—उचित है रावण! उचित है! षाड्गुण्य (नीति) के अनुरूप तथा अपने अनुपम साहस के अनुरूप ही किया है।

सुग्रीव तथा विभीषण—कुछ आगे बढ़कर देव बैठें।

(राम वैसा ही करते हैं)

कपित्थः—परिमिलिअवलीमुहपडिकवलिज्जन्ते णिसाअरसेणे सुणीकइअ दिअन्तराइं समकालपधाविएहिं पवङ्गमेहिं पडिक्खादसिलुच्चआणं दससहस्सेहिं पूरिआ सा सेउखण्डी उत्तीणं अ संपुण्णं वाणराणीअं दिण्णो लङ्काउरीए सण्णाह-पडहो वज्जियाइं पुरन्दरजआणीदाइं समरतूराइं पढिआ रावणरणभोगावली बन्दिविन्देहिं गीओ अ केलासुद्धरणपमुहं चरिदुच्चयं चारणगणेहिं वाणरपडिपक्ख-भावेण अ सुणिज्जन्ति पयट्टहासाइं रक्खसीणं व अणाइन्ता कुणह जहजह का अव्वम्। [परिमिलितवलीमुखप्रतिकवलोयमाने निशाचरसैन्ये शून्यीकृत्य दिगन्तराणि समकालप्रधावितैः प्लवङ्गमैः प्रतिक्षिप्तशिलोच्चयानां दशसहस्रैः पूरिता सा सेतुखण्डी। उत्तीर्णं च संपूर्णं वानरानीकम्। दत्तो लङ्कापुर्यां सन्नाहपटहः। वादितानि पुरन्दर-जयानीतानि समरतूर्याणि। पठिता रावणरणभोगावली बन्दिवृन्दैः। गीतश्च कैलासो-द्धरणप्रमुखश्चरितोच्चयश्चारणैः। वानरप्रतिपक्षभावेन च श्रूयन्ते प्रकटहासानि राक्षसीनां वचनानि तत् कुरुत यथायथा कर्तव्यम्।]

लक्ष्मणः—भद्र विश्रब्धो भव। नाद्याप्यायुधग्रहणकालो निर्दशाननानि निर्मेघ-नादानि च निःसृतानि बलानि।

दधित्थः—सुभटसमाकृष्टकोदण्डदण्डं निहतवानराच्छभल्लभल्लं रभसनिक्षिप्त-निरन्तरभिन्दिपालमालं वेगप्रवर्तितचक्रचक्रं खण्डितविपक्षशक्ति शक्ति निर्दारित-परशुकपरशुकं कुवलयवनभ्रमनिपातिसितशकुन्तकुन्तं परहृदयप्रकम्पनं द्वेधाकृत-

---

कपित्थ—सामने की ओर वानर-सेना से राक्षसों के ग्रस्त होने पर तथा एक साथ दौड़ रहे वानरों के द्वारा दिशाओं को शून्य कर फेंके गये दशसहस्र शिलाओं से यह सेतु खण्ड पूरा हो गया और संपूर्ण वानर-सेना पार हो गयी। लंकापुरी में संग्राम-यात्रा का बाजा बज उठा। इन्द्र को जीतकर लायी गई युद्ध-दुन्दुभियाँ लंकापुरी में बज उठीं। बन्दिजनों ने रावण की युद्ध-प्रशस्तियों का पाठ प्रारम्भ कर दिया। चारणों ने कैलास को उठाने आदि प्रमुख चरित्र का बखान कर दिया। शत्रुओं में वानरों को सुनकर राक्षसियाँ जोर-जोर से हँसकर वचन करने लगीं। अतः अब यथायोग्य आप लोग करें।

लक्ष्मण—भद्र ! आप विश्वस्त हों। अभी अस्त्र-ग्रहण का समय नहीं है। रावण तथा मेघनाद के बिना सेनायें निकली हैं।

दधित्थ—वीरों से खींचे गये धनुषवाला, मारे गये वानरों तथा वीरों वाला, वेग से निरन्तर भिन्दिपाल-समूह निकलने वाला, वेग से चक्रसमूह को चलाने वाला, परपक्ष की शक्ति को खण्डित करने वाला, शक्ति से परपक्ष के परशुओं को विदारित करनेवाला, कमलवन के भ्रम से जिसमें श्वेत पक्षिरूपी जिसमें कुन्त (अस्त्रविशेष) चल रहे हैं ऐसा दूसरे के हृदय को कम्पित करनेवाला, हाथियों को दो टुकड़े करने वाले तलवारों वाला,

करीन्द्रकरालकरवालं समरप्रचारचतुराङ्गचतुरङ्गं निर्मर्यादप्रसृतमातङ्गमातङ्गं योधजयैकस्यन्दनस्यन्दनं समासादितविपत्तिनिर्भरं प्रवृत्तमेव व्रणितसकलानीकसमनीकम्। (विभाव्य) अये! परस्परं संवलनादतितुमुलं वर्तते। (विहस्यैकतो निरूप्य)

अमी कबन्धैः प्लवगा रणाङ्गणे शिरस्सु कण्ठात्पतितेषु रक्षसाम्।
मिथो विरोधाज् जनहासदायिनीं सृजन्ति सृष्टिं कपिराक्षसात्मिकाम्॥ ६१॥

(अन्यतोऽवलोक्य)

निशाचरोऽयं गमितः कबन्धतां करीन्द्रवक्त्रे पतितेऽधिकन्धरम्।
प्रवृत्तनृत्तक्रमभीमदर्शनैः करोति हेरम्बवपुर्विडम्बनाम्॥ ६२॥

(अपरतोऽवलोक्य)

अच्छभल्लकपयःस्वकबन्धैर्व्यत्ययादधिनिविष्टशिरस्कैः।
माययारचितचित्रशरीरा राक्षसाइवविभान्तिमुहूर्तम्॥ ६३॥

(अन्यतोऽवलोक्य)

गतं परप्रणतिपरायणं शिरस्समित्सुहृत्करयुगलं च तिष्ठति।
इतीव ही विकसितसंमदोत्सवं प्रवर्तते किमपि कबन्धताण्डवम्॥ ६४॥

रण में चलने में कुशल चतुरङ्गवाला, विना मर्यादा के चलने वाले मत्त हाथियों वाला, वीरों के जयार्थ एकमात्र रथ से चलने वाले रथों वाला, अत्यन्त विपत्ति से युक्त तथा कटे हुये समस्त सैनिकों वाला सैन्य हो गया है (देखकर) अरे! परस्पर आक्रमण से अत्यन्त तुमुल युद्ध हो रहा है (हँसकर तथा एक ओर देखकर)

ये वानर राक्षसों के शिर कट जाने पर उनके घड़ों के द्वारा परस्पर विरोधवश लोगों में हास्यकारी कपि-राक्षसमयी सृष्टि करते हैं॥ ६१॥

(दूसरी ओर देखकर)

यह राक्षस शिर कट जानेपर जिसके कि घड़ पर हाथी का मुंह (कटकर) गिर गया है नाचने से भयंकर गणेश के शरीर का भ्रम उत्पन्न कर रहा है॥ ६२॥

(अन्यत्र देखकर)

ये ऋक्ष-वानर अपने कबन्धों से जिनपर वैपरीत्य से (राक्षसों के) गिर गये हैं क्षण भर के लिये मायामय राक्षसों के शरीर जैसे प्रतीत हो रहे हैं॥ ६३॥

(दूसरी ओर देखकर)

दूसरे को प्रणाम करने वाला शिर तो चला गया पर रण के मित्र दोनों हाथ हैं इस लिये कबन्धों का हर्षवश उल्लसित ताण्डव हो रहा है॥ ६४॥

कपित्थः—देव पेक्खदु अणवरअविप्पइण्णघुसिणचुण्णं विअअन्तरं विरअअन्तं भुवणगब्भप्पसरिदं रअसमुद्दमट्ठमं विअवित्थारअन्तं तिदिवदंसणदिण्णप्पआणं विअ धरणिमण्डलं दंसअन्तं विहिअवसुन्धराफंसभअं रवितुरङ्गाणं उच्छलिअधूलिवलय-तलिणीकअभूमिभारत्तणेण किअमहानुग्गहं भुअङ्गवइणो सेसस्स वीरजणदंसणणि-वेसिअवेसविसेसपंसुलत्तणेनं असूइयवित्थारं विज्जाहरीहिं पओसविसट्टणअणकन्दो-ट्टभरणणिवारणदिण्णपाणिपिहिदवयणत्तणेण जुउच्छिअं अच्छराहिं घण्टाटङ्कार-सुणिज्जन्तकरिन्दं कणअकिङ्किणीझणक्कारजाणिज्जन्तसन्दणं हेसारवसूइज्जन्त-तुरङ्गं कठिअगुणणिविडणमन्ताटणिमुक्ककडक्कारकलिज्जन्तधाणुक्कं अङ्गपरि-कंसपडिजाणिज्जन्तरिक्खरक्खसवाणरं चउरङ्गबलचडुलचरणक्खोहसमुत्तम्भिअ-रेणुविरइअणीरन्धान्धआरं समरङ्गणं वट्टइ। [**देव ! प्रेक्षतामनवरतविप्रकीर्णघुसृणचूर्णं वियदन्तरं विरचयन्तं भुवनगर्भप्रसृतं रजःसमुद्रमष्टममिव विस्तारयन्तं त्रिदिवदर्शनदत्त-पर्याणमिव धरणिमण्डलं दर्शयन्तं विहितवसुन्धरास्पर्शभयं रवितुरङ्गाणां उच्छलितधूलि-वलयतलिनीकृतभूमिभारत्वेन कृतमहानुग्रहं भुजङ्गपतेः शेषस्य वीरजननिवेशितवेशविशेष-पांशुलत्वेनासूयितविस्तारं विद्याधरीभिः प्रदोषविकसितनयनकमलभरणनिवारणदत्तपाणि-पिहितवदनत्वेन जुगुप्सितमप्सरोभिः घण्टाटङ्कारश्रूयमाणकरीन्द्रं कनककिङ्कणीझण-त्कारज्ञायमानस्यन्दनं हेषारवसूच्यमानतुरङ्गं कृष्टगुणनिबिडनमदटनिमुक्तकटत्कारकल्य-मानधानुष्कं अङ्गपरिस्पर्शप्रत्यभिज्ञायमानर्क्षराक्षसवानरं चतुरङ्गबलचटुलचरणक्षोभ-समुत्तम्भितरेणुविरचितनीरन्ध्रान्धकारं समराङ्गणं वर्तते।**]

कपित्थ—देव ! अनवरत फैलते हुये कुमकुम-चूर्ण से व्याप्त आकाश को विस्तृत करते हुये, पृथ्वी पर प्रसृत धूल से आठवें सागर का विस्तार करते हुये, स्वर्ग-दर्शन के लिये, भूमण्डल जिन्हें आस्तरण जैसा है ऐसे सूर्य के अश्वों को भूमिस्पर्श से भयभीत करते हुये, उठी हुई धूलि से भूमि का भार हल्का होने से शेष पर अनुग्रह करते हुए, (संग्राम में मरे) वीरजनों के लिये जो अभीष्ट वस्त्र है उसके धूमिल हो जाने के कारण ईर्ष्या दृष्टि से जिसका विस्तार देखा जाता है ऐसी रात्रि को जिनके नयनकमल विकसित हैं तथा धूल पड़ने से बचाने के लिये जिन्होंने मुंह पर हाथ लगा दिया है ऐसी अप्सराओं द्वारा निन्दित, घण्टा के शब्द से जिसमें हाथियों को सुना जाता है, स्वर्णकिङ्किणियों के शब्द से जिसमें रथों की पहचान होती है, घोड़ों के जिसमें हिनहिनाने की आवाज सुनाई पड़ती है, धनुष की डोरी खींचने से जिसके दोनों किनारों के नम्र होने से धनुष की कठोर कड़कड़ाहट होती है और उससे धनुर्धारी मूर्च्छित हो जाते हैं ऐसे, परस्पर अङ्गों के स्पर्श से ऋक्ष, राक्षस और वानरों की पहचान वाला, तथा चतुरङ्गिणी सेना के चरणपात से उठी रेणु से निविड़ अन्धकार की रचना वाला समराङ्गण हो रहा है।

दधित्थः-देव यथाऽऽवेदितं कपित्थेन अति हि निर्भरो भूपरागप्रसरः। तथाहि-

हेलाचण्डचलच्चमूपरिकरक्षुण्णक्ष्माजन्मभिः
पक्वैलाफलगर्भचूर्णरुचिभिः कीर्णेऽम्बरे रेणुभिः।
एतस्मिन् समराङ्गणे गुणनिधिर्विश्वप्रदीपोऽप्ययं
तूर्णोत्तानितकांस्यतालकरणिर्जातो दिनानां पतिः॥ ६५॥

अपि च

युद्धोत्थे रजसामुदञ्चति चये द्वाभ्यां दवीयोऽन्तरान्
पाणिभ्यां युगपन्न लोचनपुटानष्टौ पिधातुं क्षमः।
एकैकं दलमुन्नमय्य गमयन् वासाम्बुजं कोशतां
धाताप्यावरणाकुलः स्थित इतः स्वाध्यायवन्ध्याननः॥ ६६॥

कपित्थः—(विहस्य) णिरन्तरपसरन्तसरलक्खपुङ्खविकिरणेण विअडधअवडाआवेल्लिरपल्लवपेल्लणेण दंसणागअसुरसुन्दरीचक्कविमुक्कगरिल्लमल्लवेल्लणेण पढमं तणुईकदं रणरेणुचक्कवालं णिठ्ठुरप्पहारकयकवन्धकन्धरारन्धणीसरन्तरुहिरधाराधोरणीहिं करिकरखेलावल्लिअसीअरासारप्पसरेण अ णिल्लूणमेव मूलदो धूलिमण्डलम्। [निरन्तरप्रसरच्छरलक्षपुङ्खविकिरणेन विकटध्वजपताकाचञ्चलपल्लवप्रेरणेन दर्शनागतसुरसुन्दरीचक्रविमुक्तश्रेष्ठमाल्यमोक्षणेन प्रथमं तनुकीकृतं रणरेणुचक्रवालं निष्ठुरप्रहारकृतकबन्धकन्धरारन्ध्रनिःसरद्रुधिरधाराधोरणीभिः करिकरखेलाप्रेरितसीकरासारप्रसरेण च निर्लूनमेव मूलतो धूलिमण्डलम्।]

दधित्थ—देव! जैसा कि कपित्थ ने कहा है भूमि के रज का प्रसार अत्यन्त घना है क्योंकि—

इस समराङ्गण में अवज्ञा तथा उच्छृङ्खलता से चल रही सेना-समूहों के रगड़ से उठी पृथ्वी की पके एला-फल के समान कान्तिवाली धूल से आकाश के आच्छादित होने पर गुणनिधि तथा विश्व का दीप यह दिनपति सूर्य सद्यः ताने गये काँसे के मंजीरे जैसा हो गया है॥ ६५॥

और—

युद्ध में धूलि के समूहों के उठने से स्वाध्याय से विरत मुखवाले ब्रह्मा दोनों हाथों से अत्यन्त दूर पर स्थित आठों आखों को बन्द करने में असमर्थ हो गये और आसन कमल को आवरण बनाते हुये उसके एक-एक दल को उठाकर देहाच्छादन के लिये आकुल हो गये॥ ६६॥

कपित्थ—निरन्तर फैल रहे वाण-समूहों के फैलाव से, विकट ध्वजापताका रूपी पल्लवों के चलने से तथा युद्ध देखने के लिए आयी सुरसुन्दरियों के समूहों द्वारा फेंकी गई मालाओं के विन्यास द्वारा पहले ही हल्का किया गया रण-रेणु-समूह निष्ठुर प्रहार से काटे गये कबन्ध के बन्ध से निकल रही रुधिर धारा से तथा हाथियों के सुण्डों से क्रीडापूर्वक छोड़ी गयी जलधारा के प्रहार से मूलतः शान्त हो गया।

बधित्थः—प्रशान्तरेणुनि रणाङ्गणे पुनः संसक्तमेव यशोधनमायोधनं शूराणाम् । (विभाव्य) अये महाप्रभावः समराङ्गणप्राणपरित्यागो वीरवर्गस्य यदप्सरसोऽपि स्वयंवरेणोपतिष्ठन्ते । यदुत ।

चण्डासिच्छेदलीलायितहृतशिरसो दिव्यतां संदधाना
न्यञ्चद्भिः कण्ठकाण्डैः समरवशदृशः पूर्वसंस्कारशक्त्या ।
द्राग्दृष्ट्वा नाथमाद्यं सपदि विदधतः फालदानं विमानाद्
धीराः स्वःसुन्दरीभिः किमिदमिति धृता बन्धुरैर्बाहुबन्धैः ॥ ६७ ॥

सुग्रीवः—यथैव निवेदितमति हि नामाश्चर्यवितरणैकमुष्टियोगः समरसंरम्भो वर्तते । तथाहि—

वीराश्चण्डासिदण्डप्रहरणसुहृदः संमुखं संपतन्तो
ये जाताः पात्रमाजिष्वनिमिषसुमनोदामदानोत्सवस्य ।
पश्य प्रेङ्खत्क्षुरप्रप्रहृतिभिरमरीभूय तैरेव भूयः
शेषाणां मूर्ध्नि मुक्ताः सुरकुसुममहावृष्टयः पृष्ठभृङ्गाः ॥ ६८ ॥

विभीषणः—देव ! इतोऽपि दृश्यतां द्रष्टव्यम् ।

बधित्थ—शान्त धूलि वाले समराङ्गण में वीरों का यशकारक युद्ध पुनः प्रारम्भ हो गया (देखकर) अरे ! वीरों का समर में प्राणत्याग महाप्रभाववाला है कि अप्सरायें भी स्वयंवर के लिये आ गयी हैं ।

और—

प्रचण्ड तलवारों की लीला से शिरकटे हुये तथा देवत्व को प्राप्त वीर पूर्व संस्कार वश झुकी गर्दनों से युद्ध में दृष्टि लगाये पहले के स्वामी को देखकर स्वर्ग विमान से सद्यः रणभूमि में कूदने की इच्छा कर रहे हैं और स्वर्गसुन्दरियाँ 'यह क्या ?' कहकर व्यस्त बाहुबन्धनों से उन्हें रोक रही हैं ॥ ६७ ॥

सुग्रीव—जैसा कि कहा है एकमुष्टि योग वाला समर अत्यन्त आश्चर्यकारक है । क्योंकि—

प्रचण्ड तलवार के प्रहार के मित्रभूत जो वीर युद्ध में सम्मुख लड़ते हुये देवों की पुष्पमाला प्रदानरूपी उत्सव के पात्र हुये अर्थात् मृत हुये देखो वे ही पुनः चल रहे क्षुरप्र के प्रहार से मरकर देवता बने शेष वीरों के शिर पर भ्रमर युक्त देव-पुष्पों की वृष्टि कर रहे हैं ॥ ६८ ॥

विभीषण—देव ! इधर भी द्रष्टव्य है । देखिये—

वीरैर्वैमानिकत्वं समरमरणतो लम्भितैः सङ्गराग्रं
दृष्ट्वा स्वस्वामिबाधाप्रहरणविरहात्सर्वतः सूत्रितोऽयम् ।
दारैः पाशप्रकाशैः सपदि वलयकैश्चक्रवत्संपतद्भिः
स्वर्णपीडैः स्वमुक्तद्रुघणकरणिभिर्नूतनो युद्धमार्गः ॥ ६९ ॥

कपित्थः—णिबिडपडन्तकरिकरङ्कसंकटं फारफेक्कारफुल्लिअगल्लसिवासेविआसवं रुहिरपाणपोडणुद्दुमरडाइणीमुक्कडक्कारडामरं रत्तमत्तवेआलविलासिणीकेलिकलिअकिलिकिलाकोलाहलकाहलं समरसंभारसंभाविअपवलवलीमुहवलक्कन्तं रक्खससेणं लङ्काभिमुहं पअट्टइ। [निबिडपतत्करिकरङ्कसंकुलं स्फारफेत्कारफुल्लगल्लशिवासेवितासवं रुधिरपानपीडनोड्डामरडाकिनीमुक्तडात्कारडामरं रक्तमत्तवेतालविलासिनीकेलिकलितकिलिकिलाकोलाहलसंकुलं समरसंभारसंभावितप्रबलवलीमुखवलाक्रान्तं राक्षससैन्यं लङ्काभिमुखं वर्तते ।]

हनूमान्—(विहस्य) देव ! विजितमस्माभिर्यत्प्रमुख एव विमुखं राक्षसबलम् ।

रामः—प्रवृत्ते रणकर्मणि सेनयोः सारणापसरणानि गणशो भवन्ति । कस्तत्र जयः पराजयो वा ।

हनूमान् – देव ! नैवं यत्किल प्रमुखविमुखं वलं द्वादशवर्षाणि न संमुखीभवतीति प्रायोवादः ।

जिन वीरों ने समर-मरण द्वारा देवत्व प्राप्त कर लिया वे युद्ध को देखकर अपने स्वामी की बाधा पर प्रहार के वियोग से पाश तुल्य तथा चक्र की भाँति गिर रहे स्वर्णमय वलयों के द्वारा तथा अपने द्वारा मुक्त भूमि—चम्पकों के द्वारा चतुर्दिक् नूतन युद्धमार्ग बनाया ॥ ६९ ॥

कपित्थ—सतत गिर रहे हाथियों के अस्थियों से व्याप्त, उग्र फेत्कार से फूली गलावाली सियारिनों से पिये जा रहे रक्तों वाला, रक्त पीने से मत्त डाकिनियों से छोड़े गये डकार शब्द से युक्त, रक्तपान से मत्त वैतालिनों की किलकिला से युक्त, युद्ध व्यापार से सम्मानित बलवान् वानरों से आक्रान्त राक्षसों की सेना लङ्का की ओर भाग रही है ।

हनूमान्—(हँसकर) देव ! हम लोग जीत गये क्योंकि प्रधान राक्षस-सेना विमुख हो गई ।

राम—रण-कर्म के प्रारम्भ होने पर सेनाओं का आना-जाना बार-बार होता है इसमें जय-पराजय कहाँ होती है ।

हनूमान्—देव ! ऐसी बात नहीं । जनप्रसिद्धि यह है कि प्रधानों की सेना विमुख होने पर बारह वर्षों तक फिर सामने नहीं आती ।

रामः—(विहस्य) भद्र हनूमन् ! किमनेन विमुखेन संमुखेन वा यदिह न धूर्जटिधराधरोद्धारेऽप्यकुण्ठो दशकण्ठो नापि विनिर्जितमघवा मेघनादः। (पुरोऽवलोक्य) कथं लङ्काप्रतोलीमतिक्रम्य राक्षसबलं वर्तते। (ऊर्ध्वमवलोक्य सकौतुकम्)

कोऽयं दिव्ये विमाने

हनूमान्—

रजनिचरपतिः

लक्ष्मणः—

साधु पौलस्त्य साधु,

द्राक् चण्डं चन्द्रहासं कलय सविधगे नास्त्यरातौ तितिक्षा।

रामः—

सीताप्यत्रैव तस्याश्चटुषु कृतरतिः सैष भोः कार्मुकं मे,

सुग्रीवः—

शान्तं बाणाः सरन्तो न खलु जनकजां रावणं वा विदन्ति ॥ ७० ॥

(नेपथ्ये)

भोः पश्य राम मम पार्श्वगतां च सीतां
तच्च प्रदर्शय निजं जितवालि वीर्यम्।
अस्याः स एष ननु मूर्धनि चन्द्रहासो
रम्भाप्रकाण्डदलनोद्यममातनोति ॥ ७१ ॥

राम—(हँसकर) भद्र हनूमन् ! इस विमुख या संमुख से क्या फायदा क्योंकि यहाँ शंकर के पर्वत कैलास को उठाने वाला रावण या इन्द्र को जीतने वाला मेघनाद नहीं है ? (सामने देखकर) क्या राक्षससेना लङ्का की प्रतोली को पार कर स्थित है (ऊपर देखकर कुतूहल से)

यह दिव्य विमान में कौन है ?

हनूमान्—राक्षसराज !

लक्ष्मण—पौलस्त्य रावण ! तुम धन्य हो। सद्यः प्रचण्ड चन्द्रहास को लो। समीपस्थ शत्रु में तितिक्षा नहीं करनी चाहिये—

राम—सीता भी यहीं हैं और उनके प्रियवचनों में यह अनुरक्त है। मेरा धनुष दो।

सुग्रीव—देव ! विरत हो। चल रहे बाण रावण या सीता को नहीं पहचानते ॥७०॥

(नेपथ्य में)

हे राम ! मेरे पार्श्व में स्थित सीता को देखो और बालि को जीतने वाले अपने पराक्रम को दिखाओ। इसके शिर पर चन्द्रहास कदलीस्तम्भ काटने जैसे उद्यम कर रहा है (अर्थात् केले के खम्भे की भाँति इसे काट रहा है) ॥ ७१ ॥

रामः—(विहस्य) हंहो रावण ! संवृणु जनितजनहासं चन्द्रहासम् । कः शक्तिमानपिमृगाङ्कमूर्ति शिलापट्टङ्के पिनष्टि ।

लक्ष्मणः—सविषादम् ।

यावत्करोति न धनुः सशरं ममार्यो
यावन्न सूत्रयति विक्रमणं हनूमान् ।
आर्याशिरो दशमुखेन विलूय तावत्
क्षिप्तं च कल्पितसदर्शनमम्बरे च ॥ ७२ ॥

रामः—(ससंभ्रमं) कथमिदं दशकण्ठेन विलूय क्षिप्तं सीताशिरः शर्करायां भुवि पतति । तत्सत्वरमुपसृत्य स्तनतटपरिपीडनपरिचितस्पर्शे प्रसारितकरयुगजनितेऽञ्जलौ प्रतीच्छामि । (तथा कृत्वाऽवलोक्य च) हा वैदेहि ! शिरःशेषा वर्तसे । (सकरुणं विभाव्य)

तरुणभुजगलीला सैव वेणी तदेव
श्रवणयुगमनङ्गन्यस्तडोलाद्वयाभम् ।
स्मरकुवलयबाणावीक्षणे ते च तस्या-
स्तदयमलकलक्ष्मा वक्त्रचन्द्रः स एव ॥ ७३ ॥

राम—(हँसकर) हे रावण ! लोगों में हँसी उत्पन्न कर रहे चन्द्रहास को छिपा लो । कौन शक्तिमान् होते हुये भी चन्द्रमा को शिलापट्ट पर पीसेगा ।

लक्ष्मण—(विषाद से)

जब तक मेरे आर्य राम धनुष पर बाण नहीं रखे और हनूमान् ऊपर उछले नहीं उससे पूर्व ही रावण ने आर्या जानकी का शिर काटकर फेंक दिया और अन्तर्धान हो गया ॥ ७२ ॥

राम—(आश्चर्य से) क्या यह रावण द्वारा काट कर फेंका गया सीता का शिर जमीन पर बालू में लोट रहा है तो जल्दी पास जाकर स्तन तट के पीडन से ज्ञात स्पर्श वाले फैलाये दोनों हाथों की अंजलि में ले लूं (वैसा करके तथा देखकर) हा जानकि ! शिरःशेष हो गयी ।

(करुणापूर्वक देखकर)

तरुण भुजगों की लीला वाली वही वेणी हैं, कामदेव द्वारा डाले गये दो झूलों का आभा वाले वही दोनों कान हैं, काम के दो कमलवाणों की भाँति वे ही दोनों आँखें हैं और यही वह चूर्णकुन्तल (केश) रूपी कलङ्क वाला मुखकमल है ॥ ७३ ॥

हा प्रिये वैदेहि !

इन्दोः संप्रति कान्तिरस्तु विमला दीर्घामृगीणां दृशः
स्वादिष्ठा कलकण्ठिवाक्किसलयान्येकान्तरक्तानि च ।
यातायां त्वयि तस्य राक्षसपतेर्दुस्संचरं गोचरं
यद्वा वा तस्य गभीरमास्यकुहरं दुर्मेधसो वेधसः ॥ ७४ ॥

(सविशेषकरुणम्)

देव्याः शिरो मम पुरो यदिदं विलूनं
दृष्टं छलाद्दशमुखो यदसौ प्रनष्टः ।
धिङ्निष्फलं हनुमतः प्लवनं तदब्धौ
धिङ्निष्फलः स च ममाचलसेतुबन्धः ॥ ७५ ॥

(सर्वे विषादं नाटयन्ति)

लक्ष्मणः—(सक्रोधम्) अरे रे समरकुण्ठ दशकण्ठ ।

छद्मात्मना जनकजानिधनेन्धनेन
यो दीपितः सपदि नो हृदि शोकवह्निः ।
निर्वापयिष्यति पतिस्तमसौ रघूणां
त्वत्कामिनीजनविलोचनवारिपूरैः ॥ ७६ ॥

रामः—(अवस्थोचितं स्मित्वा) सखे सुग्रीव ! वयस्य विभीषण ! रावणवधे विहितप्रतिज्ञाः कृता वयं वत्सेन ।

हा प्रिये वैदेहि ! दुर्बुद्धि ब्रह्मा के गंभीर मुख गह्वर में या राक्षसराज के संमुख तुम्हारे जाने से सम्प्रति चन्द्रमा की कान्ति विमल हो, मृगियों की आँखे लम्बी हों, कोकिलों की वाणियाँ मीठी हों, किसलय-दल नितान्त रक्तवर्ण के हों अर्थात् तेरे जीवित रहने पर ये वस्तुयें क्रमशः, अविमल, लघु, कर्कश और विरक्त थीं ॥ ७४ ॥

(विशेष करुणा से)

धिक्कार है मेरे सामने जो यह देवी का मुख काट डाला गया और रावण माया से अन्तर्धान हो गया तो हनूमान् का समुद्र को लाँघना और मेरे द्वारा पर्वतों से पुल बाँधना निष्फल हो गया ॥ ७५ ॥

(सभी विषण्णभाव प्रदर्शित करते हैं)

लक्ष्मण—(क्रोध से) अरे युद्ध में कुण्ठित होने वाले रावण !

तूने गुप्त शरीर से जनकजा को मारने रूप इन्धन से जो हमारे हृदय में सद्यः शोकाग्नि उद्दीप्त कर दी है उसे ये रघुपति तुम्हारी स्त्रियों के आसुओं से बुझायेंगे ॥७६॥

राम—(अवस्थानुरूप हँस कर) सखे सुग्रीव ! मित्र विभीषण ! वत्स लक्ष्मण ने हमलोगों को रावण-वध के लिये बद्ध-प्रतिज्ञ कर दिया ।

लक्ष्मणः—आश्चर्यमाश्चर्यम् । निर्लूनमप्यार्याशिरः समुल्लपति तत्सविधवर्तिनो भूत्वा श्रृणुमः ।

(सर्वे समुपसर्पन्ति)

लक्ष्मणः—कथं स्फुटाक्षरमिदमभिधत्ते ।

सूत्रधारचलद्दारुगात्रेयं यन्त्रजानकी ।
कण्ठस्थशारिकालापा कृता लङ्केशकेलये ॥ ७७ ॥
तच्छिरस्थैव निर्याता साचाहं राम शारिका ।
सच्चरित्ररसप्रीत्या त्वां बोधयितुमास्थिता ॥ ७८ ॥
तेन तेऽग्रेऽभिनीताऽस्याः शिरःखण्डननाटिका ।
मृता सीतेति येन त्वं गृहान् प्रति निवर्तसे ॥ ७९ ॥

(सर्वे हर्षं नाटयन्ति)

रामः—स्वस्ति भवत्यै प्रियकारिण्यै । तत्समीहितसिद्धये साधय । (विहस्य) अहो शौर्य इव छलप्रपञ्चेऽपि चातुर्यं रावणस्य ।

लक्ष्मणः—आर्य ! सुवेलाचलमेखलासु तावदावसन्तु कपियूथपतयः प्रातर्लङ्का-दुर्गमभियोक्ष्यते ।

रामः—यदि न प्रकृत्यमर्षणो रावणः संप्रत्येव प्रत्यभियुङ्क्ते ।

(नेपथ्ये महान् कलकलः)

लक्ष्मण—आश्चर्य है, आश्चर्य है—भली-भाँति काटा गया भी आर्या का शिर बोल रहा है अतः उसके पास जाकर सुनें ।

(सभी पास जाते हैं)

लक्ष्मण—यह तो स्पष्ट अक्षरों में बोल रहा है ।

सूत्रधार के द्वारा चलने वाली लकड़ी के शरीर की यह यन्त्र जानकी है और रावण की क्रीड़ा के लिये कण्ठस्था शुकी द्वारा बोलनेवाली बनाई गयी है ॥ ७७ ॥

हे राम ! उस शिर में स्थित होने के कारण मैं निकल गई और आपके सच्चारित्र्य-गुण के प्रेम से आपको समझाने के लिये स्थित रही ॥ ७८ ॥

उसने आपके सामने उस सीता के शिर काटने का नाटक किया जिससे आप सीता को मरी समझकर घर लौट जाँय ॥ ७९ ॥

(सभी प्रसन्नता प्रदर्शित करते हैं)

राम—प्रिय करनेवाली आपका भला हो । अब आप वाञ्छित की प्राप्ति के लिये जाँय । अहो ! शौर्य की ही भाँति रावण का छलप्रपञ्च में चातुर्य है ।

लक्ष्मण—आर्य ! तो कपिसेनापति सुवेल पर्वत की तलहटियों में निवास करें । प्रातः लंका दुर्ग पर आक्रमण होगा ।

(नेपथ्य में महान् कलकल होता है)

लक्ष्मणः—किंपुनरयं भैरवाकारशङ्करकृतफेत्कारविकरालः कलकलः।

विभीषणः—(पुरोऽवलोक्य)

किञ्चिन्मृगाधिपमुखाय करीन्द्रवक्त्रं कुप्यल्लुलायवदनाय च वाजितुण्डम्।
आसेधयन् सपदि रात्रिचराननेन पर्येत्ययं दशभुजो ननु सिंहनादः॥ ८०॥

रामः—कथय कोऽयं सिंहनादो नाम।

विभीषणः—देव मान्दोदरेयो मेघनादावरजश्च समरसीमानमवतरति तेनायमन्ति मांसलः कलकलः।

रामः—(विहस्य) तदयमर्धं रावणस्य।

विभीषणः—अवयवसंख्यानेन। पराक्रमेण पुनर्द्विगुणो यतः–

दोर्दण्डोदञ्च्यमानाचलचलितभवस्तम्भनारम्भमज्ज-
द्बुध्नप्राग्भारभारान्निजभुजविपिनं कुर्वतो न्यञ्चदुच्चैः।
लङ्कानाथस्य नन्दिप्रभृतिषु दलयत्स्वङ्गमङ्गं महास्त्रै-
रेकं वेगादनेकेष्वपि रचितरणं सिंहनादं स्मरामि॥ ८१॥

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टः सिंहनादः)

सिंहनादः–(पुरोऽवलोक्य) कथमन्तरिततापसं वानरसेनापतिभिरभिमुखीभूतम्।

लक्ष्मण—भीषण रुद्र (या शृगाल) कृत फेत्कार के समान यह विकराल कल-कल शब्द क्यों हो रहा है ?

विभीषण—(सामने देखकर)

क्रुद्ध सिंह के मुख में हाथी का मुख और क्रुद्ध महिष के मुख में अश्व का मुख जोड़ता हुआ तथा राक्षसी मुख से गरजता हुआ यह दशभुजाओं वाला सिंहनाद आ रहा है॥ ८०॥

राम—बताओ यह सिंहनाद नाम का कौन प्राणी है ?

विभीषण—इन्द्रजित् का छोटा भाई मन्दोदरीपुत्र यह समरभूमि में उतर रहा है उसी का यह बड़ा कोलाहल है।

राम—(हँसकर) तो यह रावण का आधा है।

विभीषण—अवयव गिनने से आधा है। पराक्रम में दुगुना है क्योंकि—

हाथों से कैलास पर्वत को उठाने से विचलित शंकर के द्वारा दृढ़ता से स्थिर करने पर दब रहे वृक्षों के भार से दब रही अपनी बाहों को कुछ ऊँचा कर रहे रावण के अंग-प्रत्यंगों पर नन्दि प्रभृति गणों ने अस्त्रों से प्रहार किया पर सिंहनाद ने अकेले ही उन सबसे युद्ध किया॥ ८१॥

(तदनन्तर पूर्वोक्त रीति से सिंहनाद प्रवेश करता है)

सिंहनाद—(सामने देखकर) क्या वानर सेनापतियों से छिपे हुये तापस सामने आ गये।

रामः—किं पुनरयं पुरतोऽन्धकार इव।

कपित्थः—देव देवादेसमन्तरेणवि जम्बवन्तमुक्कवुक्काररवाइं हणुमन्तमन्त-परिसरिआइं विप्फुरिअभीमभुअदण्डाइं णित्थरन्ततारतारगलगज्जिदाइं छाआणि-ज्जिअपरिपिक्कफणसफलपणसपिसङ्गिअगअणङ्गणाइं सुसेणाहिट्ठिअसेणाणिवेसाइं णीलप्पहाणीलिअदसदिसन्तराइं वलीमुहकिलिकिलारअभरिददरोमुहाइं णलप्प-हावाणलदुज्जायाइं समुल्लसियकुमुदकन्तिकुमुअकित्तिसन्ताणाइं सिंहणादसंमुहमोत्थ-रिआइं णीसेसाइं वि वाणरवलाइं। [देवादेशमन्तरेणापि जाम्बवन्मुक्तबुक्काररवाणि हनूमन्मन्त्रप्रसृतानि विस्फुरितभीमभुजदण्डानि निस्तीर्यमाणतारतारगलगर्जितानि छायानिर्जितपरिपक्वपनसफलपनसपिशङ्गितगगनाङ्गणानि सुषेणाधिष्ठितसेनानिवेशानि नीलप्रभानीलितदशदिगन्तराणि वलीमुखकिलिकिलारवभरितदरीमुखानि नलप्रभावानल-दुर्जयानि समुल्लसितकुमुदकान्तिकुमुदकीर्तिसंतानानि सिंहनादसंमुखमवतीर्णानि निःशेषाण्येव वानरबलानि।]

दधित्थः—अथ युगपत्क्षुभितानि दशार्धसंख्यान्यपि सिंहनादमुखानि। ततश्च।

धूत्कारध्वनितं मृगेन्द्रवदनाद् दन्त्याननाद् बृंहितं
वंहिष्ठं च लुलायतुण्डकुहरक्रोडाज्जरद्रात्कृतम्।
जातं चार्वणवक्त्रकन्दरदरादेतस्य हेषारुतं
संख्ये कस्य भयोदयाय न वचो निर्यच्च रक्षोमुखात्॥ ८२॥

राम—यह सामने अन्धकार कैसा है?

कपित्थ—देव! आपकी आज्ञा के बिना भी जाम्बवान् से छोड़े गये बुक्का शब्द से युक्त, हनूमान् की मन्त्रणा से फैल रहे भीषण भुजदण्डों वाला, तार वानर के विस्तृत हो रहे तीव्र गर्जनों से युक्त, छाया से पक्के पनसफल को जीतने वाले, गगनाङ्गण के लाल किये हुये, सुषेण के द्वारा अधिष्ठित सेना-निवेशों वाले, नील वानर की प्रभा से दशों दिशाओं को नीलवर्ण की बनाये, वानरों के किलकिला शब्द से गुफाओं के भरने वाले, नल के प्रतापाग्नि से दुर्जय, प्रफुल्ल कुमुद-पुष्प की कान्तिवाले कुमुद वानर के यश से युक्त, सम्पूर्ण वानरी-सेना सिंहनाद के सम्मुख उतर गई है।

दधित्थ—सिंहनाद के पाचों मुख एक साथ ही क्षुब्ध हो गये और तब—

युद्ध में इसके सिंहमुख से धूत्कार शब्द हुआ, गजमुख से विस्तार हुआ, महिष-मुख की गुफा से जोर से द्राक् शब्द हुआ, अश्वमुख से हिनहिनाहट हुई तथा राक्षसमुख से वाणी निकली वह किसको भय उत्पन्न नहीं करते॥ ८२॥

कपित्थः—तदो देव णिविडभुअदण्डपीडणाविसट्टटङ्कारं कदुअ कोदण्डं तह वरिसिदुं पउत्तो वाणविट्ठिं वाणरविन्दे जहण सुरसुन्दरीविमुक्को कुसुमुक्केरो सुभटेसु णिवडइ। ण समरङ्गणगअं रेनुचक्कमङ्कमइ दिअन्तरालाइं। ण दिणअरकिरणवावारपअट्टोवि गयणमाणिक्कस्स पसरइ रहो [ततो देव ! निबिडभुजदण्डपीडनाविशदटङ्कारं कृत्वा कोदण्डं तथा वर्षितुं प्रवृत्तो बाणवर्षं वानरवृन्दे यथा न सुरसुन्दरीविमुक्तः कुसुमोत्करः सुभटेषु निपतति। न समराङ्गणगतं रेणुचक्रमाक्रामति दिगन्तराणि। न दिनकरकिरणव्यापारप्रकटोऽपि गगनमाणिक्यस्य प्रसरति रथः।]

सिंहनादः—(पुरोऽवलोक्य साट्टहासम्)

रे रे कृत्स्नाः प्लवगपशवः किं भवद्भिर्भवद्भिः
संग्रामाग्रे मम रणरसो लम्भितः सर्वभावम्।
यस्मिन् कस्मिन्न खलु समरे रोचकी सिंहनाद-
स्तन्मे रामं कथयत स हि श्रूयते वीरसिंहः ॥ ८३ ॥

कपित्थः—वाणवरिसपीडिअं विअ वाणरवलं पज्जाउलं जम्बुद्दीवाहिमुहं वट्टइ। [बाणवर्षपीडितमिव वानरबलं पर्याकुलं जम्बुद्वीपाभिमुखं वर्तते।]

सिंहनादः—(भूयो विलोक्य) किमेताभिर्विजिताभिरपि वानरकीटकोटिभिः। (हस्तानुद्दिश्य।)

हे पाणयो बिभृत पञ्च महाधनूंषि पञ्चापि येन युगपत्प्रतियोधयामि।
सुग्रीवमक्षदमनं च सहाङ्गदेन रामं च रामजयिनं सह लक्ष्मणेन ॥ ८४ ॥

कपित्थ—देव ! तदनन्तर कठिन भुजदण्डों के दबाव से धनुष पर कठोर टंकार कर कपि-सेना पर इस प्रकार वाण वरसाना प्रारम्भ किया जिससे देवाङ्गनाओं द्वारा छोड़ा गया पुष्प-समूह वीरों पर नहीं गिर पाता और समराङ्गण में उठी धूल दिशाओं में नहीं फैल पाती है तथा दिन को करने वाली किरणों के व्यापार को प्रकट करने वाला भी सूर्य-रथआगे नहीं बढ़ पाता।

सिंहनाद—(आगे देखकर अट्टहासपूर्वक)

रे रे समग्र वानरपशुओं ! तुम लोगों से क्या ? क्या युद्ध में मेरा रण-रस सभी प्रकार से तुष्ट हो गया ? (अर्थात् नहीं)। सिंहनाद युद्ध में जिस किसी के साथ प्रसन्न नहीं होता। तो मुझे राम को बताओ क्यों कि वह वीरसिंह सुना जाता है ॥ ८३ ॥

कपित्थ—वाण-वर्षा से व्याकुल वानरसेना जम्बूद्वीप की ओर भाग चली।

सिंहनाद—(पुनः देखकर) इन करोड़ों वानरकीटों को जीतकर क्या होगा ? (हाथों को लक्ष्य कर)

हे मेरी भुजाओं ! पाँच धनुषों को धारण करो जिससे अंगद के सहित सुग्रीव, अक्षकुमार मर्दनकारी हनूमान् एवं लक्ष्मण-सहित संग्राम जयी राम इन पाँचों के साथ एक साथ ही युद्ध कर सकूँ ॥ ८४ ॥

(भूयः पुरो विलोक्य साट्टहासं) कथं तेऽपि महावीरवानरसेनापतयोऽपि नश्यन्ति । (किञ्चिदुच्चैः)

सुग्रीवाङ्गदमैन्दनीलकुमुदप्रह्लादताराादयः
किं मुग्धाः स्थ निजान् गृहान् प्रति यथादृष्टेन याताध्वना ।
पातालार्पितशैलजालरचनारम्यक्रमोत्तम्भितो
नन्वास्ते विपुलः स वो जलनिधावद्यापि सेतुः स्थिरः ॥ ८५ ॥

रामः—वत्स लक्ष्मण ! किमेतत् ?

लक्ष्मणः—(सगर्वमग्रतो भूत्वा) रेरे विकृताकार दुराचार नृमांसकवलनदक्ष राक्षसापसदः किमिदमतिप्रगल्भमाभाषसे नन्वदृष्टवीरप्रकाण्डचरितचण्डिमाऽसि ।

सिंहनादः—(अनाकर्णितकेन वानरताडनं नाटयित्वा) रे रे कृत्स्नाः प्लवगपशव इत्यादि पठति ।

रामः—साधु सिंहनाद ! साधु न ह्रेपितस्त्वया वीरवर्गवरिष्ठो दशकण्ठः ।

सिंहनादः—

रामराम मयि मुञ्च सायकान् प्राक्प्रहाररुचिरेष रावणिः ।
येन ते चरममाशुदर्शयेच्छस्त्रतन्त्रमयमेतदम्बरे ॥ ८६ ॥

(पुनः सामने देखकर अट्टहास-सहित) क्या ये महान् वीर वानर-सेनापति भी भाग रहे हैं ? (कुछ जोर से)

हे सुग्रीव !, अंगद !, मैन्द !, नील !, कुमुद !, प्रह्लाद !, तार ! तुम लोग स्तब्ध क्यों हो ! अपने घरों को देखे हुए मार्ग से लौट जाओ । पाताल में गिराये गये शैल-समूहों की रचना से उठा हुआ बड़ा सा पुल अब भी समुद्र में स्थित है ॥ ८५ ॥

राम—वत्स लक्ष्मण ! यह क्या है ?

लक्ष्मण—(गर्व से आगे होकर) रे रे विकृत आकृति वाले दुराचारी, मनुष्य का मांस खाने में कुशल, नीच राक्षस ! यह अत्यन्त बढ़-बढ़ कर बातें क्यों कर रहे हो ? तूने महान् वीरों के प्रचण्ड चरित्रों की प्रचण्डता को नहीं देखा है ।

सिंहनाद—(न सुनते हुये से वानरों को मारना प्रदर्शित करते हुये) रे रे समस्त वानर पशुओं ! इत्यादि (७,८३) कहता है ।

राम—सिंहनाद तुम धन्य हो । वीरवर्ग में श्रेष्ठ रावण तुमसे लज्जित नहीं होगा ।

सिंहनाद—

हे रामः ! मुझ पर बाणों को छोड़ो । यह रावणतनय सिंहनाद पहले प्रहार (सहने) में रुचि रखता है जिससे यह आकाश में तुझे श्रेष्ठ शस्त्रतन्त्र को दिखाये ॥ ८६ ॥

रामः—(सधैर्यमवलोक्य विहस्य च)

धिग्धिङ्निशाचरपतिं शुकसारणौ धिङ्-
धिङ्मेघनादमथ धिग्दशराजपुत्रान् ।
यैस्त्वं विचित्रवपुषा चिरमीक्षणीयः
क्रूराशयैरुपहृतो रणदेवतायै ॥ ८७ ॥

सिंहनादः—राघव ! अति हि नाम दृप्यसि किं पुनर्दर्प्पकारणं किञ्चन ते चरितेषु व्रीडिताः स्मः ।

स्त्रीमात्रं ननु ताटका भृगुभवो रामश्च विप्रः शुचि-
र्मारीचो मृग एष भीतिभवनं वाली पुनर्वानरः ।
भोः काकुत्स्थ विकत्थसे कथय किं वीरो जितः कस्त्वया
दोर्दर्प्पस्तु तथापि ते यदि ततः कोदण्डमारोपय ॥ ८८ ॥

लक्ष्मणः—(विहस्य)

स्त्री ताटकास्तु तद्घाते गुर्वाज्ञा गुरुकारणम् ।
मारीचोऽप्यस्तु स मृगः क्षात्रं हि मृगयारसम् ॥ ८९ ॥

परशुरामब्राह्मणदमने शृणु सूक्तं वैतालिकस्य 'यो जम्भं जितवानि'त्यादि पठति । बालिविजये पुनरुपालभ्यसे ।

राम—(धैर्य के साथ देखकर और हँसकर)

रावण को धिक्कार है, शुक-सारण को धिक्कार है, मेघनाद को धिक्कार है, दश राज पुत्रों को धिक्कार है जिन क्रूरों ने विचित्ररूप वाले दर्शनीय तुझे रणदेवता के निमित्त उपहार कर दिया है ॥ ८७ ॥

सिंहनाद—राघव ! अत्यन्त गर्व कर रहे हो । दर्प का क्या कारण है ? तुम्हारे चरित से लज्जा आती है ।

ताड़का स्त्री थी, भृगुवंशी परशुराम पवित्र ब्राह्मण थे, मारीच मृग था, बाली डरपोक बानर था । हे राम बढ़-बढ़ कैसे बातें कर रहे हो, किस वीर को तूने जीता है ? यदि तुम्हें बाहुबल का दर्प है तो धनुष चढ़ाओ ॥ ८८ ॥

लक्ष्मण—(हँसकर)

ताड़का स्त्री रही पर उसके मारने में गुरु की आज्ञा बड़ा कारण था । मारीच भी मृग रहे पर क्षत्रियों को मृगया में आनन्द होता है ॥ ८९ ॥

ब्राह्मण परशुराम के दमन में वैताबिकका सूक्त सुनो–'जिन्होंने जम्भ को जीता' इत्यादि, बालिविजय के विषय तिरस्कृत हो रहे हो ।

रामः—

वाली वलीमुख इति ब्रुवता त्वयैव
लङ्कापतेर्मलिनितो यशसां प्ररोहः।
न्यूनाज्जयो यदिह लक्ष्म स चापि तेन
दोर्मूलपञ्जरशुको विहितः पिता ते॥ ९०॥

सिंहनादः—(सक्रोधम्) रेरे कुक्षत्रिय! तातमधिक्षिपसि तदेष शितमुखैः शिलीमुखैरवकीर्यसे।

रामः—(धनुरुद्यम्य) रेरे राक्षसपोत! त्वमपि प्रत्यवकोर्यसे। किन्तु लङ्कापुरी-गोपुरपरिसरवसुन्धरासु शरविक्षेपाद्दिदृक्षुपौरजना उद्विजिता भवन्ति तत् किञ्चि-दुपसृत्य समरसंरम्भमारभामहे।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

॥ इति असमपराक्रमो नाम सप्तमोऽङ्कः॥

राम—

बाली को वानर कहते हुये तूने लङ्कापति रावण के यशोविस्तार को मलिन कर दिया क्योंकि कमजोर से पराजय लोक में कलङ्क मानी जाती है क्यों उसने तुम्हारे पिता को बाहुमूलरूपी पिंजरे का शुक बना दिया था॥ ९०॥

सिंहनाद—(क्रोध के साथ) रे रे नीच क्षत्रिय! पिताजी पर आक्षेप कर रहे हो तो तीक्ष्ण बाणों से तुम्हें आच्छादित कर रहा हूँ।

राम—(धनुष उठाकर) रे रे राक्षस बालक! तुम पर बाण जा रहे हैं किन्तु लंकापुरी के मुख्य द्वार के पास की पृथ्वी पर बाण चलाने से दर्शक नागरिक उद्विग्न होंगे तो कुछ हटकर लड़ें।

(सभी निकल जाते हैं)

असमपराक्रम नामक सातवां अङ्क समाप्त हुआ॥ ७॥

अष्टमोऽङ्कः

अतः परं वीरविलासो भविष्यति

(ततः प्रविशतो राक्षसौ)

एकः—सखे दुर्मुख ! किमपि महान् सत्त्वभ्रंशो रावणस्य यत्कुमारसिंहनादवधमप्याकर्ण्य न शोकः कृतो नाप्यमर्षः केवलमेकं तुलाद्यूतं प्रवर्त्तितं तत्र च लङ्काधिपत्यं सीतापहारिता न पुनरर्पिता ।

दुर्मुखः— अज्ज सुमुह सामिणीए तिअडाए समादिदं जह गच्छह अङ्गदणरन्तयाणं एक्कतुलं पेक्खह जेण तुह्ममुहादो सुणिअ सीदादेवीए णिवेदइस्सं ता दुवे वि अह्मे गदत्ति एत्तिअमहं जाणामि ण उण कारणं ता कहीअदु जहा पडिवण्णम् ।
[आर्य सुमुख ! स्वामिन्या त्रिजटया समादिष्टं यथा गच्छतं अङ्गदनरान्तकयोरेकतुलां प्रेक्षेथां येन युष्मन्मुखात् श्रुत्वा सीतादेव्यै निवेदयिष्यामि तद्द्वावप्यावां च गतावित्येतावदहं जानामि न पुनः कारणं तत् कथ्यतां यथा प्रतिपन्नम् ।]

सुमुखः—परं लङ्केश्वरेण शुकसारणौ प्रहितौ दाशरथिमभिधातुमभिहितं च ताभ्याम् ।

इसके बाद वीर विलास नामक अङ्क होगा

(तदनन्तर दो राक्षस प्रवेश करते हैं)

पहला—सखे दुर्मुख ! रावण का महान् सत्त्व नाश हो गया है जो कुमार सिंहनाद के वध को सुनकर भी न तो शोक ही किया और न अमर्ष ही । केवल एक तुलाद्यूत प्रवर्तित किया है जिसमें एक ओर तो लङ्का का आधिपत्य है तथा दूसरी ओर सीतापहरण । सीता को उन्होंने लौटाया नहीं ।

दुर्मुख—आर्य सुमुख ! स्वामिनी त्रिजटा ने आज्ञा दी है कि जाकर अङ्गद और रावण पुत्र नरान्तक के सादृश्य (तुलाद्यूत) देखो जिससे तुम्हारे मुख से सुनकर सीता देवी से कहूँ । अतः हम दोनों चले गये—मैं इतना ही जानता हूँ, कारण नहीं जानता । तो बताओ जो हुआ हो ।

सुमुख—लङ्केश्वर ने शुक और सारण को राम से कहने के लिये भेजा था और उन दोनों ने जाकर कहा—

वक्त्राम्भोजार्चनाभिः फलमभिलषितं हेलया यस्य लिप्सोः
सोत्कण्ठं कण्ठकाण्डेष्वहमहमिकया खड्गधाराग्रगेषु ।
स्त्रीति त्यक्तप्रणामप्रकुपितगिरिजाकृष्टवामार्धपाणि-
स्तोषादस्तान्यहस्ता झटिति न घटिता शाम्भवी काललीला ॥ १ ॥

स निशाचरचक्रवर्ती त्वामाह यदुत किमखिलवानरराक्षसक्षयकरेण संग्रामेण तदेकं तुलाद्यूतं प्रवर्तयावः । तत्र च

त्वत्काङ्कारविजये तव राम लङ्का सीता च ते पुनरियं भवतोऽस्तु दाराः ।
मत्काङ्कारविजये तु ममाधिपत्यं तस्यां च ते पुरि कलत्रजने च तत्र ॥२॥

दुर्मुखः –तदोतदो [ततस्ततः ।]

सुमुखः—ततश्च हासलवलाञ्छिताधरमुद्रेण रामभद्रेणाभिहितं यदाह द्रुहिण-प्रणप्ता । किं पुनरावयोरङ्ककारत्वमुचितं ययोरन्तरङ्गोऽभियोगः ।

दुर्मुखः—तदोतदो । [ततस्ततः ।]

सुमुखः—ततश्च निरुपमानरामपराक्रमशङ्किताभ्यामुक्तं शुकसारणाभ्यां यदुत महानायकयोर्नायं क्रम इति कुम्भकर्णाग्रजस्त्वामिदमाह ।

लीलापूर्वक मुखकमलों की पूजा द्वारा अभीष्ट फल की कामना वाले रावण के कण्ठों द्वारा अहमहमिकापूर्वक आगे आने पर अर्थात् कटने पर तथा गिरिजादेवी को स्त्री समझकर प्रणाम न करने पर क्रुद्ध गिरिजा द्वारा बाँया हाथ वर प्रदान करने में हटा लेने पर तथा सन्तुष्ट होने से वरदान के निमित्त दक्षिण हाथ के उठाये जाने पर शंकर की काललीला सद्यः न हो सकी । भाव यह है कि अर्द्धनारीश्वर रूप में बायाँ हाथ तो पार्वती के रुष्ट होने से उठ न सका और दाहिना हाथ शंकर के तुष्ट होने से वरदान के निमित्त उठ गया ॥ १ ॥

वह निशाचरराज तुमसे कहता है कि समस्त वानरों और राक्षसों के क्षयकारी संग्राम से क्या ? वे एकमात्र तुलाद्यूत को करें जिसमें—

तुम्हारे द्वारा निर्दिष्ट के विजय होने पर हे राम ! तुम्हारी लंका हो जायेगी और यह सीता भी तुम्हारी पत्नी हो जायेगी और मेरे द्वारा निर्दिष्ट व्यक्ति के विजयी होने पर तुम्हारी नगरी और सभी पर मेरा आधिपत्य होगा ॥ २ ॥

दुर्मुख—तब क्या हुआ ?

सुमुख—तब ईषित् हास्य युक्त अधरमुद्रावाले रामभद्र ने कहा कि ब्रह्मा के प्रपौत्र ने जैसा कहा वही हो । पर क्या जिन हमदोनों का सहायबहुल युद्ध व्यापार है उनकी अङ्गीकृत व्यक्ति से युद्ध ठीक है ?

दुर्मुख—तब क्या हुआ ?

सुमुख—तब राम के निरुपम पराक्रम से शंकित शुक-सारण नें कहा कि कुम्भकर्ण के अग्रज ने तुमसे कहा है कि महान् नायकों की यह पद्धति नहीं है ।

दुर्मुखः—तदोतदो । [ततस्ततः ।]

सुमुखः—ततश्च सौमित्रिसुग्रीवविभीषणजाम्बवदाञ्जनेयप्रभृतिभिर्निषिद्धेनापि तथेत्यभ्युपगम्याङ्ककारीकृतः कुमारोऽङ्गदो रघूद्वहेन निजपुत्रो नरान्तकस्तु लङ्केश्वरेण ।

दुर्मुखः—भोः किं पुण णियभुअदण्डमण्डलीपरक्कमे अणासंसा देवस्स जेण णरन्तअवाहुसु समारोविअं लङ्कारज्जम् । [भोः किं पुनर्निजभुजमण्डलीपराक्रमे नाशंसा देवस्य येन नरान्तकबाहुषु समारोपितं लङ्काराज्यम् ।]

सुमुखः—असमञ्जसकारितायां किमुच्यते स्वामी । किञ्च ।

मृत्युं यदैव गमितो युधि सिंहनादः
शक्तिर्यदेव च वृथा भरताग्रजेऽभूत् ।
सीतार्पणं नृपसुताय तदैव युक्तं
मोहस्तु तत्र रजनीचरकालरात्रिः ।। ३ ।।

दुर्मुखः—जुवराअमेहणादस्स उण का वत्ता । [युवराजमेघनादस्य पुनः का वार्ता ।]

सुमुखः—

यद्बद्धो नागपाशैः प्रचुरतमतमःश्यामले रात्रिमध्ये
यद्युद्धं यन्नभस्तः शरपतनविधिर्मायया छन्नमूर्तेः ।
यद्भक्तिर्मन्त्रजिह्वे प्रसरति च रथं नित्यजैत्रं सुवाने
तन्मन्ये मेघनादोऽप्यनुभवति भयं राघवाद् गुप्तमन्तः ।। ४ ।।

दुर्मुख—तब क्या हुआ ?

सुमुख—तब लक्ष्मण, सुग्रीव, विभीषण, जाम्बवान्, हनूमान् प्रभृति वीरों के मना करने पर भी राम ने अङ्गद को प्रतिनिधि बनाया और अपने पुत्र नरान्तक को रावण ने प्रतिनिधि बनाया ।

दुर्मुख—क्या अपने भुजाओं के पराक्रम पर रावण को जयकी आशा न थी जो उसने नरान्तक की बाहों पर लंका का राज्य आरोपित किया ?

सुमुख—स्वामी के अनुचित कर देने पर क्या कहा जाय ? जब युद्ध में सिंहनाद की मृत्यु हो गयी और रावण की शक्ति राम पर व्यर्थ हो गयी उसी समय रावण को सीता दे देनी चाहिये थी । पर यदि उस विषय में मोह है तो राक्षसों की यह कालरात्रि है ।।३।।

दुर्मुख—युवराज मेघनाद का क्या समाचार है ?

सुमुख—जो राम नागपाश से बांधे गये, अत्यन्त तमस् से काली रात्रि में जो युद्ध हुआ, माया से छिपी मूर्तिवाले ने जो आकाश से शरवर्षा की और नित्य जयशील रथ के प्रसरण के निमित्त जो अग्नि में मेघनाद की भक्ति है उससे मालूम पड़ता है कि मेघनाद भी राम से अन्तःगुप्त भय अनुभव कर रहा है ।। ४ ।।

अपि च—

लङ्का दुर्गं जलधिपरिखादुर्गमं राक्षसेन्द्र-
स्तस्याः स्वामी सुरजनवधूचामरैर्वीज्यमानः।
रामः शाखामृगपरिगतो मानुषस्तद्विपक्ष-
स्तत्रैतस्मिन् जयविधिरिति व्रीडया नः कलङ्कः॥ ५॥

दुर्मुखः—जं णिम्मलमदिचक्खुणो पेक्खन्ति तं दिडं अज्जसुमुहेण। [यन्निर्मलमतिचक्षुषः पश्यन्ति तद् दृष्टमार्यसुमुखेन।]

सुमुखः—अलममुना राक्षसविरुद्धकथानुबन्धेन यथादिष्टमेव कुर्वः। (उभौ परिक्रामतः)।

दुर्मुखः—एसा सामिणो तिअडा अह्मे पडिवालअन्ती चिठ्ठइ ता एहि उवसप्पह्म। [एषा स्वामिनी त्रिजटाऽऽवां प्रतिपालयन्ती तिष्ठति तदेह्युपसर्पावः। (तथा कुरुतः।)

(ततः प्रविशति त्रिजटा)

त्रिजटा—(सौत्सुक्यमालोक्य) हंहो दुम्मुह सुमुह तुरिअं उवसप्पह णिवेदेह जुज्झउत्तन्तम्। [हंहो ! दुर्मुख ! सुमुख ! त्वरितमुपसर्पतं निवेदयतं युद्धवृत्तान्तम्।] (उभौ प्रणम्योपविशतः।)

और—

समुद्र की परिखा से दुर्गम लंका का दुर्ग है और देवस्त्रियों के चामर से हवा खाने वाला रावण उसका स्वामी है और उसका शत्रु बन्दरों से घिरा मनुष्य राम है तथा (ऐसे) उस (राम) के जय का उपाय हो यह राक्षसों के लिये लज्जाजनक कलङ्क है॥ ५॥

दुर्मुख—जो निर्मल मति रूपी आँखवाले देखते हैं। उसे आर्य सुमुख ने देख लिया।

सुमुख—इस राक्षसों कीं विरुद्ध कथावर्णना से क्या लाभ ? जैसा आदेश है वैसा करें। (दोनों घूमते हैं)

दुर्मुख—यह स्वामिनी त्रिजटा हम लोगों को बाट ढूंढ रही है तो आवो इसके पास चलें। (वैसा करते हैं)

(तदनन्तर त्रिजटा प्रवेश करती है)

त्रिजटा—(उत्सुकता से देखकर) हे दुर्मुख ! हे सुमुख ! जल्दी आओ और युद्ध का वृत्तान्त बताओ (दोनों प्रणाम कर बैठ जाते हैं)

सुमुखः—स्वामिनि त्रिजटे ! लङ्कापुरीं पूर्वेण सुवेलाचलं च पश्चिमेन उभयतो मञ्चः परिमितप्राकारपरिष्कृतः स्तोकसमुन्नतः समुन्नतसमस्तजनप्रेक्षणीयो रत्नाक्षवाटे कारितो राक्षसराजेन तत्र च प्राच्यमञ्चाधिरूढे ससौमित्रिसुग्रीवविभीषणे रामे नीलाधिष्ठिते च वानरबले प्रतीच्यमञ्चाधिरूढे च सशुकसारणे दशकण्ठे प्रहस्ताधिष्ठिते च राक्षसबले गगनाङ्गणगतासु च वीरजनचरितकुतूहलिनीषु सुरसुन्दरीषु ताडितमल्लभटीतूर्यौ माङ्गल्यकलशानुगतौ निशितकृपाणपाणी प्रविष्टावङ्कारौ । ततश्च ।

रत्नत्रिकङ्कणविभूषितदोःप्रकाण्डं श्रीखण्डपाण्डुरितदेहभरं च रूपम् ।
युद्धाङ्गणेङ्गदनरान्तकयोर्निरीक्ष्य चक्षुर्निमेषविमुखं स्तुतमप्सरोभिः ।। ६ ।।

त्रिजटा—तदोतदो । [ततस्ततः ।]

दुर्मुखः—तदो अ समोत्तीरिअ मञ्चादो णीलपहत्थेहिं सेणावइहिं कट्टिएसु अन्तरदण्डेसु णिरइआलीढपाआ दोवि संमुहं संठिआ अङ्कआए पउत्ता अ रणमण्डले मण्डलीये भमिउं । [ततश्च समुत्तीर्य मञ्चात् नीलप्रहस्ताभ्यां सेनापतिभ्यां कृष्टयोरन्तरदण्डयोर्निरचितालीढपादौ द्वावपि संमुखं संस्थितावङ्कारौ प्रवृत्तौ च रणमण्डले मण्डल्या भ्रमितुम् ।]

त्रिजटा—तदोतदो । [ततस्ततः ।]

सुमुख—स्वामिनि त्रिजटे ! लङ्कापुरी के पूर्व तरफ तथा सुवेल पर्वत के पश्चिम ओर रत्न-वेष्टित व्यायामभूमि में सीमित वेष्टनों से वेष्टित थोड़ा ऊँचा मंच बनाया है जिसे ऊँचे कद के सभी व्यक्ति देख सकते हैं । तब वानर-सेना के सेनापति नील के होने पर तथा लक्ष्मण और सुग्रीव-सहित राम के पूर्वी मञ्च पर बैठने पर तथा प्रहस्त के अधीन राक्षस-सेना के होने पर तथा शुक और सारण-सहित रावण के पश्चिमी मञ्चपर बैठ जाने पर तथा वीरजनों के चरित्र को देखने की उत्सुक सुराङ्गनाओं के आकाश में आ जाने पर वीरों के तुरही को बजाते हुए तथा मंगल-कलश से अनुगत एवं हाथ में तीक्ष्ण-तलवार लिए हुए प्रतिनिधि बने अङ्गद तथा नरान्तक युद्धभूमि में आये और तब—

युद्धाङ्गण में रत्न के तीन कंकणों से जिनकी दोनों प्रशस्त भुजायें अलंकृत हैं तथा चन्दन के विलेपन से जिनका शरीर धवल है ऐसे अङ्गद और नरान्तक के रूप को निर्निमेष दृष्टि से देखकर अप्सरायें स्तुति करने लगीं ।। ६ ।।

त्रिजटा—तब क्या हुआ ?

दुर्मुख—तदन्तर नील और प्रहस्त के द्वारा खींचे गये दण्डों बीच बने अवलीढ नामक अवस्थान के द्वारा निविष्ट पैर वाले प्रतिनिधिभूत संमुख खड़े दोनों रणमण्डल में मण्डली से चक्कर काटने लगे ।

त्रिजटा—तब क्या हुआ ?

दुर्मुखः—तदो अ ताणं विविहं वग्गन्ताणं उपरि ताडणे णमन्ताणं तलताडणे उप्पयताणं अणवरअपहारपरम्परं पेसअंताणं पेसिअं पडिच्छन्ताणं दिट्ठिं वञ्चअन्ताणं अरक्खिअमग्गं रक्खिन्ताणं अण्णदो दंसिअ अण्णदो पहरन्ताणं संभरिआसेसधीरत्तणेण वंसविसेसं छुरिआजुअलं उज्झिअ अण्णुण्णमाहरन्ताणं पयट्टं तं जुज्झ। [ततश्च तयोर्विविधं वल्गतोरुपरि ताडने नमतोस्तलताडन उत्पततोरनवरतप्रहारपरम्परां प्रेषयतोः प्रेषितं प्रतीच्छतोर्दृष्टिं वञ्चयतोररक्षितमङ्गं रक्षतोरन्यतो दर्शयित्वाऽन्यतः प्रहरतोः संभृताशेषधीरत्वेन वंशविशेषं छुरिकायुगलमुत्क्षिप्यान्योन्यमाहरतोः प्रवृत्तं तद् युद्धम्]

त्रिजटा—तदोतदो। [ततस्ततः]

सुमुखः—

चारी सुचित्रपदता स्थिरता च दृष्टेः
क्रान्तिर्भुवः प्रहृतियोजनवञ्चनेन ।
सर्वाङ्ककाररणकर्मणि मात्रिकेय-
मुत्कीर्य तत्र समये कथितेव ताभ्याम् ॥ ७ ॥

अपि च—

यथायथा प्रहरति वालिनन्दनस्तथातथा हरिहरिभिः स्थितं मुदा ।
यथायथा प्रहरति रावणात्मजस्तथातथा किलिकिलितं च राक्षसैः ॥ ८ ॥

दुर्मुख—तब उन दोनों का ऐसा युद्ध प्रारम्भ हुआ जिसमें वे विविध भाँति के व्यवहार करते थे, ऊपर प्रहार करते समय झुक जाते थे, नीचे प्रहार करते समय ऊपर उठ जाते थे, अनवरत प्रहार करते थे, किये गये प्रहार को ग्रहण करते थे, दृष्टि की वञ्चना करते थे, अरक्षित अंग की रक्षा करते थे, दूसरी ओर दिखाकर दूसरी ओर प्रहार करते थे, अत्यन्त घोरता से वंश विशेष की रक्षा करते थे तथा दो छुरों को उठाकर अन्यान्य पर प्रहार करते थे ।

त्रिजटा—तब क्या हुआ ?

सुमुख—पदविक्षेप में चातुर्य से चलना, दृष्टि की स्थिरता तथा वञ्चना करके प्रहार के द्वारा युद्ध-भूमि पर चलना-सभी अङ्ककारों के रण में इतने ही नियम हैं यह आचरित करते हुये उन दोनों ने इसे प्रदर्शित कर दिया ॥ ७ ॥

तथा—जब-जब बालिनन्दन अङ्गद प्रहार करते थे तब-तब हरि (राम या कपि-सुग्रीव) के वानर प्रसन्न हो उठते थे और जब-जब रावण-पुत्र नरान्तक प्रहार करता था तब-तब राक्षस किलकारियाँ करते थे ॥ ८ ॥

त्रिजटा—तदोतदो [ततस्ततः ।]

दुर्मुखः—तदो अ ताणं णिब्भरं पअट्टे समरसंघट्टे चरणेण चरणमप्फलिअ दरणभन्तस्स णरन्तअस्स रोमञ्चणिविडरअणाङ्गदेणाङ्गदेण कन्धराकण्डबुद्धबन्धे खित्ता छुरिया उट्ठिदो अ खेडासंखोहो वाणरवले। जायाइं अ मउलन्तकमलमण्डलच्छायाइं रावणबयणाइं। वञ्चिअणिसाअरलोअलोअणं परोप्परदिण्णहत्थआलं च पहसिआऊं अच्छराऊं। खरसमीरणमूलिअफुल्लपालिभद्दुम्मो विअ पहारविवसो समं णिसाअरीणअणिन्दीवरणीरन्धणीरधाराहिं धरणिं गऊं रावणङ्कआरो [ततश्च तयोर्निर्भरं प्रवृत्ते समरसङ्घट्टे चरणेन चरणमास्फाल्य दरनमतो नरान्तकस्य रोमाञ्चनिबिडरत्नाङ्गदेनाङ्गदेन कन्धराकाण्डबुध्नबन्धे क्षिप्ता क्षुरिका। उत्थितश्च क्ष्वेडासंक्षोभो वानरवले। जातानि च मुकुलायमानकमलमण्डलच्छायानि रावणवदनानि वञ्चितनिशाचरलोकलोचनं परस्परदत्तहस्ततालं च प्रहसिता अप्सरसः। खरसमीरणोन्मूलितफुल्लपारिभद्रद्रुम इव प्रहारविवशः समं निशाचरीनयनेन्दीवरनीरन्ध्रनीरधाराभिर्धरणीं गतो रावणाङ्ककारः।]

त्रिजटा—हा वछ कहिं सि देहि मे पडिवअणं भद्द कहेसु कीदिसी उअ णरन्तअवहे देवाणं मुहच्छाया आसि। [हा वत्स ! क्वासि देहि मे प्रतिवचनं। भद्र ! कथय कीदृशी पुनर्नरान्तकवधे देवानां मुखच्छायाऽऽसीत्।]

सुमुखः—यादृशी प्रतिपक्षपराभवे सति भवति। स्वामिनि त्रिजटे! कथं कथ्यते देवतापक्षपातः क्षत्रियकुमारे विजेतरि तत्र। यद्वा को नाम धर्मविनयिनि जने न स्निह्यति। यतः —

त्रिजटा—तब क्या हुआ ?

दुर्मुख—चरण से चरण बजा कर उन दोनों के निर्भर युद्ध प्रारम्भ होने पर ईषत् नम्र हो रहे नरान्तक के ग्रीवा स्कन्ध के मेल में जिनके रत्न का अङ्गद सटने से रोमाञ्च हो रहा था ऐसे अङ्गद ने छुरी से प्राहार किया। वानर-सेना में हर्ष निनाद हो उठा। रावण के मुख बन्द हो रहे कमलों के समान हो गये। राक्षसों की आँख बचाकर ताली बजाती हुई अप्सरायें हँसने लगीं। तेज वायु से तोड़े गये प्रफुल्लित पारिभद्र वृक्षकी भाँति राक्षसियों की आँखों के आसुओं के साथ ही रावण का प्रतिनिधि पृथ्वी पर गिर पड़ा।

त्रिजटा—हा भद्र ! कहाँ हो ? मेरा जवाब दो। बताओ नरान्तक का वध होने पर देवताओं की मुख की छाया कैसी थी ?

सुमुख—स्वामिनी त्रिजटे ! जैसा शत्रु के पराजय पर होती है। उस क्षत्रिय बालक की विजय पर देवताओं का पक्षपात कैसे कहा जाय ? अथवा धर्म से जीतने वाले व्यक्ति पर किसका स्नेह नहीं होता ! क्योंकि—

हर्षादेकं नयनमुशना नेत्रयुग्मानि देवा-
स्त्रीण्यक्षीणि त्रिपुरविजयी पद्मसद्माऽष्टदृष्टीः ।
चक्षुःषट्कं द्विगुणगुणितं शाङ्करिर्दक्सहस्रं
नीत्वोल्लासं स च सुरपतिर्दृष्टवान् बालिपुत्रम् ॥ ९ ॥

त्रिजटा—तदोतदो अज्जदसकण्ठेण किं पडिवण्णं । [तत आर्यदशकण्ठेन किं प्रतिपन्नम् ।]

सुमुखः—इदमभिहितम् ।

मा भङ्गसङ्गमवयच्छ नरान्तकस्य जातः पराङ्मुखगतिर्न पुरा सुरेशः ।
तत्सांप्रतं भवतु तत् पुनराजिकर्म साधारणं यदिह वानरराक्षसानाम् ॥ १० ॥

त्रिजटा—कहं अज्जेण दिण्णो जलञ्जली लज्जादेवीए तदोतदो । [कथम् आर्य्येण दत्तो जलाञ्जलिर्लज्जादेव्यै । ततस्ततः ।]

सुमुखः—ततश्च सविभीषणहस्ततालं हसति रामदेवे कुम्भकर्णप्रबोधनाय निकुम्भिलानिर्गतस्य च मेघनादस्य समाह्वानाय शुकसारणौ प्रेष्य लङ्कामेव प्रविष्टो देवः ।

त्रिजटा—ता गच्छह वुत्तन्तरं उअलहिउं अहं वि सीआदेवीए पिअणिवेदिआ भविस्सम् । [तद् गच्छतं वृत्तान्तरमुपलब्धुम् । अहमपि सीतादेव्यै प्रियनिवेदिका भविष्यामि ।]

(इति निष्क्रान्ताः)

शुक्राचार्य ने अपने एक नेत्र, देवों ने दो नेत्रों, शंकर ने तीन नेत्रों, ब्रह्मा ने आठ नेत्रों, षडानन ने बारह नेत्रों तथा इन्द्र ने एक सहस्र नेत्रों को हर्ष से उल्लसित कर बालिपुत्र अङ्गद को देखा ॥ ९ ॥

त्रिजटा—तब आर्य रावण ने क्या किया ?

सुमुख— यह कहा—

नरान्तक के गिरने से युद्ध को मत छोड़ो । पहले इन्द्र हार कर भी युद्ध से पीछे नहीं हटा था । अब बानर और राक्षसों का सामान्य युद्ध-कर्म पुनः हो ॥१०॥

त्रिजटा—आर्यने लज्जादेवी को जलाञ्जलि दे दी । तब क्या हुआ ?

सुमुख—विभीषण के द्वारा ताली बजाने के साथ ही रामभद्र के हँसने पर निकुम्भिला में गये मेघनाद को बुलाने के निमित्त शुक सारण को भेजकर कुम्भकर्ण को जगाने के लिये महाराज रावण लङ्का में चले गये ।

त्रिजटा—तो दूसरे वृत्तान्त को जानने के लिये तुम दोनों जाओ । मैं भी सीतादेवी से प्रिय निवेदन करूँ ।

(सब निकल गये)

(मिश्रविष्कम्भः)

(ततः प्रविशति सुप्तोत्थितो रावणः । पार्श्वयोर्द्वौ द्वौ परिचारराक्षसौ प्रतीहारी च ।)

प्रतीहारी—(स्वगतम्) अहो अवत्थादिरेओ दशकण्ठदेवस्स जेण इमस्सिं एव्व केलिविमाणाहिट्ठाणे रअणट्टालए पओसावीपच्चूसं जाव रअणीरणं वेक्खिअ वासर-समरसंरम्भदंसणसुवत्तणेण ट्ठिदोवि इसिणिद्दामुद्दिअणअणन्दीवरवणो किंवि किंवि चिन्तअन्तो चिट्ठइ । [अहो अवस्थातिरेको दशकण्ठदेवस्य येनास्मिन्नेव केलिविमाना-धिष्ठाने रत्नाट्टालके प्रदोषाधिप्रत्यूषं यावत् रजनीरणं प्रेक्ष्य वासरसमरसंरम्भदर्शनोत्सु-कत्वेन स्थितोऽपीषन्निद्रामुद्रितनयनेन्दीवरव्रणः किमपि किमपि चिन्तयन् तिष्ठति ।]

रावणः—भद्रे वेत्रवति ! यो यत्र परमभिज्ञः स तेन सुतरामावर्ज्यते । यद्विभाव-रीसमरसंमर्दव्यतिकरेण वयमपि विस्मायिताः । (विशेषस्मृतिनाटितकेन)

प्रेयान् मे दन्तिदन्तप्रवसदसुरयं वल्लभो मे विपक्षं
कुन्तप्रोतोऽपि योऽयं सरति मम रुचिस्ताण्डवी यत्कबन्धः ।
अत्रास्मत्प्रेमबद्धं भ्रुकुटिमुखमिदं यस्य लूनेऽपि कण्ठे
स्वःस्त्रीणां नक्तमाजाविति वरवरणे तोषिताः के न वाग्भिः ॥११॥

(ऊर्ध्वमवलोक्य) किमयमतिसत्वरः सुरजनसमाजः । शङ्के कतिपययातुधान-वधात्तापसं प्रति संप्रति प्रीयते (सक्रोधम्)

(मिश्र विष्कम्भक समाप्त हुआ)

(तदन्तर सोकर उठा हुआ रावण और उसके पार्श्वों में दो-दो सेवक राक्षस तथा प्रतीहारी प्रवेश करते हैं)

प्रतीहारी—(स्वगत) महाराजा-रावण-की कैसी दशा है कि क्रीडापुष्पकविमान ही जिस में बैठने का स्थान है ऐसे रत्ननिर्मित प्रासाद में बैठ कर सायं से प्रातः तक रात्रि युद्ध देखने के लिये उत्सुक होकर बैठे हुए कुछ-कुछ ऊँघते हुये सोच रहे हैं !

रावण—भद्रे वेत्रवति ! जो जिसमें परम जानकार होता है उससे अत्यन्त आसक्त होता है क्योंकि रात्रि के युद्ध-व्यापार के सम्बन्ध में हमलोग अत्यन्त विस्मित हो गये हैं । (विशेष रूप से स्मरण प्रदर्शित करते हुये)

हाथी के दाँत के प्रहार से जिसके प्राण निकल रहे हैं यह वीर मेरा प्रिय हैं, यह जो कुन्त नामक अस्त्र से विद्ध होने पर भी शत्रुपक्ष की ओर बढ़ रहा है वह वीर मेरा प्रिय है, जिसका कवन्ध ताण्डव कर रहा है वह मेरा प्रिय है, जिसका कण्ठ कट जाने पर भी मुख में भ्रुकुटि वक्र है उसमें मेरा प्रेम है—इस रात्रि-युद्ध में वर-वरण करने वाली सुराङ्गनाओं के इस वचनों से कौन तुष्ट नहीं हुआ ॥११॥

(ऊपर देखकर) यह देव-समाज अत्यन्त शीघ्रता में क्यों हैं । मालूम पड़ता है कुछ राक्षसों के मारे जाने से तपस्वी के प्रति ये प्रेमयुक्त है (क्रोधसे)

हर्षोत्कर्षः किमयममराः क्षुद्ररक्षोवधाद्व-
स्तन्मे दोष्णां विजितजगतां विक्रमं बिस्मृताः स्थ।
किञ्चाद्यैव प्रियरणरसो बोध्यते कुम्भकर्ण-
स्तूर्णं जेता स च दिविषदां बोध्यते मेघनादः ।। १२ ।।

प्रतीहारी—अवसरसंतोसणिज्जो सामिजणोत्ति चिन्तअन्ता उच्चावचसंचारिणो सुरसंघादा देवं एव्व सेवन्ति। [अवसरसंतोषणीयः स्वामिजन इति चिन्तयन्त उच्चावचसंचारिणः सुरसंघाता देवमेव सेवन्ते।]

(नेपथ्ये) हंहो लङ्काउरीपाआरपालआ अदिक्कन्तजामिणीजुज्झजणिअं बलीमुहवलविद्धसणं पडिकरेह उत्तम्भेह विहिदुम्मूलुणाइं तोरणाइं अगाहीकरेह रिक्खरक्खसवाणरकरङ्कसंछाइअं परिहं समीकरेह विहडिहकांचणसिलालिओ पओलिओ पुण णवीकरेह मन्दुकियं कटक्कियं सज्जेह भग्गं पाआरखण्डिमग्गं एअं पि किं ण पेक्खह डालिअं अट्टालिअं विहडिअं अरण्डिआपखण्डं जज्जरिअं जन्तसंताणं णिउंचिआओ कंचणीयाओ ताव परिकरेह स्वेवणिआइं सज्जह मज्जवसातेल्लाइं आणेध आवट्टिअपरिक्खेवणिज्जओ आणेह सिज्जरससित्थजदुजादीओ णिअडेह पवेसपज्जोलणिज्जइं खोमसणकप्पासपट्टसुत्ततसरतन्तुसंताणाइं विरएह कीलिआकड्ढणपाडणिज्जं गोउरदूवारं ढोएह विविहपहरणसण्णाहदससहस्साइ। [हंहो लङ्कापुरीप्राकारपालका अतिक्रान्तयामिनीयुद्धजनित बलीमुखबलविध्वंसनं प्रतिकुरुत। उत्तम्भयत विहितोन्मूलनानि तोरणानि। अगाधीकुरुत ऋक्षराक्षसवानरकरङ्कसंछादितां परिखाम्। समीकुरुत विघटितकाञ्चनशिलालीः प्रतोलीः। पुनर्नवीकुरुत मन्दीकृतं कण्टकिद्वारम्। सज्जयत भग्नं प्राकारखण्डीमार्गम्। एतदपि किं न पश्यथ। दोलितम् अट्टालिकं विघटितं वरण्डिकाप्रखण्डं जर्जरितं यन्त्रसंतानं निकुञ्चिताः काञ्चनिकाः। तावत् प्रति-

---

हे देवो! क्षुद्र राक्षसों के वध से तुम्हें यह हर्ष कैसा हो रहा है। संसार को जीतते वाली मेरी बाहों का पराक्रम तुम भूल गये? और क्या रण-प्रेमी कुम्भकर्ण आज ही जगाया जा रहा रहा है और देवजेता मेघनाद शीघ्र ही बुलाया जाता है ।।१२।।

प्रतीहारी—स्वामी को समय पर सन्तुष्ट करना चाहिये यह सोचकर सर्वत्र घूमने वाला देवसमूह आप की ही सेवा कर रहे हैं।

(नेपथ्य में) हे लङ्कापुरी के चहारदीवारियों के रक्षको! बीते हुये रात्रि-युद्ध में वानर-सैन्य के किये गये विमर्द का प्रतिकार करो। उखाड़े गये तोरणों को उठाओ। ऋक्ष-राक्षस और वानरों की अस्थियों से भरी गई खांइयों को गहरी करो। जिनकी स्वर्ण-शिला-श्रेणियां तोड़ दी गई है ऐसी गलियों को समतल करो। ढीला किये गये कण्टक द्वार को नया करो। तोड़े गये प्राकार-मार्गों को ठीक करो। यह क्यों नहीं देखते? अट्टालिकायें हिला दी गई, वराण्डा तोड़ दिये गये, मशीनें बिगड़ गई, स्वर्णनिर्मित क्रीडा

कुरुत क्षेपणीयानि, सज्जयत मज्जावसातैलानि, आनयतावर्त्तितपरिक्षेपणीयाः सर्जरससिक्थ-जतुजातीः निकटयत प्रवेशप्रज्वलनीयानि क्षौमशणकार्पासपट्टसूत्रतसरतन्तुसन्तानानि विरचयत कीलिकाकर्षणपातनीयं गोपुरद्वारं बहत विविधप्रहरणसन्नाहशतसहस्राणि ।]

रावणः—(आकर्ण्य विहस्य च) अये किमयमलीकः संरम्भो मनुष्यबुद्धिदुर्गं दुर्गं कथयन्ति । ततश्च ।

सति सर्वामरोच्चचण्डे मम दोर्दण्डमण्डले ।
शङ्के प्राकारविभवो लङ्काऽलङ्कारकारणम् ॥१३॥

(राक्षसान् प्रति साक्षेपं) रे रे करङ्कक ! रे रे कङ्कालक ! विबोधयतं कुम्भकर्णं ज्येष्ठक्षत्रियतापससंरम्भाय ।

(उभौ पदान्तरे भवतः)

करङ्ककः—(जनान्तिकं) सखे कङ्कालक ! देवः कुम्भकर्णं प्रबोधयति न पुन-रात्मानं किं च प्रयत्नप्रबोधितोऽप्यसौ रामेण दीर्घं शाययितव्य एव ।

कङ्कालकः—कण्णे (कर्णे) विभीषणं वज्जिअ सव्वस्स एषागइ । [(कर्णे) विभीषणं वर्जयित्वा सर्वस्यैषा गतिः ।]

करङ्ककः—तथैव ।

प्रदेश विघटित कर दिये गये । क्षेप्यास्त्रों को ठीक करो, मज्जा अन्त्र तैलों को तैयार करो, लौटाकर फेंके जानेवाले सर्जवृक्ष के रस, नील, लाक्षा और जाति (चमेली) को लाओ, प्रवेश करते ही जल उठने वाले रेशम, शण, कपास, पट्टसूत्र, तसरतन्तु के समूहों को समीप करो । कील खींचने से गिरनेवाले गोपुर द्वार को बनाओ विविध अस्त्रों के समूहों को इकट्ठा करो ।

रावण—(सुनकर तथा हँस कर) मनुष्य की बुद्धि जो अत्यन्त दुर्गम कही जाती है यह असत्य कथन है । और—

समस्त देवों के लिये भयकारी मेरे बाहुदण्ड के रहने पर उसे लङ्का का अलङ्करणभूत प्राकार (चहारदीवारी) का वैभव मानता हूँ ॥१३॥

(राक्षसों के प्रति आक्षेप से) रे करङ्कक ? रे कंकालक ! कुम्भकर्ण को जगाओ जिससे वह जेठे क्षत्रिय तपस्वी से युद्ध करें ।

(दोनों पैर आगे बढ़ाते हैं)

करङ्कक—(जनान्तिक) मित्र कङ्कालक ! स्वामी कुम्भकर्ण को जगा रहे हैं क्योंकि प्रयत्न से जगाये जाने पर भी ये राम के द्वारा दीर्घनिद्रा को प्राप्त करेंगे ।

कङ्कालक—विभीषण को छोड़कर शेष सभी की यही गति होगी दूसरी नहीं ।

करङ्कक—ठीक है ।

धिक् शौण्डीर्यमदोद्धतं भुजवनं धिक् चन्द्रहासं च ते
धिग्वक्त्राणि निवृत्तकण्ठवलयप्रीतेन्दुमौलीनि च।
निद्रालावतिघस्मरे प्रतिदिनं स्वापान्महामेदुरे
प्रत्याशा चिरविस्मृतायुधविधौ यत् कुम्भकर्णे स्थिता ॥१४॥

रावणः—सुमुखदुर्मुखौ निकुम्भिलानिर्यायिनः कुमारमेघनादस्य कनिष्ठतापसेन सह समरसंरम्भं निवेदयतं।

(उभौ प्रणम्य पदान्तरे भवतः)

सुमुखः—(जनान्तिकं) सखे दुर्मुख ! किमपि शौर्यातिरेको रामानुजस्य यदमुना निकुम्भिलां प्रति प्रस्थितस्य कुमारमेघनादस्य संदिष्टं यदुत।

यावन्नेव निकुम्भिलायजनतः सिद्धे हविर्लेहिनि
प्राप्तस्यन्दनचापकाण्डकवचं त्वं मन्यसे दुर्जयम्।
वैदेहीविरहव्यथाविधुरितेऽप्यार्ये विधाय क्रुधो
वन्ध्यास्तावदयं सशक्रविजयिंस्त्वां लक्ष्मणो जेष्यति ॥१५॥

दुर्मुखः—तह एव्व किं भणीअदु विराहविद्धंसणस्स कणिट्टभादा लक्खणो क्खु एसो मिअङ्कमण्डलेण समं जादस्स तदो ण परिहीअन्ति गुणा पेऊसस्स। [तथैव किं भण्यतां विराधविध्वंसनस्य कनिष्ठभ्राता लक्ष्मणः खल्वेषः। मृगाङ्कमण्डलेन समं जातस्य ततो न परिहीयन्ते गुणाः पीयूषस्य।]

तुम्हारी वीर्यमद से उद्धत भुजाओं को धिक्कार है, तुम्हारी चन्द्रहास तलवार को धिक्कार है, काटे गये कण्ठ-मण्डलों से शंकर को प्रसन्न करने वाले तुम्हारे मुखों को धिक्कार है क्यों कि आपकी आशा निद्रालु, अतिभोजी, अहर्निश सोने से स्थूल, और बहुत दिनों से अस्त्रविधि को भूले हुये कुम्भकर्ण पर टिकी है ॥१४॥

रावण—हे सुमुख ! हे दुर्मुख ! निकुम्भिला से निकल रहे पुत्र मेघनाद से कहो कि वह छोटे तपस्वी से युद्ध करे।

(दोनों प्रणाम कर पैर आगे बढ़ाते हैं)

सुमुख—(जनान्तिक) मित्र दुर्मुख ! रामानुज लक्ष्मण का वीर्यातिरेक अत्यन्त अधिक है कि उन्होंने निकुम्भिला को जा रहे मेघनाद को संदेश दिया कि—हे इन्द्रजेता मेघनाद।

जब तक निकुम्भिला में यज्ञ द्वारा अग्नि के सिद्ध होने पर प्राप्त, अपने रथ, धनुष, बाण और कवच को दुर्जय नहीं मान रहे हो उससे पूर्व ही वैदेही की विरहव्यथा से व्यथित आर्य राम में क्रोध व्यर्थ कर तुम्हें लक्ष्मण जीतेगा ॥१५॥

दुर्मुख—ठीक ही है। उसके बारे में क्या कहा जाय ? विराध को मारने वाले राम के ये छोटे भाई लक्ष्मण हैं। चन्द्रमण्डल के साथ उत्पन्न अमृत के गुण (चन्द्रमण्डल से) हीन नहीं होते।

सुमुखः—सवीरगोष्ठीषु पुनरिदमभिहितम् ।

स्मर्तव्यस्मितमाननं विरचितं येनामरीणां रणा-
न्नित्यं भोगवती कृता निपतितद्वारार्गला येन च ।
धिग्धिग्भीमनिकुम्भिलागुरुगुहागर्तैकसाध्ये स्थितं
तत्संप्रत्यभिचारकर्मणि महावीरस्य शौर्यव्रतम् ॥१६॥

करङ्कः—(पुरोऽवलोक्य)

सोऽयं पुरः शयनसद्मनि कुम्भकर्णः
संसेवितस्त्रिदशयामिककामिनीभिः ।
श्वासोत्तरं स्वपिति जर्जरकङ्कणौघै-
स्तत्पाणिभिस्तडिति ताडितपादभागः ॥१७॥

कङ्कालकः—सुठ्ठु क्खु परिचिअं भणासि णिबिडणिद्दाणन्दट्ठिओकुमारो कुम्भकण्णो । [सुष्ठु खलु परिचितं भणसि निबिडनिद्रानन्दस्थितः कुमारः कुम्भकर्णः ।]

रावणः—यत्सत्यं भगवतः कमलसंभवाद्गरीयसापि तपसा निद्रानन्दमेव वृतवान् मे वत्सः कुम्भकर्णः ।

सुमुखः—(कर्णे)

सुमुख—वीर-जनों से पूर्ण गोष्ठी में पुनः उन्होंने यह कहा—

युद्ध से जिसने देवाङ्गनाओं को स्मरण किये जानेवाला हास्ययुक्त मुखवाला कर दिया अर्थात् पतियों की पराजय से उनके मुख का हास्य उड़ गया और पहले का हास्य केवल स्मरण की वस्तु रह गया और जिसने पातालपुरी की भोगवती नगरी में नित्य किवाड़ बन्द करा दिया । धिक्कार है उस वीर की वीरता को जो एक मात्र भयङ्कर निकुम्भिला नगरी की गुहा में साध्य अभिचार कर्म में स्थित है ॥१६॥

करङ्क—(सामने देखकर)

यह सामने शयनगृह में कुम्भकर्ण है जिसकी देवताओं की सेविकायें सेवा कर रही हैं । कामिनियाँ जीर्ण कंकण समूह से युक्त हाथों से इसके पैर पर 'तड्' शब्द युक्त प्रहार कर रही और यह दीर्घ श्वास लेकर सो रहा है ॥१७॥

कङ्कालक—अच्छी भाँति परिचित बात कह रहे हैं । कुमार कुम्भकर्ण सघन निद्रा के आनन्द में स्थित हैं ।

रावण—मेरे भाई कुम्भकर्ण ने महत्तप के द्वारा कमलजन्मा ब्रह्मा से निद्रा का आनन्द ही माँगा था ।

सुमुख—(कान में)

यस्त्वैरावणवारणे रणभुवो भग्ने तरौ डिण्डिमो
यः कृष्टश्च कृतश्च सङ्गरविधावाघोषणादुन्दुभिः ।
यस्तस्यैष रवो रयेण विदधद्दिक्पालशून्या दिशः
कामं क्रामति रोदसि स्वयमयं तन्मेघनादः पुरः ॥१८॥

(पुनराकर्ण्य)

यद्भैरवाकृतिकरालकपालपाणिफेट्कारडामरतरो निनदानुबन्धः ।
तन्नूनमत्र हनुमान् समराय पत्रं सौमित्रिणा विरचितोऽयमखर्वगर्वः ॥१९॥

दुर्मुखः—हंहो देव कहं तुए संदेहदोलअमधिरोविदाइं मत्तण्डपुलत्थाणं कुलाइं । [हंहो देव कथं त्वया संदेहदोलकमधिरोपितानि मार्तण्डपुलस्त्ययोः कुलानि ।]

रावणः—

वामानि पश्यत समेत्य मुखानि पञ्च
रामं सहास्सदनुजेन रणे चरन्तम् ।
रामानुजं च सह शक्रजिता हसन्ति
हे दक्षिणानि दशकण्ठनियोग एषः ॥२०॥

कङ्कालकः—ता कीरउ विवोहविडम्बणाडम्बरो कुमारकुम्भकण्णस्स । [तत् क्रियतां विबोधविडम्बनाडम्बरः कुमारकुम्भकर्णस्य ।]

करङ्कः—कथं पुनर्विबोधयितव्यः ।

ऐरावत हाथी रूपी वृक्ष के रण-भूमि से भग्न होने पर जो डिण्डिम बजाया गया और जो युद्धभूमि में घोषणा-दुन्दुभि की ध्वनि की गई उसी डिण्डिम और दुन्दुभि की ध्वनि वेग से दिशाओं को दिक्पालों से रहित करती हुई द्यावा-पृथ्वी के बीच भली-भाँति फैल रही है अतः प्रतीत होता है कि स्वयं मेघनाद यह सामने है ॥१८॥

(पुनः सुनकर)

और जो यह भीषण मूर्ति विकराल कपालपाणि (रुद्र) के फेट्कार शब्द की भाँति सतत सिंहनाद सुनाई पड़ रहा है तो निश्चय ही लक्ष्मण ने अखण्डित गर्व वाले हनूमान् को अपना वाहन बनाया है ॥१९॥

दुर्मुख—हे देव ! आपने सूर्य और पुलस्त्य वंशों को सन्देह के झूले पर कैसे डाल दिया है ?

रावण—

हे मेरे वामभाग के पाचों मुखो ! तुम लोग मिल कर मेरे अनुज कुम्भकर्ण के साथ रण में घूम रहे (युद्ध कर रहे) राम की ओर हे हँस रहे मेरे पाँचों दाहिने मुख ! तुम लोग इन्द्रजित् के साथ युद्ध कर रहे लक्ष्मण को देखो—यह रावण की आज्ञा है ॥२०॥

कङ्कालक—तो कुमार कुम्भकर्ण को जगाने का आडम्बर किया जाय ?

करङ्क—फिर कैसे जगाया जाय ?

कङ्कालकः—(समन्तादवलोक्य) अअं अट्ठारहकुलविभेअविहिण्णो सेवासमागओभुअङ्गमवग्गो ता इमस्सि केवि गरिठ्ठबरिठ्ठे समादिस । [अयमष्टादशकुलविभेदविभिन्नः सेवासमागतो भुजङ्गमवर्गः तदस्मिन् कानपि गरिष्ठवरिष्ठान् समादिश] ।

करङ्कः—साधु सखे ! साधु । महाभोगभोगयष्टिभिः संवेष्ट्य विबोधयितारः खल्वेते (किञ्चिदुच्चैः)

वक्षस्तक्षक ताड्यतां फणशतैस्त्वं वासुके नासिका-
रन्ध्रे रुन्धि निषेवतां श्रवणयोः कर्कोटकिः कोटरे ।
कालः कालियपन्नगश्च कुरुतां कण्ठे कठोराञ्छनं
लङ्केन्द्रानुज एष येन विहरेद्विद्राणनिद्रारसः ॥२१॥

रावणः—(विहस्य) किमेभिर्मृणालकोमलकायकाण्डैः प्रचण्डैरपि फणावद्भिर्वत्सस्य क्रियते !

कङ्कालकः—अमहाभाअजणमणोरहा विअ वंझीभूदा फणिन्दा । [अमहाभागमनोरथा इव वन्ध्यीभूताः फणीन्द्राः ।]

(दक्षिणतो नेपथ्ये)

यन्मातामहतो मयात्परिगतं मायारहस्यं मया
तत्सर्वं रचितं गतं विफलतामासाद्य तौ तापसौ ।
यः शिष्येण सता नु चापनिगमो लब्धः पितुस्तोषिता-
दाचार्याद्दशकण्ठतः किमपरं तस्यैष जातः क्षणः ॥२२॥

कङ्कालक—(चारों ओर देखकर) यह अठारह कुलों के विशिष्ट भुजङ्गवर्ग सेवा के लिये आया है । तो इसके कुछ भारी तथा श्रेष्ठों को आदेश दो ।

करङ्क—ठीक कहते हो मित्र ! महान् शरीर वाले ये अपने शरीर-लताओं से जकड़ कर जगायेंगे (कुछ जोर से)—

हे तक्षक ! तुम वक्ष पर प्रहार करो । हे वासुकि ! तुम सौ फणों से इसकी नासिका के दोनों छेदों को बन्द करो । हे कर्कोटकि ! तुम दोनों कानों के कोटर में बैठो । हे कालियनाग ! तुम कुम्भकर्ण के कण्ठ देश को जकड़ो जिससे लंकेश्वर का अनुज विगत निद्रारस वाला होकर विहार करे ॥२१॥

रावण—(हंसकर) मृणाल के कोमल काण्ड की भाँति इन प्रचण्ड फण वाले भी सर्पों से मेरे वत्स कुम्भकर्ण का क्या होगा ?

कङ्कालक—भाग्यहीनों के मनोरथों की भाँति ये सर्प व्यर्थ हो गये ।

(दक्षिण की तरफ नेपथ्य में)

जो मैंने (अपने) नाना मय (असुर) से माया का रहस्य प्राप्त किया था उस सबका मैंने प्रयोग किया किन्तु उन दोनों तपस्वियों पर वह व्यर्थ हो गया । अब शिष्य बनकर सन्तुष्ट किये पिता रावण से जो मैंने धनुर्विद्या प्राप्त की है उसका समय आ गया ॥२२॥

रावणः—वत्स ! किं खिद्यसे करुणामयस्य मायामयास्ते केलयो निष्करुणे पुनः कर्मणि वीराणां प्रथमोऽसि ।

दुर्मुखः—देव किलिकिलाइअहणुमन्तविमाणो सज्जीकिदचण्डकोअण्डमण्डिअ पाणी कणिट्ठतावसो मेहणादस्स पुरदो भविअ वत्तुकामो वट्टइ । [देव किलिकिलायितहनूमद्विमानः सज्जीकृतकोदण्डपाणिः कनिष्ठतापसो मेघनादस्य पुरतो भूत्वा वक्तुकामो वर्तते ।]

(वामतः)

कङ्कालकः—ता इमस्सिं केलिविमाणरअणट्टालअपेरन्तचरे गिरिन्दसंदोहे दसाणणदेवस्स अण्णा णिवेसीअदु । [तदस्मिन् केलिविमानरत्नाट्टालकपर्यन्तचरे गिरीन्द्रसंदोहे दशाननदेवस्याज्ञा निवेश्यताम् ।]

करङ्कः—

संवाह्यौ सह्य पादौ तव तुहिनगिरे कर्म मर्मप्रबाधि
विन्ध्याद्रे रुन्धि रक्षो वलयतु मलयः पर्वतः सर्वतोऽङ्गम् ।
त्वं नेत्रे पारियात्राचल वलय करौ सज्जतां मन्दराद्रि-
र्निर्निद्रामुद्र एष प्रसरति समरे येन भोः कुम्भकर्णः ॥२३॥

रावणः—(विहस्य) वत्सस्य कठोरे वपुषि पतितोत्पतिता अतिगरीयांसो गिरयः कन्दुकायन्ते ।

कङ्कालकः—अपिद्धे विअ मोत्तिए तन्तुणा अकिअकज्जेण कुमारे बाहिरदो लुठिअं महिहरचक्केण । [अविद्ध इव मौक्तिके तन्तुनाऽकृतकार्येण कुमारे बहिस्तो लुलितं महीधरचक्रेण ।]

रावण—वत्स ! क्यों खिन्न हो रहे हो ? तुझ करुणार्द्र की क्रीडायें मायामय होती है । निष्करुण कर्म करने में वीराग्रणी हो ।

दुर्मुख—देव ! किलकारी कर रहे हनुमान् पर चढ़े छोटे तपस्वी (लक्ष्मण) मेघनाद के सामने आकर बोलने के लिये उद्यत हैं ।

कङ्कालक—(बायीं ओर से) तो इस केलि विमान की रत्नाट्टालिका समीपवर्ती पर्वत पर रावण की आज्ञा से बैठाइये ।

करङ्क—हे सह्य पर्वत ! तुम पाद-संवाहन करो । हे हिमालय ! तुम मर्मपीडा दो । हे विन्ध्य ! तुम राक्षस को रोको ! हे मलय ! तुम समग्र अंगों को घेर लो । हे पारियात्र ! तुम दोनों नेत्रों को रोको । हे मन्दराचल ! तुम बाहों में लग जाओ जिससे कि कुम्भकर्ण निद्रा-त्याग कर युद्ध करे ॥२३॥

रावण—(हँसकर) वत्स के कठोर शरीरपर गिर-उठ रहे पर्वत गेंद जैसे लगरहे हैं ।

कङ्कालक—जिस भाँति विना छेदे मोती को बेधने में सूत्र असमर्थ होता है उसी भाँति कुम्भकर्ण को जगाने में पर्वत समुदाय असफल रहा ।

(दक्षिणतो नेपथ्ये)

मायां मुञ्च गृहाण कौतुकरसं वीरप्रशस्ये रणे
स्वर्नारीजन एष नूतनपतिप्राप्त्याऽस्तु बद्धोत्सवः ।
मद्बाणाः खरदूषणत्रिशिरसां सैन्योपमर्दादमी
रक्षःशोणितपानलम्पटमुखास्त्वत्तोऽपि वाञ्छन्त्यसृक् ॥२४॥

रावणः—अये कुमारमेघनादोचितवचनदुर्मुखो लक्ष्मणः । तदेनं वत्स एव शिक्षयिता ।

(पुनर्नेपथ्ये) सुमित्रापुत्र ! स्वशस्त्रकथामारभसे । कः पुनस्तव शस्त्रग्रहणेऽधिकारः ।

धीमान्पुमानयमिति स्तुवता जनेन न्यासीकृता ननु सनिर्वृति यत्र दाराः ।
तस्यच्छलादपि परापहृतेषु तेषु कुक्षत्रियप्रहरणानि विडम्बनाय ॥२५॥

सुमुखः—(नेपथ्याभिमुखमवलोकितकेन) किमाह लक्ष्मणः । रे रे ब्रह्मराक्षस ! वीरजनमर्यादानभिज्ञोऽसि यदप्रतीकारे कर्मणि प्रहरणानि विडम्बनाय विपरीते पुनर्मण्डनाय ।

रावणः—अहो धृष्टता मानुषस्य यत्कुमारमेघनादेन सह वीरव्रतचर्यामुक्ति-प्रत्युक्तिभिर्भाषिता ।

(दक्षिण की तरफ नेपथ्य में)

माया का त्याग करो। वीरों द्वारा प्रशंसनीय युद्ध में प्रेम करो। देवाङ्गनायें नये पति की प्राप्ति से उत्सव मनायें। खर-दूषण तथा त्रिशिरा की सेनाओं को मारने से राक्षसों के रक्त के पान के लम्पट मेरे ये बाण तुझ (मेघनाद) से भी रक्त की कामना कर कर रहे हैं ॥२४॥

रावण—अरे ! कुमार मेघनाद के उपयुक्त वचन बोलने में विरुद्धवादी यह लक्ष्मण है। तो इसे पुत्र ही शिक्षा देगा।

(पुनः नेपथ्य में) सुमित्रा पुत्र। अपने शस्त्र की कथा कह रहे हो ! शस्त्र-ग्रहण में तुम्हारा कैसे अधिकार है ?

हे कुक्षत्रिय ! (राम ने) तुम बुद्धिमान् हो ऐसी प्रशंसा कर निश्चिन्तता से अपनी स्त्री तुम्हारे पास न्यास रूप में रख दी। उस न्यास के दूसरे द्वारा छल पूर्वक हरे जाने पर भी तुम्हारे शस्त्र निष्फल ही हैं ॥२५॥

सुमुख—(नेपथ्यकी ओर देखकर) क्या कहा लक्ष्मण ने ? कि रे रे ब्रह्मराक्षस ! अप्रतीतकार योग्य कर्म में शस्त्र केवल प्रदर्शन मात्र हैं पर इसके विपरीत कर्म में आभूषण हैं।

रावण—अरे ! मनुष्य की धृष्टता है कि कुमार मेघनाद से उक्ति-प्रयुक्ति द्वारा वीरव्रत का वर्णन कर रहा है।

कङ्कालकः—(अन्यतोऽवलोक्य) एदे गुरुगलन्तदाणवारिपक्खालिअगण्ड-मण्डला गलगुहाकुहरणिरग्गलणिग्गालन्तगुलुगुलारवा दिक्करिणो ता इमे समादिस [एते गुरुगलद्दानवारिप्रक्षालितगण्डमण्डला गलगुहाकुहरनिरर्गलनिर्गलद्गुलुगुलारवा दिक्करिणस्तदिमान् समादिश ।]

करङ्कः—

वप्रक्रियाक्रमकरालकरप्रहार-पादावमर्दरहसोल्लिखनादि कर्म ।
द्विरदन्तिन: किमपि यद्गुणितं भवद्भिस्तत्कुम्भकर्णपरिबोधविधावुपाऽव्यम्।।२६

रावणः—युक्तमेवैतत् । जङ्गमानि दुर्गाणि दिक्करिणः ।

करङ्कः—देव ! दृश्यतां द्रष्टव्यम् ।

निस्तन्द्रैर्दिग्द्विपेन्द्रैर्युगपदधिगतैर्बोधनायाधिवक्षः
प्रारब्धे द्वन्द्वयुद्धे प्रचुरमदचयोच्चण्डगण्डैश्चतुर्धा ।
निद्रामुद्रां न मुञ्चत्यपि च घुरुघुराघोषगर्भोरुघोणा-
घूत्कारैर्घोरतारैः स्वपिति पिहितदृङ्निर्भरं कुम्भकर्णः ।।२७।।

कङ्कालकः—(विहस्य) तं कदं कुमारकुम्भकण्णे दिक्करिचक्कवालेण जं जम्मावहिरे पञ्चमतरङ्गुग्गारेहिं कीरइ [तत् कृतं कुमारकुम्भकर्णे दिक्करिचक्रवालेन यज्जन्मबधिरे पञ्चमतरङ्गोद्गारैः क्रियते ।]

(दक्षिणतो नेपथ्ये) रे रे दुर्मुख मुखर लक्ष्मण ।

कङ्कालक—(दूसरी ओर देखकर) गिर रहे अत्यधिक मद-जल से जिनका गण्डस्थल धुल गया है तथा गले रूपी गुफा के अन्तराल से निकल रहे गुल-गुल, ध्वनि वाले ये दिग्गज हैं । इन्हें कुम्भकर्ण को जगाने के लिये आदेश दो ।

करङ्क—हे दिग्गजो ! तटप्रहार में जो तुम्हारा भयंकर शुण्डादण्ड का प्रहार है तथा बलपूर्वक पदावमर्द आदि जो कुछ सामर्थ्य है उसे कुम्भकर्ण के जगाने में प्रयुक्त करो ।।२६।।

रावण—यह ठीक ही है । दिग्गज जङ्गम (चलने वाले) दुर्ग हैं ।

करङ्क—देव ! यह दर्शनीय वस्तु देखे—

प्रचुर मदयुक्त गण्डस्थल वाले अनलस दिग्गजनों के एक ही साथ चार भागों में (दो-दो की जोड़ी रूप से) वक्षःस्थल पर जगाने के लिये द्वन्द्वयुद्ध प्रारम्भ करने पर कुम्भकर्ण निद्रा नहीं छोड़ रहा है अपितु नाकों से जोर से घुर्-घुर् शब्द करते हुये सम्यक् आँखे बन्द कर सो रहा है ।।२७।।

कङ्कालक—(हँसकर) कुमार कुम्भकर्ण में दिग्गज समूह ने वही किया जो जन्म से बहरे के विषय में पञ्चम राग करता है ।

(दक्षिण की ओर नेपथ्य में) रे रे दुर्मुख बकवादी लक्ष्मण !

तं रामं कथयन्ति विक्रमधनं तन्मे मनाक्प्रीतये
तस्मिन् सङ्गरकेलिकर्म यदयं वीरप्रियो रावणिः ।
भ्रातृत्वेन तु तस्य लक्ष्मण कथं धैर्योद्धुरं चेष्टसे
दायादान्न च रिक्थवत्क्वचन भो शौर्यक्रिया क्रामति ॥२८॥

(पुनस्तत्रैव)

लङ्केश्वरेण यदि शङ्करपादमूले
लूत्वा शिरांसि भुवनाधिपतित्वमाप्तम् ।
तन्मेघनाद यदि किं तव सूर्यभक्तो
भास्वन्मणिर्ज्वलति किं स्फटिकोपलस्य ॥२९॥

(पुनस्तत्रैव)

रे रे विरोचनकुलपांसन केरलीसुत लक्ष्मण ! रणप्रवणं रावणयुवराजं इन्द्रजितमपि मां न जानासि तदेव ज्ञाप्यसे।

(पुनस्तत्रैव)

रे रे पुलस्त्यकुलकलङ्क सहोढासुत ! रामचन्द्रानुचरं लक्ष्मणमपि मां न जानासि तदेव ज्ञाप्यसे ।

उस राम को लोग पराक्रम का धनी कहते हैं अतः उसके साथ युद्ध-क्रीडा का कर्म मुझे कुछ प्रिय है क्योंकि मेघनाद वीरों से प्रेम करता है । हे लक्ष्मण ! तुम भाई होने से वैसी धीरता क्यों कर रहे हो ? धन की भाँति वीरता दायादों (सम्बन्धी के धन के हिस्सेदारों) में नहीं जाती ॥२८॥

(फिर वहीं)

हे मेघनाद ! रावण ने शंकर पादमूल में हठात् शिरों को काट कर यदि त्रैलोक्य का राज्य पा लिया तो इसमें तेरा क्या (पुरुषार्थ है) ! यदि सूर्य-प्रिय सूर्यकान्तिमणि (सूर्य के कर-स्पर्श से) जलती हैं तो इसमें स्फटिक पत्थर का क्या ? ॥२९॥

(फिर वहीं)

रे सूर्यकुलाधम ! केरली (केरल देश की कन्या सुमित्रा) के पुत्र लक्ष्मण ! रणसंसक्त रावण के युवराज मुझ मेघनाद को नहीं जानते इसी लिए ऐसा कह रहे हो ।

(फिर वहीं)

रे पुलस्त्यकुलकलङ्क ! सहोढा (पूर्व में दूसरे को विवाहित पुनः रावण को विवाहित) के पुत्र ! रामचन्द्र के सेवक मुझ लक्ष्मण को भी नहीं जानते इसीलिये ऐसा कह रहे हो ।

सुमुखः—देव लङ्काधिपते ! तदित्थमन्योन्यमाक्षिपद्भ्यां पुलस्त्यककुत्स्थकुल-कुमाराभ्याम् ।

उन्नालनीलनलिनानि नभोह्रदस्य दूताः समित्परिगमाय चमूकटाक्षाः ।
आरुधां परस्परमपि प्रहिताः कृतान्तकेलीशकुन्तय इमे विशिखाः सहस्रम् ।३०।

(वामतः)

(कङ्कालकः करङ्ककं प्रति) ता अण्णे केवि समादिस [तदन्यान्कानपि समादिश ।]

करङ्ककः—भवतु रावणावरजविबोधनाय भगवन्तं सपरिवारं भर्गमभ्यर्थये ।
(सप्रश्रयम्)

हेरम्बः कण्ठगर्जं रचयतु मुरजानादृतो हन्तु नन्दी
चण्डी चण्डाट्टहासं किरतु डमरुकं ताडयत्विन्दुमौलिः ।
येनाकाण्डप्रबोधप्रभवगुरुतरक्रोधदीप्तारुणाक्षः
संग्रामग्रामलुण्ठोद्भटभुजपरिघो जायते कुम्भकर्णः ।।३१।।

रावणः—साधु भोः साधु सुषुप्तस्यापि महान्निनदः प्रतिबोधहेतुः किं पुनर्विबोधोपचारा वत्से सावित्रे महसीव सर्वतेजांसि प्रलीयन्ते ।

सुमुख—देव लंकास्वामिन् ! तो इस प्रकार परस्पर आक्षेप कर रहे पुलस्त्य तथा काकुत्स्थ कुल के कुमारों ने—

आकाशरूपी तालाब के उद्गतनाल नीलकमल, युद्ध-व्यापार के दूत तथा यम के क्रीडारूपी पक्षी (सेना के कटाक्ष के पात्र) सहस्रों बाणों को परस्पर चलाया ।।३०।।

(बायीं ओर से कङ्कालक करङ्कक से कहता है) तो और किन्हीं को (जगाने के लिये) आदेश दो ।

करंकक—ठीक है । रावणानुज कुम्भकर्ण को जगाने के लिये उसके परिवार सहित भगवान् शंकर से प्रार्थना करूँ । (अन्दर से)

गणेश कण्ठ से गर्जना करें, नन्दी जोर से मुरजों को बजावें, चण्डी भयंकर अट्टहास करें, शिव डमरू बजावें जिससे रणक्षेत्रों के लुण्ठनों द्वारा बाहें ही जिसकी परिघ है ऐसा कुम्भकर्ण असमय में जगने के कारण उत्पन्न बड़े ही क्रोध से उद्दीप्त तथा लाल नेत्रों वाला हो जाय ।।३१।।

रावण—ठीक कहा । सोने पर भी महान् शब्द जागरण का हेतु है । दूसरे जगाने के विविध उपाय कुम्भकर्ण में व्यर्थ है । जिस प्रकार सूर्य में समस्त तेज लीन हो जाते हैं उसी प्रकार वत्स कुम्भकर्ण को जगाने के विविध उपाय व्यर्थ हैं ।

कङ्कालकः—(स्वगतम्) विवोहीअइ कुमारो जइ सलिले सिलाहिं उत्तरीअइ अलाबूहिं वा णिमज्जीयइ। [विबोध्यते कुमारो यदि सलिले शिलाभिरुत्तीर्यतेऽलाबूभिर्वा निमज्यते।]

दुर्मुखः—(दक्षिणतो) देव लङ्कापरमेसर कुमारमेहणाअंलक्खणं अ अणुवदन्ताणं रक्खसवाणरबलाणं भीसणभीसणं वट्टइ [देव लङ्कापरमेश्वर ! कुमारमेघनादं लक्ष्मणं चानुवर्तमानानां राक्षसवानरबलानां भीषणभीषणं वर्तते।]

सुमुखः—देव ! सुभीषणमेव वर्त्तते। पश्य—

युद्धोर्वीष्वर्द्धमग्नैः कुवलयसरसां सूत्रिता पत्रिभिः श्री-
र्नाराचैः पाशबन्धागतभुजगभयं लम्भिता वानरेन्द्राः।
भल्लैस्तिर्यक्पतद्भिश्चिलिचिमचयिनो दर्शिताः सादिमार्गाः
प्राप्ताश्च द्राक् क्षुरप्रैर्वियति नखतुला वीरवक्त्राब्जलावैः ॥३२॥

दुर्मुखः—देव पेक्ख। [देव ! पश्य।]

कोअण्डचक्ककरवालकिवाणधेसु भल्लत्तणक्कमणिवेसिदसङ्गरेसु।
वीरेसु पेक्ख णिवडन्ति समं पहारा वेरा णदिव्वतरुणीणअफुल्लमाला ॥३३॥

[कोदण्डचक्रकरवालकृपाणधेषु मल्लत्वक्रमनिवेशितसङ्गरेषु।
वीरेषु पश्य निपतन्ति समं प्रहारा वेगेन दिव्यतरुणीनवफुल्लमाला ॥]

कङ्कालकः—(सविषादं वामतः) कहं पुण एअं भविस्सदि। [कथं पुनरेतद् भविष्यति।]

कंकालक—(स्वगत) यदि वत्स (कुम्भकर्ण) जगा दिया जाता है तो यह जल में पत्थरों के तैरने और लौकियों के डूबने के समान है।

दुर्मुख—(दक्षिण ओर से) देव लंकापते ! कुमार मेघनाद तथा लक्ष्मण के अनुयायी राक्षस तथा वानर-सेना का भीषण युद्ध हो रहा है।

सुमुख—देव ! अत्यन्त भयंकर हो रहा है। देखिये—

युद्धभूमि में अर्द्धमग्न बाणों ने कमलसरोवरों की शोभा बना दी, बानरों को बांधने के लिए आये सर्पों का भय हो गया, भल्लों ने अश्वारोहियों का मार्ग चिलचिमयुक्त कर दिया और वीरों के मुखकमलों को काटने से क्षुरप्रों ने आकाश में नख का साम्य प्राप्त किया ॥३२॥

दुर्मुख—देव देखें—

धनुष, चक्र, करवाल, तलवार धारण कर युद्ध-भूमि में युद्ध कर रहे वीरों पर दिव्य स्त्रियों के नवीन पुष्पित पुष्पों की माला वेग से गिर रही है ॥३३॥

कंकालक—(बायीं ओर से विषादपूर्वक) फिर यह कैसे होगा !

करङ्कक:—

हे कामिन्य: कनककलशीपीवराभ्यां स्तनाभ्यां
गाढाश्लिष्टं रचयत लसद्दोर्लता: कुम्भकर्णम् ।
कामक्रीडानिबिडरचित: सेवित: स्वर्वधूभि-
र्जायेताऽयं त्रिभुवनजयी येन निद्रादरिद्र: ।।३४।।

रावण:—(विलोक्य सहर्षं) कथं विबुद्धो मे वत्स: ।

करङ्क:—विबुद्ध: कुम्भकर्णो यातश्च तापसाभ्यर्णम् ।

दुर्मुख:—

एक्केहिं चण्डखग्गावडणविहडिदुट्टङ्कसीसावमुक्के
हुंकारे रोसहेलावलिअभडचमूलोयणिब्भच्छिएहिं ।
अण्णेहिं दिव्वणारीणिबिडभुअलयाबद्धकण्ठेहिं देहिं
देहेहिं पेक्खजाआ समरमरणिणो तक्खणं वीरलक्खा ।।३५।।

[एकैश्चण्डखड्गापतनविघटितोट्टङ्कशीर्षावमुक्ते
हुङ्कारे रोषहेलावलितभटचमूलोकनिर्भत्सितैः ।
अन्यैर्दिव्यनारीनिबिडभुजलताबद्धकण्ठैर्द्वयैः
देहै: पश्य जाताः समरमरणिनस्तत्क्षणं वीरलक्षाः ।।]

करङ्कक:—(वामतो नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) विबुद्धः कुम्भकर्णः परिजनादुपलब्धवृत्तान्तः किमाह—

सूते नान्यं जगति जननी तादृशं पुत्ररत्नं
रामो यादृग्लवणजलधौ सेतुसीमन्तकारः ।
शङ्के शङ्कां वहति च ततो राक्षसेन्द्रोऽप्यकाण्डे
निद्राभङ्गः कथमितरथा कारितः किङ्करैर्मे ।।३६।।

करंकक—हे विलसित भुजाओं वाली स्त्रियों ! स्वर्णकलश तुल्य स्थूल स्तनों से कुम्भकर्ण का दृढ़ता से अलिङ्गन करो । जिससे तुम सुराङ्गनाओं के द्वारा कामक्रीडा से भली-भाँति आक्रान्त तथा सेवित यह कुम्भकर्ण नींद छोड़े ।।३४।।

रावण—(देखकर हर्ष से) क्या मेरा वत्स जग गया ?

करंकक—कुम्भकर्ण जग गया और तपस्वी राम के पास गया ।

दुर्मुख—समर में मरने वाले वीरों के दो शरीर हो गये एक तो प्रचण्ड खड्ग के लगने से शिर के कट जाने से हुँकार कर रहा है तथा क्रोधपूर्वक वीरों द्वारा तिरस्कृत हो रहा है और दूसरे शरीर के कण्ठ में सुरस्त्रियां अपनी बाहों को डाले हुये हैं ।।३५।।

करंकक—(बायीं ओर से नेपथ्य की ओर देखकर) जग कर कुम्भकर्ण ने परिजनों से समाचार जानकर क्या कहा—

लवण-समुद्र में पुल बाँधने वाले राम के सदृश संसार में कोई माता अन्य पुत्र नहीं उत्पन्न करती अतः मालूम होता है कि राक्षसराज रावण भी भय कर रहा है अन्यथा अनुचरों द्वारा असमय में मेरी नींद क्यों तुड़वाता ? ।।३६।।

(विचिन्त्य) तदश्रुतमेवैतत् प्रकृतिरोषणेन रावणेन वचनमास्तां मा कदाचन विभीषणवृत्तान्तः स्यात् । (प्रकाशम्) किमाह कुम्भकर्णः ।

आस्तां धनुः किमपि नापरतो भृशुण्डीचक्रैरलं भवतु पट्टिशमुद्गरौघैः ।
धावत्प्लवङ्गपृतनाकवलक्रमेण प्राप्स्याम्यहं सुहिततां च रिपुक्षयं च ॥३७॥

रावणः—साधु वत्स ! साधु ! सत्यं मदनुजोऽसि ।

दुर्मुखः—देव ! उप्पडिओ कुमारमेहणादस्स रहो । [देव ! उत्पतितः कुमार-मेघनादस्य रथः ।]

सुमुखः—

निश्चक्रचीत्कृतिरलब्धमहीतलत्वात् क्षुण्णाम्बुदोदरपयोमयगर्भसारः ।
धूरतुण्डघट्टनविवर्त्तितऋक्षलक्षः पुत्रस्य ते गगनमुत्पतितो रथोऽयम् ॥३८॥

दुर्मुखः—पभञ्जणणन्दणोवि वाणरिन्दो अणुप्पडिओ मेहणादस्स रहवरम् [प्रभञ्जननन्दनोऽपि वानरेन्द्रोऽनूत्पतितो मेघनादस्य रथवरम् ।]

सुमुखः—

मेघोदरद्रुतपरिप्लुतमोचिताम्भाः संस्तभ्य सप्ततुरगानरुणेन दृष्टः ।
वैमानिकैः स्तुत इतः क्षणमुक्तमार्गः सौमित्रिणा सह खमुत्पतितो हनूमान् ।३९।

करङ्ककः—(वामतः)

(सोचकर) तो यह बात प्रकृत्या क्रोधी रावण ने न सुनी । ठीक है । कहीं विभीषण का वृत्तान्त फिर न हो जाय । (प्रकट) कुम्भकर्ण ने क्या कहा ?

धनुष छोड़ो । भुशुण्डी-समूह, पट्टिश तथा मुद्गर भी दूर रहे । मैं दौड़ रही वानरी सेना को खाते हुए तृप्ति तथा शत्रुक्षय करूँगा ॥३७॥

रावण—ठीक कहा वत्स ! ठीक । मेरे छोटे भाई जो हो ।

दुर्मुख—देव ! कुमार मेघनाद का रथ उठ गया ।

सुमुख—जिसके पृथ्वी का स्पर्श न होने से पहियों की घड़घड़ाहट नहीं हो रही है, जिसके द्वारा बादलों के बीच जलमय भाग (स्पर्श से) नष्ट हो गया है तथा जिसके अग्रभाग की रगड़ से नक्षत्र-मण्डल चञ्चल हो उठा है ऐसा आपके पुत्र का यह रथ आकाश में उड़ गया ॥३८॥

दुर्मुख—मेघनाद के रथ के पीछे वानरेन्द्र वायुपुत्र हनूमान् भी उड़ गये ।

सुमुख—तेज उड़ने से जिन्होंने मेघगर्भ से जल निकाल दिया है, अरुण सूर्यरथ के सात घोड़ों को रोककर जिन्हे देख रहे हैं और विमानचारी इतस्ततः जिनके लिये मार्ग छोड़ रहे हैं ऐसे हनूमान् लक्ष्मण के साथ आकाश में गये ॥३९॥

(बायीं ओर से करंक)

दिङ्मातङ्गैः कमठपतिना भोगिभर्त्रा च शङ्के
कृत्वा रुद्धां कथमपि धृता दूरतन्त्री धरित्री ।
स्वप्राग्भागस्थगितगगने कुम्भकर्णे विनिर्या-
त्युच्चैर्नीतो दिनमणिरथस्त्रस्यता चारुणेन ।।४०।।

(नेपथ्ये) कः कोऽत्र भोः विज्ञाप्यतां देवो दशकण्ठस्तदिदं तवानुजः प्रतिजानीते ।

सीताप्रियं च दलितेश्वरकार्मुकं च वालिद्रुहं च रचिताम्बुधिबन्धनं च ।
रक्षोहणं च विजिगीषुविभीषणं च रामं निहत्य चरणौ तव वन्दिताहे ।।४१।।

रावणः—साधु वत्स कुम्भकर्ण ! साधु कथमन्यथा समरसीमनि रावणस्त्वत्प्रवणः ।

(दक्षिणतो नेपथ्ये)

सुमुखः—देव ! दृश्यतां क्षत्रियतापसव्यवसायः ।

पौलोमीकुचसिचयं हठेन हृत्वा यः क्लृप्तो नृहरिसटौघचामराङ्कः ।
त्वत्सूनोः शिखिरथकेतने च तस्मिन् सौमित्रेः सपदि पतन्ति बाणदण्डाः ।।४२।।

(पुनरवलोक्य) साधु भोः कुमारमेघनाद ! साधु साधु ! संक्रान्तकार्मुकोपनिषदाचार्याद्दशकण्ठतोऽसि ।

कुम्भकर्ण के रणभूमि में निकलते समय उसके शरीर के अग्रभाग से गगन को व्याप्त कर लेने पर दिग्गजों, कच्छप और शेष ने किसी प्रकार अत्यन्त भारवाली विस्तृत पृथ्वी को धारण किया तथा भयभीत अरुण (सूर्य-सारथि) ने सूर्यरथ को ऊँचा कर लिया ।।४०।।

(नेपथ्य में) यहाँ कौन है ? रावण को सूचित करो कि तुम्हारा अनुज प्रतिज्ञा करता है कि—

सीता के प्रिय, शिव-धनुष को तोड़ने वाले, बालि के शत्रु, समुद्र में सेतु-निर्माता, राक्षसों के शत्रु तथा विजयेच्छुओं के भयकारी राम को मारकर आपके चरणों की वन्दना करूँगा ।।४१।।

रावण—साधु वत्स कुम्भकर्ण ! तुम धन्य हो । समरभूमि में रावण क्यों न तुम्हारा प्रेमी हो ।

(दक्षिण ओर से नेपथ्य में) सुमुख—देव ! क्षत्रिय तपस्वी के कर्म को देखें—

आपके पुत्र ने भगवान् नृसिंह के चामर के चिह्नों वाले जिस इन्द्राणी के कुचाञ्चल को हठात् छीनकर अग्नि-रथ पर पताका बनाया था आपके पुत्र की उस पताका पर लक्ष्मण के बाणदण्ड सद्यः गिर रहे हैं ।।४२।।

(पुनः देखकर) धन्य हो मेघनाद ! तुम धन्य हो । पिता रावण से तुमने धनुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की है ।

देव पुलस्त्यनन्दन !

यन्मङ्गले स्नपितमञ्जनयाऽऽर्द्रनेत्र्या यन्मारुतश्च परिचुम्बति कौतुकेन ।
न्यस्तः शरः शिरसि तत्र हनूमतोऽस्य पुत्रेण ते रभसलङ्घितसागरस्य ॥४३॥

रावणः—तर्हि प्रतिकृतो लङ्कादाहपरिभवः कुमाराक्षवधपरिभवश्च वत्स-मेघनादेन ।

सुमुखः—

यानूर्मिलापतिरयं च तवात्मजश्च
बाणोत्करान् विकिरतो रचितान्धकारान् ।
तेऽन्योन्यखण्डनवशाद्विफलीभवन्ति
रत्युत्सवे बधिरयोरिव कण्ठनादाः ॥४४॥

कङ्कालकः—(वामतः) किं पुण एस विडम्बिअहेरम्बगदगुञ्जारवो विणिज्जिदसङ्करकराकालिअगड्डमरडमरुअकोलाहलो कुण्ठिअवेउण्ठसूयरघोरघक्कारप्पसरो णिउञ्जिअणरसिंहमुक्कपुक्कलवुक्करवइएरो असेससद्दसंमद्दो सुणी अइ [किं पुनरेष विडम्बितहेरम्बगलगुञ्जारवो विनिर्जितशङ्करकरास्फालितोड्डामरडमरुककोलाहलः कुण्ठितवैकुण्ठसूकरघोरघूत्कारप्रसरो निकुञ्जितनरसिंहमुक्तपुष्कलबुक्कारव्यतिकरोऽशेषशब्दसंमर्दः श्रूयते ।]

करङ्ककः—(कर्णौ पिधाय) देव ! यथाऽभिहितं कङ्कालकेन ।

देव रावण !

वेग से समुद्र को लांघने वाले हनूमान् के उस शिर में आपके पुत्र ने बाण मारा जिसे अञ्जना ने मङ्गलकार्यों में प्रेमपूर्वक स्नान करायी थीं और जिसे वायु देवता कौतुकपूर्वक चूमते हैं ॥४३॥

रावण—तो वत्स मेघनाद ने लंका-दाह की पराजय और अक्षयकुमार के वध-रूप पराजय का बदला ले लिया ।

सुमुख—उर्मिला के पति लक्ष्मण तथा आपके पुत्र रावण अन्धकार कर देने वाले जिन बाणों को फेंक रहे हैं वे परस्पर एक दूसरे को काट कर उसी भाँति विफल हो रहे हैं जैसे सुरतप्रसङ्ग में बधिर दम्पती के कण्ठों के शब्द ॥४४॥

कंकालक—(बायीं ओर से) क्या यह फिर गणेश के कण्ठनाद का अनुसरण करने वाला, आदि वराह की घोर ध्वनि को कुण्ठित करने वाला और भगवान् नृसिंह द्वारा मुक्त घोर चिग्घाड़ को कुण्ठित करने वाला शब्द सुनायी पड़ रहा है ।

करकक—(कानों को मूंद कर) देव ! जैसा कि कङ्कालक ने कहा है—

कुर्वन्नुत्कर्णतालान् दिशि दिशि करिणो धौर्जटीनां जटानां
बन्धाहिग्रन्थिमुद्रां सपदि शिथिलयन् खण्डितोपेन्द्रनिद्रः।
कुन्दानो नन्दिवाद्यं मुरजमुखरतं भुग्नविश्वप्रमोदो
रोदोरन्ध्रं निरुद्धं प्रसरति किमिदं निष्ठुरज्यानिनादः ॥४५॥

रावणः—जाने वत्सस्य सामुख्यं भजता ज्याबन्धबन्धुरितं धनुरास्फालितं ज्येष्ठतापसेन।

(दक्षिणतो नेपथ्ये)

सुमुखः—गगनाङ्गणचारिणोरुभयोरपि सायकैर्विचित्रमाचेष्टितं तथा हि—

अमी पुरोऽभ्राणि विभिद्य पत्रिणः प्रयान्ति धारासलिलैः सह क्षितिम्।
वहन्त्यथैतानि च पश्य विश्वतः पृषत्करन्ध्रैः स्थितयोरनुक्रियाम् ॥४६॥

अपि च—अत्रान्तरिक्षकुक्षौ निरन्तरे शरव्यतिकरे।

अन्तर्धाय परिक्रमन्ति सभियः सिद्धाः प्रसिद्धा अमी
नात्यर्थं च सुधाभुजो वयमिति त्रस्यन्ति नाकौकसः।
दारानन्तरयद्भिरात्मवपुषा नष्टं च विद्याधरै-
रभ्यस्यन्ति च काण्डवारणकरां विद्यां गणश्रेणयः ॥४७॥

दिशाओं में दिग्गजों के कानों को खड़ा करते हुए, शंकर-जटाओं की सर्पग्रन्थि को सद्यः शिथिल करते हुए, नारायण की योग-निद्रा को तोड़ते हुये, नन्दी के मुखलग्न मुरज वाद्य को फीका करते हुये और विश्व के आनन्द को नष्ट करते हुये धनुष की टङ्कार द्यावा-पृथिवी के अन्तराल में फैल रहा है ॥४५॥

रावण—मालूम पड़ता है वत्स कुम्भकर्ण का सामना होने पर राम ने प्रत्यञ्चा के बन्ध से झुके धनुष की टंकार की है।

(दक्षिण ओर से नेपथ्य में)

सुमुख—गगनाङ्गण में घूम रहे उन दोनों के बाणों ने विचित्र कर्म किया क्योंकि—

ये बाण सामने के मेघों को फोड़कर जल-वृष्टि के साथ पृथ्वी पर गिर रहें हैं तथा देखो ये बादल भी आकाश में स्थित उन दोनों का अनुकरण जल-बिन्दु के छेदों द्वारा कर रहें हैं अर्थात् उनपर जल गिरा रहे हैं ॥४६॥

और—अन्तरिक्ष के पेट में निरन्तर शर-संपात होने पर—

ये प्रसिद्ध सिद्ध भय से अन्तर्धान होकर चलते हैं, देवता अमृतपायी अमर होने से अधिक नहीं डरते, विद्याधर अपनी स्त्रियों को अपने शरीर से छिपाते हुये अन्तर्धान हो गये और अन्य (आकाशचारी) प्राणी बाण को रोकने वाली विद्या का अभ्यास कर रहे हैं ॥४७॥

कङ्कालकः—(वामतः) कहं परिअणसमप्पिअं प्पहरणसंदोहमवमण्णिअ पसरिओ कुम्भकण्णो। [कथं परिजनसमर्पितं प्रहरणसंदोहमवमत्य प्रसृतः कुम्भकर्णः।]

करङ्ककः—किमाह कुम्भकर्णः। आस्तां धनुरित्यादि पठति।

रावणः—साधु वत्स! साधु सत्यं मदनुजोऽसि तदुद्धृतं रावणहृदयशल्यम्।

दुर्मुखः—हा हा किं एअं वट्टइ जदो सव्वदो सदसहस्सलक्खसंखा पज्जलन्ति हुहवहा जहं अ अज्जणगिरिकुडविअडो पसरइ धूसुप्पीडो मेरुसिहरदीहरसिहाघट्टा-विसट्टन्ति जालाओ सज्झारविमण्डलपज्जलङ्गाविप्फुरन्तिप्फुलिङ्गा। [हा हा किमेतद् वर्तते। यतः सर्वतः शतसहस्रलक्षसङ्ख्याः प्रज्वलन्ति हुतवहा यथा चाञ्जनगिरिकूटविकटः प्रसरति धूमोत्पीडो मेरुशिखरदीर्घशिखासंघा विसरन्ति ज्वालाः संध्यारविमण्डलप्रज्वलाङ्गा विस्फुरन्ति स्फुलिङ्गाः।]

रावणः—

अनेन लङ्का यदकारि मत्पुरी हनूमतो गात्रगतेन भस्मसात्।
निजापराधप्रशमाय तद् ध्रुवं निषेवितुं मामयमेति पावकः ॥४८॥

सुमुखः—देव! पदातिलवस्तु सुमुखोऽभिमन्यते लक्ष्मणदिधक्षया कुमारमेघ-नादेन प्रहितमाग्नेयमस्त्रं तत एष भुवनाप्लोषः। (अङ्गुल्या निर्दिशन्)

(बायीं ओर से)

कङ्कालक—नौकरों से दिये गये आयुधों को छोड़कर कुम्भकर्ण युद्ध में कैसे चल दिया ?

करंक—क्या कहा कुम्भकर्ण ने ? 'धनुष छोड़ो' (८।३७) इत्यादि पढ़ता है :

रावण—धन्य हो वत्स ! तुम धन्य हो। तुम मेरे वास्तव में अनुज हो। तुमने रावण के हृदय का काँटा निकाल दिया।

दुर्मुख—हाय ! हाय ! यह क्या हो रहा है ? क्योंकि चारों ओर से लाखों अग्नियाँ प्रज्वलित हो रही हैं जिससे अञ्जन गिरि के शिखर जैसा विकट धूम फैला रहा है, मेरु के शिखर जैसे दीर्घ शिखाओं वाली ज्वालायें फैल रही हैं और सन्ध्या कालीन सूर्य-मण्डल जैसी प्रज्वलित चिनगारियाँ फूट रही हैं ॥४८॥

रावण—हनुमान् के शरीर में लगने पर इस अग्नि ने जो मेरी पुरी लंका को भस्मशात् कर दिया था उस अपने अपराध की शान्ति के लिए यह अग्नि मेरी सेवा करने आ रहा है ॥४८॥

सुमुख—देव ! कुमार मेघनाद द्वारा लक्ष्मण को जलाने के लिये छोड़ा गया आग्नेय अस्त्र सामान्य पैदलों को सरल समझ रहा है इसी से यह भुवन दाह हो रहा है। (अंगुलि से दिखाते हुये) (आग्नेयास्त्र का विस्तार होने पर—)

सद्यः सिञ्चति विष्टराम्बुजमयं देवः श्रुतीनां कवि-
स्तारान्तःपुरयानुपैति गगनाच्चन्द्रो जलार्द्रावृतः।
गङ्गा च द्युमणेः सुता च सरितावन्योन्यमाश्लिष्यतः
किंचास्त्रानलडम्बरे करिमुखः क्षीराब्धिमाधावति ॥४९॥

अपि च—

दुग्धाब्धेः क्वथनाविलं तत इतो धत्ते पयः पिण्डतां
शैलेन्द्रः प्रविलीनकृत्स्नतुहिनः पाषाणशेषः स्थितः।
सान्द्राभिः करकाश्मवृष्टिभिरमी गर्भं क्षरन्त्यम्बुदाः
प्लोषार्तिं च समश्नुते रविरपि स्वाहापतेः पत्त्रिभिः ॥५०॥

कङ्कालकः—(वामतः) देव पेक्ख दाव दावसभुअदण्डकोअण्डप्फालणाणन्तरं परिहरिअ पहरणाइं रहसुम्मुलिदतमालमालं सहत्थम्भामिदपहरणसज्जसज्जं समुहागदहिन्तालतालं दूरुल्लासिदकुसुमपाडलपाडलं गअणन्दोलिदविसालसालं रहसुच्छलिदपडन्तकेसरकेसरं गहिदसव्वङ्गसरलसरलं लोलिद कुसुमसंदणसंदणं पअट्टुध्धरिदसव्वंसव्वंसं पअण्डकरकलिदपलासपलासं करजुअलबन्धरअवसपउन्त-पीपलपीपलं णिसग्गकठिणक्कक्करकक्करं णहप्पहारुक्खाअपत्थरपत्थरं पहरणीकदपड-न्तगण्डगण्डसेल्लं सम्मुहोच्छुलिदं प्पहाप्पबलं वाणरबलम्। [देव ! प्रेक्षस्व तावत् तापसभुजदण्डकोदण्डास्फालनानन्तरं परिहृत्य प्रहरणानि रभसोन्मूलिततमालमालं स्वहस्त-भ्रामितप्रहरणसज्जसर्जं समुखागतहिन्तालतालं दूरोल्लासितकुसुमपाटलपाटलं गगनान्दो-लितविशालशालं रभसोच्छलितपतत्केसरकेसरं गृहीतसर्वाङ्गसरलसरलं लोलितकुसुमस्य-

---

श्रुतियों के रचयिता ये देव ब्रह्मा अपने बैठने के कमल को सींच रहे हैं, तारा-पति चन्द्रमा जल से सिक्त होकर आकाश से भाग रहे हैं, गंगा और सूर्य-पुत्री यमुना—ये दोनों नदियाँ परस्पर आलिङ्गन कर रही हैं और गणेश क्षीरसागर को भाग रहें हैं ॥४९॥

और—स्वाहापति (अग्नि) के बाणों द्वारा क्षीराब्धि का दुग्ध इतस्ततः दाह से पिण्डरूप हो रहा है, हिमालय समग्र हिम के नष्ट होने से पत्थर मात्र रह गया है और ये मेघ सिक्त वज्रपातसहित वृष्टियों के द्वारा गर्भ को गिरा रह हैं और सूर्य भी दाह जन्य कष्ट को पा रहे हैं ॥५०॥

कंकालक—(बायीं ओर से) देव ! देखें—यह वानर-सेना प्रहार में प्रबल है। इसमें तपस्वी के भुजदण्ड द्वारा धनुष खींचे जाने पर अस्त्र छोड़कर वेग से तमाल-समूह को उखाड़ लिया है, अपने हाथों द्वारा घुमाये जाते हुये अस्त्र से सर्ज-वृक्ष को प्रहार के लिए तैयार कर लिया है, सामने पड़े हिन्ताल तथा ताल-वृक्षों को ले लिया (अर्थात् उखाड़ दिया) है, फूलों से लाल पाटल

न्दनस्यन्दनं प्रयत्नोद्धृतसर्वांशवंशं प्रचण्डकरकलितपलाशपलाशं करयुगलबन्धरयवशपतत्-पिप्पलपिप्पलं निसर्गकठिनकर्करकर्करं नखप्रहारोत्खातप्रस्तरप्रस्तरं प्रहरणीकृतपतद्गण्ड-गण्डशैलं संमुखोच्छलितं प्रहारप्रबलं वानरबलम् ।]

रावणः—का पुनरमीभिर्गणना शलभायन्ते कुम्भकर्णे वानरबलानि ।

दुर्मुखः—(दक्षिणतो) किं पुण एदं दसदिसापसरिदचउस्समुद्दं विअ जल-अन्ताअन्तगिरिन्दसंदोहं विअ सलिलीभूदगअणवलअं विअ वारिसिद्धिमेत्तपअट्टप्य-आवईवावारं विअ भुअणब्भन्तरं वट्टदि । [किं पुनरेतद् दशदिशाप्रसृतचतुःसमुद्रमिव जलयन्त्रायमाणगिरीन्द्रसंदोहमिव सलिलीभूतगगनवलयमिव वारिसिद्धिमात्रप्रवृत्तप्रजापति-व्यापारमिव भुवनाभ्यन्तरं वर्तते ।]

सुमुखः—एवमेवैतत् ।

न्यस्यत्कान्ति हुतवह इव स्वर्गपद्माकराणां
ज्वालाधौतान्यपि विशदयन्नग्निशौचांशुकानि ।
रिक्ताभ्राणां भरणकरणं स्थान एव स्थितानां
किं नामायं प्लवयति पुरो रोदसी वारिपूरः ।।५१।।

रावणः—(विचिन्त्य) सेयमनभ्रवृष्टिः । विमृश्य भवतु ज्ञातम् ।

वृक्षों को एकदम उखाड़ दिया है, आकाश में सर्ज-वृक्षों को घुमा रहे हैं, वेग से वकुल वृक्षों को उखाड़ लिया है जिससे उनसे किंजल्क गिर रहा है, सर्वथा सीधे सरल वृक्षों को ले लिया है, फूल गिराने वाले तिनिश वृक्षों को हिला दिया है, प्रयत्नपूर्वक समस्त बाँसों को उखाड़ लिया है, प्रचण्ड करों से पलाश-वृक्ष के फूलों को तोड़ दिया है, दोनों हाथों के बन्ध से पिप्पल वृक्ष के फल-फूल झड़ रहें हैं, स्वभावतः कठिन कर्कर के समान कठिन हैं, नख के प्रहार से पाषाणों को उखाड़ लिया है, जिनसे वीर गिर रहे हैं ऐसे क्षुद्र पर्वतों को अस्त्र बनाया है तथा सम्मुख युद्ध में उछल रहे हैं ।

रावण—फिर इनकी क्या गणना ? वानरी सेना कुम्भकर्ण के पास पतङ्ग (कीड़ा) बनकर है ।

दुर्मुख—(दक्षिण ओर से) यह जगत् का अभ्यन्तर ऐसा हो गया है जिसमें दशों दिशायें ही जलायमान चारों समुद्र हो गई हैं, पर्वत-समूह जल-यन्त्र जैसे हो गये हैं, गगन-मण्डल जलभूत हो गया है, प्रजापति जलसृष्टि में प्रवृत्त से हो गये हैं ।

सुमुख—ऐसी ही बात है ।

अग्नि की तरह स्वर्ग-सरोवरों की शोभा को विखेरते हुए ज्वाला से उदीप्त अग्नि-शौच वस्त्रों को परिष्कृत करते हुए, एक स्थान पर स्थित खाली बादलों के भरने का साधनभूत यह जल-समूह क्या सामने द्यावा-पृथिवी के अन्तर को भर रहा है ।।५१।।

रावण—(सोचकर) तो यह अनभ्रवृष्टि है (विचारकर) ठीक है मालूम हो गया—

लक्षीकरोमि वरुणं न शरावलीनां वार्यन्त्रतां व्रणशतैर्यदयं बिभर्ति ।
मोक्तुर्महाकरुणयात्युपकारिणो मे सीतावियोगदवथुं स हि मार्ष्टि वृष्ट्या॥५२

सुमुखः—अहं पुनर्जाने चैत्रभानवमस्त्रमवजेतुं वारुणवाणप्रवणो लक्ष्मणः ।

कङ्कालकः—अध तत्थ केवि कद्दणो कुम्भअण्णस्स चण्डिलणहसिहरेहिं खण्डिदकआ वराहा विअ पाएसु पडन्ति उपणिमन्तिणोव्व जङ्घासु लग्गन्ति पुरिसकडिलग्गपडव्व ऊरुसु मव्वन्ति अस्सवारकरवालव्व णिअम्बबिम्बे दोलन्ति सुअणव्व मज्झत्था होन्ति विहुरकुण्डबव्व पासेसु चिट्ठन्ति तरुणीथणव्व वच्छत्थले वित्थरन्ति वेणिदण्डव्व पुट्ठिट्ठाणे घोलन्ति चिरमिलअबन्धवव्व कण्ठे लग्गन्ति कवोलगलिअजलबिन्दुव्व चिवुअगो ललन्ति चुम्बणरसिवव्व अहरं पीडअन्ति सुरहिपरिमलव्व जहिच्छं नासाविवरेसु सञ्चरन्ति सुहासिअव्व कण्णेसु प्पइसन्ति सिविणअव्व अच्छीसु लम्बन्ति प्पट्ठाणतिलअव्व भाले विप्फुरन्ति णोचव्व समालम्बिदा सीसे समारुहन्ति भुअंङ्गाव्व केसगाहे अहिरमन्ति । [**अथ तत्र केऽपि कपयः कुम्भकर्णस्य चण्डिलनखशिखरैः खण्डितकचा वराहा इव पादयोः पतन्ति उपनिमन्त्रिता इव जङ्घासु लगन्ति पुरुषकटिलग्नपटा इवोर्वोर्मर्वन्ति अश्ववारकरवाला इव नितम्बबिम्बे दोलन्ति सुजना इव मध्यस्था भवन्ति विधुरकुटुम्बा इव पार्श्वयोस्तिष्ठन्ति तरुणीस्तना इव वक्षःस्थले विस्तरन्ति वेणीदण्डा इव पृष्ठस्थाने घूर्णन्ति चिरमिलितबन्धव इव कण्ठे लगन्ति कपोलगलितजलबिन्दव इव चिबुकाग्रे ललन्ति चुम्बनरसिका इवाधरं पीडयन्ति सुरभिपरिमला इव यथेच्छं नासाविवरयोः संचरन्ति सुभाषितमिव कर्णयोः प्रविशन्ति**

वरुण को बाण-समूहों का लक्ष्य मैं नहीं बनाता क्योंकि यह मेरे (पूर्वप्रहार-जन्य) सैकड़ों व्रणों को वारियन्त्र के रूप को धारण करता है । अब यह यहाँ करुणा से उसे छोड़ने वाले मुझ उपकारी के सीता-वियोग जन्य सन्ताप को वृष्टि से मिटा रहा है ॥५२॥

सुमुख—मैं समझता हूँ अग्न्यस्त्र को नष्ट करने के लिये लक्ष्मण वारुण बाण प्रयोग कर रहे हैं ।

कंकालक—कोई वानर तो कुम्भकर्ण के प्रचण्ड नखों से छिन्नकेश होकर वाराहों की भाँति पैरों में लगते हैं, निमन्त्रितों की भाँति जंघाओं में लगते हैं, पुरुष की कमर में लगे वस्त्रों की भाँति कमर में लगते हैं, घुड़सवारों के तलवारों की भाँति नितम्ब में लटक रहे हैं, सुजनों की भाँति मध्यस्थ (मध्य भाग में स्थित) हो रहे हैं, दुःखी कुटुम्बों की भांति पार्श्वों में स्थित होते हैं, तरुणियों के स्तनों की भाँति वक्षःस्थल में फैल रहे हैं, वेणीदण्ड की भाँति पीठ पर लटक रहे हैं, बहुत दिनों के बाद मिले बन्धुओं की भाँति कण्ठ में लगते हैं, कपोल पर गिरे जल बिन्दुओं की भाँति चिबुक (ठुड्डी) पर लुढ़क जाते हैं, चुम्बन-प्रेमियों की भाँति अधर को काट रहे हैं, सुगंधि रजों की भाँति नाकों में यथेच्छ फैल रहे हैं, सुभाषित की भाँति कानों में घुस रहे हैं, नींद की भाँति आँखों में लग रहे हैं,

स्वप्ना इवाक्ष्णोर्लम्बन्ते प्रस्थानतिलका इव भाले विस्फुरन्ति नीचा इव सभालम्बिताः शीर्षे समारोहन्ति भुजङ्गा इव केशग्रहेऽभिरमन्ते ।]

रावणः—अथ प्लवङ्गयूथपतिषु किं कुरुते कुम्भकर्णः ।

कङ्कालकः—तदो तेण ताणं मज्झे केवि हृदा पादेहिं कुप्परिदा कुप्परपहारेहिं कीलिदा कीलेहिं सकरीकदा करसंपुडुप्पीडणेण अप्फालिदा तलप्फालेहिं चप्पडिदा चवेडाहिं निव्वाविदा मुट्ठीहिं वथिदा अ चलणेहि । [ततस्तेन तेषां मध्ये केऽपि हताः पद्भ्यां कूर्परिताः कूर्परप्रहारैः कीलिताः कीलैः शर्करीकृताः करसंपुटोत्पीडनैरास्फालितास्तलास्फालैश्चिपिटीकृताश्चपेटाभिर्निर्वापिता मुष्टीभिर्व्यथिताश्च चरणाभ्याम् ।]

करङ्कः—एवमेवैतत् ।

मुष्ट्या पिनष्टि सुदृढैश्च तलैस्तृणेढि पद्भ्यां निशुम्भति करेण च हन्त हन्ति ।
तूर्णं च कर्णमतिकुर्पति कूर्परास्त्रमस्त्रायितावयव एष तवानुजन्मा ।५३।

सुमुखः—(जलपीडापगममभिनीय) देव ! दिष्ट्या युगपत्स्वपरबलविनाशशङ्कितेन सौमित्रिणा संहृतं वारुणमस्त्रं तथा हि—

ज्वालापल्लवितो भवत्यतितरां नाद्याप्ययं पावकः
संवृत्तो रणरेणुधूसरवपुः स्नात्वा रविर्भास्वरम् ।
शान्तः स्थाणुविलोचने च विषमच्छात्कारनादो महान्
प्रक्षाल्याम्बरमुर्वरां च विरते दिव्यास्त्रजे वारिणि ।।५४।।

गमन-काल में लगाये जाने वाले तिलकों की भाँति ललाट में फैल रहे हैं, नीचों की भाँति आश्रय पाकर शिर पर चढ़ रहे हैं, विटों की भाँति केश-ग्रहण में रत हैं ।

रावण—और वानर-सेनापतियों पर कुम्भकर्ण क्या कर रहा है ?

कंकालक—तब उसने उसमें से कुछ को पैरों के प्रहार से मार डाला, बाहों के प्रहार से काँख में दबा दिया मुक्के से मार डाला, दोनों हाथों को जोडकर चूर्ण कर दिया, तल प्रहार से मार डाला, चपेट से चिपटा कर दिया, मुट्ठो से मसल दिया और चरणों से व्यथित कर दिया ।

करंक—ऐसी ही बात है—

मुट्ठी से पीस रहा है, कठोर तलवों से मार रहा है, पैरों से सुतरां मार रहा है, तथा हाय ! हाथ से मार रहा है, बाजुओं से कानों को मसल रहा है—यह आपका अनुज अपने शरीर के अवयवों से ही अस्त्रवाला बना है ।।५३ ।।

सुमुख--(जलपीड़ा का अन्त अभिनयकर) देव ! भाग्य से सौमित्रि ने एक ही साथ स्वपक्ष तथा परपक्ष के विनाश की शंका से वारुणास्त्र हटा लिया क्योंकि--

दिव्यास्त्र से उत्पन्न जल के आकाश तथा उर्वरा पृथ्वी को सिक्त कर शान्त होने पर यह अग्नि अब भी ज्वालामालाओं का विस्तार नहीं कर रहा है । रण-धूलि से धूसरित शरीर वाला सूर्य स्नानकर चमकीला हो गया तथा शिव के नेत्र का विषम छात्कार शब्द शान्त हो गया ।।५४।।

करङ्कः—(वामतः)

नासारन्ध्रनिरोधतः श्रवणयोश्छिद्रद्वयाच्छादना-
च्चक्षुःसंपुटघट्टनान्मुखमहाव्यादानसंकोचनात् ।
दोर्मूलद्वयपीडनाच्च कुरुते क्रुद्धस्तवात्रानुजो
दिङ्मातङ्गपराक्रमानपि कपीन् हाहारवस्यास्पदम् ॥५५

अपि च लङ्कापते पौलस्त्य !

धुतानां भवतो भ्रात्रा कपीनां तनुकम्पतः ।
रोमावलम्बनभ्रष्टा विनष्टाः पञ्च कोटयः ॥५६॥

दुर्मुखः—(दक्षिणतो सत्रासं) किं पुण बहलतेलकल्लविदकज्जलविल्लिदं विअ तरुणताविच्छरिच्छोलिच्छण्णं विअ ससलिलजलअज़ालमालिदं विअ सिदिकण्ठ-कण्ठप्पहापिहिदं विअ अवणुण्णनाराअणकन्ति सव्वस्सं विअ जममहिसविसाणेहिं क्किण्णं विअ हेरम्बदाणकद्दमकरम्बिअं विय भुवणङ्गणं वट्टदि । [किं पुनर्बहलतैल-मिश्रितकज्जलविलिप्तमिव तरुणतापिच्छकान्तिच्छन्नमिव ससलिलजलदजालमालितमिव शितिकण्ठकण्ठप्रभापिहितमिवावनुन्ननारायणकान्तिसर्वस्वमिव यममहिषविषाणाभ्यां कीर्णमिव हेरम्बदानकर्दमकरम्बितमिव भुवनाङ्गणं वर्तते ।]

रावणः—ननु क्व पुनस्तमस्काण्डैकचण्डो मार्तण्डो वर्तते । (विचिन्त्य विहस्य च)

करंक--(बायीं ओर से)

इस क्रुद्ध आपके अनुज ने नासारन्ध्रों को बन्द करने से, कानों के दोनों छिद्रों को ढकने से, आँखे निमीलित करने से, मुख के विस्तृत फैलाव को बन्द करने से, दोनों बाहों की रगड़ से दिग्गजों जैसे पराक्रमशाली वानरों को भी हाहाकार का पात्र बना दिया है ॥५५॥

हे लङ्कापति पुलस्त्यनन्दन !

आपके भाई कुम्भकर्ण के शरीर कँपाने से फेंके गये वानरों के पाँच करोड़ नष्ट हो गये ॥५६॥

दुर्मुख---(दक्षिण ओर से भयपूर्वक) तरल तैल से मिश्रित कज्जल से लिप्त जैसा, तरुण तमालों की कान्ति से आवृत जैसा, जलपूर्ण मेघसमूह से शोभित जैसा, शंकर के नीलकण्ठ छवि से अच्छादित-जैसा, नारायण के कान्ति को प्राप्त जैसा, यम के महिष को सीगों से फेंका जैसा, गणेश के मद जल के पङ्क से ग्रस्ता जैसा संसार हो गया है ।

रावण —अन्धकार का नाशकर्ता सूर्य कहाँ है ? (सोचकर तथा हँसकर)

अराममपलक्ष्मणं भुवनमद्य निर्वानरं
विधाय शरवीथिभिर्नियतमिन्द्रजिद्रोषितः।
जिघांसयति स मां गुरुं रघुभुवामितीव क्वचिद्-
भिया दिनकरे गते त्रिजगदेतदन्धं स्थितम् ॥५७॥

(भूयो विहस्य) तदहो दिनकरः क्व न दृश्यते वत्समेघनादस्य।

सुमुखः—(दक्षिणतः) देव पदातिलवस्तु सुमुखो मन्यते। रणाङ्गणचारिणो वैरिणोऽन्धीकरणकारणतामिस्रमस्त्रमवतारितं युवराजेन्द्रजिता यतः—

चक्रद्वन्द्वैर्विरहकलनाकातरैर्दीनदृष्टो
दत्तौत्सुक्यः कुवलयदृशां साभिसारक्षतानाम्।
दृग्दौर्बल्यं विदधदधिकं हस्तहार्योऽन्धकारो
राजावर्तद्रुतिविरचितां क्ष्मां च खं चातनोति ॥५८॥

कङ्कालकः—(वामतः) तधा अ दृढदहिज्जन्तकलेवरं जज्जरिज्जन्तमवलोइअ पवङ्गवग्गं पधाविदो समं दलिदञ्जणणीलेण णीलेण रहसुग्गीवो सुग्गीवो किदा अ सरलीकदभुअदण्डमण्डले सुवेलसेलमूलादो उप्पाडिअ णिज्झरजम्बालपिच्छिला सिला। [तथा च दृढदह्यमानकलेवरं जर्जरितमवलोक्य प्लवङ्गवर्गं प्रधावितः समं दलिताञ्जननीलेन नीलेन रभसोद्ग्रीवः सुग्रीवः कृता च सरलीकृतभुजदण्डमण्डले सुवेल-शैलमूलादुत्पाट्य निर्झरजम्बालपिच्छिला शिला।]

क्रुद्ध मेघनाद शरसमूहों से लोक को राम-विहीन, लक्ष्मण-विहीन तथा वानर-रहित बनाकर निश्चय ही रघुवंश के पूर्वपुरुष मुझे मारना चाहता है इस भय से सूर्य के कहीं चले जाने पर यह त्रैलोक्य अन्धकार-ग्रस्त हो गया है ॥५७॥

(पुनः हँसकर) अहा ! सूर्य और वत्स मेघनाद कहीं नहीं दिखाई पड़ते।

सुमुख—(दक्षिण ओर से) पदाति सेना को सरल समझता है। रणभूमि में विचरण करने वाले शत्रुओं को अन्धा करने के लिये युवराज मेघनाद ने तामिस्र अस्त्र को छोड़ा है क्योंकि—

विरह की आशंका से कातर चक्रवाक-मिथुनों के द्वारा दीनतापूर्वक देखा गया तथा अभिसारिका मृगनयनियों को उत्सुक बनाने वाला एवं दृष्टि को दुर्बल करने वाला तथा हाथ से पकड़ा जाने योग्य अर्थात् घना अन्धकार राजावर्त के द्रव से विरचित पृथ्वी तथा आकाश को व्याप्त कर रहा है ॥५८॥

कंकालक—(बायीं ओर से) जल रहे कायावाले वानरों को जर्जर देखकर मर्दित अञ्जन के समान नीलवर्ण के नील सेनापति के साथ सुग्रीव गर्दन उठाकर हाथ में सुवेल-पर्वत की कीचड़ से भींगी शिला को उठाकर कुम्भकर्ण की ओर दौड़ा।

करङ्कः—यथाऽभिहितं कङ्कालेन

अन्ध्रीनितम्बफलकस्य नरोत्तमानां वक्षःस्थलस्य च दधत्युपमानमुद्राम् ।
भ्रातुस्तवात्र हृदि साहसकेलितल्पे प्रक्षिप्यते हरिवरेण शिलेयमुर्वी ॥५९॥

रावणः—(विहस्य) तदिदं मृणालकाण्डेन गण्डशैलताडनम् ।

करङ्कः—कथं क्षिप्तैव । (रावणमुद्दिश्य)

संग्रामभीषणविभीषणपूर्वजस्य मुष्टचा दृढं शकलिताद्य तथा शिलेयम् ।
खण्डं यथा पतति मेदुरमुर्वरायां दृष्टं तदम्बुजपरागकणप्रमाणम् ॥६०॥

रावणः—(विहस्य) त एवं वर्ण्यन्ते येभ्यः कुप्यति कुमारकुम्भकर्णः ।

दुर्मुखः—(दक्षिणतः) अच्छरिअं किं पुण एदे णासण्तणीरन्धन्धआरा प्फुरन्तससिकन्तमणिणो विसट्टन्तकन्दोट्टवलआ संप्फुडिदपुडइणीकुसुमा सरसाअमाणपाणगोट्ठिणो णिट्ठविज्जन्तमाणंसिणीमाणा निसिज्जन्तवम्महसिलीमुहा भमन्तमअणुमत्तकामिणीसत्था दिउणरोवाविदविरहिणीणअणा तिउणहरिसाविदवल्लहसङ्गदङ्गणा चउग्गुणपच्छाविदपरिहरिअपिअप्पणाअणप्पणामा पञ्चउणपअदाविदसुरअमोहिदमिहुणा अ समन्तदो मिअङ्का अट्टन्ति । [आश्चर्यं किं पुनरेते नाशितनीरन्ध्रान्धकाराः स्फुरच्छशिकान्तमणयो विकसत्कमलवलयाः संस्फुटितकमलिनीकुसुमाः सरसायमानपानगोष्ठयो निस्तापितमनस्विनीमाना निषिध्यमानमन्मथशिलीमुखा भ्रमन्मदनोन्मत्तकामिनीसार्था द्विगुणरोदितविरहिणीनयनाः स्त्रिगुणहर्षितवल्लभसंगताङ्गनाश्चतुर्गुणप्रच्छादितपरिहृतप्रियप्रसादनप्रणामाः पञ्चगुणप्रकटितसुरतमोहितमिथुनाश्च समन्ततो मृगाङ्का वर्तन्ते ।]

करंक—जैसा कि कङ्कालक ने कहा है—साहस के लिए तल्पभूत, आन्ध्री-स्त्रियों के नितम्ब तथा नरोत्तमों के वक्षःस्थल के उपमानभूत आपके भाई के वक्षःस्थल पर वानरराज सुग्रीव ने यह महती शिला फेंकी ॥५९॥

रावण—(हँसकर) तो यह मृणालदण्ड के द्वारा क्षुद्र पर्वत का ताडन है ।

करंक—क्या फेंक ही दिया (रावण को उद्देश्य कर) भयंकर संग्राम में विभीषण के अग्रज कुम्भकर्ण की मुष्टि से यह शिला ऐसी चूर्ण कर दी गई कि उसके चूर्ण उर्वरा भूमि पर पद्म के रेणु जैसे चिकने-चिकने लगने लगे ॥६०॥

रावण—(हँसकर) जिनपर कुमार कुम्भकर्ण क्रुद्ध होता है उनकी यही दशा कही जाती है।

दुर्मुख—(दक्षिण ओर से) आश्चर्य है ! सघन अन्धकार को नष्ट कर रहे, चन्द्रकान्तमणि को स्फुरित कर रहे, कुवलय-समूहों को विकसित करते हुये, कमलिनी-कुसुमों को संकुचित करते हुये, सुरापान गोष्ठियों को रसमय बनाते हुये, मनस्विनी स्त्रियों के मानों को पिघलाते हुये, कामवाणों को रोकते हुये, कामोन्मत्त रमणियों को इतस्ततः भ्रमणशील बनाने वाला, विरहिणियों के नेत्रों को दुगुना रुलाते हुये, प्रियों के साथ की रमणियों को तिगुना प्रसन्न करते हुये, छिपे तथा हटाये प्रियों को प्रसन्न करने के निमित्त चतुर्गुण प्रमाणयुक्त, सुरत-क्रिया से मुग्ध व्यक्त जोड़ों को पंचगुना विस्तृत करते हुये चारों ओर चन्द्रमा दिखाई पड़ रहे हैं ।

रावणः—(सोल्लासमाकाशे) भो सेवाविदग्ध सुधादीधिते ! जानासि लङ्केश्वरमाराधयितुम् ।

सदा दिगन्तस्थितसान्द्रचन्द्रिकाः सुखाय नक्तञ्चरचक्रवर्तिनः ।
इति स्थितोऽयं बहुभिः स्वमूर्तिभिर्दिवाऽपि मां शीतरुचिर्निषेवितुम् ।।६१।।

सुमुखः—देव ! चिन्तयामि तामिस्रमस्त्रं तिरयितुं चान्द्रमसमायुधमाहूतं सुमित्रापुत्रेण यतः ।

कन्दर्पस्य प्रथमसुहृदः क्षीबयन्तोऽम्बुराशीन्
शेफालीनां धुतसुमनसो लीढमानाश्चकोरैः ।
निर्यान्त्येते विशिखमुखतः पश्य राकामृगाङ्काः
पङ्कश्यामं तिमिरशिबिरं दूरमुत्सारयन्तः ।।६२।।

करङ्कः—देव ! शिलोद्दलनवैलक्ष्ये

उद्वेलितोरगजनोज्झितचन्दनेन कर्पूरपादपसरद्रसनिर्भरेण ।
खण्डेन देव मलयस्य वलीमुखेन्द्रो हेलोद्धृतेन निजिघांसति कुम्भकर्णम् ।।६३।।

रावणः—अहो मर्कटकीटस्याध्यवसायः ।

रावण—(उल्लासपूर्वक आकाश में) हे सेवा में निपुण चन्द्र ! रावण की आराधना करना जानते हो ।

दिगन्तों में रहने वाली सघन चन्द्रिकायें राक्षसराज को सदैव सुख देती हैं इसलिये दिन में भी यह चन्द्र सेवा करने के लिये स्थित है ।।६१।।

सुमुख—सोचता हूँ कि तामिस्र अस्त्र को नष्ट करने के लिये सुमित्रापुत्र लक्ष्मण ने चन्द्रास्त्र छोड़ा है क्योंकि देखिये काम के श्रेष्ठ मित्र, समुद्रों को उन्मत्त कर रहे, चकोरों द्वारा शेफालिका के पुष्पों को रञ्जित करने वाली जिसकी किरणें पी जा रही हैं ऐसे, तथा पङ्क के समान काले अन्धकार के विस्तार को दूर करते हुये ये पूर्णिमा के चन्द्र बाणों के मुख से निकल रहे हैं ।।६२।।

करंक—देव ! शिला के चूर्ण करने से हुई लज्जा के होने पर—

वानरराज सुग्रीव हिलाये गये सर्पों से व्यक्त चन्दन वृक्षवाले तथा कर्पूरवृक्ष से निकल रहे रस वाले लीलापूर्वक उखाड़े गये मलय पर्वत के खण्ड से कुम्भकर्ण को मारना चाहते हैं ।।६३।।

रावण—तुच्छ वानर का अध्यवसाय बड़ा है ।

दुर्मुखः—(दक्षिणतो) रक्खसेसर पेक्ख णिअग्गहणसंकासङ्कुडन्त विम्बचन्दरविणो बहुरासुदंसणचमक्कन्तकामिणीदिण्णविसण्णच्छिविच्छोहभग्गपल्लत्थङ्गुलीकिसलअसमुप्पोसिदा अप्पसण्णवअणरंन्तीसूइदा चमकिदचन्दंतेउरवित्थरन्तविविहवहुबह्मघोसा भुवणुद्देसा दीसंति । [राक्षसेश्वर ! प्रेक्षस्व निजग्रहणशङ्कासङ्कुचद्बिम्बचन्द्ररवयो बहुराहुदर्शनचमत्कृतकामिनीदत्तविषण्णाक्षिविक्षोभभग्नपर्य्यस्ताङ्गुलीकिसलयसमुत्पोषिता अप्रसन्नवदनरात्रिसूचिताश्चमत्कृतचन्द्रान्तःपुरविस्तरद्विविधबहुब्रह्मघोषा भुवनोद्देशा दृश्यन्ते ।]

रावणः—(सविमर्शम्)

ममासुरस्य त्रिदशाः परं द्विषो विबाधयिष्ये दशकन्धरेण तान् ।
इहेति मां राहुरयं सबान्धवो रणेऽद्य पूर्वोपचिकीर्षुरागतः ॥६४॥

(आकाशे) स्वर्भानो ! मा भैषीः शरणार्थिनामभयकारणं रावणः ।

सुमुखः—शङ्के श्वैतांशवमायुधं बाधितुं राहवीयमस्त्रमिदमुदीरितं देवयुवराजेन यतः ।

रयचलितविमानैः स्वर्गिभिर्मुक्तमार्गा ग्रहचरितविदां च व्यञ्जितातङ्कमुद्राः ।
ग्रहणशतसहस्रोल्लासनासूत्रधाराः प्रतिशशि शितदंष्ट्रा राहवः संपतन्ति ।६५।

करङ्कः—(वामतः)

दुर्मुख—(दक्षिण ओर से) हे राक्षसेश्वर ! देखें—अपने ग्रहण की शंका से संकुचित चन्द्र तथा सूर्य-मण्डल वाला, बहुत से शत्रुओं को देखने से विषण्ण कामिनियों की आँखों पर अंगुलि लगाने वाला, अप्रसन्ना रात्रि से सूचित, चन्द्र के अन्तःपुर को चमत्कृत करने वाला तथा सामने बहुविध वेदध्वनि का विस्तारी संसार दिखाई पड़ रहा है ।

रावण—(विचार कर)

मुझ राक्षस के देवता परम शत्रु हैं । मैं उन्हे रावण द्वारा मरवाऊँगा इसलिए वान्धवों सहित राहु युद्ध में पहले उपकार करने की इच्छा से आया है ॥६४॥

(आकाश में) राहु ! डरो मत । शरणार्थियों को रावण अभय देता है ।

सुमुख—देव ! प्रतीत होता है चन्द्रास्त्र को शान्त करने के लिये युवराज मेघनाद ने राहु-अस्त्र का प्रयोग किया है ।

क्योंकि—

वेग से चलने वाले विमानों से स्वर्गवासियों ने जिनको मार्ग छोड़ दिया है, ग्रहगति के जानकारों को जिनसे आतङ्क हो गया है ऐसे शतसहस्र ग्रहणों की प्रस्तावना को करने वाले तीक्ष्ण दंष्ट्रा वाले राहु प्रत्येक चन्द्रमा पर गिर रहे हैं ॥६५॥

करंक—(बायीं ओर से)

अत्रान्तरे त्वदनुजेन धनुर्विधूय संधानकर्मणि कृतश्च समीरबाणः ।
सार्धं महीध्रशकलेन सुवेलमूलाद्वारांनिधौ निपतितः कपिचक्रवर्ती ॥६६॥

रावणः—(सहर्षक्रोधं) तर्हि सलिलेन्धने वह्नावाहुतीभूतः ।

करङ्कः—

यावन्न पाणिमपि संवृणुतेऽनुजस्ते
यावन्न शाम्यति च धिक्करणं सुराणाम् ।
तावन्नियोद्धुमुदधेः प्रथमः कपीना-
मस्य स्थितस्तडिति ताडितदोः पुरस्तात् ॥६७॥

रावणः—(स्वगतम्) वेगवत्तया वालिनमप्यतिशेते । (विचिन्त्य प्रकाशम्) प्लुतिप्रधानैव वानरजातिः ।

दुर्मुखः—(दक्षिणतो) लङ्कापरमेसर पेक्खपेक्ख कोत्थुहमणिणिवेसलंच्छिद-वच्छत्थलवणमालाप्पालम्बचुम्बणागददिव्वमहुअरमञ्जुगुञ्जारवविकिण्णकण्णा गरुडप्पहापुञ्जपिञ्जरिदरोदसीगम्भवित्थारा णिज्जिददलिदिन्दीवरदासकन्तिणो आकण्णाकड्ढिअसारङ्गधारिणो मुरारिणो संचरन्ति । [लंकापरमेश्वर ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व कौस्तुभमणिनिवेशलाञ्छितवक्षःस्थलवनमालाप्रालम्बचुम्बनागतदिव्यमधुकरमञ्जुगुञ्जारवविकीर्णकर्णा गरुडप्रभापुञ्जपिञ्जरितरोदसीगर्भविस्तारा निर्जितदलितेन्दीवरदामकान्तय आकर्णाकृष्टशार्ङ्गधारिणो मुरारयः संचरन्ति ।]

इसी बीच आप के अनुज ने धनुष फैलाकर वायु-बाण का संधान किया जिससे पर्वत के टुकड़े के साथ ही कपिराज सुग्रीव सुवेल पर्वत परं से समुद्र में गिर पड़े ॥६६॥

रावण—(हर्ष और क्रोध से) तो सलिल (जल) की इन्धनवाली अग्नि (वाडनाग्नि) में आहुति बन गया ।

करंक—जब तक आप का अनुज बाँहु भी नहीं समेटता और जब तक देवों का धिक्कार भी शान्त नहीं होता तभी कपिश्रेष्ठ सुग्रीव समुद्र से निकल कर बाँह ठोंकते हुये लड़ने के लिये सामने खड़ा हो गया ॥६७॥

रावण—(स्वगत) वेग में वालि से भी बढ़कर है (सोचकर प्रकट) वानर-जाति कूदने में प्रधान होती ही है ।

दुर्मुख—(दक्षिण ओर से) लङ्कास्वामिन् ! देखिये-देखिये कौस्तुभमणि से चिह्नित वक्षःस्थल वाले, लटकती वनमाला को चूमने आये मधुकरों की मंजु गुञ्जारों को सुन रहे, गरुड की प्रभा से आकाश-पृथ्वी को भासित कर रहे, विकसित नीलोत्पल दलों की माला की कान्ति को जीतने वाले तथा कान तक शार्ङ्ग धनुष को खीचने वाले बहुत से विष्णु घूम रहे हैं ।

रावणः—(ससंमदम्)

अयं हि सेवारचितार्द्रमानसो न वक्षसो मे कमलां हरिष्यति ।
इति स्वशक्त्या कृतभूर्तिविस्तरैरजोऽपि मां रञ्जयितुं समागतः ॥६८॥

(आकाशे) हंहो नारायण ! न प्रणतदारापहारी दशकण्ठः ।

सुमुखः—देव ! संभावयामि सैंहिकेयहेतिविहतये वैष्णवं प्रहरणमिदं विस्तारितं लक्ष्मणेन यतः ।

लक्ष्मीकण्ठग्रहणरसिकाः संचरत्पाञ्चजन्य-
ध्वानश्रेणीभरितककुभो दोर्भिरुच्चैश्चतुर्भिः ।
क्रामन्त्यन्तर्भुवनभवनं विष्णवो जिष्णवोऽमी
श्यामाश्चक्रप्रहरणनमद्राहुसंहारकाराः ॥६९॥

कङ्कालकः—(वामतः) पुरो भूदेण मग्गवत्तिणा वाणरवीरेण तक्खणसज्जिज्जंतकुम्भअण्णबाणासणमक्खिविअ खित्तं धरणिपिठ्ठे रोसभरविभत्तमञ्जिठ्ठाए दिठ्ठीए दठ्ठूण देवकणिठ्ठेण मुक्का चक्कावली पअदिदा पट्टिसा पेसिदा दंसिदमारणवेअट्टी भुसुण्डी खित्ता णीसङ्कं सङ्कुमाला आक्खित्तं मोग्गारोग्गिण्णं उप्फेरिदपुलअफारपअक्कमेण कम्पाविदो करग्गलग्गो खग्गो वाणरचक्कवट्टिणा वि परिहरिआउहकडप्पेग णिउज्झं अज्झवसिअ अप्फोडिदो भुअडण्डो किलिकिलिदं अ सद्दमंदोहभरिअभुअणन्तरं प्पधाविदाओ संदंसणकोदूहलफुल्लगल्लफलआओ सुर-

रावण—(सहर्ष) ये अज (विष्णु) भी यह रावण मेरे वक्षःस्थल से लक्ष्मी को हरण न कर ले अतः सेवार्थ भक्तिप्रवण मन वाले होकर अपनी शक्ति अनुसार मूर्तियाँ बनाकर मुझे प्रसन्न करने के लिए आ गये हैं ॥६८॥

(आकाश में) हे नारायण ! रावण प्रणतों की स्त्रियों का हरण नहीं करता ।

सुमुख—देव ! मालूम पड़ता है राहु के अस्त्र को काटने के लिए लक्ष्मण ने नारायणास्त्र छोड़ा है क्योंकि—

लक्ष्मी के कण्ठालिंगन के रसिक, पाञ्चजन्य शङ्ख की ध्वनि से दिशाओं को पूरित कर रहे, चक्रास्त्र से नम्र राहुओं का संहार कर रहे, नीलवर्ण तथा चार दीर्घ भुजाओं वाले जयशील ये विष्णुलोक में संचरण कर रहे हैं ॥६९॥

कंकालक—(बायीं ओर से) आगे मार्ग में स्थित वानर वीर सुग्रीव ने तत्क्षण चढ़ा रहे कुम्भकर्ण की धनुष को खींच कर दूर फेंक दिया । क्रोध के कारण मञ्जिष्ठ वर्ण की दृष्टि से देखकर आप के भाई कुम्भकर्ण ने चक्रपंक्ति छोड़ी, पट्टिश चलाये, कवच पहने हुये लोगों को मारने में समर्थ भुशुण्डी छोड़ी, निःशङ्क हो बहुत से शंकु फेंके, मुद्गर चलाया और रोमाञ्च करने वाले पादविक्षेप से हाथ के खड्ग को हिलाया । कुम्भकर्ण के अस्त्रों को हटाकर वानर-राज ने युद्ध का आश्रय कर भुजदण्ड ठोंका और किल-किला ध्वनि की जिससे भुवन भर गये । सुरनारियाँ देखने के कुतूहल से विकसित कपोल वाली होकर दौड़

सुन्दरीओ समारूढो लङ्काउरीपाआरसिहरेसु णिसाअरजणो वसुधाणिवेसिदसिला-संघादेण वाणरलोएण पाससंठाविदबिविहाउहेण रक्खसवग्गेण अ अङ्गीकदमुदा-सणत्तणं तदो दो वि समं वग्गिअअलीणा मल्लजुज्झेण तहिं अ गाढअरं हत्थग्गहं मग्गन्ति सिरेण सिरणिवेसिणो हुडुक्कविक्कमेण परिक्कमन्ति कक्काबन्धविणिहित-हत्था उच्छलन्ति भुअदण्डसेदंसेण कन्धरां वरन्ति जङ्घन्तरकत्तरीहिं पीडन्ति कुक्कुडझडप्पेहिं मिल्लन्ति डुक्करेहिं डुक्कन्ति अप्फोडतिरिच्छपाअप्पक्खेवेण केवलं करिसन्ति केसेसु ण णअणाइं हणन्ति ण णासावंसे पहरन्ति ण दलन्ति दन्तेहिं ण खण्डन्ति णखेहिं एदाणं च पडणुप्पडणेसु उप्पडन्ति सत्तसाअरा गलन्तगण्डमेला होन्ति कुलसेला दिक्करिकादरत्तणप्पमुक्कचिक्कारपूरिदा घुण्णदि वसुन्दरा पडिखो हणणमन्तधरित्तीभारवविकदखन्धरो कम्पदिमहाकुम्मो ता गुज्जदि देवस्स धणुग्गहो

[पुरोभूतेन मार्गवर्तिना वानरवीरेण तत्क्षणसज्ज्यमानकुम्भकर्णवाणासनमाक्षिप्य क्षिप्तं धरणीपृष्ठे। रोषभरमञ्जिष्ठया दृष्ट्या दृष्ट्वा देवकनिष्ठेन मुक्ता चक्रावली, प्रवर्तिताः पट्टिशाः प्रेषिता दंशितमारणपेशला भुशुण्डी क्षिप्ता निःशङ्कं शङ्कुमाला आक्षिप्तं मुद्गरोद्गीर्णम् उत्प्रेरितपुलकस्फारपवक्रमेण कम्पितः कराग्रे लग्नः खड्गः। वानरचक्र-वर्तिनाऽपि परिहृतायुधकलापेन नियुद्धमध्यवस्यास्फोटितो भुजदण्डः किलकिलितं च शब्दसन्दोहभरितभुवनान्तरं प्रधाविताः सन्दर्शनकौतूहलफुल्लगल्लफलकाः सुरसुन्दर्यः समारूढो लङ्कापुरीप्राकारशिखरेषु निशाचरजनो वसुधानिवेशितशिलासंघातेन वानर-लोकेन पार्श्वसंस्थापितविविधायुधेन राक्षसवर्गेण चाङ्गीकृतमुदासीनत्वम्। ततो द्वावपि वल्गितकनीनौ मल्लयुद्धेन तदा च गाढतरं हस्तग्राहं मार्गेते शिरसा शिरोनिवेशिनौ हुडुक-विक्रमैः परिक्रामतः। कक्षाबन्धविनिहितहस्तावुच्छलतः। भुजदण्डसंदंशेन कन्धरां धरतः। जङ्घान्तरकर्त्तरीभ्यां पीडयतः। कुक्कुटस्पर्शैर्मिलतः। डुत्कारैर्डुत्कुरुतः। आस्फोटतिर्यक्पादप्रक्षेपेण न केवलं कर्षतः केशेषु। न नयने घ्नतः न नासावंशे प्रहरतः। न दलतो दन्तैः। न खण्डयतो नखैः। एतयोश्च पतनोत्पतनेषूत्प्लवन्ति सप्तसागराः। गलद्गण्डशैलाभवन्ति कुलशैलाः। दिक्करिकातरत्वप्रमुक्तचीत्कारपूरिता घूर्णति वसुन्धरा। प्रतिक्षोभणनमद्धरित्रीभारवक्रितकन्धरः कम्पते महाकूर्मः। तद्युज्यते देवस्य धनुर्ग्रहः।]

पड़ी, निशाचर लङ्कापुरी की चहारदीवारियों पर चढ़ गये, वानरों ने शिलाओं को जमीन पर रख कर तथा राक्षसों ने आयुधों को बगल में रख कर उदासीनता ग्रहण कर ली। तब दोनों कूदने में लीन होकर प्रगाढ हाथापाई की कामना करने लगे और शिर से शिर भिड़ाकर हुड़ाहुड़ पराक्रम से आक्रमण करने लगे। हाथों को लगोंट पर रख कर उछलने लगे। बाहों से कन्धों को पकड़ने लगे, जंघा रूपी कैंचियों से मारने लगे। कुक्कुटों की पकड़ जैसी मिल गये। चिघाड़ने लगे। केवल केशग्रहण ही नहीं कर रहे हैं अपितु तिरछे पैर पटकने से भी पकड़ने लगे। आँखों में नहीं मारते। नाक पर प्रहार नहीं करते। दाँतो को नहीं काटते। नख से नहीं काटते। एक दूसरे के कूदने गिरने में सातों समुद्र कूदते-गिरते हैं। कुलपर्वतों की शाखायें टूट रही हैं। दिग्गजों की कातर चिग्घाड़ से धरती भर रही है और चक्कर कर रही है। क्षुब्ध धरित्री के भार से कूर्म का कंधा दब रहा है। अब आप का धनुष ग्रहण ठीक है।

रावणः—(विहस्य) का पुनरेषा द्वन्द्वयुद्धमर्यादा ।

दुर्मुखः—(दक्षिणतो) एदे पअट्टिदतरट्ठीविम्भमणच्चा सुसद्दीकदकादम्बरीपाणविहिदुम्मादा जुवदीकदजरदीजणा उपणीदकुसुमबाणप्पअरा विरहिणीकण्ठबढ्ढिदपञ्चमतरङ्गा मिअङ्कबालमित्ता दूदीकददक्खिणसमीरणा सव्वदो संचरन्ति मदणा—[एते प्रकटितनर्तकीविभ्रमनृत्याः सुस्वादीकृतकादम्बरीपानविहितोन्मादा युवतीकृतजरतीजना उपनीतकुसुमबाणप्रकरा विरहिणीकण्ठवर्द्धितपञ्चमतरङ्गा मृगाङ्कबालमित्रा दूतीकृतदक्षिणसमीरणाः सर्वतः संचरन्ति मदनाः ।]

रावणः—(सहर्षम्)

यावन्ति लोकहृदयानि जगत्त्रयेऽत्र तावद्भवैरनुगतो मदनैर्मनोभूः ।
शम्भोर्भिया भगवतः शरणाय शङ्के मां रावणं समरचण्डभुजं प्रपन्नः ॥७०॥

(आकाशे) हे मकरध्वज ! मदनुग्रहेण मत्परिग्रहेण च न त्वां देवदेवोऽपि बाधिष्यते ।

सुमुखः—जाने वैष्णवमस्त्रं स्तम्भयितुं पौष्पकेतनमायुधमातन्यते मन्दोदरीनन्दनेन यतः ।

चिह्नोत्सङ्गस्फुरितमकराः पुष्पधन्वान एते
द्राक् तन्वन्तो मधुसहचरं पञ्चमं रागराजम् ।
लक्ष्मीलीलाललितचरितैरच्युतान् वञ्चयित्वा
श्वेतद्वीपं रतिरतिकृतो मन्मथाः प्रापयन्ति ॥७१॥

रावण—(हँसकर) फिर यह इन्द्व युद्ध की मर्यादा कैसी है ?

दुर्मुख—(दक्षिण ओर से) नर्तकियों के विनम्र नृत्य को प्रकट करने वाले, मधुर मदिरा-पान से उन्मत्त बनाने वाले, वृद्धाओं को युवती बनाने वाले, कुसुमरूपी बाणों के संग्राहक विरहिणियों के कण्ठ में पञ्चमराग की तरंग को बढ़ाने वाले चन्द्रमा के बालमित्र और मलयपवन को दूत बनाने वाले कामदेव घूम रहे हैं ।

रावण—(हर्ष से) इस जगत्त्रय में मनुष्यों के जितने हृदय हैं उतने उत्पन्न कामदेवों से अनुगत मनोजन्या मालूम पड़ता है मानो भगवान् शंकर के भय से समर में प्रचण्ड भुजाओं वाले मुझ रावण की शरण में आया है ॥७०॥

(आकाश में) हे कामदेव ! मेरे अनुग्रह और आश्रय से तुम्हें महादेव भी कष्ट नहीं देंगे ।

सुमुख—मालूम पड़ता है कि वैष्णवास्त्र को शमित करने के लिये मन्दोदरी-पुत्र मेघनाद ने कामास्त्र छोड़ा है क्यों कि—

मकरकेतन, पुष्पधन्वा तथा रति के प्रेमी ये कामदेव-गण वसन्त के सहित पञ्चमराग को विस्तार करते हुये लक्ष्मी के लीलारूप ललित चरितों से विष्णुओं को वञ्चित कर श्वेतद्वीप में पहुँचा रहे हैं ॥७१॥

कङ्कालकः—(वामतः) सव्वङ्गसङ्गदणिबिडणिपीडणापरव्वसगात्तपडन्तभुअ-बलेण गअणङ्गणे अन्दोलिअ कुमारकुम्भअण्णेण धरणिवठ्ठे तडिति ताडिदो सुग्गीवो [सर्वाङ्गसङ्गतनिबिडनिपीडनापरवशगात्रः प्रचण्डभुजबलेन गगनाङ्गणे आन्दोल्य कुमारकुम्भकर्णेन धरणीपृष्ठे तडिति ताडितः सुग्रीवः ।]

रावणः—(सहर्षम्) तर्हि मत्तकरेणुकरगतस्य कदलीकन्दस्य दशां लम्भितः ।

करङ्कः—

कक्षापञ्जरदात्यूहं कपीनां चक्रवर्तिनम् ।
कृत्वा त्वदनुजोऽभ्येति दिष्टया त्वं देव वर्धसे ॥७२॥

रावणः—(स्वगतम्)

यदर्थितं प्राज्यबलेन वालिना विधाय दोर्मूलवशं दशाननम् ।
तदुद्धृतं शल्यमनेन मानिना विधाय कक्षाकुहरे हरीश्वरम् ॥७३॥

कङ्कालकः—कुम्भअण्णकक्खन्तरगदं सुग्गीवमवलोइअ रहसझणक्किअरसणाणोउरकेऊरं नच्चिदुं पउत्ताओ सअलविंदारअविन्दबन्दिसुन्दरीओ ता पेक्खदु देवो [कुम्भकर्णकक्षान्तरगतं सुग्रीवमवलोक्य रभसझणत्कृतरशनानूपुरकेयूरं नर्त्तितुं प्रवृत्ताः सकलवृन्दारकवृन्दवन्दिसुन्दर्यः । तत्प्रेक्षतां देवः]

रावणः—(सहर्षम्)

किं शच्या परतो रतिर्धनपतेर्दूरे भवन्तु स्त्रिय-
श्चन्द्रान्तःपुरमेतदस्तु च पृथक्कौबेरिणीषूत्सवः ।
साकं शक्रजितः कलत्रनिवहैः सार्धं च दारैर्मम
प्रीत्युल्लासितपाणिपल्लवयुगं मन्दोदरी नृत्यतु ॥७४॥

कंकालक—(बायीं ओर से) कुमार कुम्भकर्ण ने सर्वाङ्ग में प्राप्त गाढ पीड़ा से आक्रान्त सुग्रीव को प्रचण्ड भुजबल से आकाश में घुमाकर सद्यः पृथ्वी पर पटक दिया ।

रावण—(हर्ष से) तो वह मत्त हाथीकी सूंड़ में पड़े केले की दशा को प्राप्त हो गया ।

करंक—हे देव ! आप का भाई वानरराज को कांख रूपी पिंजड़े में पक्षी के समान लेकर आ रहा है भाग्य में आप की वृद्धि हो रही है ॥७२॥

रावण—(स्वगत)

प्रकृष्ट बली बालि ने रावण को कांख में रखकर जो शल्य मेरे हृदय में गाड़ा था उसे इस मानी ने कपिराज को कांख में दबाकर निकाल लिया ॥७३॥

कंकालक—सुग्रीव को कुम्भकर्ण की कांख में देखकर देववृन्दों की वंदिनी सुन्दरियों ने सहसा रशना, नूपुर और केयूर के झनकार से युक्त नृत्य आरम्भ कर दिया उसे देव ! देखें ।

रावण—(हर्ष से)

परपक्ष की शची के नृत्य से क्या, कुबेर की स्त्रियाँ दूर रहें, चन्द्र की अंतःपुरवासियाँ दूर रहें इन वैरियों की स्त्रियों में क्या प्रेम ? मेरी स्त्री मन्दोदरी मेघनाद की स्त्रियों और मेरी स्त्रियों के साथ प्रेम से दोनों पाणिपल्लवों को उठाकर नृत्य करे ॥७४॥

दुर्मुखः—(दक्षिणतो) किं पुण एदे ते पेक्खोल्लितखट्टङ्गा व्वहलपअट्टट्टहासा प्पसहमुक्कडक्कारडामरा णच्चन्तरहस्सुत्तालवेआला चमकंतसुरासुरपुरन्धिणो ललन्तच्चूडामणिचन्दखण्डा खलखलन्तवेल्लिदामरकल्लोलिणीपवाहा तडतडिति-ताडिडुडुमरडमरुअरवरौद्दा खणखणितिदाहिणमुहकुहरगब्भनिबिडमिलिदजरठदाढा रोसफुक्कारपुल्लिदफणाभारहाराहिहारिणो पअण्डरूअधारिणो चण्डीसा संचरन्दि [किं पुनरेते ते प्रेङ्खोलितखट्वाङ्गा बहलप्रकटाट्टहासाः प्रसभमुक्तडात्कारडामरा नृत्यद्रभसोत्तालवेतालास्त्रस्तसुरपुरन्ध्रयो ललच्चूडामणिचन्द्रखण्डाः खलखलायमानवेल्लितामरकल्लोलिनीप्रवाहास्तडतडितितडितोड्डुमरडमरुकरवरौद्राः खणखणितिदक्षिणमुख-कुहरगर्भनिबिडमिलज्जरठदंष्ट्रा रोषफूत्कारपूल्लितफणाभारहाराहिधारिणः प्रचण्डरूप-धारिणश्चण्डीशाः संचरन्ति ।]

रावणः—(सहर्षम्)

मह्यं तदा धृतमुदा शशिशेखरेण दत्तो वरो न शिरसां सदृशश्छिदा यः ।
तत्सांप्रतं स भगवान् कृतभूरिमूर्तिरभ्यागतः पुनरनुग्रहवाञ्छया माम् ॥ ७५ ॥

सुमुखः---देव ! संभावयामि कन्दर्पबाणविहतये खाण्डपरशवमस्त्रमातन्यते तृतीयेन दाशरथिना यतः ।

ऊर्ध्वाक्षिक्रोडकुण्डोल्लसितहुतवहज्योतिरुज्जृम्भणाभिः
कुर्वन्तो देहदाहं पुरमथनमनोन्माथिनां मन्मथानाम् ।
चूडाबद्धार्धचन्द्राश्चलसुरसरितो भूषिताः पन्नगेन्द्रैः
श्रीकण्ठाः श्यामकण्ठाः प्रणतसुरशताः साट्टहासाश्चरन्ति ॥ ७६ ॥

रावणः—भगवन् भर्ग ! स्वल्पकण्ठवनछेदसाहसमनल्पः प्रसादः ।

दुर्मुख—(दक्षिण ओर से)

खट्वाङ्ग हिला रहे, अत्यन्त अट्टहास कर रहे, जोर से डात्कार शब्द कर रहे, वेग से नाच रहे वेतालों से युक्त, सुरनारियों को त्रस्त कर रहे, चूडा में मणिरूप विराजमान् चन्द्र वाले, कलकल ध्वनि से प्रवाहित गंगा के प्रवाह से युक्त, तड्-तड् बज रहे डमरुशब्द के द्वारा भयंकर उदार मुख में जिनके वृद्ध दाँत बज रहे हैं ऐसे, रोष से फुत्कार रहे सर्पों को धारण करने वाले तथा प्रचण्ड रूपधारी शंकर घूम रहे हैं ।

रावण---(हर्ष से) मुझ पर प्रसन्न शिव ने शिरों के काटने के तुल्य जो वर नहीं दिया वे ही भगवान् इस समय बहुत सी मूर्तियाँ बनाकर मेरे पर पुनः अनुग्रह करने की इच्छा से आगे हैं ।।७५।।

सुमुख---देव ! मालूम पड़ता है कि कामास्त्र को शान्त करने के लिये दशरथ के तृतीय पुत्र (लक्ष्मण) ने शैव अस्त्र को छोड़ा है क्योंकि---

ऊपर (ललाट) की आँख रूपी कुण्ड में प्रस्फुटित अग्नि की लपटों से शिव के मन को उन्मत्त करनेवाले कामों को जलाते हुए चूडा में अर्धचन्द्र से युक्त शिर पर चंचल गंगायुक्त, सर्पों से विभूशित, सैकड़ो प्रणत देवों से युक्त नील कण्ठ शिव घूम रहे हैं ।।७६।।

रावण---भगवन् शंकर ! कण्ठ रूपी वनों का काटना थोड़ा था पर आप का प्रसाद बड़ा है ।

(वामतो नेपथ्ये करङ्कः)

वेगोत्खातान्त्रतन्त्रीचयचलचरणः सञ्चरद्दन्तयन्त्र-
प्रान्तग्रस्तोरुनासासरणिररुणदृक् क्षुभ्यतः कुम्भकर्णात् ।
लूनव्याकीर्णकर्णः खरनखशिखरैरेष शाखामृगेन्द्र-
स्त्वङ्गल्लाङ्गूलयष्ट्या तडतडिति शिरस्ताडयन् खं प्रपन्नः ॥७७॥

रावणः–(सविषादम्) अहो प्रमादः छलप्रहारित्वं वानराणां नावधारितं वत्सेन ।

कङ्कालकः—एस सुग्गीवो कुमारकुम्भअण्णं विच्छिन्नमवकरिअ गअणं उप्प-अन्तो गदो ज्जेव्व तावससआसम् [एष सुग्रीवः कुमारकुम्भकर्णं विच्छिन्नमवकृत्य गगनमुत्पतन् गत एव तापससकाशम् ।]

करङ्कः—कपिचक्रवर्तिचापलकोपितश्च मध्यमपौलस्त्यः समरसमारम्भमेव शरणं मन्यमानो लङ्कापुरीगोपुरादुपावृत्तः संमुखीभूतश्चास्य सकलवाहिनीपरिवृतः स्वयमेव तापसः ।

कङ्कालकः—पुरदो ऽवसरिअचउद्दिसपरिवुदो वानरसेणावदीहिं तस्स पुरदो जम्बवन्तमणिमन्तमहामुहदुस्सहप्पहुदिणो दीदा रिक्खाहिवा गअगबअगवक्खकड-क्खपुरस्सरा पच्छादो गोलाङ्गुलवलाधिवा दहिमुहदरीमुहदुम्मुहपहाणा वामदो स-रभकेसरिकिसोरप्पमूहा पदविखणदो हविअ बग्गिदुं पउत्ता [पुरतोऽपसृत्यं चतुर्दिशं परिवृतो वानरसेनापतिभिः । तस्य पुरतो जाम्बवन्मणिमन्महामुखदुःसहप्रभृतयः स्थिता ऋक्षाधिपाः । गयगवयगवाक्षकटाक्षपुरःसराः पश्चाद् गोलाङ्गूलबलाधिपाः । दधिमुख-दरीमुखदुर्मुखप्रधाना वामतः । शरभकेसरिकिशोरप्रमुखाः प्रदक्षिणतो भूत्वा वल्गितुं प्रवृत्ताः ।]

करङ्क—(बायीं ओर नेपथ्य में)

यह रक्तनेत्र वानरराज चंचल चरणों से (कुम्भकर्ण की) आँतो को वेग से खींचकर चंचल दातों से विस्तृत नासिका को काटकर बड़े-बड़े कानों को तेज नखों से काटकर और काँप रही लाँगूल यष्टि से सिर पर तड़-तड़ प्रहार कर आकाश में उड़ गया ॥७७॥

रावण—(विषाद से) कैसा प्रमाद है। वत्स ने वानरों के छल से प्रहार करने की बात ध्यान में नहीं रखी।

कंकालक—यह सुग्रीव कुमार कुम्भकर्ण को काटकर आकाश में उड़ते हुये तपस्वी के पास पहुँच गया।

करंक—कपिराज की चपलता से क्रुद्ध मध्यम पौलस्त्य (कुम्भकर्ण) समर-क्रिया को ही शरण समझकर लंकापुरी के मुख्यद्वार से लौट गया और समस्त सेना से युक्त तपस्वी इसके सामने आया।

कंकालक—सामने से हट कर चारों ओर से वानर सेनापतियों ने उसे घेर लिया। इसके सामने जाम्बवान्, मणिमान्, महामुख, दुःसह आदि ऋक्ष सेनापति हो गये। पीछे की ओर गय, गवय, गवाक्ष, कटाक्ष आदि गोलाङ्गल (वानरों का भेद) सेनापति हो गये, बायीं ओर दधिमुख, दरीमुख, दुर्मुख आदि हो गये और दाहिनी ओर शरभ, केसरी किशोर (हनुमान्) आदि होकर युद्ध करने लगे।

रावणः—सोऽयं पिपीलिकापन्नगन्यायः।

कङ्कालकः—तदो अ मोगारपहारपरम्पराहिं मुच्छाविअअतिरिच्छभल्लो णिरग्गलगिलिदगोलंगूलवग्गो चुण्णिअवाणरवाहिणीसंण्णिवेसो पअदो तावसाभिमुखं समासादितमुच्छाविदेहिं च तेहिं चउद्दिसं अक्कामिज्जन्तो नीरन्धरोसन्धआरन्धदाए समं पाससरिदेण णिअपरिअणेण विविहबलीमुहाणं कवलकेलिकम्मणि पअट्टो [ततश्च मुद्गरप्रहारपरंपराभिर्मूर्छायितातिऋक्षाच्छभल्लो निरर्गलगिलितगोलाङ्गूलवर्गश्चूर्णितवानरवाहिनीसन्निवेशः प्रवृत्तस्तापसाभिमुखं समासादितमूर्छाविच्छेदैश्च तैश्चतुर्दिशमाक्रम्यमाणो नीरन्ध्ररोषान्धकारान्धतया समं पार्श्वसरितेन निजपरिजनेन विविधवलीमुखानां कवलकेलिकर्म्मणि प्रवृत्तः।]

(नेपथ्ये) देव दाशरथे ! त्वर्यतां वानरपरित्राणाय।

दिङ्मातङ्गशिरस्तटीचिपिटिनं प्रेतप्रभोः सैरिभे
भूयो दर्शितशृङ्गभङ्गविपदं विभ्रन्महामुद्गरम्।
क्षोणाशोणितसारणीकवलनक्षीबोऽमरप्रेयसी-
हासः स्वांश्च परांश्च खादति रणे नक्तंचरेन्द्रानुजः ॥७८॥

रावणः—अहो अतृप्तिः अध्यवसायश्च वत्सस्य।

करङ्कः—देव दोर्बन्धबन्धुरितधनुर्दाशरथिरभ्यर्णो वर्तते कुम्भकर्णस्य। कुम्भकर्णेनापि गुरुमुद्गरचूडामणिः पाणिरत्नणीयानुत्तम्भितस्तापसवधाय।

रावणः—अभङ्गुरः सङ्गरः सदा मे वत्सस्य।

रावण—तो यह पिपीलिका जैसे सर्प पर दौड़े ऐसी बात है।

कंकालक—तो मुद्गर के प्रहार से श्रेष्ठ ऋक्षों से मुर्छितकर, वानरों को बेरोक टोक खाकर, वानर सेना के सन्निवेश को चूर्ण कर, कुम्भकर्ण राम की ओर चला मूर्च्छा से जगे वानरों के द्वारा वृक्षों से चारों ओर से आक्रमण किये जाने पर अत्यन्त क्रोधान्ध हो अपने पार्श्ववर्ती परिजनों के साथ कुम्भकर्ण उनके भक्षण करने में लग गया।

(नेपथ्य में) देव राम ! वानरों की रक्षा में शीघ्रता करिये—

दिग्गज (ऐरावत) के कुम्भप्रदेश को चिपटा करने वाले तथा यमराज के भैंसे की सींग को तोड़ने वाले मुद्गर को लेकर रावणानुज कुम्भकर्ण रक्त की नदी के पानी से उन्मत्त होकर देवाङ्गनाओं को हास्य उत्पन्न करता हुआ युद्ध में स्वपक्ष और पर पक्ष को खा रहा है ॥७८॥

रावण—वत्स की अतृप्ति तथा पराक्रम धन्य है।

करंक—देव ! भुजाओं से धनुष को खींचकर राम समीप आ गये और कुम्भकर्ण ने भी विशाल वाहु में चूड़ामणि तुल्य मुद्गर को लेकर राम के वध के लिये उसे उठा लिये।

रावण—मेरा वत्स कुम्भकर्ण सदैव निर्विघ्न युद्ध वाला है।

करङ्कः—हाहा धिक्कष्टम् !

हस्तः स्थितो नभसि शत्रुजिघांसयैष मत्ताङ्गनातिलकदानविधानदक्षः ।
उद्दामरामशरखण्डनतः प्रकोष्ठात् पृष्ठे भुवो निपतितः सह मुद्गरेण ॥७९॥

कङ्कालकः—देव पाणी विअ बाहुदण्डो वि से खण्डिओ [देव ! पाणिरिव बाहुदण्डोऽप्यस्य खण्डितः ।]

रावणः—(सास्रम्)

मुर्च्छानमत्प्लवगपुङ्गवरक्तसिक्तः स्वर्दन्तिदन्तवलयैः कृतकङ्कणश्रीः ।
आमूलतो मदनुजस्य भुजो भुजङ्गभीमाकृतिर्झटति हा नृशरेण लूनः ॥८०॥

(इति मूर्च्छति)

करङ्कः—समाश्वसितु देवो वामपाणिप्रणीतमुद्गरः किमपि दुर्मदो राममाक्रामति तवानुजः ।

(रावणः किञ्चिदुत्थायावलोकयति)

(नेपथ्ये)

एतद्विलूनमिषुणाऽर्धविधूपमेन लङ्केश्वरानुजशिरो दशनार्दितोष्ठम् ।
संस्कारसंकलितकोपकषायगण्डं चण्डाञ्चितभ्रु पतति स्थिरदृष्टि रामे ॥८१॥

(सर्वे क्षोभं नाटयन्ति)

करंक—हाय हाय ! घिक्कार है ! कष्ट है !

मत्त नारियों को तिलक लगाने के कार्य में निपुण शत्रु वध की इच्छा से आकाश में उठा हाथ राम के प्रचण्ड बाण के द्वारा मणिबन्ध (कलाई) से काटे जाने पर मुद्गर के साथ पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥७९॥

कंकालक—देव ! हाथ की ही भाँति इसका बाहुदण्ड भी कट गया ।

रावण—(अश्रुपूरित होकर)

हाय ! मेरे अनुज की वह बाँह जो मूर्छा से गिर रहे वानरों के रक्त से लाल थी तथा दिग्गजों के दाँतों से जिसका कङ्कण बना था, और जो सूर्य के समान भयंकर आकृति की थी मनुष्य के बाँण से कट गयी ॥८०॥

(ऐसा कह कर मूर्छित हो जाता है)

करंक—देव ! आश्वस्त हों । आपका दुर्मद अनुज बायें हाथ में मुद्गर लेकर राम पर आक्रमण कर रहा है ।

(रावण कुछ उठकर देखता है)

(नेपथ्य में)

कुम्भकर्ण का ओठों को काट रहा, पूर्वसंस्कार जन्य क्रोध से रक्तवर्ण के गण्डस्थल वाला, कुटिल भ्रू वाला तथा राम पर स्थिर दृष्टि वाला यह शिर अर्धचन्द्राकार बाण से कटकर गिर रहा है ॥८१॥

(सभी क्षुब्धता प्रदर्शित करते हैं)

(पुनर्नेपथ्ये)

सद्यो राक्षसमल्लभल्लदलितग्रीवाप्रकाण्डं पत-
न्निद्रालोर्द्रुहिणप्रणप्तुरसदृग्दंष्ट्राकरालं शिरः ।
द्राक् शाखामृगचक्रचूर्णनभयादादाय तारापथात्
प्रक्षिप्तं च महार्णवे हनुमता दृष्टं च गत्वासुरैः ॥८२॥

रावणः—हा वत्स ! कां दशां दशकण्ठेन नीतोऽसि ।

(नेपथ्ये)

देवाः सर्वे विमानान्यपनयत रविस्यन्दनो यातु दूरे
विश्वे शाखामृगेन्द्राः परिहरत रणप्राङ्गणं राक्षसाश्च ।
वेगस्रस्ताञ्जनाद्रिप्रतिनिधिरवधिः सर्वविस्मापकानां
लङ्कातङ्कैकहेतुर्निपतति वियतः कौम्भकर्णः कबन्धः ॥८३॥

रावणः—(शोकनाटितकेन)

शेषः सोद्याऽपि शङ्कां त्यजति न भवता कण्ठसूत्रार्धकृष्टो
गौरीसिंहेन्द्रदन्तिद्वितयरणविधिं त्वत्प्रणीतं स्मरामि ।
तच्चास्ते त्वच्चरित्रं लिखितमिव पुरो मद्दृशां यत्सुमेरु-
र्वत्सेनोदस्यमानो रचितचटुशतं मोचितः स्वर्गिवर्गैः ॥८४॥

(इति रोदिति)

(पुनः नेपथ्य में)

हे राक्षस वीरों में श्रेष्ठ रावण ! ब्रह्मा के निद्रालु प्रपौत्र का काटी गयी ग्रीवा से सद्यः गिर रहे दाँढों से कराल शिर को वानरसमूहों के चूर्ण होने के भय से हनुमान् ने आकाश में ही ग्रहण कर समुद्र में फेंक दिया और देवताओं ने जाकर देखा ॥८२॥

रावण—हा वत्स ! रावण ने तुझे किस दशा को पहुँचा दिया ।

(नेपथ्य में)

हे देवो ! तुम सभी अपने विमानों को हटाओ । सूर्य का रथ दूर हो जाय । हे समस्त वानरों तथा राक्षसों, संग्राम भूमि को तुम लोग छोड़ दो । वेग से गिर रहे अञ्जन गिरि के तुल्य तथा समस्त विस्मयकारी वस्तुओं में श्रेष्ठ कुम्भकर्ण का कबन्ध (धड़) लंका के आतङ्क का एक मात्र हेतु बनकर आकाश से गिर रहा है ॥८३॥

रावण—(शोक का अभिनय कर)

आप के यज्ञसूत्र के अर्ध के रूप में खींचा गया शेषनाग आज भी शंकर को नहीं छोड़ रहा है । पार्वती के सिंह तथा ऐरावत इन दोनों के साथ किये गये तुम्हारे युद्ध को स्मरण कर रहा हूँ । तुम्हारा वह चरित्र मुझ जैसे लोगों के सामने लिखा जैसा है जो तुम्हारे द्वारा उखाड़ा जा रहा सुमेरु देवों की सैकड़ों स्तुति करने पर छोड़ा गया ॥८४॥

(ऐसा कह कर रोता है)

सुमुखः—(दक्षिणतः) अयमपरः क्षते क्षारावसेकः ।।

आकर्णाकृष्टचापोन्मुखविशिखशिखाशेखरः शूलपाणि-
र्बिभ्राणो भैरवत्वं बहलकहकहारावरौद्राट्टहासः ।
ध्यातः सौमित्रिणाऽथ प्रसरदुरुतरोत्तालवेतालताल-
स्तद्वक्त्रादुद्भवद्भिः समजनि शिखिभिर्भस्मसादिन्द्रजिच्च ।।८५।।

(रावणः मूर्च्छति सर्वे यथोचितमुपचरन्ति)

रावणः—(मूर्च्छाविच्छेदनाटितकेन)

शेतां सम्प्रति वासवश्चिरभवन्निद्राजडैर्लोचनै-
र्जायन्तां विबुधोपयोग्यकुसुमाः सर्वेऽपि दिव्यद्रुमाः ।
बन्धाः स्वर्गसदां च सन्त्वनिगडाः प्राप्तोऽसि तं गोचरं
मद्वक्त्रैरपि वत्स नाम दशभिर्वक्तुं न यः शक्यते ।।८६।।

(साक्रन्दं रुदित्वा) हंहो किङ्करा मन्दोदरीं द्रष्टुमिच्छामि ।

(इति परिक्रम्य सर्वे निष्क्रान्ताः)

।। इति वीरविलासो नामाष्टमोऽङ्कः ।।

सुमुख—(दक्षिण ओर से) यह जले पर दूसरा नमक पड़ा—

लक्ष्मण ने खींची धनुष पर ऊर्ध्वमुख बाण के अग्र में भौमाकृति शिरोभूषण युक्त, उत्ताल वेताल मालाओं से युक्त शूलपाणि शंकर का ध्यान किया और उसके मुख से उत्पन्न हो रही अग्नियों से मेघनाद भस्त्रशात् हो गया ।।८५।।

(रावण मूर्छित हो जाता है। सभी यथायोग्य उपचार करते हैं)

(रावण मूर्छा के दूर होने का प्रदर्शन करते हुये)

बहुत दिनों पर होने वाली निद्रा से जड़ आखों के द्वारा इन्द्र सोवे, सभी स्वर्गीय वृक्ष देवों के उपयोग योग्य फूलों वाले होवें और देवों के बन्धन निगड (वेड़ी) शून्य हों। हे वत्स ! तुम उस स्थान (यमालय) को चले गये जो मेरे दशमुखों से भी वर्णनातीत है ।।८६।।

(जोर-जोर से रोकर) हे सेवको ! मन्दोदरी को देखना चाहता हूँ ।

(सभी प्ररिक्रमा कर निकल जाते हैं)

।। वीरविलास नामक आठवां अङ्क समाप्त हुआ ।।

अथ नवमोऽङ्कः

(अतः परं रावणवधो भविष्यति).

(ततः प्रविशति यमपुरुषः) तत्रभवतो लुलायलक्ष्मणः शकलप्राणभृतां विहित-विनाशस्य कीनाशस्य किमपि विश्वातिशायनी प्रभविष्णुता। यतः—

नित्यस्मिताम्बुरुहविष्टरसन्निविष्टः स्वेच्छाविनिर्मितचतुर्दशलोक एकः।
ब्रह्मेति यः किमपरं कविता श्रुतीनां तस्यापि निःश्वसितसंहृतिराः कृतान्तात् ॥१॥

(परिक्रम्य पार्श्वे विलोक्य च) अहो नक्तंचरचक्रवर्तिनो वीरकचूडामणेः किमपि निष्प्रतीपमाज्ञातं यदेषोऽस्मि तेनापि भगवता भूर्भुवःस्वस्त्रयविहितनियमेन यमेन विजनेऽपि श्रवसि समादिष्टः। यथाज्ञापितोऽस्मि पुरुहूतेन यदुत विनतानन्दनः स्यन्दनरूपतामारोप्यास्माभिः परिकल्पितमातलिसूतसुनीतसारथिर्दाशरथेः समर-सोम्नि जैत्रं पत्रं कृतः संप्रति तु तादृशस्य रामभद्रस्य तादृशेन रावणेन सह द्वन्द्वयुद्धमनुमन्यामहे दिदृक्षामहे च तदुद्धृतनिजाक्षपटलपटलीभ्यो लङ्कालोकलेख-मानय येन जानीमः।

कदा केषां च केभ्यश्च क्षयो लङ्कानिवासिनाम्।
रामात्तु दशकण्ठस्य किंविधो भविता वधः ॥ २ ॥

इसके बाद 'रावणवध' नामक अङ्क होगा।

(तदनन्तर यमदूत प्रवेश करता है) महिष चिह्नवाले सर्व प्राणियों के विनाशक यमदेव की प्रभावशालिता विश्व में बढ़कर है। क्योंकि—

आः! जो नित्य खिलने वाले कमलासन पर बैठते हैं और स्वेच्छा से जिन्होंने चौदहों लोकों का निर्माण किया है, जो श्रुतियों के एकमात्र रचयिता है उस ब्रह्मदेव के स्वासों का भी अन्त काल से होता है ॥ १ ॥

(घूमकर तथा बगल में देखकर) अहा! राक्षस चक्रवर्ती वीर श्रेष्ठ रावण का कैसा अव्याहत शासन है कि भूः, भुवः, स्वः तीनों लोकों को नियमित करने वाले यम ने एकान्त भूमि में मुझसे कान में आदेश दिया है कि गरुड को स्यन्दन रूप में बनाकर मातलि के पुत्र सुनीत को सारथि बनाकर युद्धभूमि में राम का जयसाधन वाहन तैयार किया है। अब वैसे राम का वैसे रावण के साथ द्वन्द्वयुद्ध होगा। ऐसे युद्ध का हम अनुमान करते हैं और देखना चाहते हैं। अतः अपने व्यवहार पुस्तकों से लंका के लोगों का लेख पत्र लाओ जिससे हम जानें कि—

लंकावासियों में किनका कब और किनसे नाश है और रावण का राम से किस प्रकार वध होगा ॥ २ ॥

येन तत्रैव क्षणे चारणोपदिश्यमानमहावीरप्रकाण्डप्रचाराः पुत्रदर्शनकुतूहलिना दिव्यरूपेण परमसुहृदा दशरथेन सह संग्रामसीमानमवतराम इति तद्भद्रमुख महाक्षपटलिकं मद्वचनाच्चित्रगुप्तमादिश येन लङ्कालेख्यकमुद्धृत्य समर्पयति पुरन्दर-श्रावणाय तद्यावच्चित्रगुप्तमेवोपसर्पामि। (परिक्रामितकेन विचिन्त्य) अहो दशाननः सर्वेषामुपरि पराक्रमेण तथा हि।

यत्र दृष्टे हरेरक्ष्णां सहस्रं कुड्मलायते।
कृतान्तदण्डः सोऽप्यस्य कण्ठे किमपि कुण्ठितः ॥ ३ ॥

अपि च।

अवतरति विधाय ब्रह्मदण्डं प्रचण्डं सकलजननभाजां कल्पितान्ते कृतान्ते।
समरशिरसि यस्य प्राप भङ्गं धुताङ्गः खुरदलितधरित्रीचित्रकायो लुलायः ॥४॥

कथमयं चित्रगुप्तः।

(ततः प्रविशति चित्रगुप्तः। अङ्गभङ्गनाटितकेन।)

दिवानिशं राक्षसमण्डलस्य प्रचण्डरामानुचरैर्जितस्य।
निबध्नतो मे निधनप्रपञ्चं स्थितः करः खेदजडाङ्गुलीकः ॥ ५॥

पुरुहूतः—(उपसृत्य कर्णे) एवमेवम्

जिससे उसी क्षण चारणों द्वारा महावीरों की गति को सुनते हुए पुत्रदर्शनोत्सुक दिव्यरूपधारी प्रियमित्र दशरथ के साथ संग्रामभूमि में हम उतरें। अतः हे भद्रमुख! व्यवहार पुस्तकों का स्वामी चित्रगुप्त से मेरी आज्ञा से कहो कि लंका के लेख को इन्द्र से सुनाने के निमित्त दें। अतः चित्रगुप्त के पास चलूं (चलते हुए सोचकर) अहा! रावण पराक्रम में सबसे बढ़कर है। क्यों कि—

जिस यमदण्ड के द्वारा देखे जाने पर इन्द्र के सहस्रनेत्र भी बन्द होने लगते हैं वही कृतान्त दण्ड रावण के कण्ठ में कुण्ठित हो गया ॥ ३ ॥

समस्त प्राणियों के नाशकर्ता यम पर प्रचण्ड ब्रह्मदण्ड लेकर रावण के समरभूमि में आने पर यम का भैंसा काँप कर तथा खुरों से रौंदी गई पृथ्वी की धूलि से धूसरित होकर भाग गया ॥ ४ ॥

क्या यही चित्रगुप्त हैं?

(तदनन्तर चित्रगुप्त प्रवेश करते हैं। अङ्ग का भङ्ग प्रदर्शित करते हुए) राम के प्रचण्ड अनुचरों से जीते गये राक्षसलोक का मृत्यु-विवरण रात-दिन लिखते-लिखते मेरे हाथ की उँगलियाँ थक कर जड़ हो गई हैं ॥ ५ ॥

पुरुहूत—(जाकर कान में)—यह बात है....

चित्रगुप्तः—यदादिशति स्वामी। इदमर्प्यते (निबन्धोद्धरणनाटितकेन) न खलु कश्चिदिह प्रच्छन्नो वा मत्तो वा यो मन्त्रं निर्भेदयेत् साक्षात्करणाय तत् प्रतिवाचय। (पुरुषो वाचयति)

अतिक्रान्ते कृते काले प्राप्ते त्रेतादिवत्सरे।
कृष्णकार्तिकपक्षाद्यदिवसोदययोगिनी ॥ ६ ॥
रामैकरतसुग्रीवप्लवङ्गमबलैर्बलात् ।
लङ्काऽलङ्कारतां बिभ्रत्युपरुद्धा महोदधेः ॥ ७ ॥
धूम्राक्षं क्रोधधूम्राक्षमकम्पनमकम्पनम् ।
हतवानञ्जनीजन्मा भिन्नाञ्जनसमप्रभम् ॥ ८ ॥
प्रहस्तो दीर्घहस्तेन नीलेनाशु निमीलतः।
द्वितीयेऽह्नि द्विधा चक्रे कुम्भकर्णं रघूद्वहः ॥ ९ ॥
नरान्तकस्यान्तकोऽभूदङ्गदो रुचिराङ्गदः।
नीतो देवान्तकश्चान्तं त्रिशिराश्च हनूमता ॥१०॥
ऋषभेण महापार्श्वः पार्श्वपीडनता हतः।
चक्रेऽतिकायं निष्कायं तृतीयेऽह्नि च लक्ष्मणः ॥११॥
कुम्भकर्णोद्भवौ कुम्भनिकुम्भौ दम्भपण्डितौ ।
हरिराजहनूमद्भ्यां चक्राते यमसेवकौ ॥१२॥

चित्रगुप्त—स्वामी का जैसा आदेश। यह दे रहा हूँ। (निबन्ध को खोलने का प्रदर्शन करते हुए) यहाँ कोई छिपा हुआ या प्रमत्त तो नहीं है जो मन्त्रणा को प्रकट कर दे। तो साक्षात् करने के लिये पढ़ो (पुरुष पढ़ता है)

सत्य युग के बीत जाने पर त्रेतायुग के प्रथम कार्तिक कृष्ण पक्ष के प्रथम दिन अर्थात् प्रतिपत्तिथि के दिन वर्ष में राम में अत्यासक्त सुग्रीव की बानरी सेना के द्वारा संसार की अलंकारभूत लंका समुद्र पर्यन्त बलपूर्वक अवरुद्ध हो जायेगी ॥ ६–७ ॥

कज्जल के समान कान्तिवाले अञ्जनीपुत्र हनुमान् ने क्रोध से धूमिल नेत्र धूम्राक्ष तथा न काँपने वाले अकम्पन को मारा ॥ ८ ॥

महाबाहु नील ने प्रहस्त को सद्यः मार डाला तथा दूसरे दिन राम ने कुम्भकर्ण को दो टुकड़े में कर दिया ॥ ९ ॥

अङ्गद नामक कमनीय आभूषण पहनने वाले अङ्गद ने नरान्तक को मारा और हनूमान् ने देवान्तक तथा त्रिशिरा को मारा ॥ १० ॥

ऋषभ ने पार्श्व में प्रहार कर महापार्श्व को मार डाला और तीसरे दिन लक्ष्मण ने अतिकाय को शरीरविहीन कर दिया ॥ ११ ॥

सुग्रीव और हनूमान् ने कुम्भकर्ण के अत्यन्त दम्भी दोनों पुत्रों—कुम्भ और निकुम्भ को यम का सेवक बना दिया ॥ १२ ॥

मकराक्षं सरोजाक्षः खरपुत्रं खरान्तकः ।
रामो गुणद्रुमारामो निजघान घनौजसम् ॥१३॥
मेघनादं महानादं सायकैर्हतनायकैः ।
लक्ष्मणः सिंहलक्ष्माणं बबाध प्रियबान्धवः ॥१४॥
महोदरो विरूपाक्षो विरूपाक्षो महोदरः ।
चतुरेण चतुर्थेऽह्नि सुग्रीवेण रणे हतौ ॥१५॥
संग्रामे वीरसंग्रामे राजितः समराजितः ।
चक्रे रणमहाचक्रे मार्गणैर्मर्ममार्गणैः ॥१६॥
दशकण्ठो धृतोत्कण्ठो राघवादस्त्रलाघवात् ।
पञ्चमेऽहनि पञ्चत्वं प्रयासेन प्रयास्यति ॥१७॥

चित्रगुप्तः—(युगलकम्) तदपरिहीणकालं भगवन्तमुपतिष्ठ येन पुरन्दरादेशमनुतिष्ठति स्वामी ।

(इति निष्क्रान्तः) (विष्कम्भकः)

(ततः प्रविशतः पुरन्दरदशरथौ चारणमिथुनं च)

चारणः—आर्य मातले ! सकलदानवेश्वरपुराक्रमणं सौत्रामणमतिदृक्कुतूहलोत्तानितलोकलोचनपक्ष्माणमैरावणलक्ष्माणं गगनाङ्गणसंचरणवेगतरलितमाणिक्यं किङ्किणीनिनदनिःस्यन्दनं स्यन्दनमितः कुरु । अयमसावतिसुरासुरसङ्गरनिवेशो रामरावणयोः समरसंरम्भोद्देशः । (सर्वे रथवेगं नाटयन्ति)

गुणरूपी वृक्षों के उपवनभूत कमलनय खरहन्ता राम ने खर के पुत्र अत्यन्त वली मकराक्ष को मारा ॥ १३ ॥

बान्धवों के प्रिय लक्ष्मण ने वीरों को मारने वाले बाणों से महानादकारी सिंहविक्रमी मेघनाद को मारा ॥ १४ ॥

चौथे दिन चतुर सुग्रीव ने विकृत आँख वाले विरूपाक्ष और बड़े उदर वाले महोदर को मारा ॥ १५ ॥

अपराजित समरभूमि में युद्ध में अजेय (अजित) ने मर्मभेदी बाणों से युद्ध किया । ॥ १६ ॥

पाँचवें दिन उत्कण्ठाशील रावण अस्त्रलाघव से युक्त राम से परिश्रम से मरेगा ।१७।

चित्रगुप्त (युगलक से)—तो बिना समय बिताये स्वामी के पास जाओ जिससे इन्द्र की आज्ञा का स्वामी पालन करें ।

(दोनों निकल जाते हैं । विष्कम्भक समाप्त हुआ)

(तदनन्तर इन्द्र तथा दशरथ एवं दो चारण प्रवेश करते हैं)

चारण—आर्य मातलि ! समस्त दानवेश्वरों के नगरों पर आक्रमणकारी, अत्यन्त कुतूहल से संसार के नेत्र लोकों को उत्तानित करने वाले, ऐरावतचिह्नित, गगनाङ्गण में चलने से चंचल माणिक्यों वाले, किंकिणी नाद से नादित ऐन्द्र रथ को इधर लाओ । देवासुरसंग्राम क्षेत्र से बढ़कर यह राम-रावण की संग्रामभूमि है (सभी रथ वेग को सूचित करते हैं ।)

दशरथः—भगवन् गीर्वाणनाथ ! इतः प्रसादं विधाय निधीयन्तां दृष्टयः ।
अयमनुकृतवल्लीफुल्लतापिच्छगुच्छो रणभुवमवतीर्णः कार्मुकी रामभद्रः ।
अयमपि दशकण्ठः कुण्ठिताम्भोदशोभः परिकलयति बाणं भ्रान्तकोदण्डदण्डः ॥१८॥

(कर्णं दत्त्वा आकाशे) किमाह रभसोल्लासितहृदयामोदमुद्रो रामभद्रः ।

भो लङ्केश्वर दीयतां जनकजा रामः स्वयं याचते
कोऽयं ते मतिविभ्रमः स्मर नयं नाद्यापि किंचिद्गतम् ।
नैवं चेत् खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजा पङ्किलः
पत्री नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः ॥१९॥

पुरन्दरः—सखे भूकाश्यप ! कतिहायनः पुनरयं वत्सो रामभद्रो येनेदृशान्यतिपरिणतप्रणेयानि च वचांसि वक्तुं शिक्षितः ।

दशरथः—(सविनयम्) देव ! भवदनुग्रहस्यैष प्रभावः स खल्वयस्कान्तमणेरनुभावो यदयो द्रवति (आकाशे कर्णं दत्त्वा) किमाह राक्षसराजः । रेरे रावणदोर्दण्डचण्डिमाहृतराम ! त्वत् पूर्वपुरुषस्यापि प्रहरणैर्नैव सोढमासीत् तथाहि । स मया ।

भृङ्गः स्तम्बेरमेणेव मदलम्पटचेष्टितः ।
अनरण्यो वरेण्यश्रीश्चपेटीचिपिटीकृतः ॥२०॥

दशरथ—भगवन् देवराज ! कृपा कर इधर दृष्टि डालिए । लता सहित तमाल पुष्प के गुच्छ की तरह यह रामभद्र धनुष लेकर युद्धभूमि में उतरे हैं । और मेघ की शोभा को तिरस्कृत करने वाला यह रावण धनुष घुमाकर बाण-ग्रहण कर रहा है ॥ १८ ॥

(कान लगाकर आकाश में) वेग से प्रसन्नता की मुद्रा लाकर रामभद्र ने क्या कहा—

हे रावण ! सीता को दीजिये । राम स्वयं याचना कर रहे हैं । आप का यह कौन सा मति-विभ्रम है । नीति का स्मरण कीजिये । अब भी कुछ गया नहीं है । यदि ऐसा नहीं करते तो खर-दूषण और त्रिशिरा के कण्ठ के रक्त से सिक्त मेरा यह बाण जो धनुष की प्रत्यञ्चा के बन्धन से मित्र बना हुआ है सहन नहीं करेगा ॥ १९ ॥

पुरन्दर—सखे पृथ्वीराज ! वत्स रामभद्र की अवस्था कितनी है जो इन्होंने वृद्धों से कही जाने योग्य ये बातें कहनी सीखी हैं ।

दशरथ—(विनय से) देव ! आप के अनुग्रह का ही यह प्रभाव है । लौह कान्त मणि के प्रभाव से ही लौह पिघलता है । (आकाश में कान देकर) राक्षसराज ने क्या कहा ? बाहु-विक्रम से जिसकी पत्नी हर ली गई है ऐसे हे राम ! तुम्हारा पूर्व पुरुष (पूर्वज) अनरण्य भी मेरे प्रहार को नहीं सह सका था । क्योंकि उसको—

मद-लोभी भ्रमर को जैसे गजेन्द्र नष्ट कर देता है वैसे वरेण्य श्री वाले अनरण्य को मैंने चपेटा से मसल डाला था ॥ २० ॥

किञ्च रे अनरण्यकुलकुमार !

चक्रे चक्रं मुरारेर्मयि कुपितवधूकुण्डलक्षेपलीला-
मस्भिन्नंसे विभिन्नस्तडिति बिसलताकाण्डवत् कालदण्डः ।
वक्षस्यूर्जस्वि वज्रं गतमिह च तुलां स्त्रैणहारप्रहारै-
र्यत् सत्यं पत्रिणस्ते मम वपुषि घने मन्मथास्त्रीभवन्ति ॥२१॥

पुरन्दरः—(विचिन्त्य) अहो महदन्तरं रामरावणयोर्वचनचातुर्यं प्रति यद्वा मतिः परिणमन्ती पुरुषमुदात्तयति न वयः ।

चारणः—(कर्णं दत्त्वा आकाशे) किमाह रामभद्रः । तर्हि सह्यतामयमनङ्ग-बाणोपमानो बाणः ।

चारणीः—(ससंभ्रमं प्रणम्य) भअवं पुरन्दर णिवेसीअन्तु विसट्टकन्दोट्टकाण-णमणोहरा इदोइदो अच्छिविच्छोहा । जदो पढमं कोदंडमंडलादो पलअकेउदंडप्प-माणो बाणो पच्छा कोसलणरिंदणंदणस्स वअणादो वाणी णिग्गंता भअवं इंदाणी-वल्लह अस्सुदपुव्वं अदिठ्ठपुव्वं च रामचंदचरिदं जं दाणिं दसाणणस्स मंदोदरी-चडुलचुम्बणविलुत्ततिलअबंधे णिडोलवट्टे जअधअदंडत्तणमुवणीदो बाणो [भगवन् पुरन्दर ! निवेश्यतां विशदकमलकाननमनोहरा इत इतोऽक्षिविक्षेपाः । यतः प्रथमं कोदण्डमण्डलात् प्रलयकेतुदण्डप्रमाणो बाणः पश्चात् कोशलनरेन्द्रनन्दनस्य वदनाद्वाणी निष्क्रान्ता । भगवन् इन्द्राणीवल्लभ अश्रुतपूर्वमदृष्टपूर्वं च रामचन्द्रचरितं यदिदानीं दशाननस्य मन्दोदरीचटुलचुम्बनविलुप्ततिलकबन्धे ललाटपट्टे जयध्वजदण्डत्वमुपनीतो बाणः ।]

तथा च रे अनरण्य कुलकुमार !

मुरारि का चक्र मुझ पर कुपित नायिका के कुण्डल गिरने जैसा हो गया, मेरे इस कन्धे पर यमदण्ड कमलनाल की भांति तड़तड़ा करके टूट गया, अत्यन्त तेजस्वी वज्र मेरे वक्षःस्थल पर स्त्रियों के हार के प्रहार जैसा हो गया और तेरे बाण मेरे बलवान् शरीर पर काम बाण (पुष्प बाण) जैसे होंगे ॥ २१ ॥

पुरन्दर—(सोचकर) अहा ! राम और रावण के वचन-चातुर्य में महान् अन्तर है ! अथवा बुद्धि की वृद्धता ही पुरुष को श्रेष्ठ बनाती है अवस्था नहीं ।

चारण—(कान देकर आकाश में) रामभद्र ने क्या कहा ? तो इस काम-बाण-सदृश बाण को सहो ।

चारणी—(संभ्रम से प्रणाम कर) भगवन् इन्द्र ! फूले हुए कमल वन की भाँति मनोहर आँखों को इधर-उधर डालिये । क्यों कि पहले धनुष मण्डल से प्रलयकालिक केतु के दण्ड प्रहार की भाँति बाण निकला, तदनन्तर राम के मुख से वाणी निकली । भगवन् शचीपते ! राम का चरित अश्रुतपूर्व तथा अदृष्टपूर्व है कि इस समय रावण के मदोदरी के चंचल चुम्बनों से जिसका तिलक लुप्त हो गया है ऐसे ललाट पर बाण जयध्वज का दण्ड बन गया ।

चारणः—सुगेहिनि ! सुदृष्टिरसि ।

यस्मिन्नम्बकमम्बिकापतिरसौ देवस्तृतीयं वह-
त्याद्यं यत्र च रोचनाम्बुतिलकं न्यस्यन्ति पृथ्वीभुजः ।
क्रोधे द्राक् भ्रुकुटीपुटेन घटते यच्च त्रिभङ्गात्मना
तत्रैव त्रिदिवद्रुहः प्रथमतो रामेण बाणोऽर्पितः ॥२२॥

चारणी—(सविषादम्) हद्धि हद्धि हदासदसकन्धरेण विणिम्भरदलींददीवरवणाहिरामस्स रामस्स गिरिशिलाविसालं वच्छत्थलमुद्दिसिअ कअंतदाढाजरठो सरो सन्धिदो [हा धिक् हा धिक् ! हताशदशकन्धरेणापि निर्भरदलदिन्दीवरवनाभिरामस्य रामस्य गिरिशिलाविशालं वक्षःस्थलमुद्दिश्य कृतान्तदंष्ट्राजरठः शरः संहितः ।]

दशरथः—कः कोऽत्र धनुर्धत्तुः पुरन्दरप्रसादीकृतसखिभावे सति दशरथे कथमिव रावणो रामभद्रं प्रहरतु ।

पुरन्दरः—सखे दशरथ ! द्वन्द्वयुद्धमिदं त्वनुचितं क्षत्रधर्मस्य दिव्यभावस्य च यदद्वन्द्ववृत्तिरपि शस्त्रं गृह्णाति ।

दशरथः—तत् कथयतु वन्द्यः किमत्र साम्प्रतम् ?

पुरन्दरः—यदत्र साम्प्रतमसाम्प्रतं वा राघवधुरन्धरो रामदेव एव तद्वेद ।

चारणः—

यन्मैथिलीमदनतल्पतलं यदात्तमारीचरत्नमृगचर्म शिलाघनं च ।
रामस्य वक्षसि चिरोज्झितहारदाम्नि तस्मिन्नयं दशमुखेन शरो निखातः ॥२३॥

जिस ललाट पर देव भवानीपति शंकर तृतीय नेत्र धारण करते हैं और जहाँ राजा लोग गोरोचना जल का तिलक लगाते हैं और क्रोध करने पर जो तिरछी भ्रुकुटि वाला हो जाता है देव-शत्रु रावण के उसी ललाट पर राम ने प्रथमतः बाण चलाया ॥२२॥

चारणी—(दुःख के साथ) हा धिक्कार है ! धिक्कार है । अभागे रावण ने भी राम के सम्यक् फूल रहे कमल वन के समान मनोरम तथा गिरिशिला के समान विशाल वक्षःस्थल पर काल के दांढ के समान कठिन बाण छोड़ा ।

दशरथ—यहाँ कौन है ? धनुष लाओ । इन्द्र ने प्रसाद कर जिसके साथ मित्रता की है ऐसे दशरथ के रहने पर रावण कैसे रामभद्र पर प्रहार करेगा ?

पुरंदर—सखे दशरथ ! यह द्वन्द्व युद्ध है । अतः क्षत्र धर्म तथा देवता धर्म के लिये यह अनुचित है कि जो द्वन्द्व में न हो वह भी शस्त्र ले ।

दशरथ—तो पूज्य बतावें कि यहाँ क्या उचित है ।

पुरंदर—जो यहाँ उचित-अनुचित है उसे राघव-श्रेष्ठ राम ही जानते हैं ।

चारण—जो सीता की कामशय्या है, जो मारीच रूपी रत्न मृग के चर्म को धारण किये है और जो शिला के सदृश कठोर है ऐसे चिरकाल से हार को त्याग किये राम के वक्षःस्थल पर रावण ने बाण छोड़ा ॥ २३ ॥

दशरथः—कथं रावण ! निपुणोऽसि यदेकेन बाणेन हृदये द्वयं ताडितं रामो दशरथश्च ।

चारणः—

मन्दोदरीस्तनविसूत्रितकुङ्कुमं यद्वज्रघातकणचूर्णविकीर्णहारम् ।
लङ्केश्वरस्य हृदि तत्र भवद्भुवाऽपि मारीचरक्तपिहितो निहितः पृषत्कः ॥२४॥

चारणी—(सचमत्कारम्) आअण्णाकड्ढिदकोदंडमंडलनिग्गलंतसरधोरणीणीरंघणिरुध्धभुअणकंदरो सुट्ठु खु रामरावणाणं णिभ्भरो समरसंरंभो अहह का वि लक्खणजेट्ठस्स दसरहणं दणस्स घाणुक्कदा जेण अदिक्कमिअ रहवरकेउदण्डं सरच्छडा पअट्टंति [आकर्णाकृष्टकोदण्डमण्डलनिर्गलच्छरधोरणीनीरन्ध्रनिरुद्धभुवनकन्धरः सुष्ठु खलु रामरावणयोर्निर्भरः समरसंरम्भः । अहह कापि लक्ष्मणज्येष्ठस्य दशरथनन्दनस्य धानुष्कता येनातिक्रम्य रथवरकेतुदण्डं शरच्छटाः प्रवर्त्तन्ते ।]

पुरन्दरः—सखे महीमहाराज ! अमुना रामशरविद्यावैशारद्येन देवं त्रिपुरान्तकरं शङ्करमनुस्मारितोऽस्मि ।

दशरथः—(रावणावलोकनाटितकेन) कथं रामभद्रचरितप्रमोदवते भगवते महेन्द्रायापि कुप्यति दशास्यः । (कर्णं दत्त्वा आकाशे) किमाह रावणः ।

स्मर्त्तुं युक्तः स तव समयः संयतं त्वां विमोक्तुं
शच्या यस्मिन्नहमतिशुचा याचितो भर्तृभिक्षाम् ।
यद्वा क्षुद्रो जन इव कथं कथ्यतां राक्षसेन्द्रः
पाणौ यस्य स्मयगरजुषामौषधं चन्द्रहासः ॥२५॥

दशरथ—क्यों रावण ! बड़े कुशल हो कि एक ही बाण से राम और दशरथ दोनों के हृदय पर प्रहार किया ।

चारण—मन्दोदरी के स्तनों के कुङ्कुम को मिटाने वाले और वज्र के चूर्ण कणों से जिस पर हार बन गया ऐसे रावण के हृदय पर आप के पुत्र ने मारीच घाती बाण छोड़ा ॥ २४ ॥

चारणी—(चमत्कार से) कर्ण तक खीचीं गई धनुषों से निकल रही बाण-परम्परा से भुवन-कन्दरा को व्याप्त करने वाला राम-रावण का सुन्दर समरोद्योग प्रारम्भ हो गया । अहा ! लक्ष्मण के ज्येष्ठ बन्धु राम की धनुष-शिक्षा कैसी सुन्दर हैं जो श्रेष्ठ रथ (पुष्पक) के केतु दण्ड को नीचा कर बाणशोभा फैल रही है !

पुरंदर—पृथ्वीपते ! राम की इस बाणविद्या-चतुरता से देव त्रिपुरान्तकारी शंकर का स्मरण हो आया है ।

दशरथ—(रावण को देखने का प्रदर्शन करते हुये) क्या रामभद्र के चरित्र से प्रसन्न हो रहे भगवान् इन्द्र पर भी रावण क्रुद्ध हो रहा है (कान लगाकर आकाश में) रावण ने क्या कहा—

तुम्हें वह समय स्मरण करना चाहिये जब तुम्हें बन्धन में देखकर तुम्हारी पत्नी शची ने अत्यन्त शोकवश मुझसे पति की भिक्षा मांगी थी अथवा पामर जन की तरह वह रावण क्यों आत्मश्लाघा करे जिसके हाथ में गर्वरूपी विष वालों के लिये औषध रूप चन्द्रहास असि है ॥ २५ ॥

अपि च रे कपिललोमशबाहो अहल्याजार !

बाणान् स्यन्दनकेतुयष्टिसुहृदो रामस्य नामाङ्कितान्
दृष्ट्वा वासव किं दृशां दशशती निःशल्यमुत्फुल्लति ।
सद्यस्तापसकामिनोऽस्य विमतेराजौ तु कृत्त्वा शिर-
स्त्वां कारागृहदत्तगाढनिगडं कर्ता प्रगे रावणः ॥२६॥

दशरथः—(भूय आकाशे कर्णं दत्त्वा) किमाह वत्सो मे रामभद्रः अहो वालिबालवयस्य पौलस्त्य भवादृशेभ्यो वीरवरपरिभाषाः प्रवर्तन्ते तत् किमिदं नाम यदन्यः प्रतिपक्षोऽन्यस्मै कुप्यते । तदेहि मामेव योधय । यद्दुम्मार्गंमार्गणाद् दाशरथिना क्षत्रियेण भवान् विनेय एव । (विचिन्त्य) किमाह रावणः रेरे मानुषीपुत्रायमसावक्षत्रियो रावणः स भवान् क्षत्रियो रामः तद् दृश्यतां कतरो विनेयः कतरो विनेतेति, किमाह रामभद्रः हंहो अमानुषीपुत्र अयमसौ क्षत्रियो रामः स भवानक्षत्रियो रावणस्तदत्र दृश्यतां कतरो विनेयः कतरो विनेतेति ।

चारणः—(विलोक्य) कथममर्षेण दर्पिताभ्यां रामरावणाभ्यां परस्परं प्रत्युपक्रान्तमिषुवर्षाद्वैतम् ।

और हे नीच कपिलवर्ण की तथा लोम युक्त बाहों वाले अहल्या जार !

राम के नाम से अङ्कित बाणों को रथध्वजा के दण्ड पर गिरते देखकर क्यों तुम्हारे सहस्र नेत्र शल्य विरहित (अर्थात् प्रसन्न) होकर फूल रहें हैं । शीघ्र ही इस कामी तपस्वी के शिर को युद्ध में काट कर प्रातः काल तुम्हें रावण कारावास में कड़ी बेड़ी पहनाकर डाल देगा ।। २६ ।।

दशरथ—(पुनः आकाश में कान लगाकर) मेरे वत्स रामभद्र ने क्या कहा—हे बालि के बालमित्र पुलस्त्यनन्दन ! आप जैसे लोगों से ही वीरवरों की परिभाषा चलती है । तो यह क्या बात है कि शत्रु तो दूसरा है और क्रोध दूसरे पर कर रहे हो । तो आवो मुझसे ही युद्ध करो । कुमार्ग पर चलने से तुम क्षत्रिय राम के द्वारा रोके जाओगे (सोचकर) रावण ने क्या कहा ? हे मनुष्य ! यह रावण अक्षत्रिय है और तुम क्षत्रिय राम हो तो देखो कौन नम्र हो रहा है और कौन नम्रकर्ता है । रामभद्र ने क्या कहा ? हे अमनुष्य ! यह क्षत्रिय राम है तुम अक्षत्रिय रावण तो देखें कौन विनेता और कौन विनत होता है ।

चारण—(देखकर) क्या क्रोध से भरे राम-रावण ने परस्पर बाण-वर्षा का द्वैत युद्ध प्रारम्भ कर दिया ।

चारणी:—(ससंभ्रमम्) सुरपरमेसर भीषणं वट्टदि। जदो णिविडपाडिदपडाआवडा विघुरिदबंधुरधुरावंधा तक्खणदो खंडिदक्खदंडा ताडणभंगिभंगुरिदपग्गहपरिग्गहा णिग्गिहीदगमणपवलचक्कचंकमणा उद्दामुद्दलिददीहकूवरप्पवरा इमाणं असमाणा परिप्फुरंति दीहप्पमाणा बाणा। अविअ पडिक्खलिदजक्खपक्खा भग्गचारणसंचरणा मंथरिदणिरवज्जविज्जाहरविहारा रभसुंमूलिदसुरासुरप्पसरा विसण्णाप्पण अपवण्णविवडवित्थारा णिठ्ठुरणिट्ठाविदगंधव्वगव्वा पअडविध्धंसिदसिध्धसिध्धा गअणंगणुतासिदसउन्तसंताणा कहिं दाणिं पुण इमाणं ण पसरिदा शरसंघाआ [सुरपरमेश्वर ! भीषणं वर्तते यतो निबिडपातितपताकापटा विधुरितबन्धुरधुराबन्धास्तत्क्षणतः खण्डिताक्षदण्डास्ताडनभङ्गिभङ्गुरितप्रग्रहपरिग्रहा निगृहीतगमनप्रबलचक्रचङ्क्रमणा उद्दामदलितदीर्घकूबरप्रवरा अनयोरसमानाः परिस्फुरन्ति दीर्घप्रमाणा बाणाः। अपि च परिस्खलितयक्षपक्षा भग्नचारणसंचरणा मन्थरितनिरवद्यविद्याधरविहारा रभसोन्मूलितसुरप्रसरा विषण्णापन्नगप्रपन्नविवरविस्तारा निष्ठुरनिष्ठापितगन्धर्वगर्वाः प्रकटविध्वसितसिद्धसिद्धा गगनाङ्गणोत्त्रासितशकुन्तसन्तानाः क्वेदानीं पुनरेतयोर्न प्रसृताः शरसङ्घाताः।]

चारण:—(सम्यग्विभाव्य) अति हि सुदूरमन्तरं कार्मुककर्मणि विरञ्चिविरोचनकुलतिलकयोरनयोर्हस्तलाघवस्य तथा हि।

> रघुपतिवदनेन्दौ कार्मुकैः पङ्क्तिसंख्यै-
> र्दश विकिरति बाणान् यातुधानप्रधानः।
> दशभिरपि च काण्डैरेककोदण्डवाही
> प्रहरति दशवक्त्रीं राघवो रावणस्य ॥२७॥

चारणी—(चकपकाहट के साथ) देवराज ! भीषण युद्ध हो रहा है क्योंकि राम-रावण के अतुलनीय बड़े-बड़े बाण घूम रहें है ! वे बाण सघन पताका वस्त्रों को काट रहे हैं। अक्षदण्डों को सद्यः खण्डित कर रहे हैं, चल रहे रथाङ्गचक्रों को रोक रहे हैं, बड़े-बड़े कूबरों को प्रकर्षेण काट रहे हैं। तथा यक्षों को इतस्ततः गिरा रहे, चरणों के संचार को रोक रहे, सुन्दर विद्याधरों के विहारों को रोक रहे, देवताओं के सञ्चरण को वेग से बन्द कर रहे, दुःखी सर्पो को बिल में प्रवेश करा रहे, गन्धर्वसमूहों को निष्ठुरता से उत्तम कर रहे, सिद्ध संघों को स्पष्टरूप से विध्वस्त कर रहे, आकाश से पक्षियों को भयभीत कर रहे इनके बाणसमूह कहाँ नहीं फैल रहे हैं ?

चारण—(भली भाँति देखकर) ब्रह्मा तथा सूर्य वंश के इन तिलको की धनुष विद्या के हस्तलाघव में महान् अन्तर है क्योंकि—

राक्षसराज रावण राम के मुख पर दश धनुषों से दश बाणों को छोड़ रहा है और राम एक धनुष से दश बाणों के द्वारा रावण के दशों मुखों पर प्रहार कर रहे हैं ॥ २७ ॥

अपि च। सुरचक्रवर्तिन्! इह हि कामिनामनुरागपरिग्रहो गुणलवलाभलोभेन दोषप्रमोषमावहति तथा हि।

रामक्षिप्तान् प्रतीच्छत्ययमिह विशिखान् वक्षसा राक्षसेन्द्रः
सीताहस्ताम्बुजाग्रार्पितमलयभवस्थासकान्मन्मथान्धः ।
सोल्लासं हारवल्लीकवचपरिचिते ते तु तस्मिन् विशन्तः
स्वेदाम्भः प्रारभन्ते पुलकमुपनयन्त्युद्धतिं चार्पयन्ति ॥२८॥

(आकाशे कर्णं दत्वा) किमाह सविचिकित्सक्रोधं रामः न केवलममुना समबाणवर्षेण रावणप्रमार आरभ्यते अपित्वेतस्य जानकीकरतलस्पर्शकेलिसंभावनीयगात्रेषु पत्रिषु रोमाञ्चकञ्चुकं यावदामोच्यते तद्भवतु विश्वामित्रोपदिष्टमन्त्रैर्दिव्यास्त्रैरमुमायोधयामि।

चारणी—(सचमत्कारम्) किं उण एदं आमूल फलिदप्फुलिंगजडिलजालावलीविलीणतुहिणसरणिसारणीपूरिज्जमाणमंदाइणीचंदभाआपहुदिनदीसत्थमंथरिदवित्थारो सअलकुलसेलचक्कवट्टी कुवेराधिट्ठिदं दिसमधिवसंतो हिमवंतो संतवणुत्तरलसिलाजदुणीसंदणिज्झरदहिज्जंतचरणचंकमणक्कंदिअकरिन्दपवेससमूससंतसोत्तसलिलमदप्फालिदतडंतणिवतंडप्रत्थरवित्थारपअट्टसद्दसंदोहभरिदगंभीरगुरुगुहाकुहरमज्झो चिंझो सिमिसिमाअंतसंततसिरिखंडमंडलीप्रब्भट्ठभुअइंदभोअभरिज्जं-

---

तथा हे देवराज! कामियों का प्रेम लेशमात्र गुण के लाभ के लोभ से दोष को छोड़ देता है क्योंकि—

यह कामान्ध रावण सीता के हस्ताग्र से जिनपर चन्दन तथा चूर्ण विशेष लगाया गया है ऐसे राम-प्रेषित बाणों को छाती से ग्रहण कर रहा है। और वे बाण उल्लास हारवल्ली ही जिसका कवच है ऐसे वक्षःस्थल प्रवेश करते हुये, स्वेदजल निकालते हैं, रोमाञ्च करते हैं और उद्धतता लाते हैं॥ २८॥

(आकाश में कान देकर) संशय और क्रोध सहित राम ने क्या कहा? केवल इस समान बाण वर्षा से रावण की मृत्यु नहीं होगी अपितु जानकी करतल स्पर्श रूप केलि की सम्भावना वाले बाणों में जब तक यह रोमाञ्च कञ्चुक को छोड़ता है तब तक विश्वामित्र प्रदत्त दिव्यास्त्रों से इसके साथ युद्ध करूँ।

चारणी—(चमत्कार से) जल से फैले अग्निकणों से व्याप्त ज्वालामाल से पिघली वर्फ नदियों से व्याप्त मन्दाकिनी चन्द्रभागा आदि नदियों से विस्तार वाला उत्तर दिशावासी कुलपर्वताधीश हिमवान् हो गया है, सन्ताप से गले शिलाजीतों के निर्झरों से पैर जलने के कारण चिग्घाड़ रहे हाथियों के द्वारा आन्दोलित नदियों के शब्द-समूह से विन्ध्य के गुफाएँ निनादित हो रही हैं, सन्ताप से सिम-सिम कर रहे चन्दनों से गिर रहे सर्पों के शरीरों से व्याप्त ताम्रपर्णी नदी के प्रवाह में डरे हुये शुक्तियों

तत्तंववण्णीसोत्तसत्तासिदसिप्पिसंपुडमुहपलाट्टमोताहलकरंबिदतंवण्णीपवणविच्छि-ण्णणिअंवडंबरालंकिदक्खिणमहीवलओ मलओ डाहकुविदकुंपसंभवमहामुणिगेहि-णीदिण्डविवण्णदिठ्ठिच्छडाकडप्पसंकोडिदचडुलजालुप्पीउपीडापरिहरिज्जमाणमाणि-क्कचक्कबालवेल्लिअलदाभवणगभ्भसंभाविदहुदवहुच्छेदमुहुत्तसुहपसुत्तविज्जाहरमि: हुणजणिदमणमोहणो रोहणो [किं पुनरिदमामूलफलितस्फुलिङ्गजटिलज्वालावलीविली-नतुहिनसरणिसारणीपूर्यमाणमन्दाकिनीचन्द्रभागाप्रभृतिनदीसार्थमन्थरितविस्तर: सकल-कुलशैलचक्रवर्ती कुबेराधिष्ठितां दिशमधिवसन् हिमवान् सन्तपनोत्तरलशिलाजतुनि-स्यन्दनिर्झरदह्यमानचरणचङ्क्रमाणाक्रन्दितकरीन्द्रप्रवेशसमुच्छ्वसत्स्रोत:सलिलस्फालितत-टान्तनिपतत्प्रस्तरविस्तारप्रवृत्तशब्दसन्दोहभरितगम्भीरगुरुगुहाकुहरमध्यो विन्ध्य: सिमसि-मायमानसन्ततश्रीखण्डमण्डलीभ्रष्टभुजगेन्द्रभोगम्रियमाणताम्रपर्णीस्रोतस्सन्त्रासितशुक्ति-संपुटमुखपतितमुक्ताफलकरम्बितताम्रपर्णीपवनविच्छिन्ननितम्बडम्बरालङ्कृतदक्षिणमहावल-यो मलयो दाहकुपितकुम्भसंभवमहामुनिगेहिनीदत्तविवर्णवृष्टिच्छटाकलापसंकोटितचटुल-जलीसीडपरिह्रियमाणमाणिक्यचक्रवालवेल्लितलताभवनगर्भसंभावितहुतवहोच्छेदमुहूर्तसुख-सुप्तविद्याधरमिथुनजनितमनोमोहनो रोहण: ।]

पुरन्दर:—ध्रुवं शस्त्रमाग्नेयमामन्त्रितं पौलस्त्यदमनविधावस्ततन्द्रेण रामचन्द्रेण । यत:—

रामनर्तितमहाधनुर्मुखाद्यत्र यत्र निपतन्ति सायका: ।
तत्र तत्र जलधेर्जलोच्चये कार्यतो विरचयन्ति वाडवम् ॥२९॥

अपि च ।

सद्य: कल्पद्रुमाणां मणिकुसुमवतां वर्त्तते दावदाह:
क्रन्दन्त्युत्तप्तधारास्रुतिकृतकरकावृष्टयस्तोयवाहा: ।
रामस्योच्चण्डचापप्रणिहितहुतभुङ्मार्गणार्चि: प्रपञ्चै-
स्तूर्णोत्तीर्ण: समुद्रं सरति च विसरो मेरुहेमद्रवस्य ॥३०॥

(जलचर विशेषों) के मुख-सम्पुट से गिरे मोतियों से युक्त पवन से मध्यदेश वाला मलय पर्वत शोभित हो रहा है, दाह से क्रुद्ध हुई महामुनि अगस्त्य की पत्नी लोपामुद्रा के द्वारा विवर्ण दृष्टि से संकुचित चपल किरातों के द्वारा उखाड़े जाने की पीड़ा से मुक्त माणिक्य समूहों से अग्नि के खण्डों से युक्त चंचल भवनों में किंचित् काल सोये हुये विद्याधरों वाला रोहण पर्वत हो गया है। (भाव यह है कि अग्निज्वाला सर्वत्र फैल रही है)।

पुरन्दर— निश्चय ही रावण के दमन में उद्यत रामचन्द्र ने आग्नेयास्त्र का साधन किया है। क्योंकि—

राम से हिलाये जा रहे धनुष के अग्र से जहाँ-जहाँ बाण गिर रहे हैं वहीं-वहीं समुद्र के जलसमूह में दहन रूप कार्यवश वाडवाग्नि की सृष्टि कर रहे हैं ॥ २९ ॥

और भी—राम के प्रचण्ड चाप से प्रक्षिप्त अग्नि बाण की किरण-समूहों से मणिमय पुष्पों वाले कल्पद्रुमों में सद्य: दावाग्नि लग गयी, उत्तप्त धारापातों से करकावृष्टि कर बादल क्रन्दन करने लगे तथा मेरु पर्वत के स्वर्ण का प्रसार शीघ्रता से समुद्र में फैल रहा है ॥ ३० ॥

चारणः—(आकाशे कर्णं दत्त्वा) किमाह रावणः ? कथं दिव्यास्त्रसमरसमारम्भी रामस्तदहमपि समारभे । यद्वा ।

> आग्नेयास्त्रं हृदयदवथुर्वारुणं हन्त शस्त्रं
> धाराबाष्पं पवनशरतां यान्ति च श्वासदण्डाः ।
> तज्जानक्या किमिव न कृतं रक्षसां स्वामिनो मे
> दिव्यैरस्त्रैर्यदयमपरं तापसः कर्तुकामः ॥३१॥

चारणी—आमूलुद्दलिअपारिजाअतरुराइणो उक्कंपिदाणप्पकप्पपादवा विसुत्तिदसंताणअतरुसंताणा विमद्दिदामंदमंदारुद्दुमा णिदलिद्दणंदणवणहरिअंनणा इमे आसुत्तिदसत्तभुअणावसाणा पवमाणा पवट्टंति [आमूलोद्दलितपारिजाततरुराजा उत्कम्पितानल्पकल्पपादपा विसूत्रितसंतानतरुसंताना विमर्द्दितामन्दमन्दारद्रुमा निर्गलितनन्दनवनहरिचन्दना इमे आसूत्रितसप्तभुवनावसानाः पवमानाः प्रवर्त्तन्ते ।]

पुरन्दरः—नूनमात्मनि कार्शानवमस्त्रमसमर्थं समर्थयता त्रिभुवनाभोगभङ्गनिमित्तमग्निमारुतसंयोग इति सामीरणमासूत्रितं राक्षसराजेन तथाहि ।

> दिव्यानां यानपङ्क्तीर्दिशि दिशि विकिरन् भग्नचिह्नोरुदण्डः
> पञ्चानां स्वर्द्रुमाणाममरमधुलिहां रुग्णशाखाप्रकाण्डः ।
> भञ्जन् बर्हावतंसं हरसुतशिखिनः पिच्छविच्छेदनाभि-
> र्वायुर्वात्येष चण्डो जलधितटरुहां मर्दनो विद्रुमाणाम् ॥३२॥

चारण—(आकाश में कान लगा कर) रावण ने क्या कहा ? क्या राम दिव्यास्त्र से युद्ध करने लगा तो मैं भी दिव्यास्त्र का सन्धान करूँ । अथवा—

हृदय सन्ताप आग्नेयास्त्र है, अस्रुपात वारुणास्त्र है तथा श्वास-समूह पवनास्त्र बन रहे हैं—

तो मुझ राक्षसराज के प्रति जानकी ने क्या-क्या नहीं कर दिया जो यह तपस्वी दिव्यास्त्रों से करना चाहता है ॥ ३१ ॥

चारणी—जड़ से पारिजात वृक्षों को हिला रहे, बहुत से कल्प वृक्षों को हिला रहे, सन्तान वृक्षों के समूहों को गिरा रहे, प्रस्फुटित मन्दार वृक्षों को मर्दित कर रहे, नन्दन वन के हरिचन्दनों को गिरा रहे तथा सातों लोकों के विनाश की शंका उत्पन्न कर रहे ये पवन चल रहे हैं ।

पुरंदर—निश्चय ही अपने में आग्नेयास्त्र को असमर्थ समझकर अग्नि-वायु का संयोग त्रैलोक्य के विस्तार के विनाश के लिये है अतः राक्षसराज ने वायव्यास्त्र को छोड़ा है । क्यों कि—

दिव्य आकाशचारियों के विमानों को, जिनके चिह्न तथा विशाल दण्ड टूट गये थे, इधर-उधर फेंकते हुये अमरणधर्मा भ्रमरों से युक्त पांचों देवतरुओं की शाखाओं को तोड़ते हुये, तथा पिच्छों के तोड़ने से कार्तिकेय के मयूर के पुच्छ के आभूषण को तोड़ते हुये समुद्र के तटपर उगने वाले विद्रुमों को तोड़ने वाला यह प्रचण्ड वायु प्रवाहित हो रहा है ॥ ३२ ॥

चारणी—किं उण मसिणवट्टिदराअवट्टसिणिध्धमुध्धमुध्धसामलछाएण वि च्छाइज्जइ गअणङ्गणं दुद्दिणेण आवञ्जिज्जइ कलकलरवुक्कंठाविसंठुलकंठाहिं तंडवाडंबरो सिहंडिमंडलीहिं णिबिडिञ्जइ मिणालदंडपंडुराहिं मंडिदबह्मंडकंदराहिं जलधाराधोरणीहिं गज्जिज्जइ णिविदुल्लासिअवंसकरिकरिल्लविदुरिल्लेहिं फारप्फालिदगंभीरभेरीभीसणेहिं जलहरेहिं [किं पुनर्मसृणवर्तितराजपट्टस्निग्धमुग्धेन श्यामलच्छायेनापि छाद्यते गगनाङ्गणं दुर्दिनेन। आवर्ज्यंते कलकलरवोत्कण्ठाविसंष्ठुलकण्ठाभिस्ताण्डवाडम्बरः शिखण्डिमण्डलीभिः। निबिडायते मृणालदण्डपाण्डुराभिर्मण्डितब्रह्माण्डकन्दराभिर्जलधाराधोरणीभिः। गर्ज्यंते निबिडोल्लासितवंशकरिकरीन्द्रसदृशैः स्फारोत्स्फारितगम्भीरभेरीभीषणैर्जलधरैः।]

पुरन्दरः—मन्ये पवनोद्दीपितदहनास्त्रशान्तये जलधरास्त्रमिदमाहूतं रामभद्रेण तथा हि।

तैलस्निग्धान्ध्रनारीचिकुरविरचनामेचकाः शक्रचाप-
ज्योतिर्लक्ष्माण एते निचुलपरिचिताश्चातकाचान्तवारः।
न्यस्यन्तः केतकीनां मुकुलपरिकरं केकिनां नृत्तकारा-
स्तारावर्त्मोन्नमन्तः कमलकवलनाः पूरयन्त्यम्बुवाहाः॥३३॥

ततश्च—

रोदसीकन्दराभोगमानयष्टिसमक्रमैः।
क्रियतेऽर्णवमग्नेव धाराम्भोभिर्जगत्त्रयी॥३४॥

चारणी—क्या कोमल तथा परिष्कृत राजपट्ट (नीलमणि विशेष) के सदृश स्निग्ध तथा मनोहर दुर्दिन (मेघ) से आकाश व्याप्त हो गया ? कल-कल शब्द की उत्कण्ठा से व्यग्र कण्ठवाले मयूरों के द्वारा ताण्डव-नृत्य प्रारम्भ किया जा रहा है। कमलदण्ड के समान शुभ्र तथा ब्रह्माण्ड की कन्दराओं को आच्छादित करनेवाली जलधारा की श्रेणियों द्वारा सतत वृष्टि हो रही है। बाँसों के अंकुरों को उगानेवाले, गजराज तुल्य तथा जोर से पीटे गये बड़े नगाड़ों के समान भीषण बादल गरज रहे हैं।

पुरंदर—प्रतीत होता है वायु से प्रदीप्त अग्न्यस्त्र की शान्ति के लिये रामभद्र ने यह मेघास्त्र छोड़ा है, क्योंकि—

आन्ध्रदेशीय स्त्रियों के तेल से सिक्त केश-विन्यास की भाँति काले, इन्द्रधनुष की ज्योति वाले, स्थलवेतसों से परिचित, चातकों से पिए गए जलवाले, केतकियों में मुकुल लगाने वाले, मयूरों को नचाने वाले, अन्तरिक्ष में व्याप्त होने वाले तथा कमलों के विध्वंशक बादल फैल रहे हैं॥ ३३॥

और—

द्यावा पृथिवी के विस्तार के परिमाण के स्वरूप द्वारा इन धारावृष्टियों ने तीनों लोकों को समुद्रमग्न सा कर दिया॥ ३४॥

चारणी—पेक्खदु देवो अण्णोण्णजुज्झंत जलहत्थिसत्था कल्लोलकेलिणीलुक्कन्तगिरिपक्खिणोलक्खिजन्ततिअसेंदसिंधुरबंधवा समुल्लसंतपीऊससेसा दीसंतदेवद्दुमपादवालवालाअवलोइज्जंतनाराअणसूअरसमुध्धरिदधरिणिवेढणिलुक्कणठ्ठाणा वित्थरंतकोत्थुहसगोत्तमणिकरंबिदपाआलजंबाला उच्छलंतलच्छीबालविलासुद्देसा सप्पवंचपंचजणजणणीसंखिणीसणाहा ससंभमब्भमंतकच्छवडिंभगब्भा पअडिज्जंतदामोदरणिद्दाविमद्दसअणिज्जसेसरमणिज्जा माहवमहातिमिगोत्तगिलिज्जंततिमिंगिला णिब्भरं भरंति भुअणाइं इमे समुद्दा [प्रेक्षतां देवः। अन्योन्ययुध्यमानजलहस्तिसार्थाः कल्लोलकेलिनिलुक्कान्तगिरिपक्षिणो लक्ष्यमाणत्रिदशेन्द्रसिन्धुरबान्धवाः समुल्लसत्पीयूषशेषा दृश्यमानदेवद्रुमपादपालवाला अवलोक्यमाननारायणसूकरसमुद्धृतधरणिपृष्ठनिलयनस्थाना विस्तार्यमाणकौस्तुभसगोत्रमणिकरम्बितपातालजम्बाला उच्छलल्लक्ष्मीबालविलासोद्देशा सप्रपञ्चपञ्चजनजननीशङ्खिनीसनाथाः ससंभ्रमभ्रमत्कूर्मकच्छपडिम्भगर्भाः प्रकटायमानदामोदरनिद्राविमर्दशयनीयशेषरमणीया माधवमहातिमिगोत्रगिल्यमानतिमिङ्गिला निर्भरं भरन्ति भुवनानीमे समुद्राः]

पुरन्दरः—नूनमात्मनि वारुणास्त्रमप्यतन्त्रं मन्यमानेन त्रिभुवनाभोगगर्भमहाकन्दरप्लावनाय जलंजलसंपृक्तं महाजलाय कल्पत इत्यौदन्वतमस्त्रमाहूतं पौलस्त्येन। तथा हि।

> कुर्वन्तो वाडवाग्नेर्द्रुतकरिमकरग्रासमर्चिः प्रचारं
> दैत्यस्त्रीमुक्तहाहारवचकितवलच्छुक्तिनिर्मुक्तमुक्ताः।
> पक्षोत्क्षेपेण चण्डोड्डमरितपयसः पक्षिणां क्ष्माधराणां
> त्रीन् लोकान् प्लावयन्ति प्रसभविरचितावर्तमुद्राः समुद्राः ॥३५॥

चारणी—देव देखें ये समुद्र लोकों को पूरी तरह भर रहे हैं। इनमें जल के हाथी परस्पर युद्ध कर रहे हैं, पर्वतीय पक्षी कल्लोल कर उड़ रहे हैं, इन्द्र के हाथी (ऐरावत) के बन्धु दिखाई पड़ रहे हैं, अमृत के बचे हुए अंश दिखाई पड़ रहे हैं, देवतरुओं के आलबाल दिखाई पड़ रहे हैं, भगवान् वराह के द्वारा निकाली गई पृथिवी के निमज्जनस्थान दिखाई पड़ रहे हैं, कौस्तुभमणि के सगोत्री मणियों के द्वारा पाताल के पङ्क प्रकाशित हो रहे हैं, लक्ष्मी के बालक्रीडा के स्थान प्रकाशित हो रहे हैं, वंशों के साथ पञ्चजन (शंखासुर) की जननी शंखिनी से युक्त हैं, भगवान् कच्छप के वंश घूम रहे हैं, भगवान् दामोदर की शय्या निमित्त प्रकाशमान् शेष से युक्त हैं और भगवान् मत्स्य के सगोत्रियों द्वारा तिमिङ्गिल खाये जा रहे हैं।

पुरंदर—निश्चय ही अपने में वारुणास्त्र को भी अस्वतन्त्र मानकर रावण ने वरुणास्त्रजन्य जल (लौकिक) जल से युक्त होकर अत्यन्त महान् जलकारक होता है यह मानकर वारुणास्त्र छोड़ा है। क्योंकि—

जल-हाथी तथा मकरों के सद्यः ग्रास कारक वाडवाग्नि की रश्मियों का प्रसार करते हुये, दैत्यस्त्रियों के हाहाकार से चकित चंचल शुक्तियों द्वारा मोतियों का त्याग कराते हुये, पांख वाले पर्वतों के पांख फटफटाने से चंचल प्रचण्ड जलवाले तथा सद्यः आवर्तकी मुद्रा करते हुये समुद्र तीनों लोकों को डुबो रहे हैं ॥ ३५ ॥

चारणी—भअवं दससदक्ख पेक्ख पेक्ख कलिदकलिकालकवलणा सत्तसाअर-पाणप्पवीणा णिव्वाणणअरराअमग्गाधम्मद्दुममहारामा कोधपाअवप्पसरपरसुणो णिविडिदजडाजूडबंधा कमंडलमंडिदहत्था पअडिदजोअपट्टा बंह्मसुत्तपवित्तिदखंध-वंधा भअवंतो अगत्थिमहेसिणोऽलक्खसंखा संचरंति [भगवन् दशशताक्ष ! प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व कलितकलिकालकवलनाः सप्तसागरपानप्रवीणा निर्वाणनगरराजमार्गा धर्मद्रुम-महारामाः क्रोधपादपप्रसरपरशवो निबिडितजटाजूटबन्धाः कमण्डलुमण्डितहस्ताः प्रकटितयोगपट्टा ब्रह्मसूत्रपवित्रितस्कन्धबन्धा भगवन्तोऽगस्त्यमहर्षयोऽलक्ष्यसंख्याः सचरन्ति ।]

पुरन्दरः—मन्ये त्रिभुवनपरिप्लावनपयः पाननिमित्तमगस्त्योपदिष्टमगस्त्यास्त्रं धनुषि संहितं रघुकुलराजपुत्रेण । तथा हि

लोपामुद्रानिबद्धोपचरणविधयो धौतवल्कोत्तरीया
रत्नानामाधिराज्ये विरचितरतयो ब्रह्मसूत्राञ्चितांसाः ।
एते निर्यान्त्यगस्त्याश्चलचुलुकपुराचान्तसप्ताब्धिवारो
रुद्राक्षाक्षवलीभिर्द्विगुणवलयिता बिभ्रतः कर्णपालीः ॥३६॥

चारणः—(सविस्मयम्) नमुचिमथन मन्थरितमन्यो शतमन्यो दिव्येनास्त्रजातेन दिव्यमस्त्रजातं विजित्य तत् किमपि कृतं रक्षोलक्ष्मीविरामेण रामेण यदनिशं विमृशतोऽपि मे न चेतः प्रत्येति न वाच उच्चरन्ति । निरङ्कुशा दशाननस्याज्ञा । (विभाव्य सावष्टम्भम्) यद्वेदं निवेद्यते ।

चारणी—भगवन् सहस्राक्ष ! देंखे—कलिकाल का भक्षण करने वाले, सातों समुद्रों के पान में प्रवीण, मोक्षमार्ग के राजमार्ग (अर्थात् मोक्षोपदेष्टा), धर्मरूपी वृक्ष के बड़े उद्यान, क्रोध रूपी वृक्ष के विस्तार के लिये परशुभूत, जटाजूट बांधे, कमण्डलु से शोभित हाथवाले, योगयुक्त तथा यज्ञोपवीत से पवित्र कन्धेवाले लाखों भगवान् अगस्त्य ऋषि घूम रहे हैं ।

पुरंदर—मालूम पड़ता है त्रिलोकी को डुबोनेवाले जल को पीने के निमित्त रघुकुल राजपुत्र राम ने अगस्त्योपदिष्ट अगस्त्यास्त्र का धनुष पर संधान किया है ।

लोपामुद्रा से सेवितपाद वाले, धुले हुये उत्तरीय वल्कलवाले, रत्नों के साम्राज्य में प्रेमरखने वाले, यज्ञोपवीत से शोभित स्कन्धवाले तथा रुद्राक्षमाला के दानों से कर्णप्रान्त को द्विगुणित लपेटे हुये ये अगस्त्य चञ्चल चुलुकों से सप्त समुद्रों के जल को पीकर निकल रहे हैं ॥ ३६ ॥

चारण—(विस्मय से) नमुचि को मारने से शान्त क्रोधवाले शतमख (इन्द्रदेव) ! दिव्यास्त्र से दिव्यास्त्र को जीतकर राक्षसों की लक्ष्मी के विनाशक राम ने ऐसा कार्य किया कि सदैव सोचते हुये भी मेरा चित्त विश्वास नहीं कर रहा है और न तो वचन ही निकल रहे हैं । रावण की आज्ञा निरंकुश है (सोचकर धैर्य से) अथवा यह निवेदन है—

विश्वाज्ञादानदक्षाक्षरमुखरमुखं चन्द्रहासोपपाद्य-
च्छेदक्रीडारसज्ञं तदिदमनवधिक्रोधहुङ्कारधारि ।
सार्धं शुद्धान्तनारीनयनजपयसासूयितं देवदारै-
राकण्ठाद्दाशकण्ठं भुवि पतति शिरोरामभल्लाग्रलूनम् ॥३७॥

पुरन्दरः—हंहो ऐन्दुमतेयातिदुष्करं कृतं रामभद्रेण यतः ।

शम्भोरग्रे निजकरचरच्चन्द्रहासप्रसूतां
लङ्कानाथः किमपि सुबहोर्विस्मरन्नेष कालात् ।
धाराज्योतिस्तरलितशिखैः साम्प्रतं रामबाणैः
कण्ठच्छेदव्यतिकररुजं लम्भितः स्मारितश्च ॥३८॥

दशरथः—शौर्यगाम्भीर्ये त्रिभुवनातिशायिनी राक्षसराजस्य यदित्थं गतेऽपि न चलितं प्राचाहङ्कारेण तथा हि ।

एतल्लूनं दशमुखशिरः स्रंसते कण्ठपीठा-
च्चक्षुर्धत्ते धनुषि सशरे चैतदुग्राट्टहासम् ।
एतद्रामं प्रति च कुरुते धिक्शतं क्रोधवाचा-
मेतल्लङ्कामभि च भवति स्त्रीजनाश्वासनाय ॥३९॥

चारणी—(विहस्य) ता अज्जपहुदि दसाणणं णवाणणं वाहरिस्सामो [तदद्य प्रभृति दशाननं नवाननं व्याहरिष्यामः ।]

विश्व को आज्ञा देनेवाले अक्षरों से मुखरित मुखवाला, चन्द्रहास से की जाने वाली कर्तनक्रीडा का रसज्ञ, असीम क्रोधहुँकार से युक्त तथा बन्दी नारियों के साथ देवस्त्रियों के द्वारा आसुओं सहित ईर्ष्या के साथ देखा गया रावण का शिर राम के बाण के द्वारा कण्ठ से कटकर भूमि पर गिर रहा है ॥ ३७ ॥

पुरंदर—अहा ! दशरथ ! रामभद्र ने अत्यन्त दुष्कर कार्य कर दिया क्योंकि—

शंकर के सामने अपने हाथ में घूम रही चन्द्रहास तलवार से कण्ठ काटने से उत्पन्न पीड़ा को बहुत समय बीतने से भूल गया रावण धार की प्रभा से भासित हो रहे राम के बाणों से पुनः कण्ठ काटने की पीड़ा को प्राप्त हो गया और स्मरण कराया गया ॥ ३८ ॥

दशरथ—राक्षसराज का शौर्य-गाम्भीर्य त्रैलोक्य से बढ़कर हैं क्योंकि ऐसी अवस्था में भी पुराने अहंकार को नहीं छोड़ा है । क्योंकि—

रावण का यह शिर कटकर कण्ठ से नीचे गिर रहा है । उग्र अट्टहासवाला यह शिर बाण युक्त धनुष पर दृष्टि डाल रहा है, यह शिर क्रोधयुक्त वाणी से राम को सैकड़ों धिक्कार दे रहा है और यह शिर स्त्रियों को आश्वासन देने के लिये लंका की ओर उन्मुख हो रहा है ॥ ३९ ॥

चारणी—(हंसकर) तो आज से दशमुख (दशानन) रावण को नवानन (नव या नवीन मुखवाला) कहेंगे ।

चारण:—प्रिये मञ्जुवादिनि ! जानाम्यद्यैव निराननमप्यभिधास्यसि नन्वयमोङ्कारो रावणशिरोमण्डलच्छेदविद्यायाः ।

दशरथ:—प्रतिगृहीता प्रतिभोदयिनी दिव्यवाक् बद्धो वाससि ग्रन्थिः ।

चारण:—(कर्णं दत्त्वा आकाशे) किमाह रामभद्रः । रेरे राक्षसीपुत्र ।

यद्गौरीचरणाब्जयोः प्रथमतस्त्यक्तप्रणामक्रियं
प्रेमार्द्रेण सविभ्रमेण च पुरा येनेक्षिता जानकी ।
लूनं ते तदिदं च राक्षसशिरो जातं च शान्तं मनः
शेषच्छेदविधिस्तु सम्प्रति परं स्वर्बन्दिमोक्षाय मे ॥४०॥

(पुनः कर्णं दत्त्वा आकाशे) किमाह रावणः । रेरे क्षत्रियापुत्र ! सुलभविभ्रमचर्मचक्षुरसि तदवलोकय कतमदत्र लूनं शिरः ।

दशरथ:—(विमृश्य सप्रमाणं) सकलभूर्भुवःस्वस्त्रयैकवीर शुनासीर ! मायाविनिर्मितलङ्केश्वरशिरोदर्शनेन विलक्षं क्रुद्धो रामः शितकाण्डमण्डलीभिरकाण्डचण्डाभिरन्तरितमार्तण्डमण्डलाभिरखण्डोड्डमरितत्रिभुवनाभोगाभिरभिवर्षितुं प्रवृत्तः ।

चारण—प्रिये मञ्जुवादिनी ! मैं जानता हूँ कि आज ही तुम रावण को निरानन (बिना मुखवाला) भी कहोगी । रावण के शिरोमण्डल की छेद-विद्या का यह प्रणव (आरंभ) है ।

दशरथ—स्वीकार किया । (चारण की) दिव्यवाणी प्रतिमा से युक्त है । वस्त्र में मैंने गाँठ बाँध ली (क्यों कि यह सत्य है)

चारण—(आकाश में कान लगाकर) रामभद्र ने क्या कहा ! रे रे राक्षसीपुत्र !

जिसने प्रथमतः पार्वती के चरणकमलों में प्रणाम क्रिया को तोड़ दिया और पहले जिसने प्रेमार्द्र होकर तथा विलास के साथ जानकी को देखा था वह तुझ राक्षस का मुख काट दिया गया और मेरा मन शान्त हो गया और अब शेष मुखों का काटना तो स्वर्गलोक के बन्दियों को मुक्त करने के लिये है ॥ ४० ॥

(पुनः आकाश में कान लगाकर) रावण ने क्या कहा ! रे रे क्षत्रियपुत्र ! जिसमें भ्रान्ति सहज संभव है ऐसे चर्ममय नेत्रवाले हो तो देखो कौन शिर कटा है ।

दशरथ—(सोचकर प्रणामपूर्वक) समस्त भूः, भुवः और स्वःलोकों में एकमात्र वीर इन्द्र ! रावण के मायानिर्मित शिरों को देखने से लक्षण के विरुद्ध (उत्तम पुरुष क्रुद्ध नहीं होते) क्रुद्ध राम ने सहसा प्रचण्ड, सूर्यमण्डल को छिपाने वाले, और समग्र त्रैलोक्य के विस्तार को व्यथित करने वाले बाणसमूहों से वर्षा करनी प्रारम्भ कर दी ।

चारणी—देव पेख्ख पेख्ख निविडभिउडीकोडिकुडिलललाडवट्टाइं जरढदाढदंड-वरणिठ्ठुरदठ्ठाहरुट्ठाइं रहसणीसरंतदीहहुंकारदारुणणासावंसविवरंतराइं रामसरधा-राधोरणीहिं चउद्दिसं झत्ति निवडंति छिण्णविवण्णाइं लंकेसर सिराइं [देव प्रेक्षस्व प्रेक्षस्व निविडभ्रुकुटीकोटिकुटिलललाटपट्टानि जरठदंष्ट्रादण्डवरनिष्ठुरदष्टाधरोष्ठानि रभसनिस्सरद्दीर्घहुंकारदारुणनासावंशविवरान्तराणि रामशरधाराधोरणीभिश्चतुर्दिशं झटिति निपतन्ति च्छिन्नविवर्णानि लङ्केश्वरशिरांसि ।]

दशरथः—(चमत्कृत्य)

> यस्यां यस्यां ककुभि रभसस्पष्टदंष्ट्राकरालं
> लङ्काभर्तुर्निपतति शिरो भल्लनिर्लूनकण्ठम् ।
> तस्यास्तस्यास्तरलितदृशा स्वर्गिवर्गेण नष्टं
> प्राक्संस्कारक्रमभयवता योजनानां शतानि ॥४१॥

(सहसावलोक्य) अहो मायाविता राक्षसस्य ।

> रामबाणकृतः पातो न यावदवधार्यते ।
> क्रियते तावदुद्भेदो मूर्ध्नां रावणमायया ॥४२॥

अतश्च—

> लङ्कावीरस्य मायाचयचतुरमतेर्मैथिलीनाथचाप-
> व्यापारोद्वान्तबाणव्रणनधृतरुषः स्वां प्रतिज्ञां विवक्षोः ।
> ग्रीवागर्भप्रणालीसरणिसमुचितैकैकवर्णक्रमेण
> च्छिन्नोद्भिन्नैर्मुखाब्जैः कथमपि हि गिरामेति पङ्क्तिः समाप्तिम् ॥४३॥

चारणी—देव ! देखे-देखे—राम के बाणों की परम्परा से कटे सघन भ्रुकुटियों के किनारों से कुटिल ललाटपट्टों वाले, कठिन दांतों से कठोरता से काटे जाते ओठवाले, वेग से निकल रहे हुँकार से भयंकर नाकों के विवरवाले रावण के विवर्ण शिर चारों ओर सहसा गिर रहे हैं।

दशरथ—(चमत्कृत होकर)

वेग से दाढ़ को काटने से विकराल तथा बाण के द्वारा कण्ठ से कटा रावण का शिर जिस-जिस दिशा में गिरता है उस-उस दिशा से चकित नेत्र वाले तथा पूर्व सस्कारवश भयभीत देववर्ग सैकड़ों योजन भाग जाते हैं ॥ ४१ ॥

(सहसा देखकर) राक्षस की माया धन्य है !

राम के बाण से शिर का गिराया जाना जब तक प्रतीत नहीं होता उसी बीच रावण की माया शिर को उत्पन्न कर देती है ॥ ४२ ॥

इसलिये—

राम के धनुष से निकले बाण से काटने से क्रुद्ध तथा अपनी प्रतिज्ञा को कहने के इच्छुक मायावी रावण के मुख कमलों ने ग्रीवा के गर्भरूप के रास्ते से निकले एक-एक अक्षरों से वचन को किसी प्रकार पूरा किया ॥ ४३ ॥

(कर्णं दत्त्वा आकाशे) किमाह रामभद्रः। प्रतिकूलं हि दैवं स्वारब्धमपि कार्यं विपर्यासयति। तथा हि

शत्रुध्वंसः किल जनकजासंगमस्यैकहेतु-
स्तेनारब्धं दशमुखवधाडम्बरं राघवेण।
छिन्नं छिन्नं पतति च शिरो जायते चान्यदन्य-
ल्लङ्काभर्तुस्तदिह करवै हा कथं मन्दभाग्यः ॥४४॥

(पुनराकाशे) किमाह रावणः। हंहो राम किमलीकशिरःखण्डनाडम्बरेण विडम्बयस्यात्मानं क्व पुनः स्वेच्छाजन्मनां रावणावयवानां विच्छेदः।

(पुनराकाशे) किमाह रामः। रावणायं मे प्रीतये भवज्जम्भकभावः। तथाहि।

यन्मूलतो दशशिरांसि भवन्ति यच्च च्छेदेषु तानि शतशोऽथ सहस्रशश्च।
तत् साधु राक्षसपते कथमन्यथाऽयमुत्सृज्यतां जनकजाहरणापवादः ॥४५॥

(पुनराकाशे) किमाह रावणः। आः क्षत्रियखेट कापटिकतापस धनुरारोपण-समयप्रथमगृहीतां सीतामभिलषन्नुपपतिरिव शीर्षच्छेद्योऽसि।

(पुनराकाशे) किमाह रामः। रेरे पिशाचापसद!

(कान लगाकर आकाश में) रामभद्र ने क्या कहा! प्रतिकूल दैव को भली-भांति किया गया कार्य भी उलट नहीं सकता क्योंकि—

शत्रु का नाश सीता की प्राप्ति का एकमात्र हेतु है इसीलिये राम ने रावण के वध का उद्योग किया। रावण का शिर कट-कट कर गिर रहा है और दूसरा-दूसरा उत्पन्न हो रहा है अतः मैं अभागा किस प्रकार कार्य करूँ ॥ ४४ ॥

(पुनः आकाश में) रावण ने क्या कहा? हे राम! मिथ्यामय शिरों के काटने से क्यों अपने को धोखा दे रहे हो! स्वेच्छा से उत्पन्न होने वाले रावण के अंगों का नाश कहाँ हो सकता है?

(पुनः आकाश में) राम ने क्या कहा? आपकी यह माया मुझे प्रसन्न कर रही है। क्योंकि—

हे रावण! कटने पर मूल से जो यह सैकड़ों और हजारों शिर हो रहे हैं यह ठीक ही है क्योंकि दूसरे किस प्रकार से सीता के हरण का अपवाद छूट सकता है (अर्थात् बहुत बार काटने पर ही मेरी शान्ति होगी) ॥ ४५ ॥

(पुनः आकाश में) रावण ने कहा? अरे नीच क्षत्रिय! कपटी तपस्वी! धनुष चढ़ाने के समय (मेरे द्वारा) प्रथम गृहीत सीता की वाञ्छा करते हुये तुम्हारा शिर उपपति की भाँति काटने योग्य है।

(पुनः आकाश में) राम ने क्या कहा! रे रे नीच पिशाच।

रम्भोपभोगरभसेन निरर्गलोऽसि नो मैथिलीहरणनामसहोऽपि रामः।
नन्वस्मि भास्करकुलप्रभवो द्युभूषा पूषा स एव हि निजान्वयकर्मसाक्षी ॥४६॥

तदित्थमभिदधानमपवित्रं वक्त्रमितो निर्विशतु ते शुद्धिम्।

चारणः—(विभाव्य संत्रस्य च) किमपि निरुपमानं राघवकोदण्डपाण्डित्यमसदृशाकारश्च पौलस्त्यपुरुषकारः। यतः।

छिन्नं शिरो निपतदन्तरतस्तदेतदादाय देव निजमेव दशाननेन।
मुक्तं च वक्षसि ककुत्स्थकुलध्वजस्य जातश्च कुड्मलितपङ्कजचारुचक्षुः ॥४७॥

दशरथः—हा वत्स रामभद्र ! कतरदिदं प्रहरणं यदमुनापि मूर्च्छितोऽसि।

पुरंदरः—सखे दशरथ ! रामभद्रं प्रति कृतं करुणावाणीभिर्नन्वेष सकलवीरप्रकाण्डचन्द्रचूडकोदण्डस्य दलयिता।

चारणः—(कर्णं दत्त्वा आकाशे) किमाह रामः। तदवयवान्तरच्छेदपुरःसरं शिरःखण्डनकर्म विरचयामि मा कश्चन नियतप्रतिबन्धो मायाविधिः स्यात्।

चारणः—न केवलमभिहितमनुष्ठितं च। (पुनराकाशे कर्णं दत्त्वा) किमाह रामः।

छिन्नोद्गतो वहति कार्मुकमस्य मुष्टिर्लूनोदितः शरवरं च करो बिभर्ति।
कृत्तोत्थितं च मुखमर्पितदृष्टि लक्ष्ये धिक् तन्ममैष विफलोऽम्बुधिसेतुबन्धः ॥४८॥

(अपनी पुत्र-वधू) रम्भा के उपभोग से तुम अत्यन्त साहसी हो गये हो पर राम सीता के हरण का नाम भी नहीं सुन सकता, मैं सूर्य-वंश में उत्पन्न हूँ। आकाश के भूषण सूर्य देव ही अपने वंश के कर्म के साक्षी हैं ॥ ४६ ॥

अतः इस प्रकार बोल रहा तुम्हारा मुख मुझसे शुद्धि को प्राप्त करे।

चारण—(देख कर तथा डर कर) राम का धनुष-पाण्डित्य कुछ निरुपम है और रावण का पौरुष भी तुल्य ही है। क्योंकि—

हे देव ! रावण ने अपने कट कर गिर रहे शिर को बीच से ही उठाकर राम के वक्षःस्थल पर फेंक दिया और राम के कमल नेत्र बन्द हो गये (मूर्च्छित हो गये) ॥४७॥

दशरथ—हा वत्स रामभद्र ! यह अस्त्र कौन है जो इससे भी मूर्च्छित हो गये।

पुरन्दर—मित्र दशरथ ! रामभद्र के प्रति करुणामयी वाणी न कहिये। वे समस्त वीरों में श्रेष्ठ शंकर के धनुष को तोड़ने वाले हैं।

चारण—(कान लगाकर आकाश में) राम ने क्या कहा ! अन्य अंगों को काटकर शिरःकर्तन करूँ जिससे रोक डालने वाली कोई मायाविधि न हो।

चारण—केवल कहा ही नहीं कर भी डाला (पुनः आकाश में कान लगाकर) राम ने क्या कहा ?

काटने पर पुनः उठी इसकी मुट्ठी धनुष धारण करती और काटने पर उगा हाथ वाण को धारण कर रहा है। काटने पर निकला मुख लक्ष्य पर दृष्टि लगाये हैं। धिक्कार है ! समुद्र में मेरा सेतुबन्धन व्यर्थ हो गया ॥ ४८ ॥

दशरथः—सद्यश्छिद्यमानमुण्डमण्डलीमायाप्रपञ्चवञ्चितराघवशरलाघवमन-च्छमवगच्छन्नेष विंशत्यर्धकन्धरो दुर्धरधनुर्धरोऽत्युच्चण्डचित्रकवचसज्जनिजशरीर-सहस्रनिर्माणच्छद्मकर्मणि परां प्रवीणतामुपदर्शयति तन्न विद्मः किमत्र प्रतिपत्स्यते रामभद्रः ।

पुरंदरः—यत् कुलाचलसंदोहदहनकर्मणि भगवान् कालाग्निरुद्रः ।

चारणः—(ससंभ्रमम्) यदादिशति त्रिदशचक्रवर्ती पश्य ।

यावन्तो भुवि चाम्बरे च ककुभां कोणोपकोणेषु च
व्यावल्गन्ति धनुर्धराः कवचिनो मायामया रावणाः ।
रामः स्वर्गजनाशिषां पदमसावेकोऽपि कोपोद्धत-
स्तावद्धा प्रतिवक्त्रयोजितशरश्रेणीभिरालक्ष्यते ॥४९॥

दशरथः—अद्य फलितं मे पुरंदरप्रसादेन यत् समरसीमनि वत्सरामभद्रं दशाननादुत्कर्षवन्तं पश्यामि ।

चारणः—(कर्णं दत्त्वा आकाशे) किमाह रामः । भवतु भगवतः कुशिकनन्द-नाज्जृम्भकास्त्रप्रदानप्रसंगोपात्तं मायाहरमस्त्रं संदधामि ।

चारणः—(सम्यगवलोक्य) (दशरथं प्रति) महाराज ! कारय चक्षुषीपारणं दृश्यतां द्रष्टव्यम् ।

दशरथ—सद्यः काटी गयी मुण्डमण्डली के मायाप्रपञ्च के द्वारा राघव के शरलाघव को व्यर्थ समझता हुआ यह दुर्धर दशकन्धर विचित्र कवच से सज्जित अपने सहस्र मायारूप शरीर के निर्माण में अत्यन्त प्रवीणता को प्रदर्शित कर रहा है। तो यह मालूम नहीं पड़ रहा कि रामभद्र क्या करेंगे ।

पुरन्दर—कुल पर्वतों के समूह को जलाने में जो प्रलयकालिक कालाग्निमय भगवान् रुद्र करते हैं ।

चारण—(सहसा) जो देवराज की आज्ञा । देखिये—

पृथ्वी, आकाश और दिशाओं के कोणोपकोणों में जितने रावण घूम रहे हैं देवों के आशीर्वाद के पात्र ये राम क्रुद्ध हो उतने ही प्रत्येक मुख के लिये बाणश्रेणी का सन्धान किये दिखाई पड़ते हैं ॥ ४९ ॥

दशरथ—इन्द्र की कृपा से आज मैं सफल हूँ जो वत्स राम को रावण से उत्कृष्ट देख रहा हूँ ।

चारण—(आकाश में कान लगाकर) राम ने क्या कहा ? ठीक है भगवान् विश्वामित्र से जृम्भकास्त्र-दान के प्रसङ्ग में प्राप्त मायाहारी अस्त्र का सन्धान करता हूँ ।

चारण—(भलीभाँति देखकर दशरथ से) महाराज ! आँखों को भोजन दीजिये द्रष्टव्य देखिये—

मायाहरशरन्यासादेष नक्तंचरेश्वरः !
एकशेषशिराः संप्रत्येकशेषो रथे स्थितः ॥५०॥

(सर्वतोऽवलोक्य) रावणभयशरणागतसमग्रनाकिनि पिनाकिनि त्रिभुवनस्वस्त्ययननिमित्तमुदाहृतब्रह्मणि ब्रह्मणि निरन्तरचिन्तानिश्चेतसि प्रचेतसि संभावितजगन्नाशे कीनाशे समुपालब्धविधौ भगवति विधौ परिम्लायति रिपुग्रामनिधनदे धनदे दूरोत्क्षिप्तरणे समीरणे विगलितवसौ विभावसौ दुरपत्यजननिन्दितपुलस्त्येऽगस्त्ये कल्याणमनुध्यायति ध्यानचक्षुषि मुनिवरिष्ठे वशिष्ठे गायति साम विश्वाम्बुजविकाशमित्रे विश्वामित्रे भयालापस्फुरिताधरे विद्याधरे निर्वाणोद्यतचारणहाहारवमुखरवृन्दारकवृन्दं भुवनाभोगं विदधता जीवितनिरपेक्षेण राक्षसराजेन निजस्यन्दनं सविधीकृत्य समुद्भ्रान्तसारथिर्दाशरथिरथः सपदि दोर्दण्डमण्डलेन धूर्बन्धे विधृतो भ्रामितश्च ।

दशरथः—(साकूतं प्रणम्य) भगवत्यो रघुकुलदेवता दशरथमनुगृह्णीत भगवन्निन्द्र गृहाण दम्भोलिमम्भोधरलाञ्छनं धनुर्वा नन्वेष कवलीक्रियते रामचन्द्रो रावणराहुणा (इति मूर्च्छति)

मायाहर अस्त्र छोड़ने से यह राक्षस अब एक ही बाकी बचे शिरवाला और एक मात्र बचे रथ पर स्थित है ॥ ५० ॥

(चारों ओर देख कर) रावण के भय से समग्र देवताओं के शिव की शरण में जाने पर, त्रैलोक्यमङ्गल के निमित्त ब्रह्मा के द्वारा स्वस्त्ययन करने पर, वरुण के सतत चिन्तित होने पर, यम के समग्र जगत् के विनाश की आशंका करने पर, चन्द्रमा के द्वारा भाग्य का तिरस्कार करने पर, शत्रुसमूह के निधनकारी कुबेर के परिम्लान होने पर, वायु के युद्ध को दूर से छोड़ देने पर, अग्नि के निस्तेज होने पर, कुसन्तान उत्पन्न करने के निमित्त अगस्त्य के द्वारा पुलस्त्य की निन्दा करने पर, मुनि श्रेष्ठ वसिष्ठ के ध्यान लगाकर मङ्गलकामना करने पर, समस्त कमलों के विकास में सूर्य तुल्य विश्वामित्र के सामगान करने पर और भयवश बोलने के लिये विद्याधरों के मुख खोलने पर त्रैलोक्य को क्षयोन्मुख चारणों के हाहाकार से मुखरित देवसमूह वाला बनाते हुये जीवन के प्रति निःस्पृह रावण ने अपने रथको निकट कर जिसमें सारथि भयभीत था ऐसे राम के रथ के धुरे को पकड़ लिया और घुमाया ।

दशरथ—(आश्चर्य से प्रणाम कर) भगवती रघुकुलदेवियो ! दशरथ पर अनुग्रह करो। भगवन् इन्द्र ! वज्र अथवा बादलों के चिह्न वाला धनुष ग्रहण कीजिये रामचन्द्र को यह रावण रूपी राहु ग्रस रहा है। (मूर्च्छित हो जाते हैं)

पुरंदरः—प्रियवयस्य ! किमाकुलोऽसि । कियत्कालं जलदतिरस्करिणी मार्त्तण्डमण्डलमन्तरयति ।

दशरथः—(ससंभ्रममवलोकयन् हस्तमुद्यम्य) समरसुन्दर पुरंदर ! पश्य पश्य ।

वत्सस्य साश्वः साक्षश्च सचक्रध्वजधूर्युगः ।
व्योम्नि भ्रमरकभ्रामं भ्राम्यतेऽनेन हा रथः ॥५१॥

(इति पतति)

पुरन्दरः—अये ! किमपि महाबलपराक्रमो राक्षसराजः ।

चारणः—कियद्वा वर्णनमर्णवस्यायं मकरालय इति ।

वेल्लद्विद्युल्लतालिच्छुरितपरिकरैरम्बुदैर्वान्तवार्भि-
र्दिव्यानां व्योमयानैर्भयचकितवधूवक्त्रमुक्तार्तनादैः ।
लङ्केन्द्रेणाग्रहस्तभ्रमितरथपथप्रस्थितैस्तारकाणा-
मुत्तालैश्चक्रवालैरिव च विरचिता वक्त्रनीराजनश्रीः ॥५२॥

(नेपथ्ये कलकलानन्तरम्)

यद्वक्त्राणां दशानामिव दश ककुभः शासितुं सृष्टिरासी-
द्विंशत्या यश्च दोर्भिर्दशगुणितमिव प्राप्तवान् वीरधर्मम् ।
लङ्केन्द्रः संयतेन्द्रो रणभुवि दशभिर्मैथिलीवल्लभेन
ज्योतिर्दीप्तैः क्षुरप्रैः स खलु विरचितो निर्विबन्धः कबन्धः ॥५३॥

पुरंदर—प्रिय मित्र ! क्यों आकुल हो । बादलों का पर्दा कब तक सूर्यमण्डल को छिपा सकता है ।

दशरथ—(भ्रम से देखते हुये हाथ उठाकर) युद्ध में सुन्दर लगने वाले पुरन्दर ! देखिये देखिये—

हाय ! वत्सराम के रथ को यह अश्व, अक्ष, चक्का, ध्वज, चक्र के दण्ड, और जुये के साथ भ्रमर की तरह घुमा रहा है ॥ ५१ ॥

(ऐसा कह कर गिर जाते हैं)

पुरन्दर—अरे ! यह राक्षसराज कितने बल और पराक्रम से युक्त है ।

चारण—क्या समुद्र का वर्णन किया जाय ! यह रावण समुद्र है । चमकती हुयी बिजलियों से जिनके अङ्गव्याप्त हैं ऐसे मेघों से, भय से चकित देवाङ्गनाओं के आर्तनाद से युक्त देवों के विमानों से तथा रावण के द्वारा अग्रहस्तभ्रमित रथ के पक्ष में प्रचलित तारामण्डलों ने मानों रावण के मुख की नीराजना की शोभा संपन्न की ॥ ५२ ॥

(नेपथ्य में कलकल के बाद)

जिसके दश मुखों की सृष्टि मानों दश दिशाओं पर शासन करने के लिये हुई थी, बीस भुजाओं से मानों जिसने दशगुना वीरधर्म (पौरुष) प्राप्त किया था इन्द्र को बद्ध करने वाले ऐसे रावण को सीतापति राम ने ज्योति से तीव्र दश बाणों से बन्धन रहित धड़वाला बना दिया ॥ ५३ ॥

दशरथः—(आकर्ण्य) कः पुनरयमकारणबन्धुः श्रवणामृतवर्षिणा वचनेनास्मानाश्वासयति ।

चारणः—नेयमाश्वासना । किं पुनर्बिभीषणप्रियकरणाय लङ्कावैतालिक एष निवेदयति ।

दशरथः—तत् किमिव नेदं सहस्रचक्षुषापि भगवता नयनाञ्जलिपुटपेयीकृतम् ।

चारणः—शृणु यथा ।

यावल्लोलाक्षचक्रध्वजहरितरलालातचक्रायमाणं
भूगोलास्फालहेतोर्भ्रमयति नभसि स्यन्दनं राक्षसेन्द्रः ।
दोर्दण्डैश्चण्डवेगोद्धृतहरगिरिभिः

दशरथः—(किंचिदुत्थाय) सुप्रपाता रावणकरान्दोलितस्यन्दनभ्रमणभङ्गिस्तद्धारय धारय वत्सम् ।

चारणः—(सहर्षम्) द्राक् क्षुरप्रेण तावत् ।

तस्यैवाकर्ण्य वाणीं दशममपि शिरश्छिन्नवान् नाम रामः ॥५४॥

पुरंदरः—(विहस्य) शङ्के भवत एव शब्दवेधित्वं शिक्षितमभ्यस्तं च रामभद्रेण किं पुनरुपाध्यायादधिकः संवृत्तः । (विमृश्य) तदेतदुद्दामरामक्षुरप्रप्रवेशिनो ब्रह्मास्त्रस्य भूर्भुवःस्वस्त्रितयडामरं सूदितदशकन्धरमदं भद्रमाजृम्भितम् ।

दशरथ—(सुनकर) कौन यह अकारण बान्धव है जो कानों के लिये अमृत वर्षा तुल्य वचनों से हमें आश्वस्त कर रहा है ।

चारण—यह आश्वासन नही है अपितु विभीषण का प्रिय करने के निमित्त यह लंका का वैतालिक कह रहा है ।

दशरथ—तो क्यों नहीं इसे भगवान् इन्द्र ने सहस्र नेत्रों से पान किया ।

चारण—जो है उसे सुनिये—

विश्व के विध्वंस के निमित्त रावण कैलास पर्वत को उठाने वाली प्रचण्ड बाहुओं से आकाश में चंचल अक्ष, चक्र, ध्वज, अश्व वाले रथ को जो अलात चक्र की भाँति घूम रहा था, जब तक घुमा रहा था ।

दशरथ—रावण के कर में हिलाया जा रहा रथ सरलता से गिरेगा अतः रामचन्द्र को बचाओ ।

तभी उसकी वाणी को सुनकर राम ने सद्यः क्षुरप्रबाण से दशों शिरों को काट दिया ॥ ५४ ॥

पुरन्दर—(हँसकर) मालूम पड़ता है रामभद्र ने आप से ही शब्द-वेधित्व सीखा था और गुरु से भी बढ़ गया । (सोचकर) राम के प्रचण्ड बाण में प्रविष्ट ब्रह्मास्त्र ने रावण के मद को चूर्ण कर त्रैलोक्य में सुन्दर कार्य किया ।

दशरथः—तत् प्रियं नः ।

चारणी—ता किन्न पडुपडहझल्लरीविदुरिल्लं सवंसकंसतालमिस्सं णिस्संख-संखं भूरिभेरीविपंचोपवंचभंकारझंकारभंगिगम्भिणीकुसुमवरिसपुव्वं अणवच्छिण्ण-मप्फालिदो देवदाहिंविजअदुंदुही [तत् किमिति न पटुपटहझल्लरीमिश्रं सवंशकांस्यताललमिश्रं निःशङ्खशङ्खं भूरिभेरीविपञ्चीप्रपञ्चभाङ्कारझङ्कारभङ्गिगर्भिणीकुसुमवर्षपूर्वमनवच्छिन्नमास्फालितो देवताभिर्विजयदुन्दुभिः ।]

चारणः—श्रृणु यथा ।

हेलाखण्डितचण्डहेममहरिणैर्बाणैः कुलं रक्षसां
शेषीभूतविभीषणं गुणनिधौ कृत्वापि रामे स्थिते ।
प्रत्युज्जीवनशङ्कया यमजितो लङ्कापतेः कातरै-
र्नो मुक्ताः कुसुमस्रजो न च सुरैरास्फालितो दुन्दुभिः ॥५५॥

(नेपथ्ये)

बाणैर्लाञ्छितकेतुयष्टिशिखरो मूर्च्छानमत्सरथि-
मांसास्वादनलुब्धगृध्रविहगश्रेणीभिरासेवितः ।
रक्षोनाथमहाकबन्धपतनक्षुण्णाक्षदण्डो हयै-
र्हेषित्वा स्मृतमन्दुरास्थितिहृतैर्लङ्कां रथो नीयते ॥५६॥

दशरथ—यह हम लोगों का प्रिय हुआ ।

चारणी—तो देवों ने महान् पटहों और झल्लरियों से मिश्रित, वंसी तथा कास्य ताल से मिश्रित, अनवरत शङ्ख, बहुत से भेरियों तथा वीणाओं के झंकार से युक्त तथा पुष्पवर्षा सहित विजय दुन्दुभि क्यों नहीं बजायी ।

चारण—जो है उसे सुनिये—

लीलापूर्वक प्रचण्ड स्वर्णमृग को मारने वाले वाणों से राम के द्वारा राक्षसकुल को विभीषण मात्र शेष कर देने पर भी मृत्यु को जीतने वाले लङ्कापति रावण के पुनः जीवित हो जाने की शंका से भीत देवों ने न तो पुष्पमालायें छोड़ी और न दुन्दुभि ही बजायी ॥ ५५ ॥

(नेपथ्य में)

राम के वाणों से विक्षत ध्वजदण्डवाला, मूर्च्छित सारथि वाला, मांस खाने के लोभी गृध्र पक्षियों से सेवित तथा राक्षसराज रावण के कवंध के गिरने से नष्ट अक्ष-दण्ड वाला रावण का रथ अश्वों द्वारा अश्वशाला की याद वश हिंकार करते हुये लंका को ले जाया जा रहा है ॥ ५६ ॥

पुरंदरः—सखे दशरथायमनन्यसदृशाकारो रामभद्रपुरुषकारः । अतश्च ।

निर्दग्धत्रिपुरेन्धनोऽस्तु गिरिशः क्रौञ्चाचलच्छेदने
पाण्डित्यं विदितं गुहस्य किमुतावज्ञातयुद्धोत्सवौ ।
लूत्वा पङ्कजलावमाननवनं चैतस्य लङ्कापते-
र्वीराणां चरिताद्भुतस्य परमे रामः स्थितः सीमनि ॥५७॥

चारणः—(विहस्य) अवगतदशकन्धरवधैर्विबुधैरिदानीं सत्वरैर्दाशरथौ हर्षपुष्पवर्षमारभ्यते ।

(नेपथ्ये)

सर्वा गीर्वाणवन्द्यो व्रजत निजगृहान् बन्धुमाधोरणं द्राक्
स्वर्गेभस्तम्भशालां नय सुरकरिणं यामिका यात देवाः ।
भूयो दिव्यद्रुमाणां ननु भवतु वने नन्दने संनिवेशो
द्वारि क्षिप्तं यदैन्द्रे दशवदनशिरः किङ्करैरन्तकस्य ॥ ५८ ॥

चारणः—नाकनरलोकनायकौ दिष्ट्या वर्धेथे पुरंदरप्रतीहारवचनेन अपरिक्षतेन च रामशरीरसौन्दर्येण । तथा हि ।

पुरन्दर—मित्र दशरथ रामभद्र का यह पौरुष अद्वितीय है अतः—

शंकर त्रिपुर रूपी इन्धन के पूर्णतः जलानेवाले रहें और कार्तिकेय का पाण्डित्य क्रौञ्च पर्वत के भेदन में विदित रहे पर उन दोनों को संग्राम उत्सव का ज्ञान नहीं । इस लंकापति रावण के मुखरूप वन को कमल की कटाई की तरह काट कर राम वीरों के अद्भुत चरित्र की सीमा पर स्थित हो गये ।। ५७ ।।

चारण—(हँसकर) रावण के वध को जान कर अब देवताओं ने शीघ्रता से प्रसन्नतापूर्वक राम पर पुष्पवृष्टि आरम्भ कर दी ।

(नेपथ्य में)

हे सभी वन्दिनी देववनिताओं ! अपने-अपने घरों को आप जायें । हे हस्तिपाल ! अपने मित्र ऐरावत को स्वर्गीय हस्तिशाला में ले जाओ । हे पहरा देने वाले देवो ! तुम लोग जाओ । देवतरुओं को पुनः नन्दन वन में लगाया जाय । क्यों कि यमराज के सेवकों ने रावण के शिर को इन्द्र के द्वार पर फेंक दिया ।। ५८ ।।

चारण—भाग्यवश स्वर्गलोक के दोनों नेता (इन्द्र और दशरथ) इन्द्र के प्रतीहार के वचन और राम के अक्षत शरीर सौन्दर्य से वृद्धि प्राप्त करें । क्योंकि—

रणरसिकसुरस्त्रीमुक्तमन्दारदामा स्वयमयमवतीर्णो लक्ष्मणन्यस्तहस्तः।
विरचितजयशब्दो बन्दिभिः स्यन्दनाङ्काद्दिनकरकुललक्ष्मीवल्लभो रामचन्द्रः ।५९।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

रावणवधो नाम नवमोऽङ्कः ॥

रण-प्रेमी देवाङ्गनाओं के द्वारा जिन पर मन्दार की माला बरसायी गयी है, लक्ष्मण पर जो हाथ रखे हैं, वन्दियों ने जिनका जयकार किया है और सूर्यकुल की लक्ष्मी के जो वल्लभ हैं वे रामचन्द्र रथ से स्वयं उतर गये ॥ ५९ ॥

(तदनन्तर सभी जाते हैं।)

रावणवध नामक नवाँ अङ्क समाप्त हुआ।

अथ दशमोऽङ्कः

अतः परं राघवानन्दो भविता

(ततः प्रविशति सशोका लङ्का)

लङ्का—हा दुद्धरतवविसेसपरितोसिदारविन्दासण तिहुअणेक्कमल्ल दसकण्ठ हा हेलाबन्दीकदमहिन्द मेहणाद हा समरसंरम्भसुप्पसण्ण कुम्भकण्ण क्कहिंसि देहि मे पडिवअणम् [हा दुर्धरतपोविशेषपरितोषितारविन्दासन त्रिभुवनैकमल्ल दशकण्ठ हा हेलाबन्दीकृतमहेन्द्र मेघनाद हा समरसंरम्भसुप्रसन्न कुम्भकर्ण क्वासि देहि मे प्रतिवचनम् ।]

(प्रविश्य सत्वरा अलका । पुरोऽवलोक्य)

कथमियं लङ्काऽस्तमितेऽपि सच्चरितकुण्ठे दशकण्ठे दुःखिता । (विमृश्य) । परिपालना हि भृत्यान् स्वामिनः स्मारयति न गुणग्रामः । (प्रकाशम्) सखि लङ्के ! वलीमुखबलबलात्कारमाकर्ण्य निखिलनाकतलतिलकायमानयाऽमरावत्या मर्त्यमण्डलशौण्डया चोज्जयिन्या रसातलभोगभङ्गिभूतया च भोगवत्या तदनुचरेण च त्रिभुवनवासिनाऽपि पुरीचक्रेण कुशलप्रश्नाय भवतीं प्रति प्रहिता। अहं च सखीस्नेहादागताऽस्मि ।

(इसके पश्चात् 'राघवानन्द' नामक अङ्क होगा)

(शोकयुक्त लङ्का का प्रवेश)

लङ्का —हा ! दुश्चर तपस्या से कमलासन को प्रसन्न करने वाले दशानन ! अनायास ही महेन्द्र को बन्दी बनाने वाले हा मेघनाद ! भीषण संग्राम में प्रसन्न होने वाले हा कुम्भकर्ण ! कहाँ हो ? मुझे प्रत्युत्तर दो !

(घबरायी हुई अलका प्रवेश करती है, सामने देखकर)

सदाचार-रहित रावण के निधन पर यह लङ्का दुःखी क्यों हो रही है ? (विचार कर) भरण-पोषण ही भृत्यों को स्वामी की स्मृति कराता है, गुणों का समूह नहीं । (प्रकट) सखि । लङ्का ! तुम्हारे ऊपर बन्दरों के बलात्कार को सुनकर समस्त स्वर्ग के राज्य में श्रेष्ठ अमरावती, भूमण्डल में प्रख्यात उज्जयिनी, पाताल-तल की अलङ्कारभूत भोगवती एवं तीनों लोकों में वर्त्तमान इनके अनुचर-समूहों द्वारा तुम्हारे यहाँ मैं कुशल पूछने के लिए भेजी गई हूँ । मैं भी सखी के स्नेहवश आई हूँ ।

छिन्ना न दिव्यतरवस्तव काचिदारात् कच्चिद् भृता न परिखाः कनकाम्बुजिन्यः।
प्लुष्टानि कच्चन न रत्नमहागृहाणि कच्चिन्न काञ्चनमयो दलितश्च सालः॥ १॥

लङ्का—(सवाक्स्तम्भम्) सहि केलासुच्छङ्गवासिणि कुबेरसच्चरिदे देवणिलये अलए किं णाम न संपण्णं तधा अ तेण केसरिकलत्तसंभवेण समीरसंभूदेण वाणरेण सुउमारकामिनीकरअलकोमलेंहिं किसलयेहिं लाडललणाहरोट्ठमञ्जिठ्ठेक्कसुभअकुसुमत्थवएहिं बन्दोकदसुरसुन्दरीचरणप्पहारदोहलअसंकन्तालत्तअलंछिदेहिं उक्खबन्धेहिं लीलामन्दिरं अमरध्धअस्स कुलभवणं मलअमग्गपअट्ठिणो दक्खिणसमीरणस्स विस्सामठ्ठाणं हिअअस्स पढमणिलओ णिच्चं वसन्तस्स पेरन्तनिवेसिदकप्पपाअवप्पहुदिपंचविहदेवद्दुमा असोअवणिया सव्वा संचुण्णिआ पाआलपरिचुंबी परिहापरिक्खेवोवि त्थलत्थिदिं लंभिदो अविच्छिण्णसंचरणचदुरेणवि मत्तण्डमण्डलेण अलङ्घणिज्जं कणअपाआरचक्कं सुमरणसेसं संपादिदं मणिभवणविध्धंसणदंसणे उण णिक्करुणस्स वि जणस्स किं भणि अदि अमुधाराधोरणी किं उण सिणेहमइं पिअसहिं समासइअ प्पाणपरिच्चअणववसाएहिं विरइदह्मि।
[सखि कैलासोत्सङ्गवासिनि कुबेरसच्चरिते देवनिलयेऽलके किं नाम न संपन्नं तथा च तेन केसरिकलत्रसंभवेन समीरसंभूतेन वानरेण सुकुमारकामिनीकरतलकोमलैः किसलयैर्लाटललनाधरोष्ठमञ्जिष्ठैकसुभगस्तवकैर्वन्दीकृतसुरसुन्दरीचरणप्रहारदोहदकसंक्रान्तालक्त-

---

तुम्हारे आस-पास के (पारिजात आदि) कल्पवृक्ष तो नहीं काटे गये, कहीं सोने की कमलिनियों से संपन्न परिखायें (खाइयाँ) तो नहीं भर दी गयीं, कहीं रत्नमय विशाल प्रासाद तो नहीं जला दिये गये तथा स्वर्णमय प्राकार (चहारदीवारी) तो नहीं तोड़ दिया गया ?॥ १॥

लङ्का—(**रुकते हुए मन्द स्वर में**) कैलास के अङ्क में निवास करने वाली, कुबेर से सम्यक् संरक्षित, देवों की निवास भूमि अलके ! क्या नहीं हुआ ? केसरी की पत्नी के गर्भ से उत्पन्न, पवन के पुत्र उस वानर ने सुकुमार कामिनी के करतल के सदृश कोमल किसलयों वाले, लाट (गुर्जर) देश की ललनाओं के अधरोष्ठ के सदृश रक्त वर्ण के अत्यन्त मनोहर पुष्पों के गुच्छों वाले, वन्दी बनाई गयी सुराङ्गनाओं के चरण-प्रहार रूपी दोहद से अलक्तकाङ्कित वृक्षों की पंक्तियों द्वारा काम का विलास-भवन, मलय-मार्ग पर सञ्चार करने वाले दक्षिणानिल का कुलगृह, हृदय का विश्राम-स्थान, नित्यनिवास करने के लिए वसन्त का प्रथम-प्रासाद, प्रान्तभाग में आरोपित कल्पवृक्षादि पंचविध देववृक्षों वाली, अशोक-वाटिका को छिन्न-भिन्न कर दिया, पाताल तक गहरी परिखा (खाई) स्थल की स्थिति में कर दी गई, निरन्तर सञ्चार में चतुर सूर्यमण्डल से भी अनुल्लङ्घनीय स्वर्णमय प्राकार-वेष्टन ध्वस्त कर दिया गया। मणि-मय भवनों के विध्वंस को देखकर निर्दय व्यक्ति की भी अस्रुधारा की परम्परा का क्या वर्णन करूँ ! क्या मैं स्नेह-पूर्ण प्रिय सखी को प्राप्त कर प्राणों का परित्याग करने से विमुख हो गयी हूँ ?

कलाञ्छितैवं क्षवन्धैर्लीलामन्दिरं मकरध्वजस्य कुलभवनं मलयमार्गप्रवर्तिनो दक्षिणसमीरणस्य विश्रामस्थानं हृदयस्य प्रथमनिलयो नित्यं वसन्तस्य पर्यन्तनिवेशितकल्पपादपप्रभृतिपञ्चविधदेवद्रुमाऽशोकवनिका सर्वा संचूर्णिता पातालपरिचुम्बी परिखाप्रतिक्षेपोऽपि स्थलस्थिति लम्भितोऽविच्छिन्नसंचरणचतुरेणापि मार्तण्डमण्डलेनालङ्घनीयं कनकप्राकारचक्रं स्मरणशेषं संपादितं मणिभवनविध्वंसनदर्शने पुनर्निष्करुणस्यापि जनस्य किं भण्यतेऽश्रुधाराधोरणी। किं पुनः स्नेहमयीं प्रियसखीं समासाद्य प्राणपरित्यजनव्यवसायेभ्यो विरताऽस्मि।]

अलका—सखि धर्मजेतरि भीषणविभीषणे विभीषणे विनेतरि तत्रभवती किं सशोकशङ्कुरेव तन्निधिनाथपूर्ववल्लभे लङ्के! विरमन्तु मध्यस्थगितैकावलीकल्पा बाष्पजलकणश्रेणयः। विरज्यतु च जरठकाञ्चनारकुड्मलकोटिपाटला दृष्टिः। धौतमाञ्जिष्ठपटच्चरदीनाधरमुद्रा समासादयतु स्वां लक्ष्मीं लघूभवन्तु च प्रमाणानुकृतमृणालदण्डाः श्वासदण्डाः।

लङ्का—जं तिणेत्तमित्तस्स णअरी भणदि। [यत् त्रिनेत्रमित्रस्य नगरी भणति।]

(नेपथ्ये)

रुद्राणि लक्ष्मि वरुणानि सरस्वति द्यौः सावित्रि धात्रि सकलाः कुलदेवताश्च।
शुध्यर्थिनी विशति शुष्मणि रामरामा तत्संनिधत्त सहसा सह लोकपालैः॥ २॥

लङ्का—(आकर्णितकेन) किं उण विसुद्धिकारणम्। [किं पुनर्विशुद्धिकारणम्।]

अलका—राक्षसगृहवासः किल। (विचिन्त्य विहस्य च)।

अलका—सखि! धर्म से विजय प्राप्त करने वाले तथा भयङ्करों को भयभीत करने वाले विभीषण के शासन में आप चिन्तित क्यों हैं? अतः हे कुवेर की पूर्व-प्रियतमा लङ्का! बीच से ही टूटी हुई एकावली की भाँति अश्रुजल के बिन्दुओं की माला रोको तथा प्रौढ़ कांञ्चनार (कचनार) की कली के अग्रभाग के सदृश रक्त दृष्टि को विश्राम दो, धौत (धुले हुए) रक्तवर्ण वाले वस्त्र के सदृश शुष्क अधरों पर स्वभाविकता आने दो तथा अपने परिमाण से कमलनाल का अनुकरण करने वाले ये दीर्घ निःश्वास भी लघु हो जाँय।

लङ्का—शङ्कर के सुहृद् (कुबेर) की नगरी जैसा कहें।

(नेपथ्य में)

हे पार्वती! हे लक्ष्मी! हे वरुणपत्नी! हे सरस्वती! हे स्वर्ग देवता! हे सावित्री, हे पृथ्वी! तथा हे समस्त कुल देवियो! राम की प्रेयसी सीता (आत्म-) शुद्धि के लिए अग्नि में प्रविष्ट हो रहीं हैं अतः आप लोग इन्द्रादि लोकपालों सहित अभी सावधान हो जाँय॥ २॥

लङ्का—(सुनकर) (आत्म) शुद्धि का क्या कारण है?

अलका—राक्षस के घर में निवास (कुछ सोचकर स्मित करते हुए)

कालुष्यहेतुर्वैदेह्या न राक्षसगृहस्थितिः ।
ध्वान्तबन्दीकृताऽपीन्दोर्न कला जातु नीलति ॥ ३ ॥

लङ्का—ता एहि गदुअ पेक्खह्म । [तदेहि गत्वा प्रेक्षामहे ।]

अलका—कुबेरप्रसादादिहस्थैव दिव्येन चक्षुषा पश्यामि ।

लङ्का—ता ममावि पिअसही णिवेदु । [तन्ममापि प्रियसखी निवेदयतु ।]

अलका—इयं रामराणी स्वाहावल्लभे भवत्यात्मानमाहुतिकुर्वाणा कुररीव करुणक्रेङ्कारकातरया गिरा देवोवाचमभिसंधाय स्तौति विशुद्धिकारणं च ब्रूते ।

लङ्का—किं विअ सुणावेदु । [किमिव श्रावयतु ।]

अलका—

यद्गीर्वाणाः क्रतुबलिलिहो यत्स्मरश्चित्तजन्मा
सीमोन्माथी न च यदुदधिर्जुह्वते यच्च विप्राः ।
यः कृत्स्नस्य प्रलयदिवसो ये च ये च प्रकाशाः
कृत्स्नः सोऽयं जयति महिमा पावकः पावकस्य ॥ ४ ॥

किञ्च—

मित्रं मन्त्री गुरुः शिष्यः स्वामी भृत्यश्च मे सदा ।
राम एव यथा नान्यस्तथा मां पातु पावकः ॥ ५ ॥

राक्षस के गृह में निवास-करना वैदेही के कालुष्य का हेतु नहीं है । अन्धकार से आवृत होने पर भी चन्द्रमा की कला काली नहीं होती ॥ ३ ॥

लङ्का—तो आइये, जाकर देखें ।

अलका – कुबेर के अनुग्रह से दिव्य नेत्रों से यहीं से देखूंगी ।

लङ्का—तो प्रियसखी मुझे भी सुनाना ।

अलका—यह राम की राज्ञी (सीता) अग्नि भगवान् में अपनी आहुति करती हुई कुररी की भाँति करुण क्रेङ्कार के सदृश वाणी से वाग्देवी को लक्ष्य कर स्तुति कर रही हैं तथा अपनी विशुद्धि का कारण भी कह रही हैं ।

लङ्का—क्या है, सुनाइये ।

अलका—जो देवगण यज्ञांश के भोक्ता हैं, कामदेव जो मनसिज हैं, समुद्र जो वेला अतिक्रमण नहीं करता, ब्राह्मण जो हवन करते हैं, जो समस्त जगत का संहारक-दिवस है तथा जो जो भी ज्योतिर्मय पदार्थ हैं वह सभी अग्नि देव की ही महिमा है । अतः अग्नि ही सर्वश्रेष्ठ हैं ॥ ४ ॥

जिस प्रकार अर्थात् यदि राम ही मेरे सदैव सखा, मन्त्री, गुरु, शिष्य, स्वामी तथा सेवक हैं उस प्रकार दूसरा कोई नहीं तो अग्नि मेरी रक्षा करें ॥ ५ ॥

(लङ्कां प्रति) नातः परमवज्रहृदयैः श्रोतुं द्रष्टुं च शक्यते ।

लङ्का—तं भणिअं जणअणन्दिणीए जेणराव णप्पदीणं विदलिआइं हिअआइं गअणङ्गणादो वि बाहविन्दुसंदोहा णिवडन्ति । तदोतदो [तद् भणितं जनकनन्दिन्या येन रावणपत्नीनामपि दलितानि हृदयानि । गगनाङ्गणादपि वाष्पबिन्दुसंदोहा निपतन्ति ततस्ततः ।]

अलका—ततश्च ।

वह्निर्ज्वालाः सृजति कियतीर्जानकी किं विधत्ते
कीदृक् छाया रघुपतिमुखे कर्म किं लक्ष्मणस्य ।
इत्थं यावद्विमृशति जनः कौतुकोत्तानिताक्ष-
स्तावच्छन्नं गगनमखिलं द्योतमानैर्विमानैः ॥ ६ ॥

ततश्च—

सीतामुदीक्ष्य सुमुखीं शिखिनः प्रवेशे मुक्तास्तथा सुमनसः सुरसुन्दरीभिः ।
स्रग्विक्रयः सकलखेचरमालिकानां जातो यथा चिरतरं त्रिदिवे महार्घः ॥ ७ ॥

ततश्च । प्रोद्घुष्टमरुन्धतीप्रभृतिभिरन्तर्हिताभिः पतिव्रताभिः ।

यत्पौलस्त्यगृहोषिता प्रविशति त्वां देव शुद्ध्यर्थिनी
सीतेयं प्रथमा सतीषु कुरु तज्ज्योतिर्जलार्द्राजडम् ।
घर्मम्लानमृणालकाण्डमृदुलान्यङ्गानि दग्धानि चे-
देतस्याः क्व नु शोधकोऽपि भगवन् संशुद्धये यास्यसि ॥ ८ ॥

(लङ्का से) इसके पश्चात् सुकुमार हृदय वाले जो न सुन ही सकते है न देख ही ही सकते हैं ।

लङ्का—जानकी ने वह कहा जिससे रावण की भी पत्नियों के हृदय विदीर्ण हो गये । गगन-प्राङ्गण से भी अश्रु-बिन्दु के समूह इधर-उधर गिर रहे हैं ।

अलका—(कौतूहल से विस्फारित नेत्रों से) जबतक लोग यह सोच रहे हैं कि अग्नि कितनी ज्वालायें फैला रहा है ? सीता क्या कर रही हैं ? राम के मुख की आभा कैसी है ? लक्ष्मण क्या करते हैं, इतने में ही आकाश शोभमान विमानों से व्याप्त हो गया ॥६॥

तदनन्तर—

अग्नि में प्रवेश करते समय प्रसन्न-मुखी सीता को देखकर देवाङ्गनाओं ने इस प्रकार पुष्प वर्षा की कि समस्त आकाश-चारिणी मालिनियों का स्वर्ग में बहुत समय तक बहुमूल्य माल्य विक्रय होता रहा ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् अरुन्धती आदि पतिव्रताओं ने अन्तर्हित होकर उद्घोष किया—

हे देव ! रावण के गृह में चिरकाल पर्यन्त निवास करने से पतिव्रताओं में अग्रगण्य यह सीता (आत्म) विशुद्धि के लिए आप में प्रवेश कर रही हैं अतः आप अपने तेज को जल की भाँति शीतल अत्यन्त मन्द कर लें । यदि ग्रीष्म से म्लान कमलनाल के समान इसके कोमल अंगों को आप ने दग्ध कर दिया तो शुद्ध करने वाले भी अपनी शुद्धि के लिए कहाँ जायेंगे ? ॥ ८ ॥

लङ्का—अहो देवदाणं वि सीदापक्खवादो अधवा सव्वो गुणेसु रज्जदि ण सरीरेसु। [अहो देवतानामपि सीतापक्षपातोऽथवा सर्वो गुणेषु रज्यते न शरीरेषु।]

अलका—अहो खलु भोः पतिव्रतामयं ज्योतिरनभिभवनीयं ज्योतिरन्तरैः। यतः।

प्रविशन्त्या चितावक्त्रं जानक्या परिशुद्धये।
भेदः कोऽपि न निर्णीतः पयसः पावकस्य वा॥ ९॥

हाहा किमपि निष्करुणचेता हिरण्यरेताः।

विशुद्धये प्रविष्टाऽसौ वैदेही हव्यवाहनम्।
अभ्रंलिहानां ज्वालानां चक्रेण च तिरोहिता॥ १०॥

लङ्का—कंकेल्लिकेलिकाणणदहणो णिक्करुणाणं पढमोदाहरणं हुदवहो। (अलकां प्रति) तदोतदो [कंकेलिकेलिकाननदहनो निष्करुणानां प्रथमोदाहरणं हुतवहः। ततस्ततः।]

अलका—सखि लङ्के! अतिक्रान्तासु च कतिपयोषु कालकलासु।

वह्नेः शुद्धिविधायिनो भगवतस्तेजोभिरत्युद्धतै-
रम्लानामनसूयया विरचितां मौलिस्रजं बिभ्रती।
पादाङ्गुष्ठनखाग्रदत्तनयना नीरन्ध्रविन्यासत-
स्तोकालक्ष्यमुखी चितावलयतो प्राङ् मैथिली निर्गता॥ ११॥

लङ्का—अहो! देवताओं का भी सीता के प्रति पक्षपात है! अथवा सभी लोग गुणों से ही पूज्य होते है शरीर से नहीं।

अलका—अहो! पातिव्रत तेज अन्य तेजों से अभिभूत नहीं होता क्योंकि—

आत्मशुद्धि के लिए समित्समिद्ध अग्नि के मुख में प्रवेश करती हुई सीता को जल और अग्नि में किसी भेद का निश्चित ज्ञान नहीं हो रहा है॥ ९॥

हाय! हाय! अग्नि भी निर्दय हृदय वाले ही हैं क्या? शुद्धि के लिए इस वैदेही ने अग्नि में प्रवेश किया और शिखाओं के जाल में तिरोहित हो गई॥ १०॥

लङ्का—अशोक की क्रीडा-वाटिका को जलाने वाला अग्नि तो निर्दयों का प्रथम उदाहरण है। उसके पश्चात्—

अलका—सखि लङ्के! कुछ ही क्षणों के व्यतीत होने पर—

शुद्धिकर्त्ता भगवान् अग्नि की ज्वालाओं से भी म्लान न होने वाली अनसूया द्वारा विरचित शीर्षस्थ माला को धारण की हुई अविरल जन-समुदाय एकत्र होने के कारण पादाङ्गुष्ठ के अग्र भाग पर दृष्टि लगाये किञ्चिद् दृश्य मुख वाली मैथिली तत्काल अग्निमण्डल से बाहर निकल आई॥ ११॥

नादौ न मध्ये नान्ते च सीताया हव्यलेहिनि ।
शुद्धस्येव सुवर्णस्य जातो वर्णविपर्ययः ॥ १२ ॥

लङ्का—अणुचिदआरी हुदवहो जं जणअतणआसुद्धिकारणं भोदि । [अनुचितकारी हुतवहो यज्जनकतनयाशुद्धिकारणं भवति ।]

अलका—सखि सर्वाङ्गहिरण्मयि ! यथा ।

शुद्धायाः क इवात्र शोधनविधिः स्वःसैन्धवीनामपां
पूतानां परिपूतये किमपरं तत्ते सखी मन्यते ।
लावण्यामृतसारणीसरणिभिर्निर्वाणरोचिर्लतो
निर्दग्धुं कलयाऽपि हन्त न शिखी शक्तोऽभवन्मैथिलीम् ॥ १३ ॥

(नेपथ्ये)

योगीन्द्रश्च नरेन्द्रश्च यस्याः स जनकः पिता ।

लङ्का—ता किं तिस्स । [तत् किं तस्याः ।]

(नेपथ्ये)

सा शुद्धा रामगृहिणी वह्नौ दशरथस्नुषा ॥ १४ ॥

ततश्च—

बद्धः सेतुर्लवणजलधौ क्रोधवह्नेः समित्वं
नीतं रक्षःकुलमधिगताः शुद्धिमन्तश्च दाराः ।
तेनेदानीं विपिनवसतावेष पूर्णप्रतिज्ञो
दिष्ट्याऽयोध्यां व्रजति दयिताप्रीतये पुष्पकेण ॥ १५ ॥

अग्नि में शुद्ध सुवर्ण की भाँति सीता के वर्ण का न आदि में, न मध्य में और न अन्त में ही परिवर्तन हुआ ॥ १२ ॥

लङ्का—अग्नि अनुचित करते हैं जो सीता की शुद्धि के कारण हो रहे हैं ।

अलका—स्वर्णमय समस्त शरीर वाली सखि लङ्के ! जैसे कि—

यहाँ जो पवित्र है उसे पावन करने की यहाँ क्या विधि होगी । स्वर्ण-सरिता (मन्दाकिनी) के पवित्र जल की शुद्धि के लिए दूसरी कौन सी (वस्तु) है ? अतः तुम्हारी सखी (मैं) तो यही समझती हूँ कि लावण्य रूपी अमृत की नदियों की धारा से निर्वापित ज्वाला रूपी लताओं वाले अग्नि सीता को लेश मात्र भी दग्ध करने में समर्थ नहीं हुए ॥ १३ ॥

(नेपथ्य में) योगीश्वर एवं नरेन्द्र जनक जिसके पिता हैं,

लङ्का—तो उसका क्या ? (नेपथ्य में)

वह राम की गृहिणी, दशरथ की पुत्र वधू अग्नि में शुद्ध हो गई ॥ १४ ॥

तदनन्तर—

इस (राम) ने लवण-समुद्र पर सेतु बाँधा, राक्षस-कुल को क्रोधाग्नि की समिधा बनाया तथा अग्नि से शुद्ध की गई पत्नी को भी प्राप्त किया । अतः सौभाग्य से वनवास की प्रतिज्ञा को पूर्ण कर प्रेयसी सीता की प्रीति के लिए पुष्पक विमान से अयोध्या जा रहे हैं ॥ १५ ॥

तद्भोः प्लवङ्गयूथपतयः सर्वे गोलाङ्गूलसेनानायका निःशेषाच्छभल्लचमूपालकाश्च महाराजसुग्रीवो वः समाज्ञापयति यदुत सज्जीभवन्तु भवन्तस्त्रिभुवनैकमङ्गलकलशेन रघुवंशमुक्तामणिना क्षात्रधर्मरक्षाविधिसिद्धमन्त्रेण रामदेवेन सममयोध्यां गन्तुम् ।

संप्रेषितश्च हनुमान् भरतस्य पार्श्वं लङ्काङ्गनाचकितनेत्रनिरीक्षितश्रीः ।
यात्येष वारिनिधिलङ्घनदृष्टसारो राज्याभिषेकसमयोचितकार्यसिद्धयै ॥ १६ ॥

अलका—तदावामपि रामभद्रदर्शनसुखमनुभवाव इति । (निष्क्रान्ते)

(विष्कम्भः ।)

(ततः प्रविशतो विमानयानेन रामलक्ष्मणौ सीता त्रिजटे सुग्रीवविभीषणौ च)

रामः—(सीतां प्रति)

यत्सख्युः शशिशेखरस्य धनदाल्लङ्केश्वरेणाहृतं
तन्मन्थाच्च विभीषणे परिहृतं दत्तं च तेनाऽपि नः ।
किञ्चिन्न्यञ्चितकन्धरेण शिरसा धृत्वा प्रसन्नां दृशं
तद्भक्त्या ललिताङ्गि पुष्पकमिदं वन्दस्व मोदस्व च ॥ १७ ॥

अतः हे वानर-सेनापतियो ! हे समस्त गोलाङ्गूल-सेनानायको ! तथा सभी भालु-सेना के अध्यक्षो ! महाराज सुग्रीव आप सभी को आदेश दे रहे हैं कि त्रिभुवन के एक मात्र मङ्गल कलश स्वरूप, रघुकुल के मुक्तामणि, क्षात्र धर्म की रक्षाविधि में सफल मन्त्र स्वरूप श्री रामचन्द्र के साथ आयोध्या जाने के लिए तैयार हो जाँय ।

समुद्र लङ्घन से प्रकट सामर्थ्य वाले तथा लङ्का की स्त्रियों द्वारा चकित नेत्रों से देखे गये हनुमान् राज्याभिषेक के अवसर पर उपयुक्त कार्यों के सम्पादन के लिए भरत के पास जा रहे हैं ॥ १६ ॥

अलका—तो हम दोनों भी रामभद्र के दर्शन-सुख का अनुभव करें ।

(यह कहकर निकल जाती हैं)

(विष्कम्भक समाप्त)

(तदनन्तर विमान से राम, लक्ष्मण, सीता, त्रिजटा, सुग्रीव और विभीषण प्रवेश प्रवेश करते हैं)

राम—(सीता से)

जिसे भगवान् शङ्कर के मित्र कुबेर से लङ्केश्वर (रावण) ने छीन लिया था तथा उसके विनाश के अनन्तर जो विभीषण को प्राप्त हुआ और उन्होंने मुझे दे दिया । ऐसे इस पुष्पक-विमान की हे सुन्दरी ! ग्रीवा को किंचिद् विनम्र कर प्रसन्न दृष्टि से शिर से वन्दना करो और प्रसन्न हो ॥ १७ ॥

सीता—(वन्दते)

रामः—(पश्चादवलोक्य)

यस्यामजर्जरितचन्द्रिकमर्कपादैस्त्रासान्निशाचरपतेरुषसि व्यभासि ।
व्यावर्त्य वक्त्रकमलं कमलाक्षि पश्य लङ्केति तां नवबिभीषणराजधानीम् ॥१८॥

सीता—(अवलोक्य) एसा सा विणआणन्दणसमाणीदमेरुमहाजम्बूसाहासमुप्पण्णा सुणीअदि [एषा सा विनितानन्दनसमानीतमेरुमहाजम्बूशाखासमुत्पन्ना श्रूयते ।]

रामः—आम् । मैथिलि एवं पुराविद आचक्षते । (पुरो दर्शयन्)

अग्रे विलोक्य कृशाङ्गि कुतूहलेन दत्त्वा दृशं तरुणकेतकपत्रदीर्घाम् ।
नानास्त्रमन्त्रणपरं कपिराक्षसानां युद्धं कचाकचि तलातलि च प्रवृत्तम् ॥ १९ ॥

(अन्यतो दर्शयन्)

अत्रासीत्फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः ।
दिव्यैरिन्द्रजिदत्र लक्ष्मणशरैर्लोकान्तरं लम्भितः
केनाप्यत्र मृगाक्षि राक्षसपतेः कृत्ता च कण्ठाटवी ॥ २० ॥

सीता—(वन्दना करती है)

राम—(पीछे देखकर) हे कमलाक्षि ! जिसमें सूर्य की किरणें प्रातः काल भी रावण के भय से चन्द्रिका को मलिन न करते हुए शोभित होती थीं उस नवीन विभीषण की राजधानी लङ्का को मुखकमल को कुछ घुमाकर देखो ॥ १८ ॥

सीता—(देखकर) यह वही है जो गरुड द्वारा लायी गई मेरु पर्वत के जम्बूवृक्ष की शाखा से समुत्पन्न कही जाती है ।

राम—हाँ सीते ! पुराणज्ञ लोग ऐसा ही कहते हैं ।

(आगे देखते हुए)

हे कृशाङ्गी ! विकसित केतकी की पंखुड़ी के समान विशाल दृष्टि को पुरो भाग में प्रक्षिप्त कर कौतूहल से वानरों और राक्षसों का त्रिविध शस्त्रों की वर्षा वाला, परस्पर केशाकेशि और चपेटाघात वाला युद्ध क्षेत्र देखो ॥ १९ ॥

(दूसरी ओर दिखाते हुए)

हे मृगनयनी ! यहाँ नागपाश से (हम लोगों का) बन्धन हुआ था । यहाँ तुम्हारे देवर लक्ष्मण के वक्षःस्थल में दृढ़तापूर्वक रावण के शक्ति-प्रहार करने पर हनुमान् द्रोणाचल को लाये थे । यहाँ लक्ष्मण के दिव्य अस्त्रों से मेघनाद मारा गया और यहाँ पर किसी ने राक्षसराज (रावण) की शिरोपंक्ति का विच्छेद किया ॥ २० ॥

सीता—(विहस्य) अज्जउत्तो जाणदि को उण एसो ! [आर्यपुत्रो जानाति कः पुनरेषः ।]

(सर्वे स्मयन्ते)

(रामो लज्जते)

सुग्रीवः—

लङ्केन्द्रानुज एष मैथिलि महान् योऽयं कबन्धः पुरो
वारां भर्त्तरि शैलसेतुरपरः प्रोतो यथा राजते ।
निद्रालोरतितुन्दिलस्य खलतेः क्षीबस्य घोणासृजा-
मोघेनास्य भयस्पृशोऽपि निभृतं स्वर्वासिनो हासिताः ॥ २१ ॥

सीता—अज्जउत्तेण देवा वि पहसणणट्टं पेक्खाविदा [आर्यपुत्रेण देवा अपि प्रहसननृत्यं प्रेक्षायिताः ।]

रामः—(किञ्चित्स्मित्वा पुष्पकं प्रति) हंहो विमानराज ! विमुच्य वसुधासविधवर्तिनीं गतिं किञ्चिदुच्चैर्भव कुतूहलिनी जानकी दिव्यदर्शनव्यतिकरस्य ।

(ऊर्ध्वगतिनाटितकेन)

रामः—

यथायथा रोहति बद्धवेगं व्योम्नः शिखां पुष्पकमानताङ्गि ।
महाम्बुधीनां बलयैर्विशालैस्तथातथा संकुचतीव पृथ्वी ॥ २२ ॥

सीता—(मन्दस्मितपूर्वक) आर्यपुत्र तो जानते हैं, कौन है वह ?

(राम लज्जित होते हैं)

(सभी हंसते हैं)

सुग्रीव—हे मैथिलि ! आगे जो समुद्र पर निर्मित दूसरे शैलसेतु की भाँति यह महान् कबन्ध (धड़) पड़ा है वह रावण का छोटा भाई (कुम्भकर्ण) है । अत्यधिक निद्रालु, स्थूलोदर तथा खल्वाट (केशहीन शिर वाले) इस मतवाले राक्षस की नासिका से प्रवाहित शोणित की धारा द्वारा भयभीत देवगण भी गूढ़ रूप से हँसा दिये गये ॥ २१ ॥

सीता—आर्यपुत्र ने देवताओं को भी हास्ययुक्त नृत्य प्रदर्शित करा दिया ।

राम—(मन्दस्मितपूर्वक) विमानराज ! पृथ्वी-पार्श्व के सञ्चार को त्यागकर कुछ ऊपर हो जाओ । सीता को स्वर्ग की (वस्तुएँ) देखने का कौतूहल है ।

(ऊपरी गति का अभिनय करते हुए)

राम—हे सुन्दरी । वेगशील पुष्पक जैसे-जैसे आकाश की चोटी पर आरूढ़ हो रहा है वैसे ही पृथ्वी महासागरों के विशाल मण्डलों के साथ संकुचित सी होती जा रही है ॥ २२ ॥

(सीतां प्रति) सुरचारणकिन्नरविद्याधरसंकुलं गगनमार्गमीक्षतां मैथिली ।

(प्रविश्य)

विद्याधरः—रामभद्र महेन्द्रादेशादेष रत्नशेखरो विद्याधरकुमारस्ते दिव्यचरितं व्यनक्ति ।

रामभद्रः—अहो महान् प्रसादोऽस्मासु देवराजस्य ।

रत्नशेखरः—(सीतां प्रति)

बन्धे वारिनिधेः कृतेऽपि गिरिभिः सोढः शिरोमण्डल-
च्छेदो राक्षसपुङ्गवेन समरे यस्याः किमन्यत्कृते ।
कीदृक् सा जनकात्मजेति रभसाद्विद्याधरैर्द्वन्द्वशः
पाणिच्छनिवारितार्ककिरणैस्त्वं कौतुकाद् दृश्यसे ॥ २३ ॥

सीता—(अपवार्य)

विद्याधराः सहचरीचतुरोक्तिमार्गे रागस्पृशो गगनगर्भयथेष्टचेष्टाः ।
निस्तल्पमल्पसमयं निबिडाभ्रखण्डकुड्यान्तरेष्विह रताद्भुतमाद्रियन्ते ॥२४॥

रामः—प्रिये पृथ्वीपुत्रि ! नीरन्ध्रबन्धमपि वारिवाहव्यूहं द्विधा विधाय पुष्पकं प्रवर्तते । (विलोक्य विहस्य)

(सीता से) हे मैथिली ! गन्धर्वों, किन्नरों तथा विद्याधरों से व्याप्त आकाश को देखो ।

(प्रवेश कर)

विद्याधर—हे रामभद्र ! महेन्द्र की आज्ञा से यह विद्याधर-कुमार 'रत्नशेखर' तुम्हें दिव्य (प्रशंसनीय या दैवी) चरित को सुनायेगा ।

राम—अहा ! देवराज की हम पर बड़ी अनुकम्पा है ।

रत्नशेखर—(सीता से) पर्वतशिलाओं से समुद्र का बन्धन हो जाने पर भी जिसके लिए राक्षसराज (रावण) ने संग्राम में अपने शिरो मण्डल के विच्छेद को सहन किया, इससे अधिक क्या (होगा) । वह जानकी कैसी है इस (जिज्ञासा से) वेग पूर्वक अपने हस्त रूपी छत्रों से सूर्य की किरणों का निवारण करते हुए कौतुकवश विद्याधरों, के मिथुन तुम्हें देख रहें हैं ॥ २३ ॥

सीता—(छिपाकर)

अपनी सहचरियों के चतुर उक्ति-विन्यास से अत्यन्त अनुरक्त होने वाले, आकाश-मण्डल में यथेच्छगमनशील विद्याधर यहाँ घने मेघमण्डल रूपी भित्ति की ओट में या शय्यारहित अल्पकालिक अद्भुत सुरत का सेवन कर रहे हैं ॥ २४ ॥

राम—प्रिये ! पृथ्वी पुत्रि ! घने बन्धन वाले मेघों के व्यूह को भी पुष्पक-विमान दो भागों में विभक्त करता हुआ चल रहा है ।

(देखकर हँसकर)

क्षिप्तं त्वया काञ्चनकान्तिदाम यन्मत्तवारणमुपेत्य कुतूहलिन्या।
तेनामुना जलधरोऽयमरालकेशि सद्यस्तडिद्वलयवानिव पश्य जातः ॥ २५ ॥

अपि च—

हस्ते त्वया हारिणि हारयष्टिभिर्विमानवातायनतः कुतूहलात्।
कृते विदध्यात्सदृशीं प्रतिक्रियामितीव धाराम्बु घनो निरस्यति ॥ २६ ॥

सीता—अज्जउत्त किं उण एदं करिदन्तच्छेदपण्डुरं पुव्वपच्छिमसिन्धुबन्धोभअपेरन्तं तदुत्तरदिसाकुहरपूरणधुरन्धरं दीसदि। [आर्यपुत्र किं पुनरिदं करिदन्तच्छेदपाण्डुरं पूर्वपश्चिमसिन्धुबन्धोभयपर्यन्तं तदुत्तरदिशाकुहरपूरणधुरन्धरं दृश्यते।]

रत्नशेखरः—जनकनन्दिनि! किमत्र रावणारिणा रत्नशेखरं पृच्छ हिमालयः खल्वयम्।

सीता—किं जो सो विन्दारअविन्दवन्दिदरुद्दचरणपडिबिम्बचुंबिदसिलुच्छङ्गो गङ्गासोत्तसीमन्तिदणिअंबो हेरम्बदन्तमुसलुल्लिहिदमेहलाबन्धो णिवडिदहरवुसहवरखुरखण्डिदधरणिवट्टो चित्तसिहण्डिमण्डलावचिदमन्दारकुसुमप्पसरो गोरीगुरुत्ति णिव्विग्घमहग्घिदो सुणीअदि। [किं य एष वृन्दारकवृन्दवन्दितरुद्रचरणप्रतिबिम्बचुम्बितशिलोत्सङ्गो गङ्गास्रोतःसीमन्तितनितम्बो हेरम्बदन्तमुसलोल्लिखितमेखलाबन्धो निपतितहरवृषभवरखुरखण्डितधरणिपृष्ठश्चित्रशिखण्डिमण्डलावचितमन्दारकुसुमप्रसरो गौरीगुरुरिति निर्विघ्नमहार्घितः श्रूयते।]

हे कुटिल केशों वाली! कौतूहल वश मतवाला हाथी जानकर कनक के समान कान्ति वाली जिस माला को तुमने फेंका उससे यह मेघ तत्काल विद्युद् वलय वाला हो गया, देखो॥ २५॥

और भी—

तुम्हारे हारों की लड़ी से मनोहर हाथों को कुतूहल वश विमान की खिड़की से बाहर करने पर समान प्रतिक्रिया करनी चाहिये मानो इसी लिये बादल धारापात (वर्षा की झड़ी) निकाल रहा है॥ २६॥

सीता—आर्यपुत्र! पूर्व और पश्चिम सागर तक उत्तर दिशा के अभ्यन्तर को पूरा करने में पटु हस्तिदन्त के समान शुभ्र यह क्या है?

रत्नशेखर—जनकनन्दिनि! इस विषय में राम से क्या पूछती हो? रत्नशेखर से पूछो। यह हिमालय है।

सीता—क्या यह देववृन्द-वन्दित रुद्र-चरण से स्पृष्ट शिलाओं वाले, गंगा के स्रोत-सीमा बने नितम्ब वाले, गणेश के दन्त से खनित मेखला वाले, शिव के वृषभ नन्दी के खुर से खण्डित धरणी वाले, सप्तर्षियों से अवचित मन्दारपुष्प वाले, समस्त जनों के आदरणीय पार्वतीपिता हिमालय हैं।

रत्नशेखरः—स एवायम् ।

श्रीकण्ठश्वशुरः स एष भगवान् मेनापतिः पर्वतः
पुत्रीवानुमया पुरः किमपरं हेरम्बमातामहः ।
यस्यायं महिमा यदत्र शमिनः श्यामाकमुष्टिंपचाः
स्वास्वेवाश्रमभूषु दिव्यवपुषः क्रीडन्ति कामाज्ञया ॥ २७ ॥

अपि च—

स्त्रीणां जन्ममहातरोः किमपरं सौभाग्यलाभोत्सव-
स्तत्प्राप्तेरधिदैवतं गिरिसुता साप्यस्य कुञ्जान्तरे ।
एकाङ्गुष्ठनिपीडितक्षितितपस्तप्त्वा सहस्रं समा-
श्चन्द्रापीडशरीरसंविभजनप्रेमाणमापद्यत ॥ २८ ॥

सीता—अज्ज उत्त इधज्जेव अध्धनारीसरो हरो संवुत्तो । [आर्यपुत्र । इहै-वार्धनारीश्वरो हरः संवृत्तः ।]

रत्नशेखरः—आं वासुन्धरेयि !

अत्रोढायां गिरिदुहितरि प्रीतिमानिन्दुमौलिः
प्रेमावेशाज्झटिति भगवानर्धनारीश्वरः सन् ।
मन्दं देवैः प्रणतचरणः प्रत्यभिज्ञानलेशा-
द्वामे पाणौ तदितरकरं ताडयित्वा जहास ॥ २९ ॥

रामः—किमुच्यते सर्वाश्चर्यनिधानं हि नीहारमहागिरिः ।

रत्नशेखर—वे ही ये हैं—

ये सामने वे ही मेनापति शंकर के श्वसुर पर्वत हैं, उमा इनकी पुत्री हैं और अधिक क्या ये गणेश के मातामह हैं। इनकी यह महिमा है कि यहाँ पर श्यामाक धान्य की मुट्ठी से जीवन बिताने वाले संयमी लोग अपने-अपने आश्रमों में दिव्य देह धारण किये काम की आज्ञा से क्रीडा करते हैं ॥ २७ ॥

और भी—

स्त्रियों के जन्मरूपी महावृक्ष का एकमात्र लाभ है सौभाग्य प्राप्ति और उनकी प्राप्ति की आदि देवता हैं पार्वती । वे पार्वती भी यहीं कुञ्ज में एक अंगुष्ठ से पृथ्वी दबाकर सहस्रों वर्षों तक तपस्या कर शिव के शरीर के विभागकारी प्रेम को प्राप्त कीं ॥ २८ ॥

सीता—आर्यपुत्र ! शंकर जी यहीं अर्धनारीश्वर हुये थे ।

रत्नशेखर—हाँ पृथ्वीपुत्रि !

यहीं पर विवाहिता पार्वती में प्रेमाविष्ट होकर भगवान् चन्द्रशेखर अर्धनारीश्वर हुए थे और पहचान की कमी के कारण देवों से वन्दित चरण होने पर वाम बाहु में दक्षिण बाहु पीटकर हंसने लगे ॥ २९ ॥

राम—क्या कहा जाय हिमालय सभी आश्चर्यों का स्थान है ।

रत्नशेखरः—यथाज्ञातं विराधविध्वंसनेन ।

अस्मिन्नूढा मृडानी द्युसरिदिह धृता दन्तिदैत्योऽत्र भिन्न-
श्छिन्नं ब्राह्मं शिरोऽस्मिन्निह गुरुनिधने निर्मिता मातरश्च ।
दृक्श्रोत्रप्रीतिपेयं दलितसुरपुरीदुर्गमद्वारमुद्रं
सिद्धानां पूर्वसिद्धैरिति हरचरितं वर्ण्यते चित्रमत्र ॥ ३० ॥

सीता—इह हिमवन्तमहीहरे चन्दसेहराहिं मअरध्धअणिद्दहणं रहुउलमहत्तरीआओ पसंसंतीओ आसि ता कहिं उण तम् । [इह हिमवन्महीधरे चन्द्रशेखरान्मकरध्वजनिर्दहनं रघुकुलमहत्तरिकाः प्रशसन्त्य आसन् तत् क्व पुनस्तत् ।]

रत्नशेखर—यदिदं निर्मितमिव मरकतमणिमरीचिवीचिभिराच्छादितमिव वंशकरीरनीलकान्तिभिः परिकल्पितमिवानूरुसारथिरथतुरङ्गमरोमराजिभिरुत्पादितमिव शितिकण्ठकण्ठमण्डलीमेचकरुचिसंचयैस्तरुभिराश्रमपदं भगवतो वृषभध्वजस्य ।

एतत्सुन्दरि देवदारुविपिनं शैलस्य गौरीगुरो-
रस्मिन् वासवशासनेन रहयन् सद्यः समाधिक्रियाम् ।
प्रत्यक्षं गिरिजन्मनः सुरजने स्तोत्राय सञ्जाञ्जलौ
रुद्रस्याम्बकपावकेन मदनो वेगादनङ्गीकृतः ॥ ३१ ॥

रत्नशेखर—विराधवधकर्ता राम ने ठीक ही समझा है—

यहीं पर पर्वती से विवाह हुआ, यहीं गंगा धारण की गईं, यही दन्ती असुर मारा गया, वहीं ब्रह्मा का शिर काटा गया, और यही गुरु (दक्ष) वध के निमित्त मातृकाओं का निर्माण हुआ और यहीं सिद्धों से प्राचीन सिद्ध गणों द्वारा असुरों की दुर्गम पुरी के द्वार को तोड़ने की मुद्रा का मधुर वर्णन किया जाता है ॥ ३० ॥

सीता—रघुकुल की माननीय स्त्रियाँ यहीं पर शंकर द्वारा कामदेव को जलाया जाना बताती थीं वह कहाँ है ?

रत्नशेखर—तो यह भगवान् शंकर का मरकत मणियों की किरणों की माला से निकला हुआ सा, वांसों के अंकुरों की नील कान्तियों से आच्छादित-सा, अनूरुसारथि (सूर्य) के रथ के अश्वों की रोमकान्तियों से बनाया हुआ-सा, तथा मयूरों के कण्ठ समूह की भाँति श्यामल कान्तिओं वाले वृक्षों द्वारा बनाया हुआ सा-आश्रमस्थान है—

हे सुन्दरी ! पार्वतीपिता हिमालय का यह देवदारुवन है । इसी में इन्द्र की आज्ञावश भगवान् शंकर की समाधि में विघ्न डालता हुआ कामदेव पार्वती के सामने तथा देवताओं द्वारा हाथ जोड़कर स्तुति करते होने पर भी शंकर की नेत्राग्नि द्वारा अनङ्ग कर दिया गया[1] ॥ ३१ ॥

---

१. द्र० कुमारसंभव—क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति ।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार ॥ (३।७२)

सीता—परमेसरसरीरपरिक्खिदतिक्खविसिहस्स मअरध्धअस्स कदमो उण णिवेसो [परमेश्वरशरीरपरीक्षिततीक्ष्णविशिखस्य मकरध्वजस्य कतमः पुनर्निवेशः ।]

रत्नशेखरः—

एतन्मैथिलि मन्मथाश्रमपदं रत्या स्वयं वर्धितै-
र्लीलाशाखिभिरञ्चितान्तिकमितः केलीशकुन्ताश्रयैः ।
शृङ्गारश्च रसो मधुश्च समयो देवश्च ताराधिपो
रागः पञ्चमसंज्ञकश्च ललितैस्ते यत्र सिद्धा व्रतैः ।। ३२ ।।

सीता—(सकौतुकम्) पुञ्जीकदअज्जउत्तकित्तिसंताणाणुआरी रासीभूदहरट्टहाससरिसनिवेसो पलआणलपिण्डीकदक्खीरसमुद्ददुक्करपडिरूवो कदरो उण एस महिहरो । [पुञ्जीकृतार्यपुत्रकीर्तिसन्तानानुकारी राशीभूतहराट्टहाससदृशनिवेशः प्रलयानलपिण्डीभूतक्षीरसमुद्रदुग्धोत्करप्रतिरूपः कतरः पुनरेष महीधरः ।]

रामः—रुद्रावासः कैलास इति मे तर्कः ।

रत्नशेखरः—यथावगतं ताडकाताडनेन ।

कैलासः स्फटिकाद्रिरेष भगवानेनं भवानीसखः
सख्यादैलबिलस्य भक्तिजनितान्नित्यं शिवः सेवते ।
किञ्चास्मिन्ननुमेखलं नखमुखच्छेदैः समावेद्यते
हेलोत्पाटनपूर्वकालनिहितैर्लङ्कापतेर्विक्रमः ।। ३३ ।।

सीता—परमेश्वर शंकर के शरीर में तीक्ष्ण बाण की परीक्षा करने वाले कामदेव का कौन सा स्थान है ।

रत्नशेखर—हे मैथिलि ! यह कामदेव का आश्रम है । इसमें स्वयं रति द्वारा पाले-पोसे गये क्रीडा-पक्षियों द्वारा क्रीडावृक्षों का आश्रय लिया गया है और उनसे इनकी शोभा में वृद्धि हो रही है । यह श्रृंगार रस, वसन्त का समय, चन्द्रमा देव और पञ्चम राग अधिष्ठित है और यह वे लोग ललित व्रतों द्वारा अपने उद्देश्य में सिद्धि प्राप्त करते थे ।। ३२ ।।

सीता—(कौतूहलपूर्वक) आर्यपुत्र की कीर्तिराशि का अनुकरण करने वाला, भगवान् शङ्कर के अट्टहास की राशि की भाँति, प्रलयकालीन अग्नि द्वारा पिण्डीभूत (जमे हुए) क्षीरसागर के दुग्ध के समान यह कौन पर्वत है ?

राम—मेरे विचार से रुद्र का निवास स्थान यह कैलास है ।

रत्नशेखर—ताटका के वधकर्ता ने उपयुक्त ही समझा ।

यह स्फटिक मणि के समान कैलास पर्वत है । भगवान् शंकर पार्वती-सहित कुबेर के भक्तियुक्त सौहार्द के कारण सर्वदा इसका आश्रयण करते हैं । इनके प्रत्येक मध्य भाग में पूर्व काल में (रावण द्वारा) अवहेलना से उत्पाटन में लगे हुए नखाग्रों के आघात से उसके विक्रम का ज्ञान होता है ।। ३३ ।।

अत्र च—

कैलासाचलकर्णिकेयमलका नेत्रैकपेया पुरी
देवस्य द्रविणप्रभोः किमपरं शृङ्गारसारस्य भूः।
यस्यामस्तमितेऽद्य राक्षसपतौ यक्षाङ्गनानाममी
वर्तन्ते प्रतिचत्वरं प्रतिगृहं प्रत्यापणं चोत्सवाः ॥ ३४ ॥

रामः—(पुरोऽवलोक्य) कः पुनरस्तमिताखिलककुद्बन्धः सलिलस्कन्धः।

रत्नशेखरः—उत्पत्तिसदनं कलहंसवयसामाकरः कनकारविन्दानां विलासदीर्घिका देवदेवस्य समवगाढतटान्तरसमदमहोष्मणा हेरम्बेण रभसाचान्तवीतवीचिभङ्गं गगनाङ्गणपरिभ्रमिणा चन्द्रहरिणेन लीलालीढसीकरकणं कूलकुलायकारिणा कुमारमयूरेण प्रसारितकराकृष्यमाणार्णस्कं करिमकरत्रासादैरावतेभसेवितशाद्वलोपकण्ठं नीलकण्ठवृषेण समध्यासितपरिसरं संतानकारण्ये नारायणवराहेण वर्णितवैभवं वैकुण्ठकमठेणनाभिलषितगर्भं पद्मनाभमहामत्स्येन नीतनीरं त्रिसन्ध्यमरुन्धतीकराकलितकमलिनीपत्रपात्रैरानन्दितपुरन्दरमानसं मानसं नाम दिव्यं सरः।

(सीतां प्रति)

तथा यहाँ—

कैलास पर्वत के कर्णावतंस की भाँति, देखने में मनोरम विलासों की उत्पत्ति भूमि भगवान् कुबेर की पुरी यह अलका है। इसके विषय में अधिक क्या कहें। आज रावण के निधन पर जिसमें प्रत्येक प्राङ्गण में, प्रत्येक भवन में, प्रत्येक आपण (बाजार) में यक्षिणियों के उत्सव हो रहे हैं ॥ ३४ ॥

राम—(आगे की ओर देखकर) यह समस्त उत्कृष्ट वस्तुओं को तिरस्कृत करने वाला कौन जलाशय है ?

रत्नशेखर—कलहंस पक्षियों का उत्पत्ति गृह, स्वर्ण कमलों की प्रसवभूमि, भगवान् शंकर की क्रीडा-वापी, जल में निमग्न छिपे हुए मद वाले अत्यधिक अन्तस्ताप संपन्न गणेश द्वारा वेगपूर्वक पान करने से समाप्त तरङ्गों के प्रवाह वाला, आकाश में भ्रमण करने वाले चन्द्रमा के मृग द्वारा लीढ़ (चाटे गये) जल बिन्दुओं वाला, तट पर नीड़ रचने वाले कार्तिकेय के मयूर द्वारा चोंच फैलाकार लिये गये जल वाला, जलहस्ती एवं मकरों के भय से ऐरावत द्वारा सेवित हरित तृण युक्त तट वाला, शिव के वृषभ से युक्त कूल वाला, (तटवर्ती) सन्तानक (एक देववृक्ष) के वन में आदि वराह द्वारा गाये गये ऐश्वर्य वाला, विष्णुरूपी कच्छप द्वारा अभिलषित अन्तःनिवास वाला, नारायण रूपी महामत्स्य द्वारा पीत जल वाला, तीनों सन्ध्याओं में अरुन्धती के हाथों द्वारा लिये गये कमलिनी-पत्र रूपी पात्रों से इन्द्र के मन को प्रसन्न करने वाला मानस नाम का दिव्य सरोवर है।

(सीता से)—

एतन्मानिनि मानसं सुरसरो निर्लूनहेमाम्बुजं
पार्वत्या प्रियपूजनार्थममुतो गङ्गा सरिन्निर्गता।
अस्माच्चित्रशिखण्डिभिश्च परमे पर्वण्युपादीयते
स्नानोत्तीर्णवृषाङ्कभस्मरजसां सङ्गात्पवित्रं पयः ।। ३५ ।।

सीता—को उण एसो णिच्चतरुणतरुमण्डलीचुम्बिदमहाणिअम्वनिवेसो मत्तण्डचण्डेक्करहचक्कचुम्बणमसिणसुवण्णसिहरो महीहरो दीसदि। [कः पुनरेष नित्यतरुणतरुमण्डलीपरिचुम्बितमहानितम्बसन्निवेशो मार्तण्डचण्डैकरथचक्रचुम्बनमसृणसुवर्णशिखरो महीधरो दृश्यते।]

रत्नशेखरः—

नेत्रं वासुकिरत्र केशवभुजैः संदानितोऽयं पुरा
चक्रुर्बल्लवतां परिभ्रमविधावेतस्य देवासुराः।
मन्थाः सोऽयममृतसमुद्रकलशे तन्नीयतां कौतुकादेष श्रोत्रपरम्परापरिचितो दृग्गोचरं मन्दरः ।। ३६ ।।

(रामं प्रति) इतो विषनिष्यन्दिनीं विद्वेषिषु प्रसादामृतवीचिमालिनीं सुहृत्सु निवेशय दृशम्।

क्षीराम्भाः परितोऽयमर्णवपतिर्जातं मृगाङ्कादिकं
पीयूषावधि रत्नजातममुतः किं चास्य तीरान्तरे।
मुक्त्वा कल्पभृतः स्वयंवरसुरान् सौभाग्यदानाग्रणीर्लक्ष्म्याऽस्मिन् कुसुमावली वरयितुं वैकुण्ठकण्ठेऽर्पिता ।। ३७ ।।

हे मानिनि ! यह देवों का सरोवर है। अपने प्रिय की अर्चना के लिए पार्वती द्वारा इसके स्वर्ण कमल तोड़े गये हैं। यहाँ से गङ्गा नदी निकली है तथा इसी से (मरीचि आदि) देवर्षि लोग उत्कृष्ट पर्वों में स्नान कर निकले हुए भगवान् शंकर के भस्म से युक्त पवित्र जल ग्रहण करते हैं ।। ३५ ।।

सीता—निरन्तर अभिनव तरु-मण्डली से युक्त प्रान्तों वाला, सूर्य से महान् रथ के एक चक्र के घर्षण से चिकने सुवर्ण-शिखर वाला यह कौन पर्वत है ?

रत्नशेखर—पूर्व काल में वासुकी इसी (पर्वत) पर मन्थन रज्जु बने थे, भगवान् विष्णु की भुजाओं से यही बाँधा गया था। देवता तथा असुर इसी को मथने के लिए गोप बने थे तथा समुद्र रूपी कलश में यह मन्थन-दण्ड बना था। अतः कर्णपरम्पराओं से परिचित इस मन्दर पर्वत पर दृष्टिपात कीजिए ।। ३६ ।।

(राम से) शत्रुओं पर विष-वृष्टि करने वाली तथा सुहृद् जनों पर हर्ष रूपी सुधा-लहरों की माला वाली दृष्टि को इधर लगाइये।

यह चारों ओर से दुग्ध के जल वाला समुद्र है। इससे चन्द्रमा से लेकर अमृत तक सभी रत्न उत्पन्न हुए तथा इसके तट पर लक्ष्मी ने वाञ्छित अर्थ प्रदान करने वाले स्वयम्वर में उपस्थित देवताओं का परित्याग कर स्वामी को प्रेम प्रदान करने में पहली अग्रगामी पुष्पमाला नारायण के कण्ठ में अर्पित किया ।। ३७ ।।

रामचन्द्र इत इतोऽपि दृश्यतां द्रष्टव्यम् ।

यं नित्यं भगवान् प्रदक्षिणयति भ्राम्यत्प्रभाग्रेसर-
ध्वान्तश्रेणिविभक्तवासरनिशाविन्यासरेखं रविः ।
धत्ते कां चन काञ्चनश्रियमसौ मेरुर्गिरीणां गुरु-
र्देवैः सार्द्धमधित्यकामधिवसत्यस्यामरग्रामणीः ॥ ३८ ॥

(सीतां प्रति)

एतां पश्य पुरः सुमेरुशिखरे दम्भोलिपाणेः पुरीं
त्वत्कालोकनकौतुकोत्तरलितैर्व्यग्रां पुरन्ध्रीजनैः ।
यस्यास्तोरणगोपुरप्रणयिभिर्नामाङ्कितैर्मार्गणैः
पौलस्त्यस्य विनापि वर्णरचनां न्यस्ता प्रशस्तिः स्थिरा ॥ ३९ ॥

रामः—हंहो पुष्पक ! इतोऽपि किञ्चिदुच्चैर्भव न तृप्यति चेतो दिव्यदर्शनकुतूहलस्य (सर्वे विमानोर्ध्वगतिं नाटयन्ति ।)

सीता—केअइकेसरपराअपडिरूवो पिक्कघणसारपंसुपसरसरिच्छछवी मुत्ताहलविसदसोहासण्णिवेसो णिवेसिदाणंदकंदो हिअअस्स कुदो उण एतावंतो जोण्हावित्थरो । [केतकीकेसरपरागप्रतिरूपः पक्वघनसारपांसुप्रसरसदृशच्छविर्मुक्ताफलविशदशोभासंनिवेशो निवेशितानन्दकन्दो हृदयस्य कुतः पुनरेतावान् ज्योत्स्नाप्रसरः ।]

रामः—मन्ये चन्द्रलोकसमीपे वर्तामहे ।

हे रामचन्द्र ! इधर देखिये (यह) दर्शनीय है ।

भगवान् सूर्य निरन्तर भ्रमण करती हुई किरणों के आगे भागने वाली तिमिर-पंक्ति के द्वारा विभक्त दिन-रात्रि की मर्यादा वाले जिसकी प्रदक्षिणा करते हैं वह पर्वतों में श्रेष्ठ मेरु अनिर्वचनीय स्वर्णिम शोभा को धारण करता है तथा देवराज इन्द्र देवताओं के साथ इसकी अधित्यकाओं (ऊर्ध्व भूमियों) में निवास करते हैं ॥ ३८ ॥

(सीता से) आगे सुमेरु के शिखर पर तुम्हारे दर्शन की उत्सुकता से चञ्चल नारियों से उत्कण्ठित इन्द्र की इस अमरावती पुरी को देखो । जिसके बहिर्द्वार तथा पुरद्वार पर विंधे हुए नामाङ्कित बाणों से अक्षर विन्यास के विना ही रावण की अक्षय प्रशस्ति निहित है ॥ ३९ ॥

राम—हे पुष्पक ! इससे भी कुछ ऊपर हो जाओ, दिव्य वस्तुओं के दर्शन की उत्सुकता से मन तृप्त नहीं (हो रहा) है ।

सीता—केतकी पुष्प के केसर की धूलि के समान, शुष्क चन्दन के चूर्ण के समान कान्ति वाला, मुक्ताफल के समान निर्मल शोभा से सम्पन्न तथा हृदय को आनन्द देने वाला यह इतना अधिक चाँदनी का पुञ्ज कहाँ से (आ रहा) है ।

राम—प्रतीत होता है चन्द्रलोक के समीप आ गये हैं ।

रत्नशेखरः—यथाह मारीचहरिणारिः ।

सद्यश्चन्दनपङ्कपिच्छिलमिव व्योमाङ्गणं कल्पयन्
पश्यैरावतकान्तदन्तमुशलच्छेदोपमेयाकृतिः ।
उन्मीलत्ययमच्छमौक्तिकलताप्रालम्बलम्बैः करैः
कान्तानां स्मरलेखवाचनकलाकेलिप्रदीपः शशी ॥ ४० ॥

(सीतां प्रति)

गौराङ्गीवदनोपमापरिचितस्तारावधूवल्लभः
सद्यो मार्जितदाक्षिणात्यतरुणीदन्तावदातद्युतिः ।
चन्द्रः सुन्दरि दृश्यतामयमसौ चण्डीशचूडामणिः
संबन्धी रघुभूभुजां मनसिजव्यापारदीक्षागुरुः ॥ ४१ ॥

अतः परमगम्या अस्मादृशां भुवः स च ब्रह्मलोक इति श्रूयते तत्र च किल ब्रह्मर्षिपरिषत्परिवादी परमेष्ठी गरिष्ठं तपस्तप्यते ।

रामः—

लक्ष्मीं वक्षसि कौस्तुभस्तबकिनि प्रेम्णा करोत्यच्युतो
देहार्धे वहति त्रिविष्टपगुरुर्गौरीं स्वयं शङ्करः ।
शङ्के पङ्कजसंभवस्तु भगवानद्यापि बाल्यावधेः
सर्वाङ्गप्रणयां प्रियां कलयितुं दीर्घं तपस्तप्यते ॥ ४२ ॥

रत्नशेखर—मारीच मृग के वधकर्त्ता ने उचित कहा ।

आकाश-मण्डल को तत्काल चन्दन के पङ्क से सिक्त की भाँति बनाता हुआ, ऐरावत के दन्त रूपी मुसल के खण्ड से उपमेय आकृति वाला, स्वच्छ मौक्तिक लता के समान लम्बी-लम्बी लटकती हुई किरणों से कामिनियों के प्रेम-पत्र की पठन कला में विलास दीपिका स्वरूप यह चन्द्रमा उदित हो रहा है, देखो ॥ ४० ॥

(सीता से) गौराङ्गी सुन्दरियों के मुख की उपमा से परिचित, ताराओं रूपी वधुओं का प्रियतम, तत्काल मार्जित दाक्षिणात्य युवती के दाँतो के समान धवल कान्ति वाला, भगवान् शंकर का शिरोभूषण, रघुवंशी राजाओं का सम्बन्धी तथा काम व्यापार में दीक्षा-गुरु यह चन्द्रमा है इसे देखो ॥ ४१ ॥

इसके बाद की भूमि हम लोगों के लिए अगम्य हैं उसे ब्रह्मलोक कहते हैं । वहाँ (भृगु आदि) ब्रह्मर्षियों की परिषद् के अधिष्टाता ब्रह्मा कठोर तप करते हैं ।

राम—भगवान् विष्णु कौस्तुभ मणि से अलङ्कृत वक्षःस्थल में लक्ष्मी को प्रेमपूर्वक धारण करते हैं । त्रिलोकी के गुरु भगवान् शिव शरीर के अर्द्ध भाग से पार्वती को वहन करते हैं । (प्रतीत होता है कि भगवान् पद्मयोनि ब्रह्मा) शैशव से अद्यावधि सर्वाङ्गप्रणयिनी प्रिया को प्राप्त करने के लिए दीर्घकालीन तपस्या कर रहे हैं ॥ ४२ ॥

(सर्वे स्मयन्ते ।)

सीता—भअवं गअणपुप्फ पुप्फअ संपदं परिणमिअ अंबुरासिलंबी भव जेण त्थिरं जलणिहिजाणपत्तं सीमंतरेहं वारुणीतरुणीए अज्जउत्तप्पआवप्पसरपढममग्गं महासेउबंधं पेक्खह्म [भगवन् गगनाङ्गणपुष्प पुष्पक साम्प्रतं परिणम्याम्बुराशिलम्बी भव येन स्थिरं जलनिधिज्ञानपत्रं सीमन्तरेखां वारुणीतरुण्या आर्यपुत्रप्रतापप्रसरप्रथममार्गं महासेतुबन्धं पश्यामः ।]

(विमानावतरणनाटितकेन)

रत्नशेखरः—स्वस्ति रामभद्राय साधयामि सम्प्रति । (इति निष्क्रान्तः ।)

त्रिजटा—(सीतां प्रति) णीलमणिकुट्टिमं विअ वरुणभवणंगणस्स णिग्गम-मग्गं विअ पाआलतलतिमिरचक्कवालस्स आलवालं विअ भुअणमहामहीरुहस्स गोट्ठिट्ठाणं विअ दिसाविलासिणीणं दप्पणं विअ गअणाभोअस्स महोअहिं पिअसहि पसइप्पमाणपसारिअच्छी पेक्ख । [नीलमणिकुट्टिनमिव वरुणभवनाङ्गणस्य निर्गम-मार्गमिव पातालतिमिरचक्रवालस्यालवालमिव भुवनमहामहीरुहस्य गोष्ठीस्थानमिव दिशाविलासिनीनां दर्पणमिव गगनाभोगस्य महोदधिं प्रियसखि प्रसृतीयमानप्रसारिताक्षी पश्य ।]

लक्ष्मणः—

यत्खातः सगरेण मर्त्यसरितं मन्दाकिनीं कुर्वता
पूर्णो यच्च भगीरथेन गिरिभिर्बद्धो यदार्येण च ।
तत्ते चित्रविचेष्टितं श्वशुरयोर्भर्तुश्च वारां निधिं
वीक्षस्वेनमधो निधाय नलिनच्छायामुषी चक्षुषी ।। ४३ ।।

(सभी हँसते हैं)

सीता—आकाश रूपी आँगन के पुष्प भगवन् ! पुष्पक ! अब उतर कर समुद्र के ऊपर हो जाओ जिससे समुद्र पार करने के लिए स्थिर वाहन, वरुण देवी की माँग की रेखा जैसे, आर्यपुत्र के प्रताप की प्रगति का प्रथम मार्ग सेतुबन्ध देखें ।

(विमान के उतरने के लिए अभिनयपूर्वक)

रत्नशेखर—रामभद्र का कल्याण हो, अब मैं जाता हूँ । (निकल जाता है)

त्रिजटा—(सीता से)

हे प्रिय सखि ! वरुण के भवन के आँगन की वैदूर्य मणि की भूमि जैसे, पाताल के अन्धकार-समूह के निर्गम मार्ग जैसे, संसार रूपी महावृक्ष के थाला जैसे, दिशाओं रूपी कामिनियों के विश्राम-गृह जैसे, आकाशमण्डल के दर्पण जैसे महासागर को विकसित होती हुई आँखों को फैलाकर देखो ।

लक्ष्मण—(हे आर्ये !) सगर ने जिसे खुदवाया, मन्दाकिनी को मर्त्यलोक की नदी बनाने वाले भगीरथ ने जिसे (जल से) पूर्ण किया तथा आर्य राम ने जिसे पर्वतों से बँधवाया, उस अपने दोनों श्वसुरों तथा पति की अद्भुत कृति इस समुद्र को कमल की श्री हरण करने वाली आँखों को नीचे झुकाकर देखो ।। ४३ ।।

सीता—आदिकंदं लच्छीलदाकंदलीय उदयद्दि हरचूडाचन्दस्स वारीवंधमैरावणस्स महाकलसं पेऊसस्स पणमामि भअवंतमुदन्नंतम् । [आदिकन्दं लक्ष्मीलताकन्दल्या उदयाद्रिं हरचूडाचन्द्रस्य वारीबन्धमैरावणस्य महाकलशं पीयूषस्य प्रणमामि भगवन्तमुदन्वन्तम् ।]

रामः—

धत्ते यत्किलकिञ्चितैकगुरुतामेणीदृशां वारुणी
वैधुर्यं विदधाति दम्पतिरुषां यच्चन्द्रिकार्द्रं नभः ।
यत्पीयूषभुजां च मन्मथसुहृन्नित्यं वयः संपदां
यल्लक्ष्मीरधिदैवतं जलनिधेस्तच्चित्रमाचेष्टितम् ।। ४४ ।।

लक्ष्मणः—

वह्निं योऽम्भःसमिद्भिर्ज्वलयति जगतीद्वीपखण्डानि यस्य
स्वादिष्टा यत्प्रसूतिस्त्रिदशयुवतयः श्रीः सुधा वारुणी च ।
सोऽपि ह्युड्डीनलीनैः शरपतनभयादद्रिभिः क्षुण्णपादै-
र्देवि त्वद्भर्तुराज्ञामिव वहति महाशैलसेतुच्छलेन ।। ४५ ।।

सुग्रीवः—देवि मैथिलि ! किमपि महिमातिरेकस्त्रिभुवनजयपताकायते भगवतो भागीरथीवल्लभस्य ।

सीता—लक्ष्मी रूपी लता के अङ्कुर के प्रथम बीज, शंकर के ललाट के चन्द्रमा का उदय गिरि, ऐरावत का जल में बन्धन-स्थान, अमृत के महाकलश भगवान् समुद्र को प्रणाम करती हूँ ।

राम—मदिरा जो कामिनियों की विलास चेष्टा में अद्वितीय आचार्यता प्राप्त करती है, चन्द्रिका से गीला आकाश जो प्रेमियों के मान को भंग करता है, अमृतपान करने वाले देवताओं का जो सदैव यौवन ही रहता है और लक्ष्मी जो सम्पदाओं की अधिष्ठात्री देवी हैं वह सभी समुद्र की ही विचित्र कृतियाँ हैं ।। ४४ ।।

लक्ष्मण—हे देवि ! जो जल के इंधन से अग्नि को प्रदीप्त करता है, जिससे पृथ्वी द्वीप और खण्ड निकले हैं तथा जिससे अति रमणीय देवाङ्गनायें, लक्ष्मी, अमृत और मदिरा उत्पन्न हुए वह समुद्र भी मानो बाणों के गिरने के भय से उड़कर डूबे हुए, घिसे हुए प्रान्तों वाले पर्वतों से पत्थर के सेतु के ब्याज से तुम्हारे पति की आज्ञा का पालन कर रहा है ।। ४५ ।।

सुग्रीव—देवि मैथिलि ! इस महासागर का अत्यन्त उत्कृष्ट प्रभाव त्रिभुवन की विजय-पताका बन रहा है ।

या स्त्रीणामधिदैवतं गिरिसुता तत्सोदरः सानुमान्
मैनाको रजताकरः सुतनयः शैलेश्वरो येन सः ।
पक्षच्छेदसमुद्यतेन्द्रकुलिशत्रासान्निलीय स्थितः
सोऽप्येतस्य करालकुक्षिकुहरे पातालजम्बालिनि ।। ४६ ।।

विभीषणः—
हेरम्बमज्जनविधाविह दानगन्धाद्वार्दन्तिनो धुतकरालकरं पतन्तः ।
पश्चादुपेत्य सपदि प्रमथैर्ध्रियन्ते रुद्राङ्कुशैर्विरचिताङ्कुशकेलयोऽमी ।। ४७ ।।

(तिर्यग्विमानगतिनाटितकेन)

सीता—अखण्डिताखण्डलकोअंडमंडलपडिरूवो कदरो उण एसुद्देसो ।
[अखण्डिताखण्डलकोवण्डमण्डलप्रतिरूपः कतरः पुनरेष उद्देशः ।]

विभीषणः—
पश्यस्यग्रे जलधिपरिखं मण्डलं सिंहलानां
चित्रोत्तंसं मणिमयभुवा रोहणेनाचलेन ।
दूर्वाकाण्डच्छविषु चतुरं मण्डनं यद्वधूनां
गात्रेष्वम्भो भवति गमितं रत्नतां शुक्तिगर्भैः ।। ४८ ।।

किञ्च—
जनश्च वाक्सुधासूतिर्मणिसूतिश्च रोहणः ।
नान्यत्र सिंहलद्वीपान्मुक्तासूतिश्च सागरः ।। ४९ ।।

जो स्त्रियों की अधिष्ठात्री देवी पार्वती हैं उनका सहोदर पर्वत मैनाक है जिससे रजत का आकर गिरिराज हिमालय अच्छे पुत्र वाला कहा जाता है वह भी पक्ष काटने के लिए उद्यत इन्द्र के वज्र के भय से पाताल तक गम्भीर इसके भयङ्कर जठर में स्थिर है ।। ४६ ।।

विभीषण—गणेश की स्नान क्रिया के समय मद की गन्ध से भीषण शुण्डों को फेरते हुए उनकी ओर दौड़ने वाले जल-हस्ती रुद्र के शासन से तत्पश्चात् आये हुए प्रमथों द्वारा अंकुश की क्रीडा द्वारा तत्काल पकड़े जाते हैं ।। ४७ ।।

(विमान की तिर्यग् गति के अभिनय से)

सीता—पूर्ण इन्द्र-धनुष के मण्डल के समान यह कौन प्रदेश है ।

विभीषण—आगे समुद्र द्वारा चारों ओर से वेष्टित, मणिमय भूमि वाले रोहण पर्वत के विचित्र शिरोभूषण वाला सिंहलों का राज्य है । जहां की विलासिनियों के दूर्वादल के समान अंगों पर सीपियों के गर्भ में रहने से रत्न की अवस्था को प्राप्त जल (मोती) मनोहर भूषण होता है ।।४८।।

तथा—

सिंहल द्वीप के अतिरिक्त अन्यत्र और कहीं भी अमृत की वर्षा करने वाली वाणी, मणि को उत्पन्न करने वाला रोहण पर्वत तथा मोतियों की खान समुद्र नहीं है ।।४९।।

सीता—इह किल भअवं अगत्थिमहेसी णिवसदि। [इह किल भगवानगस्त्यमहर्षिनिवसति।]

रामः—इदं हि भगवतो रत्नाधिपतेरधित्यकायामाश्रमपदं धर्माश्रमपदं पुनरग्रे।

सुग्रीवः—

क्रान्त्वा स्फुटस्फुटितशुक्तिविमुक्तमुक्तमम्भोनिधिं विधुतदिक्प्रविभागमेतत्।
प्राप्ता वयं नवरसाञ्जनपुञ्जनीलं कूलं कुलायगशकुन्ततमालमालि॥ ५०॥

(सीतां प्रति)

चटुचटुलनिमीलस्पर्शलीलातिमीलन्नयनयुगमतङ्गारब्धनिद्राविनोदम्।
शुकहरितनितम्बं पश्य वंशीवनान्तैरचलमखिलपृथ्वीमाल्यवन्माल्यवन्तम्॥ ५१॥

सीता—जहिं किल तुह्माणं वासारत्तो अदिक्कंतो। [यत्र किल युष्माकं वर्षर्तु रतिक्रान्तः।]

रामः—आं वैदेहि !

द्युतिजितकरवालः सूतवंशीप्रवालः स्फुटितकुटजमालः स्पष्टनीलत्तमालः।
इह हि गतमरालः केतकालीकरालःशिखरिणि मम कालः सोऽभवन्मेघकालः ५२

सीता—यहाँ तो महर्षि भगवान् अगस्त्य रहते हैं।

राम—भगवान् अगस्त्य का रत्नाधिपति रोहण की ऊर्ध्वभूमि में यह आश्रम स्थान है, धर्माश्रम तो आगे है।

सुग्रीव—सम्यक् स्फुटित सीपियों से निकले हुऐ मोतियों वाले, दिशाओं के विभाग को तिरोहित करने वाले समुद्र को पार कर हमलोग अत्यन्त गाढ़े अञ्जनपुञ्ज के समान नीले, नीड़ों में स्थित पक्षियों से युक्त तमाल वृक्षों की पंक्ति वाले तट पर आ गये॥५०॥

(सीता से)

अत्यन्त चटुलतापूर्वक निमीलिका के आवेश से संकुचित होते हुए नेत्रयुगल वाले हाथी जिसमें निद्रा का आनन्द ले रहे हैं तथा शुकों के कारण जिसका मध्यभाग हरित वर्ण का हो गया है ऐसा बाँसो के जंगलों वाला सम्पूर्ण पृथ्वी की माला के समान यह माल्यवान् पर्वत है॥ ५१॥

सीता—जहाँ आप लोगों को वर्षाऋतु व्यतीत हुई ?

राम—हाँ वैदेहि !

इसी केतकी की पंक्तियों से व्याप्त पर्वत पर अपनी प्रभा से तलवार को तिरस्कृत करने वाला, बाँसो के अङ्कुरों को उत्पन्न करने वाला, कुटज पुष्पों की पंक्ति को विकसित करने वाला, तमालों को घना नीला करने वाला, हंसों से विहीन मेघों के कारण कृष्ण वर्ण का वर्षाकाल व्यतीत हुआ था॥५२॥

(पुरो दर्शयन्)

अयं स ते चण्डि शिखण्डिपुत्रको गिरेस्तटात्तत्क्षणमूर्द्ध्वकन्धरः ।
निरीक्ष्य नौ स्नेहरसार्द्रया दृशा प्रियां पुरस्कृत्य करोति ताण्डवम् ॥ ५३ ॥

सीता—पुत्त एहि उड्डिऊण विमानसिहरं समारुह । [पुत्र एहि ! उड्डीय विमान-शिखरं समारोह ।]

रामः—अतिसुमुखा जानकी ।

सुग्रीवः—(सीतां प्रति)

गुणवति फणिवीरुन्नद्धपूगप्रकाण्डः प्रचुरमरिचवल्लीवल्लरीकः पुरस्तात् ।
मलय इह महाद्रिर्नन्दनश्चन्दनानामयमधिलुठदेलाश्लिष्टकक्कोलयष्टिः ॥ ५४ ॥

सीता—रणरणअकारणं कामिमिहुणाणं माणिणीमाणगण्ठिणिट्ठवणो जत्तो किल समीरणो पअट्टदि । [रणरणककारणं कामिमिथुनानां कामिनीमानग्रन्थिनिष्टपनो यतः किल समीरणः प्रवर्तते ।]

रामः—देवि ! यथा श्रुतवत्यसि ।

ये दोलाकेलिदानव्यतिकरगुरवो ये लतागर्भकाराः
कोदण्डाभ्यासविद्याविधिषु विजयिनो ये स्मरस्वेदवाराम् ।
तन्वन्तश्चैत्रमैत्रं मलयशिखरिणस्ते विनिर्यान्त्यमुष्मादा-
कैलासं समीराः सुरतमहमहासाक्षिणो दाक्षिणात्याः ॥ ५५ ॥

(आगे दिखाते हुए)

हे मानिनी ! यह वही तुम्हारा (कृतक) पुत्र मयूर है जो पर्वत के तट से अभी ग्रीवा उठाकर स्नेहार्द्र दृष्टि से हम दोनों को देखकर अपनी प्रिया को आगे कर नृत्य कर रहा है ॥५३॥

सीता—आओ पुत्र ! उड़कर विमान के शिखर पर चढ़ जाओ ।

राम—सीता द्वितीय सुमुखी हैं ?

सुग्रीव—(सीता को)

हे गुणवती ! यहाँ आगे सर्पाकार लताओं से वेष्टित सुपारी के स्कन्धों वाला, प्रचुर मरिच लता की श्रेणियों वाला, चन्दन का निलय तथा फैलती हुई इलायची की लता से आलिङ्गित कङ्कोल वृक्षों वाला यह महाशैल मलय है ॥५४॥

सीता—जहाँ से प्रेमी जनों को उत्कण्ठित करने वाला, तथा कामिनियों के प्रणय-कोप की ग्रन्थि को शिथिल करने वाला पवन प्रवाहित होता है ?

राम—देवि ! तुमने उचित ही सुना है ।

जो झूला की क्रीडा के उपदेश में गुरु हैं, जो लताओं को प्रफुल्लित करते हैं, जिनमें धनुर्विद्या का अभ्यास किया जाता है, जो रति-जन्य स्वेद-जल को दूर करने वाले हैं, वे चैत्र मास से मैत्री बढ़ाने वाले, सुरतोत्सव के प्रधान साक्षी वे दक्षिणी पवन इस मलय पर्वत से कैलास पर्वत तक बहते हैं ॥५५॥

अपि च पुनः पश्य—

रत्नप्रसूरिति समस्ततरङ्गिणीषु वारां निधेर्भगवतः सुभगं कलत्रम् ।
अस्मिन्निरन्तरनितम्बिनि ताम्रपर्णी चक्षुःपथं व्रजतु मौक्तिककामधेनुः ।। ५६ ।।

अस्यां पुनरिदं सौभाग्यकारणम्—

रोधोरेखे चन्दनारण्यरूपे वारि स्वाद्यं नारिकेलाम्भसोऽपि ।
यच्चैवान्यः संभवो मौक्तिकानां तेनाम्भोधेर्वल्लभा ताम्रपर्णी ।। ५७ ।।

(विमानवेगनाटितकेन । रामः पुरोऽवलोक्य)

दन्तोलूखलिभिः शिलोञ्छिभिरियं कन्दाशनैः फेनपैः
पर्णप्राशनिभिः कुटीचरकुलैः काले च पक्वाशिभिः ।
नीवारप्रसृतिपचैश्च परितः पूतं मुनेराश्रमं
पश्यन्ती भव पावना भगवतः पातुर्निधेरम्भसाम् ।। ५८ ।।

(हस्तमुन्नम्य)

हंहो पुष्पक वायुवेग मुनिना धूमः पुरः पीयते
छायां मा कुरु कोऽप्ययं दिनमणावेकाग्रदृष्टिः स्थितः ।
दूरादत्र भव प्रदक्षिणगतिः स्थाणोरिदं मन्दिरं
किञ्चित् तिष्ठ तपस्विनस्तव पुरो यावत्प्रयान्त्यन्यतः ।। ५९ ।।

और भी आगे दूसरा देखो—

हे निबिड नितम्बों वाली ! रत्नों की जननी होने के कारण समस्त नदियों में भगवान् समुद्र की प्रिय पत्नी, मुक्ता का प्रसव करने वाली ताम्रपर्णी नदी को इस (पर्वत) में देखो ।।५६।।

इसमें इसके सौभाग्य का यह भी कारण है—

(एक तो) चन्दन वन से व्याप्त तट प्रदेश में स्थित नारियल के जल से स्वादिष्ट इसका जल है दूसरे इसमें मोतियाँ उत्पन्न होती हैं अतः यह ताम्रपर्णी समुद्र की प्रियतमा है ।।५७।।

(विमान के वेग का अभिनय करते हुए, सामने देखकर)

दाँतों से उलूखल (ओखली) का काम करने वाले, शिलोञ्छ वृत्ति से जीवन धारण करने वाले, कन्दमूल का आहार करने वाले (बछड़ों के मुख से निःसृत) फेन को पीने वाले, (वृक्षों के शुष्क) पत्तों को खाने वाले तथा यथावसर सिद्ध अन्न का आहार करने वाले, मुट्ठी भर नीवार को पका कर जीने वाले तपस्विगणों द्वारा सर्वतः परिपूत समुद्र का पान करने वाले भगवान् अगस्त्य मुनि के आश्रम को देखती हुई पावन हो जाओ ।।५८।।

(हाथ उठाकर)

हे वायुवेग पुष्पक ! आगे कोई मुनि धर्म का पान कर रहा है, छाया न करो क्योंकि यह कोई मुनि सूर्यपर एकाग्रदृष्टि लगाकर स्थित है । यह शिव का मन्दिर है, यहाँ प्रदक्षिणा करो । तुम्हारे आगे से तपस्वी लोग जब तक अन्यत्र चले जाँय तब तक कुछ देर ठहरो ।।५९।।

सीता—अज्जउत्त होमोहिज्जंतहुदवहा विवरिज्जंतकथमुत्ता पठिज्जन्तबटुचरणा वण्णिज्जन्तधम्मसास्त्रा उअदिसिज्जंतसमाधिमग्गा वरिवसिज्जंतअदिहिवग्गा पण्णसालासण्णिवेसं अम्हारीसाणां संसारगंण्ठिणिठ्ठवणा। [आर्यपुत्र ! होमोह्यमान-हुतवहा विव्रियमाणकथामुक्ताः पठ्यमानबटुचरणा वर्ण्यमानधर्मशास्त्रा उपदिश्यमान-समाधिमार्गा वरिवस्यमानातिथिवर्गाः पर्णशालासंनिवेशमस्मादृशानामपि संसारग्रन्थि-निष्टपनाः।]

रामः—प्रकृष्टं हि तपः किमपि कामदुघम्। (अग्रतो दर्शयन्)

एते व्योमनि शोषयन्ति हरिणित्रासाच्चिरं चीवरे
संध्याचामविधौ कमण्डलुमिमं पश्यन्ति रिक्तं कृतम्।
भिक्षन्ते च फलान्यमी करपुटीपात्रे वनानोकहा-
नेषामर्घविधौ च सन्निधिगताः पुष्पन्त्यकाण्डे लताः॥ ६०॥

(समंतादवलोक्य) कारय चक्षुषीपारणमवलोकय कुम्भसंभवमुनेराश्रमतरून्।

स्वाध्यायान्ते बटुपरिषदां येषु विश्रान्तिसौख्यं
लोपामुद्राकरपुटजलैः प्रत्यहं येऽवसिक्ताः।
आगस्त्येऽस्मिन् विधुतरजसामाश्रमे पादपानां
केऽप्युत्कर्षा यदतिथिकृते सर्वकालं फलन्ति॥ ६१॥

सीता—आर्यपुत्र ! हवन के लिए अग्नि को प्रज्ज्वलित करने वाले, व्याख्यायमान कथाओं में दत्तचित्त, विविध वैदिक शाखाओं का पाठ करने वाले, धर्मशास्त्र का वर्णन करने वाले, योगाचार की शिक्षा देने वाले, अतिथियों की सेवा करने वाले पर्णशालाओं में आश्रित (तपस्वी) हमारे सदृश लोगों को भी संसार के बंधन से छुड़ाने वाले हैं।

राम—प्रकृष्ट तप किसी अचिन्तनीय कामना की सिद्धि प्रदान करता है।

(आगे देखते हुए)

ये (तपस्वी) मृगों के भय से वल्कलों को आकाश में चिरकाल तक सुखाते हैं, सन्ध्या के समय आचमन से रिक्त किये गये इस कमण्डलु को देख रहे हैं। ये लोग अञ्जलिपात्र में वन्य वृक्षों से फलों की याचना कर रहे हैं तथा इनके पूजाकार्य के लिए समीपस्थ लताएँ असमय में भी पुष्पित होती हैं॥६०॥

(चारों ओर देखकर) आँखें इधर कर तृप्त करो और महर्षि अगस्त्य के आश्रम के वृक्षों को देखो।

जिनकी (छाया में) स्वाध्याय के अनन्तर विद्यार्थीगण विश्राम के सुख का अनुभव करते हैं, जो लोपामुद्रा की अञ्जलि के जल से प्रतिदिन सींचे गये हैं, अगस्त्य के इस आश्रम में रजोगुणी धर्मों से रहित वृक्षों की अनिर्वचनीय ही महिमा है जो अतिथियों के लिए सभी कालों में फलते हैं॥६१॥

लक्ष्मणः—अति हि तपस्विसंकरा भुवः।

रामः - हंहो विमानराज कञ्चिदेकदेशमलङ्कुरु। यावदहमग्निमारुतसंभवं मुनिमनुवर्ते। (सर्वे विमानावरोहणं नाटयन्ति)

सुग्रीवबिभीषणौ—देव ! त्वय्यंतामेष मैत्रावरुणो विकङ्कततरुतले भगवत्या लोपामुद्रया सममस्मान् वीक्षमाणस्तिष्ठति।

(ततः प्रविशत्यगस्त्यो लोपामुद्रा च)

अगस्त्यः—भगवति धर्मसुते लोपामुद्रे !

प्रीतिस्निग्धैः खेचरैरर्च्यमानो बिभ्रद्व्योम्नः सीम्नि वैमानिकत्वम्।
सेतोर्बन्धाद्राक्षसानां निरोधाद्दिष्ट्या रामो दृश्यते पूर्णकामः॥ ६२॥

रामः—(उपसृत्य सपादोपग्रहम्)

काशपुष्पप्रतीकाश वह्निमारुतसंभव।
मित्रावरुणयोः पुत्र कुम्भयोने नमोऽस्तु ते॥ ६३॥

(सर्वे प्रणमन्ति)

अगस्त्यः—

का दीयतां तव रघूद्वह सम्यगाशीर्निष्कण्टकानि विहितानि जगन्ति येन।
आशास्महे ननु तथापि सह स्ववीरैर्भूकाश्यपोपमसुतद्वितया वधूः स्तात्॥ ६४॥

लक्ष्मण—तपस्वियों से सङ्कुल भूमियाँ प्रशस्त हैं।

राम—हे विमानराज ! किसी एक स्थान को अलङ्कृत करो तब तक मैं अगस्त्य मुनि के पास जाऊँ। (सभी विमान से उतरने का अभिनय करते हैं)

सुग्रीव और विभीषण—महाराज ! शीघ्रता कीजिए, ये अगस्त्य विकङ्कत वृक्ष के नीचे भगवती लोपामुद्रा के साथ हम लोगों को देखते हुए स्थित हैं।

(इसके अनन्तर अगस्त्य और लोपामुद्रा प्रवेश करते हैं)

अगस्त्य—भगवती धर्मपुत्री लोपामुद्रा !

स्नेहयुक्त आकाशचारियों से सानन्द अर्चित, आकाश की सीमा में विमान से चलते हुए, सेतु बाँधकर राक्षसों का विनाश करने से सफल मनोरथ वाले राम सौभाग्य से दिखाई पड़ रहे हैं॥६२॥

राम—(समीप जाकर चरणस्पर्श कर)

काश पुष्प के सदृश श्वेत वर्ण वाले, अग्नि और जल से उत्पन्न, मित्रावरुण के पुत्र अगस्त्य ! आप को नमस्कार है॥६३॥

(सभी नमस्कार करते हैं)

अगस्त्य—हे रघुश्रेष्ठ ! मैं आप को कौन सा अच्छा आशीर्वाद दूँ जिसने संसार को निष्कण्टक बना दिया है। तथापि आशा करता हूँ कि अपने (सुग्रीवादि) वीरों के साथ ही वधू (सीता) पृथिवी के इन्द्र (दशरथ) के समान दो पुत्रों वाली होगी॥६४॥

रामः—परमनुगृहीतं रघुकुलम् ।

लोपामुद्रा—

एह्येहि वत्स रघुनन्दन रामचन्द्र चुम्बामि तेऽद्य वदनं करचूचुकेन ।
सोढाः कथं कथय ते दशकण्ठबाणाश्छिन्नानि रावणशिरांसि कथं च तानि ॥ ६५ ॥

रामः—(लज्जते) अङ्ग महानुभावापि लोपामुद्रा स्त्रीस्वभावसुलभं ब्रूते ।

लोपामुद्रा—(रामं शिरसि स्पृष्ट्वा)

अभ्युद्धृतैर्गिरिभिरम्बुधिसेतुहेतोः श्वश्रूरियं भगवती कुपिता किमुर्वी ।
कुम्भोद्भवस्य कथितं न पुनः किमस्य जाता यदेकचुलुके न चतुःसमुद्री ॥ ६६ ॥

अगस्त्यः—सुतपस्विनि लोपामुद्रे ! वसिष्ठप्रतिष्ठितो राज्याभिषेकसमयो नातिदूरवर्ती तद्विसर्ज्जय रामभद्रम् ।

लोपामुद्रा—गच्छ रामचन्द्र गच्छ । सगरभगीरथसदृशो भव ।

(सर्वे समुत्थाय विमानारोहं नाटयन्ति)

सीता—दिट्ठिआ संपदं वसुमदी दीसदि । [दिष्ट्या साम्प्रतं वसुमती दृश्यते ।]

रामः—तत्रापि द्रविडाः ।

राम—रघुकुल अत्यन्त अनुग्रहीत हुआ ।

लोपामुद्रा—हे वत्स रामचन्द्र ! आओ यहाँ आओ ! आज तुम्हारे मुख को कराग्र से चूम लूं । तुमने रावण के बाणों को कैसे सहन किया तथा उसके उन शिरों को कैसे काटा ? ॥६५॥

राम—(लज्जित होते हैं) हाय ! महिमासम्पन्न होते हुए भी लोपामुद्रा स्त्री-स्वभाव के अनुकूल बोल रही हैं ।

लोपामुद्रा—(राम के शिर का स्पर्श कर)

समुद्र पर सेतु बनाने के लिए पर्वतों को उठाकर ले आने से (अपनी) सास पृथिवी को क्यों क्रुद्ध किये । इन अगस्त्य से क्यों नहीं कहा जिनके एक ही चुल्लू में जो चारों समुद्र आ गये थे ॥६६॥

अगस्त्य—तपस्विनी-श्रेष्ठ, लोपामुद्रा ! वसिष्ठ द्वारा निर्धारित राज्याभिषेक का समय सन्निकट है अतः रामभद्र को विदा करो ।

लोपामुद्रा—जाओ रामभद्र ! सगर और भगीरथ के समान होओ ।

(सभी उठकर विमान पर चढ़ने का अभिनय करते हैं)

सीता—सौभाग्य से अब पृथ्वी दिखाई पड़ रही है ।

राम—उसमें भी (यह) द्रविड़ देश है ।

पर्णं नागरखण्डमार्द्रसुभगं पूगीफलैलास्तथा
कर्पूरस्य च यत्र कोऽपि चतुरस्ताम्बूलयोगक्रमः ।
देशः केरल एष केलिसदनं देवस्य शृङ्गारिण-
स्तद् दृष्ट्वा कुरु कोमलाङ्गि सफले द्राघीयसी लोचने ॥ ६७ ॥

किञ्च—

नेत्रयात्राशरक्षेपैस्त्र्यम्बकस्यापि ताडनी ।
भ्रूलता द्रविडस्त्रीणां द्वितीयं कामकार्मुकम् ॥ ६८ ॥

सुग्रीवः—(दक्षिणतो दर्शयन्) देव सप्तगोदावरीतीरे भीमो भगवान् भर्गः । प्रणम्यतामयम् ।

रामः—

नमो नागावलीबद्धमहाधवलमूर्तये ।
जटापल्लवकम्पाय हरचन्दनशाखिने ॥ ६९ ॥

(सर्वे प्रणमन्ति)

रामः—

वाङ्मत्वाङ्गसमुद्भवैरभिनयैर्नित्यं रसोल्लासतो
वामाङ्ग्यः प्रणयन्ति यत्र मदनक्रीडामहानाटकम् ।
अत्रान्ध्रास्तव दक्षिणेन त इमे गोदावरीस्रोतसां
सप्तानामपि वार्निधिप्रणयिनां द्वीपान्तराणि श्रिताः ॥ ७० ॥

हे कोमलाङ्गी ! जहाँ पत्र, सुन्दर आर्द्र नागर चूर्ण, सुपारी, इलायची तथा कर्पूर संयुक्त ताम्बूल का अत्यन्त मनोरम व्यवहार होता है वही भगवान् कामदेव का क्रीडागृह यह केरल देश है अतः इसे देखकर अपने विशाल नेत्रों को सफल करो ॥ ६७ ॥

तथा—

द्रविड़ देश की स्त्रियों की कटाक्ष रूपी बाणों के आघात से भगवान् शंकर को भी मोहित करने वाली भ्रूलता कामदेव का दूसरा धनुष है ॥ ६८ ॥

सुग्रीव—(दक्षिण ओर दिखाते हुए) महाराज ! सप्तगोदावरी के तटपर भगवान् शिव की भीषण मूर्ति है, इसे प्रणाम कीजिए ।

राम—सर्पों की श्रेणी से आबद्ध, अत्यन्त धवल मूर्ति वाले, कम्पमान् जटा रूपी पल्लवों वाले, शिवरूपी चन्दन वृक्ष को नमस्कार है ॥ ६९ ॥

(सभी प्रणाम करते हैं)

राम—हे सुन्दरी ! जहाँ अन्ध्रदेश में सुन्दरियाँ (शृंगार) रस के उद्रेक से वाचिक, सात्त्विक एवं आंगिक चेष्टाओं द्वारा नित्य सुरतोत्सव रूपी महानाटक का प्रणयन करती हैं वह यहाँ तुम्हारे दाहिने समुद्र से मिलने वाले सातो स्रोतों के द्वीपों पर बसा हुआ यह आन्ध्र देश दिखाई पड़ रहा है ॥ ७० ॥

किं वा—

हरनेत्राग्निदग्धस्य केतौ मकरलक्ष्मणः ।
दृष्टिरन्ध्रपुरन्ध्रीणां सज्जा संजीवनौषधिः ॥ ७१ ॥

बिभीषणः—उभयकूलप्ररूढनारिकेलनिकरक्रमुककुलपालीक्षिप्ता कावेरी सरिदियम् ।

रामः—

कावेरी कबरीव भामिनि भुवो देव्याः पुरो दृश्यतां
पूगैर्नागलताश्रितैरुपदिशत्याश्लेषविद्यामिव ।
कर्णाटीजनमज्जनेषु जघनैर्यस्याः पयः प्लावितं
पीत्वा नाभिगुहाभिरात्तरुचिभिः प्राचीं दिशं नीयते ॥ ७२ ॥

किञ्च—

कर्णाट्यो यत्र यत्रैव विक्षिपन्ति दृशो दिशि ।
विक्षेपाग्रेसरः कामस्तत्र तत्रैव धावति ॥ ७३ ॥

सुग्रीवः—भरताग्रजायमग्रे महाराष्ट्रविषयः ।

रामः—

यत् क्षेमं त्रिदिवाय वर्त्म निगमस्याङ्गं च यत्सप्तमं
स्वादिष्टं च यदैक्षवादपि रसाच्चक्षुश्च यद्वाङ्मयम् ।
तद्यस्मिन् मधुरं प्रसादि रसवत् कान्तं च काव्यामृतं
सोऽयं सुभ्रु पुरो विदर्भविषयः सारस्वतीजन्मभूः ॥ ७४ ॥

और—

हर की नेत्राग्नि से दग्ध, पताका पर मकर के चिह्न वाले (कामदेव) के लिए आन्ध्र की कामिनियों की दृष्टि उपयुक्त सञ्जीवनी औषधि है ॥ ७१ ॥

विभीषण—दोनों तटों पर उगे हुऐ नारिकेल के समूह तथा सुपारी की पंक्ति से शोभित यह कावेरी नदी है ।

राम—हे सुन्दरी ! आगे पृथ्वी देवी के केशपाश की भाँति कावेरी को देखो (यह) नागवल्ली से आश्लिष्ट सुपारी के वृक्षों द्वारा मानो आलिङ्गन-क्रिया की शिक्षा दे रही है जिसका जलकर्णाट देश की विलासिनियों के स्नान के समय जघनों से स्फालित होकर अभिलाषुकों द्वारा नाभि रूपी गुहाओं से पान किया गया पूरब दिशा में बहाया जाता है ॥७२॥

तथा—

जिस-जिस दिशा में कर्णाट देश की युवतियाँ दृष्टि विक्षेप करती हैं वहाँ-वहाँ दृष्टि के आगे-आगे कामदेव दौड़ता है ॥ ७३ ॥

सुग्रीव—हे राम ! आगे महाराष्ट्र देश है ।

राम—हे सुभ्रू ! जो स्वर्ग के लिए शोभन मार्ग है, जो वेद का सातवाँ अङ्ग है, जो इक्षुरस से भी मधुर है, जो वाणीमय नेत्र है, जिसमें सुप्रसिद्ध मधुर, प्रसाद गुणयुक्त, सरस एवं रमणीय काव्यामृत है वही यह आगे विद्या की उत्पत्ति भूमि विदर्भ नामक देश है ॥७४॥

किञ्च—

रतविद्याविदग्धानां विभ्रमोल्लेखलम्पटः।
नित्यं कुन्तलकान्तानां किङ्करो मकरध्वजः॥ ७५॥

सीता—जहिं उप्पणा मे पिदामहससुरस्स घरिणी इन्दुमदी [यत्रोत्पन्ना मे पितामहश्वशुरस्य गृहिणीन्दुमती।]

त्रिजटा—(संस्कृतमाश्रित्य)

कीदृक्केलिकलस्य किल भवति सखी सुखधाम।
का च सुता शशितिलकस्य विन्ध्यमहीधरधाम॥

सीता—(संस्कृतमाश्रित्य) नर्मदा।

त्रिजटा—इयं णम्मदा दीसदि [इयं नर्मदा दृश्यते।]

सीता—इदो अम्हाणं अज्जसुमंतो णिवुत्तो [इतोऽस्माकमार्यसुमन्त्रो निवृत्तः।]

रामः—(अपवार्य)

अय्यस्मदग्रकरयन्त्रनिपीडितानां धाराम्भसां स्मरसि सज्जनकेलिकाले।
सुभ्रु त्वया निजकुचावरणैकयोग्यमत्राब्जवल्लिदलमावरणाय दत्तम्॥ ७६॥

किञ्च—

तदिह कलहकेलौ सैकते नर्मदायाः स्मरसि सुतनु कच्चिन्नौ पराधीनसुप्तम्।
उपसजलसमीरप्रेङ्खणाचार्यकायँ तदनु मदनमुद्रां तच्च गाढोपगूढम्॥ ७७॥

तथा—

जहाँ सुरत-व्यापार में कुशल सुन्दर अलकों वाली कामिनियों की विलास चेष्टाओं को प्रकट करने में निरन्तर आसक्त कामदेव सेवक बना रहता है॥ ७५॥

सीता—जहाँ पर मेरे पितामह श्वसुर की गृहिणी इन्दुमती उत्पन्न हुई थी?

त्रिजटा—(संस्कृत में) हे सखि! लीलायुक्त मधुर ध्वनि का सुखनिकेतन कौन है तथा चन्द्र के तिलक वाले (शिव) की विन्ध्य पर्वत पर रहने वाली कौन कन्या है?

सीता—(संस्कृत में) नर्मदा।

त्रिजटा—यह नर्मदा दिखाई पड़ रही है।

सीता—यहीं से आर्य सुमन्त्र लौट गये थे।

राम—(छिपाकर) हे सुभ्रु! यहाँ जलावगाहन की क्रीडा में मेरे कराग्र रूपी यन्त्र से आहत जल की धाराओं को रोकने के लिए तुमने अपने स्तनों के आच्छादन के लिए एकमात्र उपयुक्त कमल के पत्र को रख लिया था॥ ७६॥

तथा—

हे सुन्दरी! इस नर्मदा के सिकतामय तट पर प्रणय-कलह में वह पराङ्मुख शायन, सजल हवा का स्पन्दन रूपी आचार्यत्व ('मान छोड़ो' की शिक्षा) तथा उसके बाद काम का आवेश और वह गाढ आलिङ्गन क्या स्मरण है?॥ ७७॥

विभीषणः—(वामतो दर्शयन्) अयमसावितो विश्वम्भराशिरःशेखर इव लाटदेशः ।

रामः—

यद्योनिः किल संस्कृतस्य सुदृशां जिह्वासु यन्मोदते
यत्र श्रोत्रपथावतारिणि कटुर्भाषाक्षराणां रसः ।
गद्यं चूर्णपदं पदं रतिपतेस्तत्प्राकृतं यद्वच-
स्तांल्लाटांल्ललिताङ्गि पश्य सुदती दृष्टेर्निमेषव्रतम् ॥ ७८ ॥

किञ्च—

लक्षीकर्तुं प्रवृत्तोऽपि लाटीलडहवीक्षितैः ।
लक्षीभवति कन्दर्प्पः स्वेषामेवात्र पत्रिणाम् ॥ ७९ ॥

सुग्रीवः—अयमुज्जयिनीनिवासो भगवान् महाकालनाथः ।

रामः—(अञ्जलिं बद्ध्वा)

यन्मनस्ताडनाद्वक्रः कामकेतकसायकः ।
स्थितः शशिच्छलेनैव मौलौ स जयतीश्वरः ॥ ८० ॥

(सीतां प्रति)

खेले संचरितुं तरङ्गतरलभ्रूलेखमालोकितुं
रम्यं स्थातुमनादरार्पितमनोमुग्धं च संभाषितुम् ।
सन्त्यज्योज्जयिनीजनैर्विवदितुं हृद्यं च हे जानकि
प्रत्यङ्गार्पणसुन्दरं च न जनो जानाति रन्तुं परः ॥ ८१ ॥

विभीषण—(बायीं ओर दिखाते हुए) यहाँ से यह पृथ्वी के शिरोभूषण की भाँति लाट देश है ।

राम—हे सुन्दरी ! जो संस्कृत भाषा की उत्पत्ति भूमि है, जो वाणी सुन्दरियों की जिह्वा पर नाचती है, जिसके सुनते ही अन्य भाषाओं के अक्षरों का रस कटु प्रतीत होता है, गद्य जो स्वाभाविक वाणी है, की जहाँ अल्प रचना है, जो काम का स्थान है उस लाट देश को निर्निमेष दृष्टि से देखो ॥ ७८ ॥

तथा—

यहाँ अपने बाणों से लक्ष्य करने के लिए उद्यत स्वयं कामदेव भी लाट देश की ललनाओं के सविलास कटाक्षों से स्वयं ही अपने बाणों का लक्ष्य बन जाता है ॥ ७९ ॥

सुग्रीव—यह उज्जयिनी में निवास करने वाले भगवान् महाकाल हैं ।

राम—(हाथ जोड़कर) जिसके मन पर प्रहार करने से काम का केतकी पुष्परूपी बाण वक्र होकर चन्द्रमा के बहाने शिर पर स्थित है उस ईश्वर को नमस्कार है ॥८०॥

(सीता से) हे जानकी ! उज्जयिनी में उत्पन्न लोगों के अतिरिक्त अन्य लोग क्रीडा में विहार करना, तरङ्ग की भाँति भौंहो से कटाक्ष करना, अच्छे ढंग से स्थित होना, विना प्रयास के ही मन को मुग्ध करने योग्य सम्भाषण करना, मनोरम तर्क करना तथा सर्वाङ्ग समर्पणपूर्वक सुखद संभोग करना नहीं जानते ॥ ८१ ॥

किञ्च—

चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकाचामकर्मणि ।
आवन्त्य एव निपुणाः सुदृशो रतकर्म्मणि ॥ ८२ ॥

सीता—(संस्कृतमाश्रित्य)

प्रावृषेण्यं हि सस्यानां किं समुत्पत्तिकारणम् ।

त्रिजटा—(प्रतिसंस्कृतेन) मालवाः ।

सीता—

दृश्यन्ते लोचनानन्दहेतवस्त इमे जनाः ॥ ८३ ॥

रामः—

एतन्मालवमण्डलं विजयते सौजन्यरत्नाकरैः
सम्यग्विभ्रमधामभिः किमपरं शृंगारसारैर्जनैः ।
यत्रारुह्य विचित्ररत्नवलभीर्नानाशिलासद्मनां
नीयन्ते जलदोदयेषु दिवसाः कान्तासखैः कामिभिः ॥८४॥

सीता—वेणिलट्ठिव्व वसुन्धरापुरंधीए णीसंदपंकव्व गअणस्स इंदणीलकंठिअव्व उत्तरदिसाए पुरदो कालिंदी दीसदि [वेणियष्टिरिव वसुन्धरापुरन्ध्र्या निस्यन्दपङ्कमिव गगनस्येन्द्रनीलकण्ठिकेवोत्तरदिशः पुरतः कालिन्दी दृश्यते ।]

और भी—

चन्द्रिका का पान करने में चकोरियाँ ही निपुण होती हैं। सुरत-लीला में अवन्ति देशीय सुन्दरियाँ ही कुशल होती है ॥ ८२ ॥

सीता—(संस्कृत में) अन्न की वर्षाकालीन उत्पत्ति का कारण क्या है ?

त्रिजटा—(संस्कृत में ही) मालव देश ।

सीता—नेत्रों को आनन्द देने वाले ये लोग दिखाई पड़ रहे हैं ॥८३ ॥

राम—अत्यन्त सौजन्यपूर्ण, परमविलासी, शृङ्गार प्रिय लोगों से यह मालव देश अङ्कृत है। अधिक क्या कहें, जहाँ पर वर्षा के समय प्रियतमाओं के साथ कामी जन विविध प्रस्तरों से निर्मित गृहों की विचित्र रत्नों से जटित छज्जाओं पर दिन व्यतीत करते हैं ॥ ८४ ॥

सीता—वसुन्धरा रूपी कामिनी की वेणी (चोटी) की भाँति आकाश से निकले हुए पङ्क जैसी, उत्तर दिशा के नीलमणि निर्मित कण्ठहार जैसी आगे यह यमुना दिखाई पड़ रही है।

रामः—
सेयं सुभ्रु पुरः कलिन्दतनया गीर्वाणसिन्धोः सखी
वासः कालियपन्नगस्य यमुना दृग्गोचरे वर्तते ।
वन्दस्वार्यमणीमिमां दुहितरं वैवस्वतस्यानुजां
यस्याः स्वर्णपरीक्षणक्षमदृषत्तापी स्वसा सोदरी ॥८५॥

सीता—(प्रणमति)

लक्ष्मणः—आर्यादूरवर्तिनी भगवत्ययोध्या । इमेऽन्तर्वेदीभूषणं पञ्चालाः ।

रामः—(सीतां प्रति)
यत्रार्ये न तथानुरज्यति कविर्ग्रामीणगीर्गुम्फने
शास्त्रीयासु च लौकिकीषु च यथा भव्यासु नव्योक्तिषु ।
पञ्चालास्तव पश्चिमेन त इमे वामा गिरां भाजना-
स्त्वद्दृष्टेरतिथीभवन्तु यमुनां त्रिस्रोतसं चान्तरा ॥८६॥

किञ्च—
प्रपञ्चितकलातन्त्रे पाञ्चालीकेलिकर्मणि ।
सर्वास्त्रमोक्षं लभते युगपत् कुसुमायुधः ॥८७॥

लक्ष्मणः—इदं पुनस्ततोऽपि मन्दाकिनीपरिक्षिप्तं महोदयं नाम नगरं दृश्यते ।

राम—हे सुभ्रु ! आगे देवनदी की सहचरी, कालिय नामक सर्प की निवास-भूमि सूर्यपुत्रीं यमुना दृष्टिगोचर हो रही है—स्वर्ण की परीक्षा के योग्य निकषोपल वाली तापी नदी जिसकी सहोदरा भगिनी है उस यम की अनुजा सूर्यसुता यमुना को प्रणाम करो ॥ ८५ ॥

सीता—(प्रणाम करती हैं)

लक्ष्मण—आर्य ! भगवती आयोध्या अब समीप है । यह अन्तर्वेदी का अलङ्कार पञ्चाल देश है ।

राम—(सीता से) जहाँ कवि ग्रामीण वचन-रचना में उतना अनुरक्त नहीं होता जितना शास्त्रीय तथा व्यावहारिक सुन्दर नवीन उक्तियों में, वहीं तुम्हारे पश्चिम ओर वाणी का सुयोग्य पात्र पांचाल देश यमुना और गङ्गा के मध्य तुम्हारी दृष्टि का विषय हो ॥ ८६ ॥

तथा च—

(समस्त काम) कलाओं को प्रकट करने वाली पाञ्चाली कामिनियों की विलास चेष्टाओं में काम एक साथ ही सभी अस्त्रों के सन्धान का अवसर प्राप्त करता है ॥ ८७ ॥

लक्ष्मण—उसके पश्चात् यह मन्दाकिनी (गङ्गा) से वेष्टित महोदय नाम का नगर दिखाई पड़ रहा है ।

रामः—

शश्वतसुधामवसुधामहितं द्विषद्भिर्नो गाहितं भवति गाधिपुरं पुरस्तात् ।
वैदेहि देहि शफरीसदृशं दृशं तदस्मिन्नितम्बिनि नितम्बवहद्युसिन्धौः ॥८८॥

इदं द्वयं सर्वमहापवित्रं परस्परालंकरणैकहेतुः ।
पुरं च हे जानकि कान्यकुब्जं सरिच्च गौरीपतिमौलिमाला ॥८९॥

अपि च—

यो मार्गः परिधानकर्मणि गिरां यः सूक्तिमुद्राक्रमो
भङ्गिर्या कबरीचयेषु रचनं यद्भूषणालीषु च ।
दृष्टं सुन्दरि कान्यकुब्जललनालोकैरिहान्यच्च
यच्छिक्षन्ते सकलासु दिक्षु तरसा तत्कौतुकिन्यः स्त्रियः ॥९०॥

(विमानवेगनाटितकेन)

लक्ष्मणः—आर्य ! दिव्यसरितोर्गङ्गायमुनयोरयमग्रे सङ्गमः ।

रामः—(सीतां प्रति)

न्यग्रोधोऽयं वन्द्यतां श्यामनामा शम्भोर्भ्रष्टा शेखराज्जाह्नवीयम् ।
कालिन्दी च प्लाविता तत्पयोभिस्तीर्थं ह्येतत् स्वर्गमार्गः प्रयागः ॥९१॥

राम—हे सुन्दरी ! निरन्तर भव्य भवनों वाला, पृथिवी में प्रशंसित, शत्रुओं द्वारा अनाक्रान्त आगे गाधिपुर है, अतः मध्य में बहने वाली गङ्गा नदी से उक्त इस (नगर) पर शफरी के समान दृष्टि डालो ॥ ८८ ॥

हे जानकी ! यह कान्यकुब्ज नगर तथा शंकर की जटा की माला गङ्गा नदी ये दोनों ही सबसे अधिक पवित्र तथा परस्पर अलङ्कार भूत हैं ॥ ८९ ॥

और भी—

हे सुन्दरी ! वेश-विन्यास की जो रीति है, वाणी के सुप्रयोग की जो विधि है, केश-पाश की रचना की जो कला है, आभूषणों के धारण करने का ज़ो ढंग है तथा और भी समस्त दिशाओं में विलासिनी स्त्रियाँ जो (कलाएँ) यत्नपूर्वक सीखती हैं वह सभी कान्यकुब्ज की ललनाओं में देखने को मिलता है ॥ ९० ॥

(विमान के वेग का अभिनय करते हुए)

लक्ष्मण—आर्य ! दिव्य नदियों गङ्गा और यमुना का आगे यह संगम है ।

राम—(सीता से) यह श्याम नाम का वट वृक्ष है, यह शम्भु के शिर से गिरी हुई जाह्नवी है तथा इसके जल से संयुक्त यमुना हैं इनकी वन्दना करो क्योंकि यह स्वर्ग का साधक प्रयाग तीर्थ है ॥ ९१ ॥

(सर्वे वन्दन्ते)

लक्ष्मणः—(पूर्वतो दर्शयन्) इयमितो भगवतो भर्गस्य केलिवासो वाराणसी ।

यद्वाचंयमवृत्तयः किमपरं नीवारमुष्टिंपचाः
सत्यं ज्योतिरुपासते सुकृतिनो द्राक् संवदन्ते च नः ।
नित्यासन्नतयाऽत्र खण्डपरशोर्वाराणसीवासिनः
संभोगैरपि सुभ्रुवां तदजरं विन्दन्ति नन्दन्ति च ॥९२॥

सीता—दसकंतसूदन वाराणसीसंकित्तणेण सुमराविदम्हि अक्खिआणदं जणणीभूदं मिहिलं महाणअरिं [दशकण्ठसूदन वाराणसीसंकीर्तनेन स्मारितास्मि अक्ष्यानन्दां जननीभूतां मिथिलां महानगरीम् ।]

रामः—भगवन् विमानराज ! दर्शय सीतायै तत्र भवतो जनकस्य राजधानीम् ।

रामः—(किञ्चिदूदूर्ध्वगतिनाटितकेन)

अन्तेवासी यदधिवसति स्वर्मणेर्याज्ञवल्क्यो
यत्त्रायन्ते निमिकुलभुवः प्रत्यहं भूमिपालाः ।
तत्ते चक्षुर्विशतु मिथिलामण्डलं जन्मभूमिं
यत्रोढासि त्रिनयनधनुःखण्डनाडम्बरेण ॥९३॥

सीता—भअवदि मिहिलाणअरि समं गुरुअणेण एसा पणमिज्जसि [भगवति मिथिलानगरि ! समं गुरुजनेनैषा प्रणम्यसे ।]

(सभी वन्दना करते हैं)

लक्ष्मण—(पूर्व की ओर दिखाते हुए) इधर यह भगवान् शिव का लीला-निवास स्थान वाराणसी है ।

अधिक क्या कहें । वाणी पर संयम करने वाले, मुट्ठी भर नीवार का आहार करने वाले पुण्यात्मा जो परब्रह्म की उपासना करते हैं तथा शीघ्र सिद्धि भी नहीं प्राप्त करते हैं (अथवा जिसे हम बहाते हैं) यहाँ भगवान् शिव के नित्य स्थित रहने से काशी के निवासी (कामिनियों के) संभोग द्वारा भी उस अक्षय ज्योति को प्राप्त कर आनन्द का अनुभव करते हैं ॥ ९२ ॥

सीता—हे दशकण्ठसूदन ! वाराणसी की चर्चा से नेत्रों को आनन्द देने वाली मातृतुल्य महानगरी मिथिला का स्मरण हो गया है ।

राम—भगवन् विमानराज ! सीता को महाराज जनक की राजधानी का दर्शन कराइये ।

(कुछ ऊँची गति के अभिनयपूर्वक)

राम—सूर्य के शिष्य याज्ञवल्क्य जहाँ निवास करते हैं, निमिवंशीय राजा जिसकी निरन्तर रक्षा करते हैं, जहाँ पर शंकर के धनुष को तोड़ कर (मैंने) तुमसे विवाह किया उस अपनी जन्मभूमि मिथिला मण्डल को देखो ॥ ९३ ॥

सीता—भगवती मिथिलानगरी । गुरुजनों-सहित तुमको मैं प्रणाम कर रही हूँ ।

विभीषणः—इह किल रामदेवेन क्षत्रियान्तकरणस्य भङ्गो भार्गवमुनेर्दत्तः ।

सुग्रीवः—

अपां फेनेन तृप्तोऽसौ स्नातश्चन्द्रिकयाऽपि सः ।
यदप्रसूतकौशल्यं क्षत्रं क्षपितवान्मुनिः ॥९४॥

रामः—(लज्जमानां सीतां प्रति)

यत्रार्थातिशयोऽपि सूचिलजगन्मर्यादया मोदते
संदर्भश्च समासमासलवदप्रस्तारविस्तारितः ।
उक्तिर्योगपरम्परापरिचिता काव्येषु चक्षुष्मतां
सा रम्या नवचम्पकाङ्गि भवतु त्वन्नेत्रयोः प्रीतये ॥९५॥

सीता—(दूरादवलोकनं नाटयित्वा) लंघिदसाअरादो हणुमंतादो वि दूरदेसदंसिणी दिट्ठी सिग्घत्ति पडिहाअदि [लङ्घितसागराद्धनुमतोऽपि दूरदेशदर्शिनी दृष्टिः शीघ्रेति प्रतिभाति ।]

(ततः प्रविशति हनूमान्)

हनूमान्—(प्रणम्य) देव ! मत्तः श्रुतवृत्तान्तो वसिष्ठः समं भरतशत्रुघ्नाभ्यामन्याभिश्च प्रकृतिभिस्त्वदभिषेकसज्जस्तिष्ठति ।

(सर्वे परिक्रामन्ति)

रामः—(पुरोऽवलोक्य प्रणम्य च)

विभीषण—यहाँ पर महाराज राम ने क्षत्रियों के विनाशक परशुराम मुनि को पराभव दिया था ।

सुग्रीव—वे मुनि जल के फेन में तृप्त हुए तथा चन्द्रिका से स्नान किये जिन्होंने कौशल्या से उत्पन्न क्षत्रियों के अतिरिक्त क्षत्रियों का विनाश किया ॥ ९४ ॥

राम—(लज्जित होते हुए सीता से)

हे नवीन चम्पा के समान अङ्गों वाली ! जिनमें कठिन अर्थ भी जगत् की स्थिति के निबन्धन के कारण आनन्द देता है, प्रबन्ध भी सम-असम स्थिति के अंश से रहित प्रस्तार से विस्तारित है, विद्वानों की योग परम्परा से समन्वित वह रम्य काव्योक्ति तुम्हारे नेत्रों को प्रसन्न करे ॥ ९५ ॥

सीता—(दूर से देखने का अभिनय करके) समुद्र पार करने वाले हनुमान् से भी दूर तक देखने वाली दृष्टि तीव्र प्रतीत होती है ।

(उसके पश्चात् हनुमान् प्रवेश करते हैं ।)

हनुमान्—(प्रणाम कर) महाराज ! मुझसे समाचार सुनकर वसिष्ठ भरत, शत्रुघ्न तथा अन्य प्रकृतियों (राजपुरुषों और प्रजाओं) के साथ आप के अभिषेक के लिए तैयार बैठे हैं ।

(सभी घूमते हैं)

राम—(आगे देखकर प्रणाम कर)

राज्ञां रवेः प्रभवतां कुलराजधानीमालोकयामरपुरीप्रतिमामयोध्याम् ।
वार्भिः शरच्छशिकरद्युतिभिः सरय्वां या पूर्वपार्थिवयशोभिरिवावभाति ॥९६॥

(सर्वे प्रणमन्ति)

रामः—(पुरोऽवलोक्य) विमानराज ! वसिष्ठादयोऽपि मां प्रत्युद्यातुकामास्तन्ननु नरेन्द्रराजकुलेऽस्मिन्नवतरामः ।

(सर्वेऽवतरणं नाटयन्ति)

(ततः प्रविशति वसिष्ठो भरतशत्रुघ्नौ च)

वसिष्ठः—वत्स भरत ! शत्रुघ्न !

शिष्ये शम्भोर्व्यधित यदयं यच्च धातुः प्रपौत्रे
कस्तेनास्मिन् जगति न जनो विस्मितः सस्मितश्च ।
अभ्युत्थातुं वयमपि ततो रामभद्रं प्रवृत्ता
दिष्ट्या दृष्टं दशरथकुलं श्वेतमानैर्यशोभिः ॥९७॥

(सर्वे परिक्रामन्ति)

रामः—(सविनयमुपसृत्य सपादोपग्रहम्)

इक्ष्वाकूणां कुलगुरुं श्रेष्ठं चित्रशिखण्डिनाम् ।
अरुन्धतीपतिमृषिं राम एषोऽभिवन्दते ॥९८॥

सूर्य से उत्पन्न राजाओं की परम्परागत राजधानी अमरावती-तुल्य अयोध्या को देखो जो शरत्कालीन चन्द्रमा की किरणों के समान स्वच्छ सरयू के जल से पूर्ववर्ती राजाओं के यश के समान शोभित हो रही है ॥ ९६ ॥

(सभी प्रणाम करते हैं)

राम—(सामने देखकर) विमानराज ! वसिष्ठ आदि लोग भी मेरा अभिनन्दन करना चाहते हैं अतः इसी राजमार्ग पर उतर जाँय ।

(सभी उतरने का अभिनय करते हैं)

(उसके अनन्तर वसिष्ठ और भरत तथा शत्रुघ्न प्रवेश करते हैं)

वसिष्ठ—वत्स भरत ! शत्रुघ्न !

इन्होंने परशुराम के साथ तथा रावण के साथ जो कर्म किया उस क्रिया से इस संसार में कौन चकित और प्रसन्न नहीं हुआ । अतएव हम लोग भी अभ्युत्थान के लिए चल पड़े हैं । सौभाग्य से दशरथ का कुल यश से शुभ्र होता दिखाई पड़ा ॥ ९७ ॥

(सभी मुड़ते हैं)

राम—(विनयपूर्वक समीप जाकर चरणस्पर्श करते हुए)

इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के कुलगुरु, देवर्षियों में श्रेष्ठ, अरुन्धती के पति, ऋषि (वसिष्ठ) को यह राम प्रणाम करता है ॥ ९८ ॥

वसिष्ठः—का दीयतां तवेत्यादि (१०।६४) पठति ।

रामः—आर्षं हि वचनं विभिन्नवक्तृकमपि न विसंवदति यदगस्त्यवाचा भगवान् वसिष्ठोऽपि ब्रूते ।

सीता—(प्रणमति)

वसिष्ठः—जनकराजपुत्रि ! रामाशिषैवाशीस्ते ।

किञ्च—

अन्ययोगव्यवच्छेदादुपास्ते यदरुन्धती ।
संविभक्तं त्वया पुत्रि तत्संप्रति सतीव्रतम् ॥९९॥

लक्ष्मणः—काकुत्स्थकुलगुरो मैत्रावरुणे ! लक्ष्मणोऽभिवादयते ।

वसिष्ठः—वत्स लक्ष्मण ! जितेन्द्रजितस्तव किमाशास्महे ।

भरतः—आर्य ! रावणविद्रावण ! एष भरतोऽभिवादयते ।

रामः—(बाहू प्रसार्य) एह्येहि वत्स भरत !

परिष्वजामि सोत्कण्ठो मां प्रतीपं परिष्वज ।
आलिङ्गिते भ्रातृगात्रे कवोष्णः सोऽपि चन्द्रमाः ॥१००॥

भरतः—(सीतां वन्दते)

सीता—वच्छ भरध उठ्ठावीअदु वअणेंदू भोदु दे आणंदमंदपरिफंदा दिठ्ठी । [वत्स भरत ! उत्थाप्यतां वदनेन्दुर्भवतु ते आनन्दमन्दपरिस्यन्दा दृष्टिः ।]

वसिष्ठ—आप को क्या आशीर्वाद दूं इत्यादि (१०।६४) पढ़ते हैं ।

राम—आर्ष वाणी विभिन्न वक्ताओं द्वारा प्रयुक्त होते हुए भी विरुद्ध नहीं होती क्योंकि भगवान् वसिष्ठ भी अगस्त्य की वाणी में ही बोल रहे हैं ।

सीता—(प्रणाम करती हैं)

वसिष्ठ—राजा जनक की पुत्री ! राम के आशीर्वाद से ही तुम्हारा भी आशीर्वाद है तथापि हे पुत्रि ! अरुन्धती अन्ययोग व्यवच्छेद (अन्य स्त्री के सम्बन्ध से रहित) पूर्वक जिस पातिव्रत-धर्म का पालन करती है उसको तुमने विभक्त कर लिया ॥ ९९ ॥

लक्ष्मण—ककुत्स्थ वंश के कुलगुरु, मैत्रावरुणि ! लक्ष्मण प्रणाम करता है ।

वसिष्ठ—वत्स लक्ष्मण ! मेघनाद को जीतने वाले तुमको क्या आशीर्वाद दूं ?

भरत—आर्य ! रावण के निहन्ता ! यह भरत प्रणाम कर रहा है ।

राम—(बाहें फैलाकर) आओ आओ वत्स भरत !

मैं उत्सुक होकर तुम्हारा आलिङ्गन करूंगा, तुम भी मेरा प्रत्यालिङ्गन करो । भाई के शरीर से लिपट कर कुछ संतप्त जन भी चन्द्रमा (की भांति शीतल) हो जाता है ॥१००॥

भरत—(सीता को प्रणाम करते हैं)

सीता—वत्स भरत ! मुखचन्द्र को ऊपर करो, तुम्हारी दृष्टि आनन्द से मन्द सञ्चार करे ।

शत्रुघ्नः—आर्य ! पादसेवाविसंवादी शत्रुघ्नः प्रणमति।

रामः—(शत्रुघ्नमुत्थाप्यावलोक्य च) दिष्ट्या द्वितीयलक्ष्मणो दृश्यते।

शत्रुघ्नः—(सीतां प्रणमति)

सीता—वछ सत्तुहण चिरं णंद जणणीजणो दे कहिं [वत्स शत्रुघ्न ! चिरं नन्द जननीजनस्ते क्व ।]

शत्रुघ्नः—माङ्गलिक्यपाणिरन्तःपुरग्रीवे तिष्ठति।

(लक्ष्मणो भरतं वन्दते)

भरतः—

हे लक्ष्मण सलक्ष्मीक परिष्वज महाभुज।
आर्यसेवापवित्राणि गात्राणि सुखयन्तु माम् ॥१०१॥

शत्रुघ्नः—(लक्ष्मणं परिष्वज्य) निर्विघ्ननिर्वाहितरामदेवादेशे त्वयि द्विगुणं स्निह्यति मनः।

रामः—भगवन्मैत्रावरुणे ! किष्किन्धापतिरेष सुग्रीवो भास्करिरयं च लङ्कापरमेश्वरो बिभीषणः पौलस्त्योऽभिवन्दते।

वसिष्ठः—दीर्घंप्रशस्तिस्तम्भाविमौ भवतां भवतः।

रामः—भरत ! परिष्वजस्वेतौ सीतादेवरौ।

(भरतसुग्रीवबिभीषणाः परस्परं परिष्वजन्ते)

शत्रुघ्न—आर्य ! चरणों की सेवा का इच्छुक शत्रुघ्न प्रणाम कर रहा है।

राम—(शत्रुघ्न को उठाकर देखते हुए) सौभाग्य से दूसरे लक्ष्मण को देख रहा हूँ।

शत्रुघ्न—(सीता को प्रणाम करता है)

सीता—वत्स ! चिरकाल तक प्रसन्न रहो। तुम्हारी माता कहाँ है ?

शत्रुघ्न—माङ्गलिक द्रव्यों को हाथ में लिए अन्तःपुर के द्वार पर हैं।

(लक्ष्मण भरत को प्रणाम करते हैं)

भरत—हे महाभुज ! लक्ष्मीवान् लक्ष्मण ! मेरा आलिङ्गन करो। आर्य (राम) की सेवा करने से पवित्र तुम्हारे अङ्ग मुझे सुख दें ॥ १०१

शत्रुघ्न—(लक्ष्मण से मिलकर) निर्विघ्न आर्य राम के आदेश का पालन करने वाले आप से मन दूना स्नेह कर रहा है।

राम—भगवन् वसिष्ठ ! यह किष्किन्धा के राजा सूर्यपुत्र सुग्रीव तथा (ये) लङ्का के अधिपति पुलस्त्य गोत्रीय विभीषण आप को प्रणाम कर रहे हैं।

वसिष्ठ—ये दोनों आप की प्रशस्ति के दीर्घ स्तम्भ हों।

राम—भरत ! सीता के इन दोनों देवरों से मिलो !

(भरत, सुग्रीव और विभीषण परस्पर मिलते हैं)

वसिष्ठः—

रामो दान्तदशाननः किमपरं सीता सतीष्वग्रणीः
सौमित्रिः सदृशोऽस्तु कस्य समरे येनेन्द्रजिन्निर्जितः।
किं ब्रूमो भरतं च रामविरहे तत्पादुकाराधकं
शत्रुघ्नः कथितोऽग्रजस्य च गुणैर्वन्द्यं कुटुम्बं रघोः ॥१०२॥

(रामं प्रति) वत्स दाशरथे रामचन्द्र ! प्रशस्तो मुहूर्तो वर्तते तदध्यास्व पित्र्यं सिंहासनमेषोऽभिषिच्यसे ।

(रामः तथा कुरुते)

(वसिष्ठवर्जं सर्व्वे साष्टाङ्गं प्रणमन्ति)

(नेपथ्ये मङ्गलगीतध्वनिर्नान्दीवाद्यं च आकाशे)

आराधितो रघुकुलोद्वह पुष्पकं प्राक्पालं चिरादिदमदत्त पतिः पशूनाम् ।
तस्य प्रभुस्त्वमिह संप्रति तत्प्रयच्छ त्वां याचते धनद एष वृषाङ्कमित्रम् ॥१०३॥

वसिष्ठः—वत्स रामभद्र! धन्योऽसि यस्य ते तत्रभवान्नाम कुबेरोऽर्थी ।

रामः—विमानराज ! भगवता धनदेन प्रार्थ्यसे समर्प्यसे च । (ऊर्द्ध्वमवलोक्य) कथं धमदमुपस्थातुं विमानराजः प्रतिष्ठते ।

वसिष्ठः—(रामं प्रति) किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ।

वसिष्ठ—राम रावण का वध किये हैं, अधिक क्या कहें सीता सतियों में श्रेष्ठ हैं और लक्ष्मण के समान कौन है जिसने युद्ध में मेघनाद को परास्त किया। भरत का क्या कहना है जो राम के विरह में उनकी पादुका की आराधना किये हैं, शत्रुघ्न की प्रशंसा तो अपने ज्येष्ठ भाई के गुणों से ही हो गयी । (इस प्रकार) रघु का वंश सर्वथा प्रशंसनीय है ॥ १०२ ॥

(राम से) वत्स दाशरथि रामचन्द्र ! मुहूर्त्त प्रशस्त है अतः अपने पिता के सिंहासन को अलङ्कृत करो, अब तुम्हारा अभिषेक होगा ।

(राम वैसा ही करते हैं)

(वसिष्ठ के अतिरिक्त सभी साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं)

(नेपथ्य में मङ्गल गीत की ध्वनि तथा आकाश में नान्दी वाद्य)

हे रघुकुल श्रेष्ठ ! बहुत काल तक आराधना करने पर पशुपति (शिव) ने इस पुष्पक विमान को (मुझे) दिया था । इस समय आप ही इसके स्वामी हो । यह शिव का मित्र कुबेर तुमसे याचना कर रहा है अतः आप इसे प्रदान करें ॥ १०३ ॥

वसिष्ठ—वत्स राम ! तुम धन्य हो जिसके यहाँ कुबेर भी याचक बने हैं ।

राम—विमानराज ! भगवान् कुबेर तुम्हें माँग रहे हैं तथा मैं समर्पित कर रहा हूँ । (ऊपर देखकर) क्या कुबेर के यहाँ जाने के लिए विमानराज जा रहा है ?

वसिष्ठ—(राम से) अब दूसरा तुम्हारा क्या प्रिय उपकार करूँ ?

राम:—अत: परमपि प्रियमस्ति ।

रुग्णं चाजगवं न चापि कुपितो भर्गस्सुरग्रामणीः
सेतुश्च ग्रथितः प्रसन्नमधुरो दृष्टश्च वारां निधिः ।
पौलस्त्यश्च हतः स्थितश्च भगवान् प्रीतः श्रुतीनां कविः
प्राप्तं यानमिदं च याचितवते दत्तं कुबेराय च ॥१०४॥

तथापीदमस्तु—

सम्यक्संसारविद्याविषदमुपनिषद्भूतमर्थाद्भुतानां
ग्रन्थन्तु ग्रन्थिबन्धं वचनमनुपतत्सूक्तिमुक्ताः सुयुक्ताः ।
सन्तः संतर्पितान्तःकरणमनुगुणं ब्रह्मणः काव्यमूर्ते-
स्तत्तत्वं सात्विकैश्च प्रथमपिशुनितं भावयन्तोऽर्चयन्तु ॥१०५॥

(इति निष्क्रान्ता सर्वे)

॥ राघवानन्दो नाम दशमोऽङ्कः ॥

इति बालरामायणम्

राम—इससे बढ़कर भी कुछ प्रिय है ।

आजगव धनुष को भग्न किया और देवश्रेष्ठ शिव क्रुद्ध भी नहीं हुए, सेतु भी बाँध दिया तथा समुद्र प्रसन्न और सौम्य ही दिखाई पड़ा, रावण का वध किया तथापि वेद प्रणेता भगवान् ब्रह्मा प्रसन्न ही रहे और इस विमान को प्राप्त किया तथा याचना करने वाले कुबेर को दान भी कर दिया ॥ १०४ ॥

तथापि यह हो—

अभिनिवेशपूर्वक सूक्तिरूपी मोतियों से युक्त, सन्त लोग अद्भुत अर्थों के रहस्य स्वरूप, संसार के भय को दूर करने वाले ग्रंथिभूत वाक्यों की रचना करें तथा काव्यमूर्त्ति वेद के अन्तःकारण को प्रिय, अनुरूप तथा सात्विक कवियों द्वारा पहले से सूचित (निबद्ध) उस प्रसिद्ध तत्त्व का चिन्तन करते हुए प्रशंसा करें ॥ १०५ ॥

(सभी निकल जाते हैं)

॥ राघवानन्द नामक दशवाँ अङ्क समाप्त ॥

बालरामायण समाप्त ।

बालरामायणस्थपद्यानुक्रमः

...हित्याच्छसरोवरस्य नलिनी, संद्धर्मविश्वेशितुः
...गङ्गा, पुरुषार्थदिव्यपयसां कादम्बिनी कामधुक् ।
जीयाद् काचन राजशेखरकवेः प्रत्यग्ररागाङ्कुरा
ब्राह्मी, रामकथां च मङ्गलमयी माता च विश्वोत्तरा ॥

...यद् यायावर-राजशेखर-कवेः प्रख्याऽवदातं यश-
स्तद् रामायणनाम्न्यवाप परमां प्रौढिं प्रबन्धोत्तमे ।
सौभाग्यादधुना स एष पुनरप्यापादितो मुद्रणां
गङ्गासागररायभाष्यमहितां, स्यात् कस्य नो तुष्टये ॥

गङ्गासागरसंज्ञको विजयते तीर्थोत्तमः, सेवितो
यस्मिन् यच्छति राजशेखर इति ख्यातो रसान् विश्वभूः ।
चौखम्बाकृपया तयोरभिनवोऽसौ सङ्गमः साम्प्रतं
त्रैलोक्ये सुलभायते, कृतमहो तेन प्रवृत्तं कलौ ॥

दशाङ्के नाटके ह्यस्मिन् दाशरथ्यङ्कशायिनी ।
यायावरकवेः कीर्ति-जानकी प्रणिपत्यताम् ॥
बालरामायणं कालाद् बहोरासीत् सुदुर्लभम् ।
तदुपच्छन्दतोर्भूयाद् भद्रं श्रीराय-गुप्तयोः ॥

—रेवाप्रसादस्य द्विवेदिनः

शुभासंशनम्

(पद्मभूषण पण्डित श्री पी० एन० पट्टाभिरामशास्त्री, विद्यासागर)

कविसमाजे काव्यमीमांसाद्युत्तमग्रन्थप्रणेतुः श्रीराजशेखरस्य विशिष्टं स्थानमस्तीति सर्वे एव सहृदया अभिप्रयन्ति। अयं कविवरः कविताकलया [illegible] विषयाणां समीक्षकोऽनुसन्धाता परीक्षको विचारकश्चिन्तकः प्रौढो धीरश्च [illegible] सर्वविदितम्।

आङ्ग्लशासनसमये विद्वत्स्वियं परिपाटी प्रचलितासीत्—यद्विशिष्टसंस्कृतग्रन्थानां पाश्चात्यविद्वत्समाजे प्रचाराय आङ्ग्लभाषयानुवाद इति। तामिमां परिपाटीमाश्रित्य पण्डित श्री के० एस० रामस्वामिशास्त्रिमहोदयाः काव्यमीमांसामाङ्ग्लभाषया भूमिकाटिप्पण्यादिभिः संयोज्य बड़ोदानगरात्प्रकाशितवन्तः। स्वतन्त्रभारत इदानीं सा परिपाटी शनैश्शनैर्लोपमवाप्नुवन्ती दृश्यते। युक्तञ्चेदम्। अस्मन्नायकै राष्ट्रभाषात्वेन हिन्दी समाश्रिता। तस्यां समाश्रितायामाङ्ग्लभाषावलम्बनमौचित्यं नावहति। तेषां शासनसमये स्वीयभाषया भारते प्रचाराय, स्वदेशे च संस्कृतविषयाणां ज्ञानाय शासका आंग्लभाषानुवादं प्रोत्साहितवन्तः, परमिदानीं न सा दशा वर्तते। सम्प्रति सर्वासु प्रान्तीयभाषासु जनेषु च स्वीयत्वबुद्धिमाधातुमस्मन्नायकैरवसरः प्रापितः। तेन च कियताप्यंशेन स्वातन्त्र्यसुखमवाप्योल्लसामो वयम्। शोभनमिममवसरमवाप्येदमेवास्माकं कर्तव्यं यत्—ये संस्कृतं जानन्ति हिन्दी भाषाञ्च विदन्ति तेषु हिन्दीप्रचाराय, ये च हिन्दीभाषया परिचिता अपि संस्कृतज्ञानेन विहीनास्तेषु संस्कृतप्रचाराय संस्कृतग्रन्थानां हिन्दीभाषया, संस्कृतभाषया च हिन्दीग्रन्थानामनुवाद इति।

तामिमां सामयिकीं सरणिमवलम्ब्य डॉ० श्रीगङ्गासागररायमहोदयाः श्रीराजशेखरप्रणीतं बालरामायणं व्याख्यासापेक्षं राष्ट्रभाषयानूद्य प्रकाशितवन्त इति नूनं साधुवादार्हाः। श्रीराजशेखरस्याशयं सारल्येनावगन्तुं साधनमयं प्रामाणिकोऽनुवादः, स्वसंस्कृतज्ञानेन हिन्दीभाषायां प्रवेशं लब्धुं क्षमा भवेयुरहिन्दीभाषिणः हिन्दीभाषिणश्च संस्कृते ज्ञानवन्तस्स्युरिति डॉ० श्रीगङ्गासागररायमहोदयस्येममुद्यममभिनन्दामि। एवमेव ग्रन्थान्तराण्यप्यनूद्य प्रकाशयितुं सौविध्यमवाप्नुयाद् डाक्टरमहोदय इति परमेश्वरं प्रार्थये।

सं० २०४१
ज्येष्ठकृष्ण अमावास्या
३०-५-८४ ई०

पट्टाभिरामशास्त्री